॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१६९



चतुर्वेदि-संस्कृत-रचनावलिः

(म. म. श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदविरचितसंस्कृतग्रन्थसंग्रहः

[प्रथमो भागः]

सम्पादकः

ग्रन्थकर्तुः कनिष्ठात्मजः

श्रीशिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः, एम० ए०

व्याकरण-साहित्याचार्य.

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्थ-संस्कृतमहाविद्यालये

साहित्यप्राध्यापकः

प्रकाशकः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२३

मूल्य : २०.००

Phone : 3145

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

169

CHATURVEDI SANSKRIT RACHANĀVALĪ

(A Collection of M. M. Śrī Giridhara Śarma Chaturvedi's Sanskrit Works)

PART I

Edited By

Sri Shivadutta Sharma Chaturvedi

M. A., Vyākaraṇa-Sāhityāchārya,
Lecturer Sanskrit Mahāvidyālaya,
Banaras Hindu University, Varanasi

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Post Box 8 Varanasi-1 (India) Phone 3145.

1966

प्राक्कथनम्

अथाधुना पूज्यपादाना पितृचरणाना म. म. श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदाना संस्कृतरचनासंग्रहरूपायाश्चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावल्या खण्डचतुष्टयात्मकं प्रथम भागं विद्वद्वरेण्याना करकमलेषूपायनीकृत्य वयं किमप्यनिर्वचनीयमानन्दातिरेकमनुभवामः । ग्रन्थपरिचयप्रसङ्गे सर्वजनोपयोगिदृशाऽस्माभिः राष्ट्रभाषायां भूमिकात्रैव प्रस्तुता । संस्कृतविद्वांसस्तु ग्रन्थविलोकनेन ग्रन्थगौरवं ज्ञास्यन्त्येव ।

आशासे विद्वांसः प्रयासस्यास्य समुचितं सम्मानं विधायास्मानग्रेऽप्येवं विधप्रयत्ने समुत्साहं प्रदास्यन्तीति ।

विनयावनत-

शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः

भूमिका

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय पितृचरण महामहोपाध्याय पंडितश्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी जी की संस्कृतरचनाओं के संकलन के, जिसे 'चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावली' यह नाम दिया गया है, प्रथम भाग को संस्कृतसाहित्य जगत् को समर्पित करते हुए मुझे जिस हर्ष का अनुभव हो रहा है वह मेरे लिए वर्णनातीत है। कुछ वर्ष पूर्व मुझे कुछ पूज्यविद्वानों तथा आदरणीय मित्रों ने इस कार्य की ओर मेरा कर्तव्य सुझाया कि पूज्य पिता जी की समस्त रचनाएँ जो संस्कृत और हिन्दी में हों उनका संकलन कर उन्हें प्रकाशित कराने का प्रयत्न होना चाहिए। इस कार्य की प्रेरणा देने वालों में श्रद्धेय म० म० प० परमेश्वरानन्द जी शास्त्री डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल, श्री दीनानाथ शास्त्री सारस्वत, स्व० श्री नरहरिविष्णु गाडगिल, स्व० श्री केदारनाथ जी सारस्वत, वैद्यवर्य श्रीरामनारायण जी जोशी, के नाम मुझे स्मरण हैं। इनमें वैद्यराज श्री रामनारायण जी ने तो सामग्री संकलन के लिए वर्षों तक आर्थिक सहयोग दिया। मुझे सामग्री संकलन के लिए अनेक बार जयपुर, देहली, आदि जाना पड़ा, वहां से सहस्रों पृष्ठों की जो पिता जी की रचनाएं मिलीं, उनकी प्रतिलिपि करके उन्हें टाइप कराने आदि के भारी व्यय में हमें श्री रामनारायण जी वैद्य महोदय ने अवलम्ब दिया। उन्होंने वर्षों तक पिता जी की सेवा और सुविधा के लिए भी अर्थ दिया, जब-जब जो विशेष मांग परिस्थिति वश उनके सामने पिता जी के सम्बन्ध में की गई, उसे पूर्ण उदारता और अत्यन्त विनीत भाव से उन्होंने पूर्ण किया। आपकी पुष्कल आर्थिक सहायता मिलने पर इस दिशा में हमारा उत्साह भी बढ़ता गया और एक वैतनिक सहयोगी और एक टाइपिस्ट के साथ मैं प्रेस कापी प्रस्तुत करने में तल्लीन हो गया। विश्वविख्यात दानवीर श्रीमान् माननीय जुगलकिशोर जी बिड़ला महोदय भी एक लम्बे समय से पिता जी की आर्थिक अर्चना कर रहे हैं। उक्त महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। अत्यन्त वृद्धावस्था में स्थित होने पर भी पूज्य पिता जी ने इस सामग्री को सामने लाने के परिश्रम में हम को पीछे छोड़ दिया यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। उन्होंने पूरे-पूरे लेखों को अक्षर-अक्षर सुनकर सभी लेखों में भारी परिवर्तन परिवर्धनादि कराकर ही उनके प्रकाशन की अनुमति दी। उक्त प्रयासों के फल स्वरूप हम अब तक—

१ वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति,
२ गीता व्याख्यान माला के ३ भाग,
३ साहित्यिक निबन्ध,
४ दर्शन अनुचिन्तन,

इन पुस्तकों को प्रकाशित कराने में सफल हुए हैं। इनमें से प्रारंभिक चार पुस्तकें स्वतन्त्र ग्रंथ के ही रूप में यद्यपि लिखी गई तथापि उनमें भी प्राचीन सामग्री जो कि हमें प्राप्त होती रही थी उसका स्थान-स्थान पर समावेश हुआ। 'साहित्यिक निबन्ध' और 'दर्शन अनुचिन्तन' तो स्पष्ट रूप में प्राचीन लेखों के ही सकलन हैं। हिन्दी में अभी उनका पर्याप्त साहित्य प्रकाशन के लिये रखा है जिसे सुविधानुसार प्रकाश में लाते रहने का हमारा सकल्प है।

मैं जब गीता व्याख्यानमाला के तृतीय भाग का सम्पादन कर रहा था उन दिनों एक बार पिताजी ने मुझ से कहा कि तुम हमारी हिन्दी रचनाओं को प्रकाशित करने में हो लग हो, हमारी संस्कृत रचनाओं का भी तो सकलन प्रकाशित कराओ। तब तक मैंने संस्कृत रचनाओं के सकलन पर ध्यान नहीं दिया था और मेरा ऐसा विचार था कि संस्कृत में पिताजी की अधिक रचनाएं नहीं हैं। यही बात उस समय मैंने कही। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि संस्कृत में हमारे लेख हिन्दी से भी अधिक हैं। उसी दिन से मैंने संस्कृत रचनाओं के सकलन का सकल्प किया और गीता व्याख्यानमाला के सम्पादन से निवृत्त होकर जब मैंने संस्कृत रचनाओं का संग्रह प्रारम्भ किया तो धीरे धीरे इतनी सामग्री सामने आ गई कि उसे प्रकाशित कराने के लिए एक जिल्द पर्याप्त प्रतीत नहीं हुई। पिताजी ने प्राय १५ वर्ष तक जयपुर से निकलने वाले 'संस्कृत रत्नाकर'' नामक मासिक पत्र का सपादन किया और आगे भी बहुत समय तक उसके प्रकाशक रहे। सौभाग्य से पचास वर्ष पुराने संस्कृत रत्नाकर' के वे अक, जो पिताजी के सपादकत्व में निकले थे, हमारे यहां सुरक्षित मिल गए और उनके सभी अकों में पिताजी के बड़े बड़े लेख जो धारावाहिक रूप से अनेक अकों में छप थे, हमारे सामने आए। यह 'संस्कृत रत्नाकर' पत्रिका अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन की मुख पत्रिका आगे चल कर बना दी गई। आज भी यह सम्मेलन के देहली स्थित कार्यालय में प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका का संक्षिप्त इतिहास 'चतुर्वेदि-संस्कृत रचनावली' के द्वितीय भाग में सकलित संस्कृत रत्नाकरस्मारमकथा' शीर्षक लेख में पढ़ने को मिलेगा। 'संस्कृत रत्नाकर' के प्राचीन अकों में जो धारावाहिक मुद्रित लेख उपलब्ध हुए उनमें से एक तो पुस्तक रूप से लिखा गया लेख था, वह दार्शनिक लेख माला ' प्रमेयपारिजात'' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। संस्कृत लेख सामग्री एकत्रित होने पर 'प्रमेय पारिजात' और 'पुराणपारिजात' का 'विद्यारत्न' भारत सरकार के अनुदान से संस्कृत विद्यापीठ, देहली द्वारा प्रकाशित किये गये। प्रकाशन के उपरान्त ये दोनों पुस्तकें भारत के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री महामनीषी स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री जी को

समर्पित की गई। अवशिष्ट संस्कृत लेख 'चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावली' के दो भागो मे प्रस्तुत किये जारहे है। इन लेखो मे बहुतो को ग्रन्थ भी कहा जासकता है। विषय के क्रम से इनका विभाजन कर प्रस्तुत भाग,मे पांच खण्ड आए हैं, ये क्रमश: है—

१. वेद खण्ड
२ पुराण खण्ड
३ शब्द शास्त्र खण्ड
४. धर्मशास्त्र खण्ड
५ काव्य साहित्य खण्ड

प्रथम वेद खण्ड मे तीन लेख है—"ऋत च सत्य च"
"वेदेषुविज्ञानं तस्य क्रमिको ह्रासश्च'
"वेदेषु पितरः"

प्रथम लेख "ऋत च सत्य च" मे वैदिक मन्त्रो मे प्रयुक्त "ऋत" और "सत्य" इन शब्दो का भाष्यकारो ने क्या आशय प्रकट किया है, यह मन्त्रो के उद्धरण पूर्वक बतलाते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से इन शब्दो का क्या तात्पर्य है, यह प्रकाशित किया गया है। इस वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार संसार के सभी पदार्थ दो प्रकार के कहे जासकते हैं। एक वे जो अपना केन्द्र बना कर स्थित हैं तथा दूसरे वे जो बिना केन्द्र बनाए विकीर्ण भाव से सस्थित रहते हैं। प्रथम कोटि मे केन्द्र बनाकर रहने वाले पदार्थो मे पृथ्वी आदि पदार्थों की गणना होती है, उन्हे ही 'सत्यम्' शब्द मे कहा गया है, दूसरे जो बिना केन्द्र के विकीर्ण भावापन्न होकर सस्थित रहते हैं, उनमे वायु आदि की गणना है, उन्हें ही वैदिक परिभाषा मे 'ऋतम्' कहा गया है। इसी वैज्ञानिक दृष्टि को वैदिक उदाहरणो के द्वारा परिपुष्ट कर इस लेख मे उपस्थित किया गया है। यह लेख कई वर्ष पूर्व सरस्वती भवन, वाराणसी से निकलने वाली 'सारस्वती सुषमा' त्रैमासिक पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। इस खण्ड के दूसरे लेख—

"वेदेषु विज्ञानम् तस्य क्रमिको ह्रासश्च" मे विज्ञान के अर्थ मे सम्बन्धित विप्रतिपत्तिया दिखाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि विज्ञान शब्द का तात्पर्य वही है जो वर्तमान मे 'साइन्स' शब्द से समझा जाता है। यह विज्ञान या साइन्स वैदिक साहित्य मे परिपूर्ण मात्रा मे अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे उल्लिखित हुआ है, अनेक मन्त्रो को उद्‌धृत करके उनमे विज्ञान या साइन्स के सिद्धान्तो का दिग्दर्शन कराया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि वर्तमान साइन्स के लिए अभी जो बहुत दूर की स्थिति है वह भी वैदिक साहित्य मे बहुत स्पष्टता

से समुपलब्ध है। अन्त में इस महान् विज्ञान का ह्रास किस प्रकार होता चला गया यह दिखाते हुए यह आशा व्यक्त की गई है कि पुनः वैदिक विज्ञान का अन्वेषण होगा और उससे उस महान् विज्ञान का प्रकाश पुनः संसार को आलोकित करेगा। यह लेख संस्कृत रत्नाकर के वेदाङ्क नामक विशेषाङ्क में मुद्रित हो चुका है।

इस खण्ड का तीसरा लेख 'वप्सु पितर' है। वैदिक विज्ञान में वर्तमान साइन्स की तरह जो मूल-तत्त्व सृष्टि के उत्पादक के रूप में पहिचाने गए हैं उनमें देवता, ऋषि और पितृ तत्त्व मुख्य हैं। इनमें से पितृ तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत लेख में हुआ है। यह लेख भी सारस्वती सुषमा में प्रकाशित हो चुका है। देवता और ऋषि तत्त्व पर भी दो विस्तृत लेख पिताजी ने लिखे थे। वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय की स्थापना के अनन्तर प्रथम उपकुलपति श्रीमान् माननीय आदित्यनाथ झा महोदय ने एक विशिष्ट व्याख्यान पद्धति का वहां आयोजन किया जिसका कि नाम म म श्री गंगानाथ झा व्याख्यानमाला रक्खा गया। उस व्याख्यान माला का प्रारंभ पिताजी के ही वेदविज्ञान सम्बन्धी तीन व्याख्यानों से हुआ। ये तीनों व्याख्यान 'वेदविज्ञानबिन्दु' नाम से वहीं से प्रकाशित भी हुए। हमने इन तीनों व्याख्यानों को प्रस्तुत रचनावली में संकलित करने की अनुमति के लिए सम्बद्ध अधिकारियों को लिखा। परन्तु कुछ वैधानिक आपत्तियों के कारण वहां से अभी उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। यदि आगे कुछ समय में वहां से अनुमति प्राप्त हो गई तो चतुर्वेदि-संस्कृत-रचनावली के दूसरे भाग में हम उसे प्रकाशित करेंगे।

दूसरे पुराणखण्ड में पांच लेख क्रमशः इस प्रकार हैं—

१ पुराणेषु विकासवादः
२ कूर्मपुराणविषयालोचनम्
३ मुद्गलपुराणविषयालोचनम्
४ वेदेषु पुराणमहत्त्वम्
५ पुराणलक्षणानि

"पुराणेषु विकासवादः" लेख में पाश्चात्य विद्वानों के विकासवाद सिद्धान्त (Theory of Evolution) के संकेत पुराणों में दिखाए गए हैं। एक अन्य हिन्दी लेख में लेखक ने यह प्रतिपादन किया है कि भारतीय प्राचीन दृष्टि ह्रासवादी रही है और आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि विकासवादी है। यदि तत्त्वविवेचन या परिणाम की यथार्थता को ध्यान में रखकर इन दोनों सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जाय तो परिणाम में दोनों बातें एक ही सिद्ध होती हैं।

केवल बाह्यरूप मे भेद दृष्टिगोचर होता है। पुराण साहित्य महान् है। नवीन कहे जाने वाले ये महत्वपूर्ण सिद्धान्त पुराण मे अनिर्दिष्ट नही रह सकते अपितु विकासवाद जैसे नवीन कहे जाने वाले सिद्धान्तो का कैसा स्पष्ट और स्वच्छ निरूपण पुराणो मे मिलता है, यह इस लेख को पढने से समझ मे आ जायगा।[१] यह लेख 'संस्कृत रत्नाकर' मे मुद्रित हुआ था, वहीं से संकलित हुआ है। इसके आगे के पुराण सम्बन्धी चारो लेख 'सर्व भारतीय-काशिराजन्यास' से प्रकाशित 'पुराणम्' नामक अन्वेषण-पत्रिका मे यथा समय प्रकाशित हुए थे। वही से हमने इनका संकलन किया। पुराणो पर पिताजी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'पुराण पारिजात' सर्व भारतीय काशिराजन्यास' के द्वारा प्रकाशित किया जाता है। उसका उत्तर भाग केन्द्रीय-संस्कृत समिति की आर्थिक सहायता से संस्कृत विद्यापीठ देहली के द्वारा हाल ही मे प्रकाशित किया गया है, यह सूचना हम ऊपर दे चुके है। उसके पूर्व का भाग अनेक वर्ष पूर्व ही उक्त संस्था को प्रकाशनार्थ सौंप दिया गया था। परन्तु कुछ अडचनों के कारण वह अभी प्रकाश मे नही आसका है। भगवान् से प्रार्थना है कि उस ग्रन्थ को भी शीघ्र ही प्रकाश मे लाने के लिए उसके दुरदृष्ट को मिटायें। श्रद्धेय काशीनरेश महाराजबहादुर श्रीविभूतिनारायण सिंह देव जी ने पिताजी को पुराण साहित्य पर एक ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित किया और पुष्कल अर्थ साहाय्य प्रदान किया। पिताजी ने प्रायः ६ वर्षों तक परिश्रम करके 'पुराण पारिजात' नामक ग्रन्थ की रचना की। श्रद्धेय काशी नरेश अनेक वर्षों तक प्रतिवर्ष विभिन्न अवसरो पर विभिन्न पुराणो के प्रवचन श्री रामनगर के देवस्थानो मे कराया करते थे। तत्तत्पुराणो के प्रवचनो के सार भी उन्होंने लिखवाए। अनेक पुराणो के सार तो हिन्दी मे लिखे गए, परन्तु दो पुराणो वामन पुराण और मुद्गल पुराण के सार संस्कृत मे लिखे गये और 'पुराणम्'' नामक पत्रिका मे प्रकाशित हुए। उन्हे हमने 'रचनावली' के प्रस्तुत भाग मे पुराण खण्ड मे सम्मिलित किया है। पूज्य पिताजी पर श्रद्धेय श्री काशिराज का जो अनुग्रह रहा है उसका विस्तृत विवरण हम 'रचनावली' के द्वितीय भाग की भूमिका मे विस्तार से देंगे, जहाँ पिताजी के जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओ का भी विवरण होगा। यहाँ हम इन लेखो को 'रचनावली' मे सम्मिलित करने के लिए महाराजाधिराज श्री काशीनरेश के प्रति अपनी हार्दिक विनम्रता पूर्ण कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इसी खण्ड के आगे के दो लेख "वेदेपु पुराणमहत्त्वम्" तथा 'पुराणलक्षणानि' 'पुराण पारिजात'' के प्रथम भाग के अश हैं, जो कि 'पुराणम्' पत्रिका मे भी मुद्रित हुए हैं। इन दोनो लेखो को

---

१. विशेष जिज्ञासा के लिए द्रष्टव्य 'विकास और ह्रास'—'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'।

पश्चात् पाठकों को यह आभास हो जायगा कि पुराण पारिजात ग्रन्थ में कितने महत्त्वपूर्ण विषयों का सारगर्भित और सरल शैली में प्रतिपादन हुआ है। इसी सन्दर्भ में हमें यह भी एक हर्षजनक सूचना देनी है कि पुराणों पर 'पुराण परिशीलन' नाम का एक हिन्दी ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूर्धन्य सेवी संस्थान बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से बहुत शीघ्र प्रकाशित हो रहा है। इन दिनों उसका भी मुद्रण कार्य चल रहा है। तीसरे 'शब्दशास्त्रदर्श' में एक बड़ा निबन्ध है जिसका प्रकाशन नवाह्निक महाभाष्य की भूमिका के रूप में 'पाणिनिपरिचय' शीर्षक में हो चुका है। यह एक स्वतन्त्र ऐतिहासिक समालोचना युक्त पुस्तक कही जा सकती है। इसके लिखने में प्रायः २ वर्ष का समय लगा था। इस निबन्ध में संस्कृत व्याकरण शास्त्र के निर्माता प्राचीन आचार्यों और उनकी रचनाओं का ऐतिहासिक विवेचना बड़ी बारीकी से की गई है। इस निबन्ध के एक दो महत्त्वपूर्ण विषयों का संकेत यहाँ हम इसलिए कर रहे हैं जिससे हिन्दी के पाठकों को भी इस निबन्ध की गम्भीरता का बोध हो जाय।

पाणिनि से पहिले भी संस्कृत के लौकिक और वैदिक दोनों अंगों पर व्याकरण बन चुके थे। यद्यपि आज पाणिनि से पूर्ववर्ती कोई सुसम्बद्ध व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध तो नहीं है परन्तु पाणिनि व्याकरण के सावधान अनुशीलन से ही यह पता चलता है कि पाणिनि से पहिले भी व्याकरण की सत्ता थी। कुछ उदाहरणों से उक्त तथ्य की जाँच कर लेना यहाँ उपयुक्त होगा। पाणिनि सूत्र है आङि चापः। इस सूत्र में तृतीया विभक्ति के एक वचन को पाणिनि ने आङ् कहा है। परन्तु तृतीया विभक्ति के एक वचन में पाणिनि ने 'आङ्' नहीं अपितु टा प्रत्यय का विधान किया है। आङि चापः सूत्र की व्याख्या करने हुए व्याख्याकारों का कथन है आङिति टा संज्ञा। अर्थात् तृतीया के एक वचन में जिस आङ् का उक्त सूत्र में निर्देश है वह टा प्रत्यय का ही पुराना नाम है। उसी को पाणिनि ने टा कर लिया। आङ् प्रत्यय करने पर ङ का लोप करना होगा और ङकार के इत्संज्ञक हो जाने के कारण ङित् कार्यों की प्राप्ति तृतीया के एक वचन में हो जाती जो कि अपनी परिभाषाओं के अनुसार पाणिनि को अभीष्ट नहीं थी। इसीलिए उन्होंने उसे आङ् न कहकर टा कह दिया। परन्तु कहीं-कहीं प्राचीन व्याकरणों का संस्कार रह जाने के कारण सूत्रों में टा विभक्ति के स्थान पर आङ् भी उनके मुख से निकल गया। इसी प्रकार का एक सूत्र है औङ आपः यहाँ भी पाणिनि ने प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन के प्रत्यय को औङ् कहा है परन्तु उनकी विभक्तियों में प्रथमा तथा द्वितीया का द्विवचन औ

तथा 'औट्' है न कि 'ओट्'। इसका भी यही समाधान व्याख्याओं में मिलता है कि प्राचीन व्याकरणों में प्रथम तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में 'औट्' प्रत्यय का विधान था। टित् कार्य का परिहार करने के उद्देश्य से पाणिनि ने उन्हें उक्त रूप से परिवर्तित कर अपने व्याकरण में ले लिया, परन्तु सत्कारवश अथवा प्राचीन संज्ञाओं की रक्षा के लिए कहीं कहीं उन नामों में भी उन विभक्तियों का स्मरण उन्होंने कर लिया है। आगे विभक्तियों का अर्थ बतलाते हुए 'कर्मणि द्वितीया', 'कर्तृकरणयोस्तृतीया', कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है, कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है, इत्यादि सूत्रों में किस अर्थ में कौन विभक्ति होती है यह तो बतलाया, परन्तु प्रथमा, द्वितीया, आदि कहते किसे हैं, यह नहीं बतलाया है। सु, औ, जस् आदि तीन-तीन के क्रम से प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों का स्वरूप सिद्ध है अतः उन्होंने इनके स्वरूप को बतलाने का व्यर्थ प्रयास करना उचित नहीं समझा यह समाधान करना भी अशक्य है, क्योंकि यही समाधान धातुओं से होने वाले प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुषों के विषय में भी किया जा सकता था। परन्तु वहां तिप् तस् झि को प्रथम पुरुष कहते हैं इत्यादि रूप से पाणिनि ने पृथक् सूत्र बना कर निर्देश किया है। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रथमा, द्वितीया आदि संज्ञाएँ प्राचीन व्याकरणों में सुप्रसिद्ध थीं अतः उनको उसी रूप में पाणिनि ने ग्रहण कर लिया उनके लिए पृथक् सूत्र बनाना उचित नहीं समझा। कृदन्त प्रत्ययों के प्रकरण में एक सूत्र है—'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' इन दस प्रत्ययों में 'इट्' के आगम का निषेध इस सूत्र के द्वारा किया गया है, परन्तु इस सूत्र में पठित अनेक प्रत्यय पाणिनि के द्वारा विहित नहीं हैं, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे किसी व्याकरण में इन प्रत्ययों का विधान देखकर उनमें इट् का निषेध पाणिनि ने कर दिया। यदि यह कहा जाय कि ये प्रत्यय उणादि में पढ़े हुए हैं, तो उणादि प्रत्यय भी पाणिनि विहित नहीं है, वह भी पाणिनि से भिन्न व्याकरण है। इसी प्रकार धातु पाठ में वृत, स्तम्भु स्तुम्भु आदि अनेक धातु नहीं पढ़े गए हैं परन्तु सूत्रों में उनका ग्रहण हुआ है। इन धातुओं को व्याख्याकारों ने 'सौत्र धातु' यह संज्ञा दी है, जिसका आशय है कि पाणिनि के धातु पाठ में उनका उल्लेख नहीं केवल सूत्रों में ही इनका ग्रहण हुआ है। पूर्व व्याकरण में इन धातुओं का उल्लेख रहा होगा, सत्कारवश उनका सूत्रों में ग्रहण पाणिनि ने कर लिया, अपने धातु पाठ में उन्हें नहीं पढ़ा यही यहाँ निष्कर्ष कथन करना होगा। अदादिगण में पाणिनि ने 'चर्करीतं च' यह सूत्र बनाकर 'यङ्लुगन्त' प्रकरण का चर्करीत शब्द से स्मरण किया है, परन्तु कहीं यङ्लुगन्त की चर्करीत यह संज्ञा उन्हों ने नहीं की। प्राचीन व्याकरणों में

णिजन्त प्रकरण को 'कारित', सन्नन्त प्रकरण को 'चिकीर्षित', यङन्त को 'चेक्रीत' और यङ्लुगन्त प्रकरण को 'चर्करीत' कहा गया था। निरुक्त में भी इन प्रकरणों का व्यवहार इन्हीं नामों से प्राप्त होता है। अत प्राचीन व्याकरणों के संस्कार से ही पाणिनि ने बिना संज्ञा विधान किये ही चर्करीत आदि प्राचीन व्याकरणों में प्रसिद्ध संज्ञाओं का उपयोग कर लिया।

पाणिनि सूत्रों में पूर्व मतों का खण्डन भी देखा जाता है—

"प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्"

"कालोपसर्जने च तुल्यम्"

यहाँ पूर्व सूत्र में तो प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता के लिए पृथक् वचन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्ययार्थ की प्रधानता स्वत सिद्ध है यह बात बतलाई गई है, दूसरे सूत्र के द्वारा यह बात बतलाई गई है कि अनद्यतन आदि काल का विवरण करने के लिए भी स्वतन्त्र वचन विन्यास की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि जिन वचनों की आवश्यकता का खण्डन उपर्युक्त पाणिनि सूत्रों में प्राप्त होता है उन वचनों की आवश्यकता का प्रतिपादन भी तो कहीं होना चाहिये, तभी तो उनका खण्डन उपयुक्त हो सकता है। इस प्रकार के वचनों की आवश्यकता का प्रतिपादन प्राचीन व्याकरणों में पाणिनि ने अवश्य देखा होगा, तभी उसका खण्डन करने के लिए उन्हें सूत्र बनाने की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार पाणिनि ने 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इस सूत्र से लिंग वचन का विधान किया है परन्तु आगे चलकर—'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'इस सूत्र से उस बात का स्वयं खण्डन भी कर दिया। पहिले स्वयं ही उस बात को कहना और आगे स्वयं उसका खण्डन कर देना इस बात का ही साक्षी है कि पूर्व व्याकरणों के संस्कार से पहिले उन्होंने सूत्र की आवश्यकता का अनुभव करते हुए सूत्र बना दिया, परन्तु आगे चलकर उन्हें उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। अत उसका स्वयं खण्डन भी कर दिया।

इस प्रकार पाणिनि के पूर्व भी व्याकरण की सत्ता थी इस बात की साक्षी भगवान् पाणिनि ही देते हैं।

भाष्यकार का साक्ष्य

इनके उपरान्त भाष्यकार ने भी अनेक स्थलों पर ऐसे संकेत किये हैं जिनसे पाणिनि से पूर्व व्याकरण की सत्ता थी यह स्वीकार करने में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। भाष्यकार ने 'देवभु' 'सस्वजे' आदि ऐसे अनेक उदा-

हरण दिये हैं, जो पाणिनि सूत्रों के आधार पर सिद्ध नहीं किये जा सकते। मूल धातु 'दम्म' और 'स्वज' है। यहाँ मकार और वकार का लोप किये बिना 'दमनु' और 'सम्वजे' ये प्रयोग लिट् लकार में सिद्ध नहीं किये जा सकते। यहाँ भाष्यकार ने इन प्रयोगों को सिद्ध करने के लिए अन्य व्याकरण के नियम का ही आश्रय लिया है, यही समाधान भट्टोजिदीक्षित ने भी किया है। एक सूत्र के भाष्य में 'उस सूत्र को भारद्वाज के अनुयायी दूसरे प्रकार मे पढ़ते हैं' ऐसा कह कर भाष्यकार ने स्पष्ट ही भारद्वाजीय व्याकरण की सत्ता स्वीकार की है। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र के भाष्य में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

नाम च धातुजमाह निरुक्ते
व्याकरणे शकटस्य च तोकम्

यहां 'शकट तोक' अर्थात् शाकटायन व्याकरण की सत्ता को स्पष्ट ही भाष्यकार ने पाणिनि के पूर्व माना है। वर्तमान में शाकटायन व्याकरण के नाम से जो व्याकरण ग्रन्थ मुद्रित रूप में उपलब्ध होता है, वह शाकटायन व्याकरण पाणिनि से पूर्व का नहीं है। शाकटायन स्फोटायन आदि अनेक आचार्यों के नाम पाणिनि के सूत्रों में भी उपलब्ध होते हैं। अतः शाकटायन व्याकरण पाणिनि के पहिले विद्यमान था इसमें तो कोई सन्देह नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि के अक्षरों से बहुत सी परिभाषाएं निकाली हैं जिनकी सहायता के बिना पाणिनि सूत्रों से शब्द सिद्धि का पूर्ण निर्वाह नहीं होता। उन परिभाषाओं को महाभाष्य से संगृहीत कर के नागेश भट्ट ने 'परिभाषेन्दुशेखर' नाम के स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। नागेश भट्ट ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये परिभाषाएँ पाणिनि से पूर्व भी वाचनिक रूप मे प्रचलित थीं और प्राचीन व्याकरणों ने शब्द सिद्धि में इनका आश्रय लिया था।

यहाँ तक पाणिनि व्याकरण के आधार पर दिखाया गया कि पाणिनि के पूर्व भी शब्दों को सिद्ध करने के लिए व्याकरण का प्रणयन अवश्य हुआ था। अब आगे अन्य शास्त्रों में भी पाणिनि के पूर्व व्याकरण की सत्ता थी इसके संकेत प्राप्त होते हैं उनका भी कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। पाणिनि का एक सूत्र है—

'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'

इस सूत्र के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाराशर के बनाए हुए भिक्षु सूत्रों को पाणिनि ने देखा था। भिक्षु सूत्र वेदव्यास के बनाए हुए वेदान्त सूत्र ही हैं, भिक्षा से निर्वाह करने वाले सन्यासियों में अधिक प्रसिद्धि

होने के कारण उनका नाम भिक्षु सूत्र ही प्राचीनकाल में प्रसिद्ध था। वे भिक्षु सूत्र या वेदान्त सूत्र समस्त दर्शनों के सूत्र ग्रन्थों में काल क्रम में अन्तिम हैं, अन्य दर्शन सूत्रों का प्रणयन काल इनके पूर्व का है क्योंकि इन भिक्षु सूत्रों में अन्य दार्शनिक सूत्र ग्रन्थों में आये हुए मतों का खण्डन मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनों के सभी सूत्र ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीन हैं। उनमें से न्याय सूत्रों में व्याकरण सम्बन्धी विचार देखने को मिलता है। एक न्याय सूत्र है—

'विकारादेशोपदेशात् संशयः'। (अ० २ पा० २।)

इस सूत्र में शब्द नित्य है या अनित्य इस विषय पर न्याय सूत्रकार भगवान् गौतम ने विचार किया है। इस सूत्र के द्वारा उन्होंने यह आशय अभिव्यक्त किया है कि कुछ वैयाकरण शब्दों में विकार मानते हैं अर्थात् एक वर्ण विकृत होकर अन्य वर्ण का रूप ले लेता है। अन्य वैयाकरण ऐसा नहीं मानते वे कहते हैं कि वर्ण विकृत नहीं होते अपितु एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का आदेश हो जाता है। इन दोनों मतों में से कौन सा मत वास्तविक है यह विचार न्याय सूत्रों में किया गया है। गौतम ने दोनों पक्षों में तर्कों से विचार करते हुए यही अपना सिद्धान्त स्थिर किया है कि एक वर्ण को दूसरा वर्ण आदिष्ट हो जाता है। वर्णों में विकार या आदेश होकर अन्य वर्ण बन जाना यह दर्शन का नहीं अपितु व्याकरण का ही विषय है। अतः न्याय सूत्रकार महर्षि गौतम व्याकरण के मतों से परिचित थे जो कि उनके पूर्व व्याकरण की सत्ता होने का प्रमाण है। जो व्याकरण गौतम के पूर्व या उनके समय में रहे होंगे उनका पाणिनि से पूर्व होना तो स्वतः सिद्ध ही है। एक बात और है कि न्याय सूत्रों में आदेश वाद और विकार वाद का उपक्षेप किया गया है। उनमें से पाणिनि उपदेशवादी हैं अर्थात् पाणिनि के मत से एक वर्ण को दूसरे वर्ण का आदेश किया जाता है। अब विकार वाद पाणिनि से भिन्न है जिसके अनुसार भी व्याकरण ग्रन्थों का निर्माण उस समय हुआ था यह न्याय सूत्रों की साक्षि में सिद्ध हो जाता है।

वाल्मीकिरामायण में हनुमान जी से जब रामचन्द्र भगवान् का प्रथम साक्षात्कार और वार्तालाप हुआ उस समय रामचन्द्र ने लक्ष्मण से हनुमान की भाषा की प्रशंसा करते हुए कहा कि—

"नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किंचिदपभाषितम्॥"

अर्थात् निश्चय ही इसने सम्पूर्ण व्याकरण अनेक बार सुना है क्योंकि बहुत

बोलने पर भी इसने एक भी अशुद्ध शब्द का उच्चारण नहीं किया। वाल्मीकि-रामायण में व्याकरण के नाम ग्रहण में व्याकरण शास्त्र के पाणिनि से प्राचीन होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता क्योंकि वाल्मीकिरामायण पाणिनि से पहिले का है इसमें किसी इतिहासज्ञ विद्वान को कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इन सब बातों से पाणिनि के पहिले भी संस्कृत भाषा के व्याकरण बने थे यह तो सिद्ध है, परन्तु उपलब्ध व्याकरण ग्रंथों में पाणिनि से पूर्व का कोई भी नहीं है। पाणिनि ने पूर्ववर्ती व्याकरणों का सार संग्रह करके वैज्ञानिक पद्धति से व्याकरण शास्त्र का सम्पूर्ण गठन जब कर दिया तो अन्य अपूर्ण व्याकरण ग्रंथों की उपयोगिता समाप्त हो जाने के कारण उनका व्यवहार नहीं रहा, फलतः आज वे व्याकरण ग्रन्थ हमें देखने को उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि व्याकरण ही संस्कृत शब्दों के साधुत्व को जानने का आज मुख्य साधन हमारे पास है जो कि अक्षय है। इसी की कृपा से आज भी संस्कृत भाषा समर्थन योग्य भाषा बनी हुई है यह कहने में किसी को कुछ भी संकोच नहीं हो सकता।

व्याकरण निर्माताओं के लिए शिष्ट लोगों में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥"

इसमें १ इन्द्र २ चन्द्र ३ काशकृत्स्न ४ आपिशली ५ शाकटायन ६ पाणिनि ७ अमर और ८ जैनेन्द्र इन आठ शाब्दिकों की चर्चा की गई है।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्तालोचन में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पाणिनि से पहिले किसी व्याकरण की रचना नहीं हुई थी। उपर्युक्त श्लोक में जो नाम पाणिनि के पहिले आए हैं उनके व्याकरण कर्तृत्व को हटाने के लिए यह युक्ति दी गई है कि उक्त पद्य में निर्दिष्ट आठ व्यक्ति शाब्दिक हैं, न कि व्याकरण निर्माता या वैयाकरण। शाब्दिकत्व तो शब्दशास्त्र में प्रौढ़ होने पर, शब्दशास्त्र में पारंगत होने पर, तथा शब्दशास्त्र का प्रचारक होने पर तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक प्रकारों से सिद्ध हो सकता है। शब्दशास्त्र पद से केवल व्याकरण का ही नहीं अपितु कोश, मीमांसा आदि का भी ग्रहण होता है। व्याकरण के समान ही कोशों में भी शब्द विषयिणी मीमांसा होती है एकार्थक शब्दों का संकलन होता है, इसी प्रकार मीमांसा शास्त्र में वैदिक शब्दों की व्याख्या की जाती है। संस्कृत के विशिष्ट विद्वानों की एक पुरातन उपाधि है—'पद वाक्य प्रमाण-पारावारीण'। इसमें 'पद' से व्याकरण लिया जाता है, इसमें 'पारावारीण' अर्थात् पूर्ण प्रवीण होना उन विद्वानों

की विशेषता होती थी। शब्द शास्त्र में 'पद' और वाक्य दोनोंका समावेश हो जाता है अतः शब्द शास्त्र से मीमांसा का भी ग्रहण परम्परा सिद्ध है। अतः आठ शाब्दिकों में केवल व्याकरण निर्माता ही सब नहीं हैं अपितु कुछ कोश निर्माता भी हैं तथा कुछ मीमांसा मनीषि भी हैं।

उपर्युक्त पद्य में व्याकरण निर्माताओं की सूचि में सबसे पहिले इन्द्र का नाम आता है। आठ शाब्दिकों में आदि में पठित नामों वाले आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। परन्तु अनेक ग्रंथों में उनके उल्लेख से यह प्रकट होता है कि उन्होंने विशिष्ट ग्रन्थों की रचना की थी जो आगे चलकर विलुप्त हो गये। 'चन्द्र' के विषय में राजतरंगिणी में लिखा है कि—

> चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
> प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्।

वैयाकरणों में चान्द्रदौर्गादि नामों से प्राचीन महावैयाकरण विद्वान् प्रसिद्ध थे उन चन्द्राचार्य को दक्षिण के किसी स्थान पर महाभाष्य की कोई जीर्ण पुस्तक उपलब्ध हुई जिसे वे अभिमन्यु के राज्यकाल में काश्मीर ले गए और उन्होंने उसके आधार पर अपना व्याकरण भी बनाया। परन्तु इसी प्रकार की साक्षी से चन्द्र के व्याकरण का अनुमान होता है। कोई ग्रन्थ उनका उपलब्ध नहीं। काशकृत्स्न तो मीमांसक थे, अतः उनकी बनाई हुई मीमांसा का नाम 'काशकृत्स्नी' हुआ। 'आपिशलि' का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने 'वासुप्यापिशलेः' (६।१।९२) सूत्र में किया है, अतः स्पष्ट है कि प्राचीन वैयाकरणों में उनके मत का आदर था। परन्तु 'इन्द्र' नामक किसी विद्वान ने कोई व्याकरण बनाया, यह बात तो प्रमाणों के अभाव में सन्देह दोलाधिरूढ ही है।

श्री सामश्रमी जी ने निरुक्तालोचन में यह विचार प्रकट किया है कि इन्द्र के विषय में महाभाष्य के पस्पशाह्निक में एक आख्यायिका आयी है—

> एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय
> दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां
> शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च
> प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः,
> तथापि नान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं
> जीवति स वर्षशतं जीवति-इत्यादि
>
> (पस्पशाह्निक)

अर्थात् शब्दशास्त्र का अध्ययन करने के लिए सारे शब्दों का प्रतिशब्द पारायण करना तो असंभव है। यह सुना जाता है कि बृहस्पति ने इन्द्र को एक सहस्र दिव्य वर्षों तक प्रत्येक शब्द का पारायण कर अध्यापन कराया, परन्तु वे शब्दों का अन्त न पा सके। बृहस्पति जैसे प्रवक्ता तथा इन्द्र जैसा अध्येता भी जब दिव्य सहस्र वर्षों तक अध्ययन करके शब्दों का अन्त न पा सका तो आज अधिक-से-अधिक सौ वर्ष तक जीवित रहने वाले लोगों में कोई शब्दों का अन्त पा लेगा इसकी आशा तो सर्वथा दुराशा मात्र है। महाभाष्य में समुद्धृत इस आख्यायिका से श्री सामश्रमी जी ने यह तात्पर्य निकाला है कि इन्द्र ने बृहस्पति से शब्दों का पारायणरूप अध्ययन किया था। तथा जिस प्रकार का अध्ययन किया था उसी प्रकार की ग्रन्थ रचना भी की होगी। इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्र ने किसी विशाल शब्द कोश की रचना की थी।

वास्तव में वेदों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट होती है कि यह इन्द्र अनेक प्रकार का है। वेदों में देव भी अनेक प्रकार के बतलाए गए हैं, तथा देव विशेष इन्द्र आदि भी अनेक प्रकार से व्याख्यात हुए हैं। एक प्रकार के इन्द्रादि देवता वे हैं जिनके शरीर आदि नहीं होते, जो सारे जगत् के निर्माता हैं तथा जो प्राण विशेष रूप हैं। तारामण्डल में भी इन्द्रादि नामों वाले विशेष नक्षत्र हैं, उदाहरणार्थ चित्रा नक्षत्र का अधिपति इन्द्र है, रेवती नक्षत्र का अधिपति पूषा है पुष्य का अधिपति बृहस्पति है। द्युलोक में रहने वाले शरीरधारी भी देवता हैं जो कि—

'अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधाभवति मानुष्यश्चैकविधः' इत्यादि सांख्यदर्शन की कारिका में सत्व बहुल सर्ग के रूप में व्याख्यात हुए हैं। हमारी भूमि पर भी देवलोक की कल्पना की गई थी जो हिमालय के उत्तरी भाग में था। उसमें भी इन्द्रादि सभी देवताओं की प्रतिष्ठा थी तथा उन्हीं के पास जाकर अर्जुन का विद्याग्रहण तथा दशरथ दुष्यन्त आदि का युद्ध में सहायता करने जाना आदि इसी लोक की बातें हैं। महाभाष्य में इन्द्र और बृहस्पति विषयक जिस आख्यायिका का उल्लेख हुआ है वह घटना भूखण्डवासी इन्द्र के विषय में समझी जा सकती है, वह इन्द्र जो प्राण विशेष रूप है वह भी व्याकरण कर्ता है यह बात श्रुति से स्पष्ट होती है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि—

'वाग्वै पराच्यव्याकृता अवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुरु इति। सोऽब्रवीत्—वरं वृणै, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याताविति। तस्मादैन्द्र वायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतः अवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।' (इति तैत्तिरीय षष्ठकाण्ड)

इसका तात्पर्य यह है कि वाणी के विषय में जो व्याकृत अव्याकृत व्याकरण अव्याकरण संस्कृत असंस्कृत, विभक्त अविभक्त आदि शब्द आते हैं उनसे एक प्राकृतिक घटना का संकेत मिलता है और उस घटना को समय बिना उपयुक्त श्रुति के द्वारा बतलाया हुआ इन्द्र का व्याकरण समझ में ठीक से नहीं आता। संसार में हम देखते हैं कि मनुष्य जाति को छोड़कर पशु पक्षि आदि की बोली में उनके उच्चारण में किसी प्रकार का पद वाक्यादि विभाग नहीं होता। हम इस बात का अनुभव नहीं कर सकते कि भौं भौं चिल्लाने वाले कुत्ते की आवाज में किसी प्रकार के शब्दों का क ख या इसी प्रकार का कोई विभाग है। वह एक निश्चित स्वर से बोलता है कभी-कभी अपनी शक्ति से उस स्वर को ऊंचा नीचा मात्र करता है।

कोयल आदि पक्षियों की बोली में भी एक निश्चित स्वर सन्निवेश होता है जो सुनने में बड़ा मीठा होता है। परन्तु वहां भी उनकी बोली में किसी प्रकार का स्पष्ट विभाग है यह अनुभव में नहीं आता। कुछ पशु पक्षियों को शिक्षा देकर मनुष्य के समान बोलने की जो शक्ति प्राप्त हो जाती है उसके कारण का संकेत अभी हम इन्द्र की विवेचना में करेंगे। परन्तु साधारणतः यह निर्विवाद है कि पशु पक्षियों की वाणी में पद आदि का विभाग नहीं होता। यही बात बाल्यावस्था में मानव के साथ भी है क्योंकि उत्पन्न होने के प्रायः १ १॥ वर्ष बाद ही बालक कुछ विभक्त उच्चारण कर पाता है। प्रारम्भ में उसकी वाणी अविभक्त या अव्याकृत ही रहती है। कालानुसार ज्ञान का अधिष्ठाता प्राण विशेष रूप इन्द्र शरीर में अस्पष्ट या अव्याकृत रूप से संचरण करने वाली वाणी के मध्य में प्रवेश करके उसको व्याकृत कर देता है अर्थात् मानव भाषा में पद वाक्यादि विभक्त उच्चारण की क्षमता प्रदान करता है। मानव शरीर के संगठन में इन्द्र प्राण पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है अतः सभी मानवों की वाणी में वर्णादि के विभक्त उच्चारण की क्षमता होती है। वह इन्द्र प्राण ज्ञान रूप है, अतः यह भी समझना आवश्यक होगा की वाणी का वह विभाग बुद्धि पूर्वक किया हुआ है। पशु-पक्षी आदि में बुद्धि की न्यूनता होने के कारण ही इन्द्र प्राण का विकास नहीं होता, प्रयत्न पूर्वक शिक्षा आदि के द्वारा जब पशु-पक्षियों में भी किसी किसी में इन्द्र प्राण का विकास होता है तब वे भी मानव के सदृश वाणी बोलने लगते हैं। इसके विपरीत विकास के अनुरूप परिस्थिति के अभाव में जब मानवीय इन्द्र प्राण का विकास नहीं होता तब वह भी गूंगा ही रह जाता है विभक्त उच्चारण नहीं कर पाता। यही इन्द्र के द्वारा किया गया वाणी का व्याकरण या विभाग

है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम के वाणी के चार भेदों का निरूपण होता है। इनमें परा वाक् तो परम शक्ति स्वरूपा है, उसका स्वरूप न मन में आ सकता है और न ही वाणी का विषय बन सकता है वह तो योगियों के द्वारा निर्विकल्पक समाधि में ही गृहीत हो सकती है, इसमें उत्पन्न होने वाली पश्यन्ती में भी शब्द और अर्थ का विभाग न होने से वह सम्मुग्धज्ञानरूपिणी मानी गई है क्योंकि मनुष्यों को उसका स्पष्टतया प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। मध्यमा वाणी में शब्द और अर्थ का विभाग तो हो जाता है, परन्तु मध्यमा वाणी में होने वाला विभाग केवल मन के ही द्वारा गृहीत हो सकता है। वह किसी दूसरे पुरुष पर प्रकट नहीं किया जा सकता। चौथी वाणी जो कण्ठ ताल्वाद्यभिघात से उत्पन्न है वह वैखरी कहलाती है तथा उसे सभी समझ सकते हैं। इसी बात को श्रुति ने इस प्रकार कहा है—

> चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये
> मनीषिणः गुहा त्रीणि निहितानेंगयन्ति तुरीयं वाचो
> मनुष्या वदन्ति

यह मन्त्र निगमरूप है, अर्थात् इस मन्त्र की विविध व्याख्याएँ समुपलब्ध होती हैं। महाभाष्य में नाम आख्यात उपसर्ग निपात इन चार शब्द भेदों पर इसे घटाया गया है। कहीं पर इसकी यह भी व्याख्या मिलती है, कि वाणी के एक एक भाग पशु पक्षी और सरीसृपों में है तथा चौथा भाग मनुष्यों में है। परन्तु इस मन्त्र को परा पश्यन्ती आदि पर लगाने से यह स्पष्ट समझ में आ जाता है, क्योंकि 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' अर्थात् चौथी वैखरी वाणी मनुष्यों के व्यवहार में आती है। इससे यह स्पष्ट है कि पश्यन्ती और मध्यमा से वह वैखरी वाणी अधिक स्पष्ट अर्थबोध की क्षमता रखती है। वाणी का व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है तथा ज्ञान का मूल इन्द्र प्राण है, अतएव इस वैज्ञानिक रहस्य का अनुसंधान करने पर इन्द्र के द्वारा वाणी का व्याकरण करना और उसको व्याकरण निर्माताओं में प्रथम गणना युक्ति युक्त है।

ये कुछ निदर्शन इस निबन्ध ग्रंथ के हैं। ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक विषय इसमें आए हैं, जो पाठकों की उत्कण्ठा संस्कृत के प्रति उत्पन्न करेंगे। इस प्रबंध की सर्वोपरि विशेषता यह समझने में है कि आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों की सारगर्भित स्थापनाओं को भी किस प्रकार निस्सार ठहराया जा सकता है, यदि उनकी उक्तियों में प्रमाणों का अभाव हो। यह भी एक विशुद्ध संस्कृत

विद्वान् के द्वारा, उस पर भी संस्कृत भाषा में। संस्कृत में ऐतिहासिक गवेषणा के इस प्रकार के दो सफल प्रयास पहिले भी हो चुके हैं जिन के विषयों का कुछ विवरण पाठकों को प्रस्तुत निबन्ध में भी प्राप्त होगा। वे कृतियाँ हैं, सत्यव्रतसामश्रमी जी के ऐतरेयालोचन तथा निरुक्तालोचन और म० म० प० शिवदत्तशास्त्री दाधिमथ महोदयका 'त्रिमुनि कल्प तरु'। इन दोनों ही पुस्तको के सम्बद्ध विषयों की आलोचना इस निबन्ध में है। संस्कृत में लिखी गई ऐतिहासिक आलोचनाओं में पुरातनानि व्याकरणानि वैयाकरणाश्च प्रबन्ध का स्थान निर्धारित करना सम्मान्य विद्वानों का कार्य है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इस प्रबन्ध को पूर्ण करने में पिताजी को प्रायः दो वर्ष लग गए थे और इसी विलम्ब के कारण महाभाष्य नवाह्निक का प्रकाशन रुका रहा। प्रकाशक महाशय का भी धैर्य जब जवाब देने लगा तो पिताजी ने उनसे कहा कि यदि आपको छापने की शीघ्रता हो तो मैं इसे सामान्य विषयों से ही पूर्ण करदूं। परन्तु यदि आप मुझसे कोई महत्त्व पूर्ण वस्तु लिखाना चाहें तब तो आप को कुछ प्रतीक्षा करनी ही होगी। पिताजी उन दिनों बहुत कार्य व्यस्त रहा करते थे।

प्रायः काशी तथा बाहर की समाजों में सभा संयोजक गण इनके व्याख्यानों के लिए आकृष्ट रहते थे और आपको उनकी अभिलाषा पूर्ति के लिए समाजों में भी बराबर जाना होता था। मुझे संख्या तो स्मरण नहीं परन्तु सहस्र नहीं तो अनेक शत सभाओं में मैं भी पिताजी के साथ रहा। इस व्यस्तता के साथ किसी प्रौढ रचना का भार वहन करने में विलम्ब तो अनिवार्य ही हो जाता है।

मैं उन दिनों देखा करता था कि निरुक्तालोचन, भाष्य, प्रातिशाख्य आदि अनेक पुस्तकें सफर में भी उनके साथ ही रक्खी जाती थीं अवसर मिलते ही इस कार्य को वे थोड़ा बहुत आगे बढ़ा ही देते थे। ऐसा भी मैंने देखा कि कई-कई महीने आप कुछ भी नहीं लिखवाते थे परन्तु पुस्तकों का अवलोकन और उनके नोट करने का कार्य व्रतादि के दिनों के अतिरिक्त शायद ही कभी रुका हो। प्रकाशक महोदयने भी इसपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए यही कहा कि वस्तु रोज रोज नहीं बना करती। जो कुछ आप इसमें लिख देना चाहते हैं वह अवश्य लिख दें, हम उसके लिए दस वर्ष भी प्रतीक्षा करने को प्रस्तुत हैं। अस्तु

इसके आगे के समन्वात्मक खण्ड में चार लघु पुस्तकें सकलित हैं। पिताजी का इनके लिखने के समय इनको पूरी पुस्तक के रूप में ही प्रस्तुत करने का

विचार या जैसा कि इन विषयो पर उनके द्वारा सकलित नोट्स से पता चलता है और जैसा कि उन्होंने कई बार कहा है। ये सभी लेख 'संस्कृत रत्नाकर' मे क्रमश मुद्रित हुए हैं। केवल 'स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था' शीर्षक लेख हस्तलिखित रूप मे प्राप्त हुआ है। वह हमे कही मुद्रित रूप मे प्राप्त नही हुआ।

जहाँ तक इन लेखो की विषय वस्तु का प्रश्न है उसके विषय मे लेखक के विचार सर्वविदित हैं। इस विषय मे वर्तमान समाज सुधारक विचारो से उनका किसी प्रकार का समझौता सम्भव नही। उनका अपना दैनिक क्रिया-कलाप इन्ही प्राचीन शास्त्रीय आदर्शों पर आधारित है। रचनावली के द्वितीय भाग की भूमिका मे जीवन यात्रा के विवरण मे हम ऐसी कुछ घटनाओ का उल्लेख करेंगे जब कि अपनी सुदृढ आदर्शप्रियता के कारण उन्हे विपत्तियो का मुकाबला करना पडा और मुसीबतें झेलनी पडी। इसी सुदृढ आदर्शप्रियता और तदनुकूल दृढ आचरण के कारण धार्मिक जगत् उन्हे 'ऋषि' के रूप मे पहिचानता है।

प्रस्तुत निबन्धो की विषय-वस्तु से सम्बद्ध एक बडी विशेषता यह है कि इन निबन्धो मे वेदो और स्मृतिवचनो के तात्पर्यार्थों पर जो अनेक विभिन्नताएँ आपातत प्रतीत होती हैं और जिनके आधार पर सुधारवादी दृष्टिकोण भी उन्हें अपने पक्ष मे सुसगत दिखाने की चेष्टा करता है, ऐसे अनेक स्थानो का पूर्ण ऊहापोह के साथ इन निबन्धो मे विश्लेषण पढने को मिलता है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' इस उक्ति के अनुसार श्रुति-स्मृति वचनो के अभिप्राय तक पहुँचने की परिपाटी का अवबोध इन निबन्धो से भली भाँति होता है। हिन्दी मे भी इस विषय से सम्बद्ध अनेक पिताजी के लेख हमारे पास सगृहीत हैं, वे भी यथाशीघ्र पुस्तक के रूप मे पाठको को समर्पित किये जायेंगे।

इस खण्ड का अन्तिम लेख 'पितृविवेक' अपूर्ण है। वैसे अपूर्ण तो अन्य लेख भी हैं, परन्तु इस लेख मे केवल पूर्वपक्षो का ही सकलन हुआ है, जिससे पाठको को कुछ भ्रम हो जाने की आशका बनी रहजाने का सन्देह होता है। पिताजी ने पहिले तो इसको सकलित करने का निषेध कर दिया था, परन्तु भाषा लालित्य और युक्तियो की प्रबलता को देखते हुए इसको सकलित करने के लोभ का सवरण न हो सका और एक सूचनात्मक टिप्पणी के साथ इस लेख के सकलन की हमने स्वीकृति प्राप्त कर ली। चतुर्थ काव्यसाहित्यखण्ड' मे क्रमश 'रघुवश महाकाव्य' के द्वितीय और त्रयोदश, कुमारसभव महाकाव्य के प्रथम और

प्रथम, किरातार्जुनीय' महाकाव्य के द्वितीय और एकादश तथा 'शिशुपालवध' महाकाव्य के प्रथम और द्वितीय सर्गों का सार स्वतन्त्र सरल संस्कृत में दिया गया है। यह भाग पिताजी के द्वारा व्याख्यात और सम्पादित 'महाकाव्यसंग्रह' नामक पुस्तक का अंश है। इस अंश की रोचकता का अनुभव पाठकों को इनके पढ़ने पर स्वतः होगा। पुस्तक के मुद्रण काल में सम्मान्य पं० श्री मधुसूदन जी शास्त्री (अध्यक्ष साहित्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा सम्मान्य पं० श्री रामकुबेर जी मालवीय (अध्यक्ष, साहित्य विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) ने इस अंश को पुस्तक में सङ्कलित करने का परामर्श दिया। उक्त परामर्श के लिए हम दोनों विद्वानों के आभारी हैं।

अन्तिम निबन्ध कवि और काव्य शब्दों के अर्थान्वेषणपूर्वक संस्कृत काव्य सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों से युक्त है। यह निबन्ध पूज्य स्वर्गीय कविशिरोमणि भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री जी के द्वारा लिखित काव्य ग्रन्थ 'जयपुरवैभवम्' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हो चुका है। स्वर्गीय भट्टजी पिताजी के सहाध्यायी और सहयोगी थे। उनके कुछ अन्य ग्रन्थों पर भी पिताजी ने भूमिकाएँ लिखी थीं।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का यह संक्षिप्त विवरण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया गया है।

इस कार्य में हमें जिन विद्वानों ने सत्परामर्श देकर अनुगृहीत किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। इस सन्दर्भ में कुछ और भी स्मरणीय महानुभाव हैं जिनको धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। वे हैं—स्व० पं० श्री रघुराज जी चक्रवर्ती, श्री पं० रामाधीन जी चक्रवर्ती, डा० श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, श्री पं० गोपालचन्द्र जी मिश्र, श्री पं० रतिनाथ जी झा, श्रीयुत जनार्दनस्वरूप जी अग्रवाल, श्री पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री, श्री पं० दुर्गादत्त जी मैथिल, श्री पं० भवदत्त जी मैथिल, श्री युत डा० मण्डन मिश्र जी, स्वामी श्री कण्व पुरी तथा मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री देवीदत्त जी चतुर्वेदी। उक्त महानुभावों से मैंने समय समय पर परामर्श लिया और अपने उपयुक्त विचारों से उन्होंने हमें अनुगृहीत किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में पूज्य पिता जी के द्वारा किये गए परिश्रम के विषय में कुछ भी लिखना हमारे सामर्थ्य से बाहर है, वे हमारी विनीत वन्दनाओं को निरन्तर ग्रहण करते रहें यही हमारी भगवान् विश्वनाथ के चरणों में भाव भरी प्रार्थना है। मेरे छात्र श्री रामप्रसाद त्रिपाठी,

श्री गोदराजुराम तथा श्री जयशंकर वाजपेयी ने प्रेस कापी बनाने मे सहयोग दिया तदर्थ मैं उन्हे शुभाशीर्वाद देता हूं। प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाशित कराने, सामग्री सकलन करने, तथा सपादन कार्य मे भी मेरी ही तरह मेरे भ्रातृज आयुष्मान् श्री ईश्वरप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी एम० ए० ने रुचिपूर्वक परिश्रम किया है उन्हे मैं हार्दिक आशीर्वाद देता हूं। चौखम्बा सस्कृत सीरीज के उदीयमान सचालक श्री मोहनदास जी गुप्त तथा उनके सम्पादक मडल के सदस्य विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होने पुस्तक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने म पूर्ण तल्लीनता दिखाई और साहित्य जगत् को एक सुन्दर कृति भेंट करने के लिये हम सुअवसर दिया।

आशा है पिता जी की अन्य कृतियो की भांति प्रस्तुत ग्रन्थ का भी समुचित समादर होगा।

धर्मसघ, नवाब गज
वाराणसी
२७-४-६३

विनीत—
शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी

विषय-सूची

पृष्ठ

वेदखण्डः

पुराणखण्डः

शब्दशास्त्रखण्डः

धर्मशास्त्रखण्डः

काव्यसाहित्यखण्डः



चतुर्वेदि-संस्कृतरचनावलिः

वेदखण्डः

(अस्मिन् खण्डे—

१ ऋत च सत्यं च

२ वेदेषु विज्ञान तस्य क्रमिको ह्रासश्च

३ वेदेषु पितर

एते वेदविज्ञानविषयकास्त्रयो लेखा संगृहीता

—संपादक)

ऋतं च सत्यं च

ऋतम्, सत्यम्—इति शब्दाविमौ पर्यायत्वेनामरसिंहादिभिः कोषकृद्भिः संगृहीतौ, प्रसिद्धौ च व्यवहारेऽपि तथैव। सत्यार्थे ऋतशब्दस्य तद्विपरीतार्थे चानृतशब्दस्य बाहुल्यमुपलम्भात्। वैदिकनिघण्टुष्वपि सत्यनामसु ऋतशब्द आम्नात, प्रयोगश्चापि सत्यसमानार्थतया मन्त्रब्राह्मणयोर्बाहुल्यमस्य शब्दस्योपलब्ध। मन्त्रस्थ ऋतशब्द सत्यपरतया शतपथादिषु बहुत्र व्याख्यातोऽपि। यद्यप्यर्थान्तरमपि छन्दसि ऋतशब्दस्य दृष्टम्, तथापि तत्रापि प्रायेण सत्यसमानार्थत्व न व्यभिचरति। तथा हि—जलनामसु ऋतमिति निघण्टुषु पठ्यते, सत्यमित्यपि तत्र पठ्यते। यथार्थतया ऋतशब्दो बहुत्र मन्त्रादिषु श्रीसायणाचार्यैर्व्याख्यात तथैव सत्यशब्दोऽपि। 'ब्रह्म वा ऋतम्' इति शतपथादिषु श्रुतम्, तत्रापि 'सत्य ज्ञान मनन्त ब्रह्म' इत्यपि न विस्मरणार्हम्। 'ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इत्यादौ ऋत कर्मफलमिति भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्, तस्यापि सत्यसमानार्थतैव विचारपथ मधिरोहति। किं विस्तरेण, बाहुल्येन शब्दयोरनयो पर्यायतैव बुद्धावुपारोहति।

अथ क्वचित्तु द्वयोरनयो सहप्रयोगमुपलभ्य पर्यायता नास्तीत्यप्युन्नीयते। तथा हि—अघमर्षणसूक्ते सुप्रसिद्धे 'ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इति सहप्रयोग पश्याम, नात्र पर्यायतया द्वय व्याख्यातु शक्यम्, पुनरुक्तिप्रसङ्गात्। अत्र भाष्यकृत श्रीसायणाचार्या 'ऋत मानस यथार्थसकल्पनम् सत्य वाचिक यथार्थभाषणम्' इति किंचिद्विशेष परिकल्प्य व्याचख्यु। किमेवविधभेदपरिकल्पने बीजमिति न तत्र तै स्पष्टीकृतम्। किंच—सर्वलोकादिसृष्टिप्रतिपादकेऽस्मिन् मन्त्र उक्तरूपयोर्ऋतसत्ययो प्रथममुत्पत्तिप्रदर्शनं न विचारसहम्, पृथिव्यादिलोकसृष्टे प्राक् मनुष्यादीना स्थित्यसम्भवात्, तानन्तरेण च मानसवाचिकयोर्ऋतसत्ययो-र्निराधाराया सृष्टेरसामञ्जस्यात्। याऽपि ऋतसत्ये सकलधर्मोपलक्षणे, धर्माणा च प्रथम सृष्टिरित्युपपत्तिराचार्यैं प्रदर्शिता, सापि धर्मिणमन्तरेण धर्माणा निराधारताप्रसङ्गान्न व्यवतिष्ठते। बृहदारण्यके च वर्णसृष्टेरनन्तर धर्मसृष्टिकथनात्[१] ततो विरुद्धापि प्रतीयते। तस्मादर्थान्तरमत्रानयो शब्दयोर्मृग्य स्यात्। सूर्याचन्द्रमोभ्या पूर्वमहोरात्रसृष्टि, पृथिव्या प्रागर्णवस्य सृष्टिरित्याद्यपि तत्र सूक्ते विचार्यमेव। अथ

'सत्यव्रत सत्यपर त्रिसत्य सत्यस्य योनि निहित च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्र सत्यात्मक त्वा शरण प्रपन्ना॥'

(श्रीमागवत १० स्क० पू०)

---

१ (१।४।१४)

इति भागवतीयपद्ये श्रीधरस्वामिनस्तु 'ऋतं च सूनृता वाणी सत्यं च सम दर्शनम्' इति सायणाचार्यविपरीतमिव व्याचख्युः । श्रीवल्लभाचार्याश्च सुबोधिन्याम् 'ऋतसत्ये नेत्रे प्रापके यस्येति' विगृह्णन्तः 'ऋतं सूनृता वाणी, वेदः सत्यप्रतिपादकः, प्रमाणं वेदः, प्रमेयं भगवद्धर्मो (आद्यं सत्यम्, परमृतम्)' इत्यादि व्याचख्युः । इहापि तु 'सत्यव्रतम्' इत्यनेनैवोक्तस्यार्थस्य पुनरुक्तेरसामञ्जस्यात्पदार्थान्तरमेव ऋतसत्यशब्दाभ्यामभिहितमिति प्रतिभाति । एवमन्यत्रापि—

व्यब्रवीद्वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्वाँ ऋतचिद्धि सत्य ।

(ऋ० १।१४५।५)

इत्यादिषु मन्त्रेषु,

'ऋतमेव पूर्व आधारः सत्यमुत्तरोऽन्त ह वा ऋतसत्ये यच्चैऽथो यत्किंचितं-सत्याम्या जयम्, सर्वं हैव तज्जयति' (शतपथ ब्रा० ११।०।७।९)

इत्यादिषु ब्राह्मणेषु,

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥

(महाभारते आदि प० १।२८८ २८९)

इत्यादिषु पुराणेषु च न शब्दाविमौ पर्यायत्वेन व्याख्यातुं शक्यौ, भेदेन व्यपदेशात् । न चापि केवलं मानसवाचिकधर्मपरतया सामञ्जस्यमावहतीति सुसूक्ष्मं मालोच्यतां सुधीभिरास्थायान्वेषणप्रवणताम् ।

तथास्मद्गुरुप्रवरवदविज्ञानसमीक्षाचक्रवर्ति— विद्यावाचस्पति — श्रीमधुसूदन शर्मचरणैरिह तत्त्वं स्वग्रन्थेषु प्रतिपादितम्, यद् द्विविधा भवन्ति वैज्ञानिक प्रक्रियाया पदार्थाः —हृदयरहिता, सहृदयाश्चेति । आङ्गलभाषाया 'सेण्टर' (centre) शब्देन यद् व्यवह्रियते लौकिके संस्कृते च 'केन्द्र'शब्देन यदुच्यते, तदेव वेदे हृदयशब्देन, नाभिशब्देन च व्यपदिष्टं द्रष्टव्यम् । भवन्ति केचन पदार्था ये केन्द्रमाश्रित्यैव तिष्ठन्ति, यथा प्रस्तराद्या, एते सहृदया सत्यशब्देन व्यवह्रियन्ते । हृदयाधारेणैवेमामवस्थिति, हृदयं एवैषां विधारणशक्तिः । अङ्गुल्यापि धृते केन्द्रे महामहान्तोऽपि प्रस्तराद्या विधृतास्तिष्ठन्ति, न विचलन्ति, तेन परि-चितकेन्द्रः स्वल्पबलोऽपि मनुजो गुरुतमं भारमुद्धोढुमीष्टीति वैज्ञानिका प्रति-पादयन्ति । 'शरीरं हृदये (श्रितम्)' (तै० ब्रा० ३।१०।८।७) इत्याद्या श्रुतिरपि चैतमेवार्थमाह ।

तथा—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

इति मन्त्रे प्रजापतिपदेनापीव केन्द्रशक्तिः प्रतिपादितेत्यास्माभिरिदमभ्यूह्यतम्। अथापरे पदार्थाः विशकलिता एव तिष्ठन्ति, न केन्द्रं प्रकल्पयन्ति, यथा जलाद्याः, ते हृदयरहिता ऋतशब्देन व्यपदिश्यन्ते। अत एव ऋतशब्दव्याख्यानावसरे निरुक्तकृद्यास्क आह 'ऋतमित्युदकनाम, प्रत्यृतं भवति' (अ० २ खण्ड २५) इति। प्रत्यृतम् इतस्ततो विकीर्णम्। अकेन्द्रकमित्यर्थः।

अग्नीषोमात्मकं जगत्—इति हि वैदिकं दर्शनम्। तत्र सोम ऋतम्, अहृदयत्वात्, अग्निस्तु सत्यम्, केन्द्रं प्रकल्प्य तदाधारेणैवावस्थानात्। सृष्टेरारम्भे सर्वमृतं भवति, सर्गात्प्राक् केन्द्रनिबन्धनासम्भवात्। अत एव 'ब्रह्म वा ऋतम्' 'ब्रह्मो ह्यृतम्' (शत० ब्रा० ४।१।४।१०) इत्यादिषु सर्वप्रथमस्य ब्रह्मणः ऋतत्वमाम्नातम्। प्रवृत्ते तु सर्गे केन्द्रशक्तिस्तत्र तत्र प्रतिनियता भवन्तीति सत्यान्युपपद्यन्ते। अथापि सोमजातीयाः सोमप्रधाना पदार्थाः स्वभावेन हृदयरहिता एव तिष्ठन्ति, ते ऋतान्येवोच्यन्ते।

पञ्चसु महाभूतेषु प्रथममाकाशोत्पत्तिः श्रूयते। तत्राकाशः शब्दघनात्मकम्। शब्दश्च केन्द्रं परिगृह्यैवावतिष्ठत इति आकाशः 'सत्यम्'। तदनन्तरो वायुस्तु 'ऋतम्', नहि वायुः क्वापि केन्द्रं प्रकल्प्य तिष्ठति, इतस्ततो विकीर्ण एव तु भवति। तदनु तेजः 'सत्यम्', तत आपः 'ऋतम्', तदनु पृथिवी च सत्यमिति क्रम उपलभ्यते। तथैव व्यस्तव्याहृतिप्रतिपाद्येषु सप्तसु लोकेषु भूरिय 'सत्यम्', भुव इत्यन्तरिक्षं च 'ऋतम्' शून्येऽन्तरिक्षे हृदयासम्भवात्। 'अन्तरिक्षं वा ऋतस्य विभूना' (तैत्ति० ३।३।५।४), 'ऋतमसि ऋतसदनमसि' (तैत्ति० सं० १।१।९।३) इत्याद्यासु श्रुतिषु चान्तरिक्षमृतमेव श्रूयते। ततः परं स्वरिति सूर्यमण्डलं 'सत्यम्', मह इति सूर्यात्परतोऽन्तरिक्षं च 'ऋतम्'। ततो जन इति परमेष्ठिमण्डलं 'सत्यम्' तप इति ततः परमन्तरिक्षम् 'ऋतम्'। अथ सत्यमिति स्वयम्भूमण्डलं 'सत्यम्' एवेति तत्रापि क्रमः। एषु हि सप्तसु लोकेषु चत्वारि मण्डलानि, त्रीणि च मध्यगान्यन्तरिक्षाणीति मण्डलानि सत्यपदेन, अन्तरिक्षाणि च ऋतपदेन व्यवह्रियन्ते। परमस्मात् परितो वर्तमाने द्यावापृथिव्योरस्मिन्नन्तरिक्षे परिभ्रमता चन्द्रमण्डलेन सार्धं घनिष्ठोऽस्माकं पृथिव्याः सम्बन्ध इति सोऽपि मण्डलेषु परिगणितः। तेन मण्डलपञ्चकपरम्परा 'पञ्चपुण्डीरेव वल्शा (शाखा)' श्रुतौ व्यवहृता। तान्येतानि मण्डलानि अन्तरिक्षापेक्षया सर्वाण्यपि सत्यानि। परं परस्परं तारतम्यपर्यालोचने (केन्द्रबन्धदार्ढ्यशैथिल्यविवेके) इहापि क्रम आम्नात—स्वयम्भूमण्डलं सत्यम्, परमेष्ठिमण्डलं स्वप्राधान्यादृतम्, तदनु सूर्यः सत्यम्, चन्द्रमास्तु पूर्वोक्तन्यायेनैव ऋतम्, अथ पृथिवीयमग्निप्रधाना सत्यमिति त्रीणि सत्यानि, द्वे च ऋते इहापि द्रष्टव्ये। एतदभिप्रायेणैव—

ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किञ्चन ।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता ॥
(तैत्ति० ब्रा० १।५।५।१)

इति अप्प्रधानस्य परमेष्ठिन ऋतत्वमेवोक्तम् । ऋतस्य च व्यापकत्वमत्र प्रदर्शितम्, तन्मध्य एव भूम्यादीनामवस्थानवर्णनात् । तदिदं युक्तमेव, नहि केन्द्रनिबद्धा पदार्था विभवो भवितुमर्हन्ति, अपरिच्छिन्नस्य केन्द्रकल्पनाऽसम्भवात् । ऋतं तु प्रसरणशीलं सर्वमभिव्याप्यापि शक्नोति स्थातुम् । अन्यत्रापि च—

'ऋतमर्षन्ति सिन्धव सत्य तातान सूर्यो ' (ऋ० सं० १।१०५।१२) इत्यादिषु मन्त्रेषु सिन्धूनामृतवाहिता सूर्यस्य च सत्यविस्तारण स्फुटमुक्तम् । तेन जलस्य ऋतत्वम्, सूर्यकिरणानां च सत्यत्वं स्थिरीभवति । सूर्यकिरणानां केन्द्रनिबद्धत्वाज्जलस्य च तथात्वाभावात् ।

तथैव—'अग्निर्होता यविष्ठ्यः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः' (ऋ० सं० १।१।५)

'वैश्वानर तव तत्सत्यमस्त्वस्मान् रायो मघवान सचन्ताम्'
(ऋ० सं० १।९८।३)

'स देहि सहस्रिणं रयिं नोऽद्रोघेण वचसा सत्यमग्ने'
(ऋ० सं० ३।१४।६)

'तद्यत्तत्सत्यम्, असौ स आदित्य' (शत० ब्रा० ६।७।१।२)।

'अथास्या हिरण्यं बध्नीते । द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या । अग्निरेतस् वै हिरण्यम् । सत्येनांशूनुपस्पृशानि, सत्येन सोमं पराहणानीति' (शत० ब्रा० ३।३।२।२)

'सत्यं हैतद् यदुक्थम्' (शत० ब्रा० ६।७।१।१)

इत्यादिषु मन्त्रब्राह्मणेषु सहृदयानामग्न्यादित्यादीनां तत्संबन्धिनां हिरण्यादीनां च सत्यत्वमाम्नायते । हृदयं हि सर्वेषां वस्तूनां 'प्रतिष्ठा' भवतीत्यवोचाम, तदाधारेणैव सर्वेषां पदार्थानामवस्थानात् । प्रतिष्ठायाश्च सत्यत्वं तत्र तत्र ब्राह्मणवाक्येषु श्रूयते । तेन हृदयसत्ययोरैक्यमत्र प्रसिद्ध्यति । शतपथस्य चतुर्दशे काण्डे च (८ अ० ४६ ब्राह्मणेषु) 'एष प्रजापतिर्यद् हृदयम् तदेतद् त्र्यक्षरं हृदयमिति', 'तद्वै तदेतदेव तदास । सत्यमेव स', 'तदेतत् त्र्यक्षरम् सतियमिति' इत्यादिना प्रपञ्चेन हृदय-सत्ययोरेकत्वमेव द्रढीकृतम् । प्रजापतेश्च केन्द्रशक्तिरूपस्य पूर्वोक्तस्य हृदयवस्तुकामिति सहृदयस्य पदार्थस्य सत्यत्वं स्फुटमुक्तं भवति । 'कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदये इति होवाच' । (बृह० उप० ३।९।२३) इति शाकल्य-याज्ञवल्क्य संवादेऽपि न्यायमर्थं स्फुटो भवति । यद्यपि वचनरूपं सत्यमत्र व्याख्यायते, अथापि बहुभिप्रायगर्भा श्रुत्या भवन्तीति पदार्थगतं सत्यत्वमपि शक्यमनुसन्धातुम् ।

अथ—'वरुणस्य ऋतसदनमासीद' (यजु स० ४।३६)

'प्रसीमादित्यो असृजद्विधर्ता ऋत सिन्धवो वरुणस्य यन्ति'
(ऋ० स० २।२८।४)

'यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य

मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्ती सोम वेद ।' (ऋ० स० १।४३।९)

'तन्म ऋत पातु शतधारदाय' (ऋ० स० ७।१०१।६)

'चारुर्ऋताय पीतये' (ऋ० स० १।१३७।२)

'वायुरसि प्राणो नाम " ऋतमसि सत्य नाम' " "

'ऋतस्य त्वा व्योमने, ऋतस्य त्वा विधर्मणे' (तै० स० ३।३।५)

'ऋतस्य त्वा देवहवि पाशेन प्रतिमुञ्चामीति, वरुण्या वा एषा यद्रज्जु' (शत० ब्रा० ३।७।४।१) इत्यादिषु च वरुण वायु सोम जलप्रभृतीनामहृदयानामृतत्वमाम्नायते ।

'ऋतस्य गर्भ प्रथमा व्यूषुष्यपामेका महिमान बिभर्ति' (तैत्ति० स० ४।३।११।५) इति मन्त्रे च उषा 'ऋतस्य गर्भ' इति स्तूयते उषसि प्रत्यताना प्रकाशावस्थायादीनामकन्द्रत्वात्, उषसो जनकाना वा प्रवृत्ताना प्रकाशानामृतत्वात् । तथैव—

"कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आ ववृत्रन् सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥"
(ऋ० स० १।१६४।४७)

इति मन्त्रे उत्तरस्या दिश ऋतसदनत्वमाम्नायते, उत्तरा हि दिक् सोमस्यापा च सदन भवति, ततश्च अहृदयानामपा सोमस्य च ऋतत्वमत्र स्फुटमाख्यात भवति । 'प्रत्यृत भवतीति' निरुक्तव्याख्यया च सोऽयमर्थो दृढीभवति ।

सर्वमपि इदममृतगर्भ भवति, पिण्डस्य कन्द्रवदवयवावयवधारायां विश्रान्तावन्तत सर्वत्र ऋतस्यैवोपलम्भात् । ऋतान्येव हि कन्द्रवन्ति सन्ति सत्यत्वमाप्नुवन्ति । अत एव शतपथब्राह्मणे (११।१।६।१) "आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ता अकामयन्त कथ नु प्रजायेमहीति । ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त, तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्ड सबभूव" "तत सवत्सरे पुरुष समभवत्, स प्रजापति" इत्यादिना प्रपञ्चेन ऋतास्वप्सु एव सत्यस्य सवत्सराग्ने प्रजापतेरुत्पत्तिरभिहिता ।

'ऋतचिद्धि सत्य' (ऋ० स० १।१४५।५) इति मन्त्रेऽपि च सत्योऽग्निऋतचयनविधिद्योऽभिहित । 'ऋताषाड् ऋतधामाग्नि' इति मन्त्रेऽपि चाग्नेर्ऋत गर्भत्वाभिप्रायकमृतधामत्व श्रूयते । तथैवान्यदिमूरस्य ऋतस्यान्यना सत्या भवन्तीत्यपि दृश्यते, यथा ज्लादयन्मूना भिन्दन कन्द्रवन्ता सत्या भवन्ति । एतदभिप्रायेणैव श्रुतिराह 'ऋत सत्येऽधायि, सत्यमृतेऽधायि, ऋत च मे सत्य

चामृताम्" इति (तै० ब्रा० ३।७।७।४)। ऋत सत्यरूपेण परिणमद्भिरदृष्टमव-लोक्यते, यथा जल हिमतां गत सत्यभावमापद्यते। वायुर्वा व्यजनादिपरिचालित केन्द्रनिबद्ध सत्यो भवति, सोमोऽपि चाग्नौ हूयमानोऽग्निरूपतां गच्छन् सत्य एव सपद्यते। तथैव सत्यमप्यृततां गच्छति। तथा ह्यग्निर्वा सूर्यतेजो वा यावत्केन्द्र सन्नद्ध भवति, भवति तावत् सत्यम्। यदा तु पदार्थान्तरमनुप्रविशति, तदा केन्द्रात्प्रवृत्तमृतं भवति। यथा ओभेऽस्तमितेऽप्यादित्ये बहुकालपर्यन्त प्रस्तरादि सूष्मा प्रतीयते। अग्नौ भून चामायस्ने पृथक् कृतमपि चिरमुष्ण तिष्ठति। तत्रैव तेज केन्द्रादपवृत्त पदार्थान्तराङ्गता गतमिति स्पष्टमेव। इदमेव 'प्रवर्ग्य' इति 'उच्छिष्टमिति' च श्रुतिष्वाख्यायते। तदित्थमृतसत्ययो परस्पराङ्गता परस्पर रूप परिणतिं चामिलक्ष्यैकत्वमेवानयो पश्यन्ती श्रुति शब्दाविमौ पर्यायेणैव बहुश प्रयुङ्क्ते। एतदभिप्रायेणैव चाग्नेरादित्यस्य च क्वचित्सत्यत्व क्वचिदृतत्व चाम्नायते "ऋत त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायं परिषिञ्चति, सत्य त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रात। अग्निर्वा ऋतम्, असावादित्य सत्यम्" (तैत्ति० ब्रा० २।१।११।१)। "अथ वा अग्निरृतम्, असावादित्य सत्यम्। यदि वाऽसावृतमिय सत्यम्। उभयम्वेतदयमग्नि" (शत० प० १४।२।७।९) इत्यासामु श्रुतिषु। तदिद मूलतत्त्वस्यैकत्वाभिप्रायक द्रष्टव्यम्।

सूर्यमण्डलादपवृत्त पार्थिवपदार्थाङ्गता भवत्सौर तेजो यदाख्यातम्, तदेव 'ऋताग्नि' इति 'सत्याग्नि' इति च श्रुतिषु व्यवह्रियते। एतत्तारतम्यादेव पृथिव्या समय (मौसम)-परिवर्तन भवतीति ते समया ऋतसम्बन्धादेव 'ऋतव' इत्याख्यायन्ते। पृथिव्या चित पृथिवीकेन्द्रनिबद्धश्च पार्थिवोऽग्नि 'सत्य' इति साधितमेव। सोऽयमपि वस्तुत सूर्यादेवोत्पन्न। पृथिवीपिण्डस्य सूर्यपिण्डादेवो त्पत्ते श्रुतिसम्मतत्वात्, तदग्नेरपि तत एवोत्पन्नत्वात्। इद तु स्मर्तव्यम्—श्रुतिषु नायमग्निशब्द उष्णस्पर्शवद् द्रव्यस्यैवाभिधायक, अपि तु सर्वपदार्थमूलभूतमन्नद प्राणमयमाह। उष्णताप्यस्यैवावस्थाविशेष इत्यन्यदेतत्। ततश्च सौरा प्राणा, पार्थिवा प्राणाश्च ऋतसत्यपदाभ्यामभिधीयन्ते।

तदिद द्वयमेव 'ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'—इत्यघमर्षणसूक्ते प्रक्रान्तम्। अनयोरेव कारणभावत्वम्, लोकनिर्मातृत्व चेति तत्रापदिष्टम्। एवविधेषु शब्देष्वेव वैदिकविज्ञानकोष सुनिहितो वर्तते। यदि विद्वांसो व्याव हारिकमुखसिद्धार्थनिदर्शनप्रधानेषु कोषेष्वेव वैकल्पमनालम्ब्य शब्दार्थान्वेषण प्रक्रियामुररीकुर्यु, तर्हि निगूढस्य वैदिकस्य विज्ञानस्य भूयोऽपि प्रकाशेन दिश उन्मीलिता स्यु।

वेदेषु विज्ञानम् , तस्य क्रमिको ह्रासश्च

सिन्दूरपूरारुणिताखिलाङ्गो यज्ञोपवीतीकृतनागराजः ।
उद्दामविघ्नौघविघातदक्षः पायादपायादनिशं गणेशः ॥

किमिदं विज्ञानम्

इह खलु निगूढं जगत्तत्त्वं कारुण्येनोपदिशता महामहिमशालिना तत्र भगवता द्वेधा निरूपणप्रक्रिया भिद्यते। तथा च द्वयमिदं प्राप्यते—ज्ञानं च विज्ञानं चेति। विभिन्नं वस्तुजातमभिसम्भीकृत्य मूलान्वेषणक्रमेणैकतत्त्वपर्यन्तं *ज्ञानं तद्दर्शनम्। 'एकतत्त्वं निरूढं मत्वा क्रमशः तस्यानन्तरूपतापत्तिर्विज्ञानम्। विशिष्टं ज्ञानं हि विज्ञानम्, विविधं ज्ञानम्, विभेदेन ज्ञानं वा विज्ञानमिति। तत्रैव मूलान्वेषणक्रममनेकतत्त्वगाति सूक्ष्मतत्त्वेषु न प्रायेण प्रत्यक्षसाध्या, अनुमानं वा शब्दप्रमाणस्य विचारैरेव प्रादुर्भवति। बुद्धिमनुसृत्य च निष्पाद्यमाने निर्णये प्रक्रियाभेदा मतभेदाश्च भृशं विजृम्भन्त एव, बुद्धीनामैकरूप्याभावेन मतैकरस्य तत्र दुर्लभत्वात्। प्रक्रियाया ऐक्यं तु समापयितुमप्यशक्यम्। अथैकस्यानेकरूपताया तु मुख्यं प्रत्यक्षमेवेति परोक्षरूपे प्रतिभासे ज्ञानशब्दः प्रत्यक्षे प्रत्यक्षायिते वा रूपे प्रतिभासे तु विज्ञानशब्दः स्थाने प्रवृत्तः। अत एव—

"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।" (भ. गी. ७।२)

"ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।" (भ. गी. ८।१)

इत्यादिषु "विज्ञानसहितं-स्वानुभवसंयुक्तम्" इति श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतिभिर्भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्। एकमूलान्वेषणं केवलं मोक्षोपयोगि। एकस्यानेकरूपताविचारस्तु व्यवहारोपयोगितामप्यावहतीति क्रमशः व्यवहारोपयोगिनि ज्ञाने विज्ञानशब्दः, मोक्षोपयोगिनि ज्ञाने तु ज्ञानशब्दो निरूढिं गतः। तदभिप्रायेणैव—

"मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ।"

इति तत्र भवानमरसिंहो बभाषे। अनेनैव च पथाऽधुना वस्तुतत्त्वान्वेषणपरं 'साइन्स' इति नाम्ना प्रसिद्धं शास्त्रं विज्ञानशब्देनैव सर्वे विद्वांसः परिचिन्वन्ति। वस्तुतस्तु मोक्षोपयोगि तत्त्वमपि यदा न केवलं परोक्षविधया, अपि तु अनुभवपर्यवसायितया प्रतिपद्यते, तदा तदपि विज्ञानपदव्यपदेश्यतामवगाहते। तत एव तु भगवद्गीतासु "ज्ञानं विज्ञानसहितम्" इत्याद्यादिष्टम्। न हि शिल्पशास्त्रयोस्तत्र

---

* 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।' (भ. गी. १८।२)

कापि कथा। अनुभवावसानमेव च तत्त्वज्ञानमविद्यानिवर्त्तकमाचक्षत आचार्या इति विज्ञानमेव मोक्षौपयिकमपि। किञ्च परोक्षप्रतिभासरूपे ज्ञाने ये मतभेदा प्रक्रियाभेदा वा विभिन्नदृशा विजृम्भन्ते, ते तत्र दर्शनसमाख्यां लभन्ते। तेषु दर्शनेषु दृष्टिभेदप्रधानेषु पारस्परिकाणां वाक्कलहानामपि भवति सम्भावना। विज्ञाने त्वनुभवावसाने प्रत्यक्षायिते प्रतिभासे न कापि विचारभेदस्यापि सम्भावना, दूरे तु विचारभेदमूलकः कलहः इत्यहो विज्ञानस्य महिमेत्यास्तामप्रकृतविस्तरः।

वेदे का प्रक्रिया !

इदं तु वक्तव्यम्। वेदेष्विमां विज्ञानधारामेव शैलीं प्राधान्येनोपलभामहे। एकस्मादेव मूलतत्त्वादत्यन्तविलक्षणस्य सर्वप्रपञ्चस्य जगत उत्पत्तिर्वेदेषु बहुधा प्रपञ्चिता, तत्तद्वस्तुधर्माश्च करतलामलकवद् विस्पष्टं ग्राहिताः। किमन्यत्—यत्र धर्मतत्त्वं मोक्षतत्त्वं च यत् प्राधान्येनोपदिष्टम्, तदपि वस्तुतत्त्वविवेचनप्रधाना-मनुभवपर्यवसायिनीं च विज्ञानशैलीमेव समालम्ब्य समुपदिष्टम्, न तु परोक्षमिव केवलं श्रद्धाप्रधानां शैलीमभिलक्ष्येति विवेचनपरा विद्वांसः सम्यगवगच्छेयुः। तस्माद् वैदिकं सर्वमपि ज्ञानम्—आत्मविज्ञानम्, ब्रह्मविज्ञानम्, धर्मविज्ञानमिति विज्ञानशब्देनैवोपदेष्टुमर्हम्। अत एव कर्मविधिपरेषु ब्राह्मणेषु प्रतिविधि † 'किमर्थमयमेतत् करोति' इति जिज्ञासामुत्थाप्य वस्तुतत्त्वावलम्बेन तत्समाधानं तत्र तत्र पश्यामः। तेन च वस्तुशक्तिमवलम्ब्यैव वस्तुविज्ञानाधारोऽस्माकं धर्मोऽपीति सुस्पष्टं भवति।

उपनिषत्स्वपि च दृश्यवस्तुतत्त्वावलम्बिनीं निरूपणप्रक्रियाम्, बहुभिश्च तैस्तै-र्दृष्टान्तैरात्मविद्याया अप्यनुभवावसानतामापादयन्तीं समालोचयाम। छान्दोग्योप-निषत्सु षष्ठं प्रपाठकं, बृहदारण्यकोपनिषत्सु चतुर्थपञ्चमाध्यायौ चात्र विशेषेण निदर्शनार्हौ। धर्मश्रद्धाप्रभावेनैव न सर्वं वस्तुतत्त्वं कार्त्स्न्येन वेदेष्वालोचितं प्रतिजानीमः। अयमेव सर्वविद्यायां प्रतिपादनप्रकारः सर्वविद्यादिमूलानां वेदानां किमपि गौरवमुद्भावयति। तत एव च वेदैकशरणानामार्याणां शिरोऽद्यापि जगत्युन्नतम्।

तदिदं सर्वमपि विज्ञानं मन्त्रेषु सुसूक्ष्मतरं सूत्ररूपं संकेतविधया समुपदिष्टम्। ब्राह्मणादिषु च यथोपयोगं किञ्चिद् विवृतम्। यदा खलु जागर्ति स्म वैदिकं विज्ञानं भारते, तदा संकेतमात्रेणैव ते तमर्थं प्रतिपत्तिं प्रपद्यन्ते स्म। न बहु व्याख्यानमपेक्षितमभूत्। विद्ययाऽन्तःकरणं संस्कार्यमिति चासीत् तत्रभवतामार्याणां शैली। पुस्तकप्रलम्बतामपि न ते विषेहिरे। अत एव—

---

† 'यद्यदेव उपस्पृशति अमेध्यो वै पुरुषः' (१।१।१) इत्यादि शतपथब्राह्मणं द्रष्टव्यम्।

पुस्तकस्था च या विद्या परहस्ते च यद् धनम्।
कार्यकाले तु सम्प्राप्ते न सा विद्या न तद् धनम्।

इत्याद्यप्यस्माकं नीतिर्निर्दिश्यते। ततश्च अन्यत्रैव तदानीं नैकमर्थम्। सूत्ररूपेणैव प्रतिपादनशैली प्रवर्तते स्म। अतएव वेदेषु तादृशी निरूपणशैली दृश्यते यद् देवतास्तुतिरूपेष्वेव मन्त्रेषु कश्चिद् विशेषेण तत्त्वमपि गभीरं विज्ञानं निवेश्यते। स्तुतिद्वारेण चैतिहासिकं विवरणमपि तथैव कल्प्यते। अत्र कानिचिदुदाहरणानि संक्षेपेण दर्श्यन्ते—

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।' (ऋ० १।१।१)।

इति प्रथमतया आदिम एव मन्त्रः—

'पुरोहितम्' 'यज्ञस्य देवम्' 'ऋत्विजम्' 'होतारम्' 'रत्नधातमम्' इति पञ्च विशेषणान्यग्नेः श्रूयन्ते। तत्र 'पुरोहितम्' इति अस्माकं पुरः स्थित एवाग्निः प्रस्तुतो न, वैश्वानरोऽग्निरपि ... स्वस्य व्याप्तिं दर्शयन्, पुरो दृश्यमानेषु सर्वेष्वपि वर्तते स्म इत्यन्तर्निहितमाह। 'यत् किञ्चित् दार्ढ्यं सकम्, अग्निकर्मैव तत्' इति निरुक्तकारा भगवान् यास्कः (निरुक्त ७ अध्याये)। मौलिकस्य तत्त्वस्याग्नेरेव चयनेन (सम्मिश्रणेन, विभजनेन वा) सर्वे पदार्था निष्पद्यन्ते स एव चितोऽग्निः। सर्वत्र पुनः ... चितेनाग्निना-इति वैदिकं दर्शनम्। वस्तु वैज्ञानिका आधुनिका अपि ... मौलिकान् कथयन्ति, तेषां स्थूलप्रतिपत्त्या दृष्टत्वात्। तत्रापि अनेक एव पदार्थास्तैर्मूलतत्त्वरूपेण स्वीक्रियन्ते। वैदिकं तु सिद्धान्तमाश्रित्य सर्वेष्वपि पदार्थेष्वग्निरेवानुगतः। तत्राप्येकं तस्यैव स्थूलरूपम्। अन्यत्रापि मन्त्रेषु सुस्पष्टमेवमभिहितम्—

गर्भो अस्य ओषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य अग्ने गर्भमसि ॥

(यजु — १२—३७)

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः ॥

(ऋक्० म० १।७०।२)

इत्यादिना। तत् 'पुरोहितम्' अग्निं वदन् सर्वस्मादपि पुरः दृश्यमानान् पार्थिवान् पदार्थान् अभिलक्षयति। सर्वेषामपि निर्माणे कारणम्—इति द्वितीयेन 'यज्ञस्य देवम्' इति विशेषणेनोच्यते। सर्वेऽपि पदार्था दृश्यमाना न कदाप्येकरूपाः, परिवर्तनशीला इति सर्वेऽनुभवन्ति। परिवर्तनमपि च

नैकान्तं सत्तां जहाति । तदिदं सर्वं यज्ञकृतम् । स्वीयानां भावानामन्यत्रार्पणम्, अन्यतश्च भावानामादानमितीयमादानप्रदानप्रक्रिया यज्ञः । यथा प्रदीपः प्रकाशं सर्वत्रार्पयति तैलादयवांश्चाजस्रमादत्ते, वृक्षलताः पुष्पफलानि ददति, पृथिव्या अपां च रसमजस्रमाददते । प्राणिन आहारमाददते, मलं बलं च तत्र तत्र प्रयोजयन्तीति सुस्फुटं सर्वत्रानुभूयेत सूक्ष्मया दृशा । सोऽयमादानप्रदानापरपर्यायोऽन्नान्नादभाव एव प्राकृतो यज्ञ उच्यते, स चायमग्निसाध्य इत्यग्निरेव यज्ञस्य देवः । अग्नौ सोमाहुतिरेव यज्ञसंपादिका । अनेनैव यज्ञेन सर्वेषामुत्पत्तिः स्थितिश्च । प्राणिनामङ्गपोषो वृक्षादीनां पर्णपुष्पादिप्रसवश्च सर्वोऽग्नियज्ञसाध्य । तदेतद्वृक्षादिविषयेऽन्यत्रापि स्फुटीकृतम्—

> प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः
> ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः । (ऋक् १०।७९।३)

एतद् व्याख्यातं श्रीमाधवाचार्यैः—"अयमग्निः, मातुः—पृथिव्याः सम्बन्धिनीः, उर्वीः—महीः, वीरुधः—लताः, इच्छन्—कामयमानः प्रसर्पन्—प्रसर्पति—प्रसरति । किमिव, कुमार इव, स यथा स्तन्यं पातुं मातुरुत्सङ्गं सर्पति, तद्वत् । ससं न पक्वम्—पक्वमन्नमिव, शुचन्तम् दीप्यमानं नीरसं वृक्षम्, रिपः पृथिव्याः उपस्थे, अन्तः उत्सङ्गे, अन्तरविदत्—विन्दति । पुनः कीदृशम्, रिरिह्वांसम्—आस्वादयन्तम्, यद्वा मूलैर्मातरं पृथिवीं रिरिह्वांसम्" । इति । अत्र तृतीयचतुर्थयोः पादयोरेकवाक्यतास्वारस्येन संपादिता । एतदपेक्षया तयोः पृथग् वाक्यत्वं यदि स्यात्—पक्वमन्नमिव शुचन्तम्—नीरसं वृक्षमविदत्, रिपः उपस्थे अन्तः—पृथिव्या उत्सङ्गे, रिरिह्वांसम्—रसमास्वादयन्तं चाविददिति, ततोऽधिकं स्पष्टता स्यात् । वृक्षमूलादिषु सिक्तं जलमादित्यरश्मय ऊर्ध्वमाकर्षन्ति, तेन सहैव तज्जलसक्तः पार्थिवोऽग्निरप्यूर्ध्वमाक्रमते, तदेतदग्नेः सर्पणमुक्तं पूर्वस्मिन्मन्त्रे स्फुटमुक्तम् । तस्यैतस्य चीयमानस्याग्नेरुपरितने भागे वायुसंपर्कादुष्णतामापद्यते—अन्तरस्तु मन्दस्येव रसोऽग्निसमम् । अत्र हि सोमस्य प्राधान्यमपि स्फुटीकृतं श्रुतौ—

> त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः
> त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ।
> (ऋ० अ० १ अ० ६ वर्ग २१)

तत्र पार्थिवेऽग्नौ सोमाहुतिरेव वृक्षाद्युत्पत्तिहेतुरिति यज्ञस्य हेतुता सिद्धा । अनेन यज्ञेनैव वृक्षादीनामूर्ध्वं तिर्यक् च क्रमेण विस्तारः, तिर्यक्प्रसार एव शाखापर्णादिजनकः, तस्यैव च रसस्य पर्णपुष्पफलादिरूपेण परिणामः । परं कस्य वृक्षलतादेः कियती प्रसृतिरूर्ध्वं तिर्यग्वेति सर्वमिदं मूले स्थितस्य प्राणस्यायत्तम् । स्य मूलशक्तिरवाक्याधृत्व 'प्रतरम्' 'गुह्यम्' इति श्रुतिः । प्रकृतं पार्थिवस्य रसस्य कृष्णवर्णतया,आदित्यस्य च 'सिंहस्य द्रापिं प्रतिमुञ्चते कविः' (ऋक् सं०

४।५३।२) इति पीतवर्णतायाः ऋतस्तेनोभयो संयोगाद्धरित रूप वृक्षपर्णादिषूपलभ्यते । यदा तु यमेन प्रतिबद्धो रसो नोपसर्पति, तदा केवलस्या दित्यस्य पीतमेन रूप पर्णेषु प्रतिभासते । तदा मूलात् प्रवर्त्यमानोऽयमग्नि पृथगवस्थया पर्णादिषु स्थिरो भवति । एवमेव शुष्केष्वन्नेष्वपि भिन्नयैवावस्थ याग्नेरवस्थितिरिति ते उभे अप्य-स्य पृथगेव प्रतिपादिते । "अग्निर्वै शर्माणि स्वादीनि प्रयच्छति" (ऐ ब्रा २।५।९) इत्यादिना ब्राह्मणेषु च विस्पष्टीकृत विज्ञानमिदमिति कृत विस्तरेण ।

अथ प्रथमायामृचि तृतीय विशेषणमृत्विजमिति । ऋतुभिर्यजति—सगच्छत इति वा, ऋतून् यजति—ददातीति वा तस्याय । प्रथमे विग्रहे ऋतस्य सौराग्नेरवयवा एव ऋतुशब्दार्थ । द्वितीये तु तत्तत्फलपुष्पादिजनकत्वेन प्रसिद्ध स स काल एव ऋतुशब्दार्थ ।

उभयथापि सौराग्निना सङ्गतोऽय पार्थिवोऽग्निस्तत्तदृतुव्यपदेशप्रयोजक इति सिद्ध्यति । सौरस्य संवत्सररूपतामापन्नस्याग्नेरपेक्षयैव ऋतूना नामान्यपि क्लृप्तानि । अग्नयोऽत्र वसन्त—क्रमेण सर्वत्र व्याप्नुवाना सन्ति, स कालो वसन्त इत्या ख्यायते । यदा तु सर्वानर्थान् गृह्णान –आत्मसात्कुर्वाणोऽस्ति, स कालो ग्रीष्म, ग्रहधातो परोक्षवृत्त्या निष्पन्नत्वादस्य शब्दस्य । यदा तेऽग्नय प्रवृद्धा भवन्ति तदा वर्षा, वृधधातुनिष्पन्नोऽय शब्द । अथ परा वृद्धि प्राप्य यदा क्षय गन्तुमारभन्तेऽग्नय, तदा (शरन्तोऽग्नयो यत्र) शरत्काल, हीनताया हेमन्त, सर्वथा विशीर्णेषु चाग्निषु शिशिर इति 'जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' इति यास्कपरिपठिता षड्भावविकारा एव ऋताग्निसम्बन्धेनेह ऋतु वाचकै शब्दै प्रदर्शिता । ऋत्ववयवभूताना चैत्रादिमासाना वैदिकानि नामा न्यपि—मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभा, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहा, सहस्य, तपा, तपस्य –इत्येतानि तेषु तेषु मासेषु ऋताग्निसम्बन्धाद्यत्पृथिव्या पार्थिवेषु प्राणिषु चोत्पद्यते तन्मूलकान्येव । यदा हि मधु समुत्पद्यते—स मासो मधु । मधुप्रकर्षसम्बन्धी च माधव –इत्यादीत्यहो वैज्ञानिक विजृम्भित सुरभारत्या[1] । आस्तामप्रकृतम् । ऋतुविज्ञानमेवेदानीं सक्षेपत वक्तव्यम् । ऋत सौराग्निरेव ऋतूना प्रधान कारणम्, पर नैवेदसौ स विभिन्नप्रकारानृतून जनयितुमलमिति

१. यत्र हि अन्यासु वैज्ञानिकताभिमानिनीषु भाषासु जूनो-नामक पुरुषविशेषो यत्रोत्पन्न स जून इति, जूली च यस्मिन मासे जात स जुलाई-इति मनुष्य-सम्बन्धेन मासनामानि भवन्ति, तत्र संस्कृतभाषाया मासनामश्रवणादेव तन्माससम्बन्धि विज्ञान प्रतीयते इति दृश्यता सुरभारत्या गौरव विस्फार्य चक्षुषी भाषान्तर पक्षपातिभि ।

सोमसम्बन्धस्तत्र—विभिन्नदशासम्पादनायापेक्षणीय । सोममण्डलं च चन्द्र इति चन्द्रस्याप्युत्पादकत्वमाम्नातम् ।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ
शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट
ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥
(ऋक् १०।८५।१०)

सूर्याचन्द्रमसावस्मिन् मन्त्रे प्रस्तुतौ, तावेव शिशू इति रूपितौ । तत्रैकः सूर्यो भुवनानि प्रकाशयति, अन्यस्तु चन्द्र ऋतून् विदधत्पुनः पुनर्जायते इति चन्द्रस्यापेक्षाकृतं प्राधान्यमुक्तम् । तदित्थं सूर्याचन्द्रमसावृतूत्पादकौ, किन्तु तत्तदृतुषु या फलपुष्पाद्यादि समृद्धिस्तत्र हेतुः पार्थिवोऽग्निरेव । न हि पार्थिवाग्निसम्बन्धमन्तरेण पृथिव्यां किमपि पच्येत नाम । सूर्यचन्द्रयोः प्रभावः पार्थिवेऽग्नौ, पार्थिवाग्निस्ताभ्यां समेत्य तत्तदृत्वादिजनक इति सर्वमिदम् 'ऋत्विजम्' इति निभिरक्षरैरुक्तम् ।

'होतारम्' इति चतुर्थं विशेषणं ह्वेञ् धातोर्होतृशब्दं निष्पाद्य ब्राह्मणेषु व्याख्यातम् । तेनाग्निर्देवानाह्वयति, अग्निद्वारैवास्माकं सौरमण्डलस्थैर्देवैः सम्बन्ध इति गभीरं तत्त्वं विज्ञायते, यद्यापि सर्वथा परोक्षं वैज्ञानिकानाम् । अथ पञ्चमम् 'रत्नधातमम्' इति विशेषणम्—अग्निरेव सुवर्णमणिप्रभृतीनां रत्नानामुत्पादयितेति भूगर्भविज्ञानं स्फुरयति । हिरण्योत्पत्तिविज्ञानं ब्राह्मणे स्फुटमभ्युपलभ्यते "आपो वै वरुणस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निरभ्यध्यायत्, ताः समभवन्, तस्य रेतः परापतत्, तद्धिरण्यमभवत्" (तैत्तिरीयब्राह्मणे १।१।६) वरुणेऽग्निवीर्यसम्बन्धाद्धिरण्योत्पत्तिरित्यत्र स्फुटं भवति । अत एव चाग्निर्हिरण्यरेता इति संस्कृतभाषायामाख्यायते । तदित्थं परिमिताक्षरैः पञ्चभिर्विशेषणैः कियद्विज्ञानं वयं शिक्षिता इति विचार्यतां मनाङ्महाभागैः ।

तथैव यजुःसंहिताया आदिमे मन्त्रे—

"इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु, श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम्"

इत्यादौ—इडित्यन्नम्, ऊर्गिति बलम्, तद्वायोरेवान्नबलसम्पादकत्वं वृष्टिद्वारेणेति वायोर्गुणाः, वायौ च यति सूर्यप्रेरणयेति विज्ञानसिद्धान्तः स्फुटीभवति । हे वायवः ! सविता देवो वः प्रार्पयतु—प्रेरयतु' इति सूर्यप्रेरणया वायौ गते सुप्रतिपन्नत्वात् । "सवितृप्रसूत एष पवते" इति शतपथब्राह्मणे तद्व्याख्यानम् । किं च "यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म" 'तस्मै श्रेष्ठतमाय कर्मणे यूयमाप्यायध्वम्—

परिपुष्टा भवत' इति व्याख्यातपूर्वस्य प्राकृतस्य यज्ञस्य वायुपरिपोषाधीनत्वमप्यत्र शिक्षितम्।

सूर्यसम्बन्धे तु "प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य" "नूनं जना सूर्येण प्रसूता" इत्यादि बहुतरं श्रुतिषु श्रुतम्। अस्मदधिष्ठितस्यास्य ब्रह्माण्डस्य सूर्य एवाधिनायक, स एवोपरिष्टाद्वर्तमानानामपि मण्डलाना नियन्ता निवेशयिता चेति सर्वातिशायि माहात्म्यं सूर्यस्य मृणम्।

> आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
> हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्॥

(ऋ० १।३५।२)

इति हि सौरे मन्त्रे अमृत–मर्त्यनिवेशकत्वं सूर्यादुपरिष्टात्, तदमृतम्, अवाग्भूतं च मार्त्यमिति ब्राह्मणेषु बहुत्रोपलभ्यमानेयं परिभाषा श्रीगुरुचरणाना मन्येष्वसकृद् व्याख्याता। तदुभयनिवेशकत्वं मध्यस्थितस्य सूर्यस्यात्र विज्ञातम्। किं च 'कृष्णेन रजसालोकेन, आवर्तमान' इत्युक्त्या प्राणभूतस्य देवस्यादित्यस्य लोकभूतमिदं मण्डलं कृष्णवर्णमित्यस्मान्मन्त्रात्स्फुटीभवति, यत्रेदानीन्तना अपि वैज्ञानिका हस्तपादं प्रसारयन्ति। ते हि 'सूर्यमण्डले कृष्णवर्णा बहवो भागा (धब्बा)' इत्यद्यावधि यन्त्रैर्विनिश्चिन्वन्ति, श्रुतौ तु सर्वमपि मण्डलं कृष्णवर्णं श्रूयते, या तु पीतरक्ततास्माभिरनुभूयते, सा रथस्येति 'हिरण्ययेन रथेनायाति' इत्यादिना स्फुटीकृतम्। रश्मयानि रूमक्तिभूतानि देवान्तराण्येव रथाश्ववाहनादिरूपतया देवाना मन्यन्ते इति व्याख्यातं निरुक्तकृता भगवता यास्केन। तेन सप्तरश्मिविकारिप्राणसम्बन्धाद्धिरण्यवर्णता सूर्यमण्डलस्य प्रतीयत इति श्रौतसिद्धान्त, सोऽद्यापि दुरवगम एव विपुलयन्त्रसहायानामाधुनिकवैज्ञानिकानाम्। यस्त्वयमस्माभि सौर प्रकाशोऽनुभूयते, स सौररश्मिसम्पर्कात्सर्वत्र व्याप्तस्य सोमस्याभिज्वलनाभिव्यक्त इति श्रूयतेऽन्यत्र—

> "सोमेनादित्या बलिन" (ऋ० सं० १०।८५।२)

"आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योति पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि" (ऋ० ८।६।३०) इत्यादौ। प्रत्नं रेत सोम एव। स एव च दिव—सूर्यमण्डलात्परस्तादिध्यते—प्रदीप्यते इति।

अथापरोऽपि सौरो मन्त्र —

> उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतव।
> दृशे विश्वाय सूर्यम्। (ऋ० अष्ट० १–४–७)

अत्र केतव किरणा, विश्वस्मै दर्शयितुं सूर्यं देवमुद्वहन्ति–ऊर्ध्वं प्रापयन्तीत्यर्थं प्रतीयते, व्याख्यातञ्च तथैव भाष्यकारै। परं विचारदृशा नेदं सम्यक् प्रतीयते,

ऊर्ध्वस्थितमादित्यमधः स्थितानस्मान् किरणा दर्शयन्ति, तेन उपवहन्तीति वक्तव्यं स्यात्, कुतस्तु उद्वहन्तीति । ऊर्ध्वमपि सूर्यकिरणा प्रसरन्तीति चेत्, प्रसरन्तु नाम, न तावताऽनाक किमपि सिद्ध्यति । अस्माभिः दर्शनन्तु अध प्रसरणादेव भवति । ततश्च विश्वाय दृशे उद्वहन्तीति अनुपपन्नमिव । परमिदं तदैवोपपद्यते–यदा वैज्ञानिकानामेव सिद्धान्तोऽधीयते–यद् यावत्सूर्योऽस्मत् क्षितिजादधस्तादेव भवति नेत्रसूत्रसम्बन्धं नैव गच्छति, तावदेव तत्किरणा पृथिव्या उपरिष्टाद्वायुमण्डले पतिता वक्रीभूयाऽस्मन्नेत्राणि अनुप्रावश्य स्वसमुखभागे सूर्यं दर्शयन्ति । सूर्यस्य वास्तविकोदयाद् बहुपूर्वमेव सूर्योदयोऽस्माभिरभिमन्यत इति यावत् । किरणानां वक्रीभावोऽयं जलादौ स्फुटमनुभूतचर । यावदियं घटना, तावदेव सूर्यमण्डल रक्तप्रतीयते । ततश्च क्षितिजादधः स्थितमेव सूर्यं केतव उद्वहन्ति–दिवि दर्शयन्तीति स्फुटं जातम् । एवं वैज्ञानिकविचारेणैव ये सम्यगुपपद्यन्ते, तादृशा बहवः सन्ति मन्त्राः ।

अभिद्रवन्त समनेव योषा । कल्याण्य स्मयमानासो अग्निम् ।

(ऋ–अ० ३।८।११)

इति मन्त्रं दैवतकाण्डप्रथमाध्याये व्याचक्षाणस्तत्रभवान् यास्क —'अग्निं उदकधाराभिरान्तरिक्षोऽग्निर्दीप्यते'–इतिवदन् वैद्युतं विज्ञानं श्रुतिषु स्फुटमभ्युपगच्छति ।

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे ।
गर्भे सन् जायसे पुन । (यजु १२।३६)
यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु ।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय ॥

(ऋ. म १०।३०।४)

इत्यादिषु मन्त्रेष्वपि स्फुटं विद्युद्विज्ञानम् । अपानपादिति हि अन्तरिक्षाग्नि नामसु पठ्यते निघण्टुषु, ततश्च–अग्निरन्धन अप्सु अन्तर्वर्तमान, आन्तरिक्षोऽग्नि –इत्यत पर किं विद्युत परिचयदान सम्भवेत् ?

अस्य वामस्य पलितस्य होतु–
तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्न ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो
अस्यात्रापश्य विश्पतिं सप्तपुत्रम् ।

(ऋ० २।३।१४५)

इति मन्त्रे च वामस्य, पालितस्येति सूर्यमुपक्रम्य मध्यम आन्तरिक्षोऽग्निः तद्भ्राता–तद्वरणीय उक्त, तेन विद्युत सूर्योद्भवतापि स्फुटीकृता । किमन्यद् विद्युत्येवावलम्बमानमाधुनिक विज्ञानं विश्वतत्त्वमद्यापि न बुध्यति–भूतरूपेयम्,

केवलशब्दरूपा वेदवाणि विचारयत्येव। अपितु तस्या इन्द्ररूपता सूर्याद्रवणीयता स्पष्टं शब्देरात्म इति किमपि माहात्म्य श्रुत्या आविर्भवति।

> अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
>
> अग्निं च विश्वशंभुवम्। (ऋ० १२ ।२०)

इति मन्त्रेण जलेऽन्तरग्निरस्ता सुवाणेन जलस्य यौगिकता स्फुटीकृता, यामद्यत्व आडम्बरेण साधयन्ति वैज्ञानिकाः।

सर्वाणि रूपाणि सूर्यरश्मिभिरेव निर्मीयन्ते, शुक्लं कृष्णं चेति द्वे एव रूपे मुख्ये, तदन्यिगत रक्तम्, मिश्रणानि वा यानीत्यस्ति रूपविषये वैज्ञानिकाना दर्शनम्। तदपि—

इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदरचत् [तैत्तिरी स०]

> शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यद्
>
> विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
>
> विश्वा हि माया अवसि स्वधावो
>
> भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥
>
> (ऋ० ६।५८।१)

इत्यादिषु स्फुटमाम्नातम्। इह शुक्रम्–शुक्लम्, यजत च कृष्णमिति व्याख्यात भाष्यकृता। विस्तरभयात्सर्वेषा मन्त्राणा स्फुटार्था अत्र न निरूपिता, भाष्यादिषु जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्या।

अपि च ऋक्, साम, यजु, छन्द, स्तोम, मनोता, अह, सहस्रम्—इत्याद्या परश्शता शब्दा वेदेषु भूयो भूय समुपलभ्यन्ते, ये वैज्ञानिकेष्वर्थेषु सकेतिता सन्ति। यथाधुनिकेषु व्याकरणादिशास्त्रेषु परिभाषितशब्दमहिम्नाऽनायासेन भूयानर्थोऽवबुध्यते, तथा वेदेषु सकेतितानामेषा शब्दाना यथार्थं सकेत ब्राह्मणादिभिर्ज्ञात्वा सुमहद् विज्ञानमनायासेन स्वल्पैरक्षरै शक्यमवबोद्धुम्। अत्यल्पमिद निदर्शितम्, अतिगभीराणि विज्ञानानि स्वल्पाक्षरै पदैरपदिष्टानि पदे पदे समुपलभ्यमानानि वेदस्य कमपि गरिमाण ख्यापयन्ति, तानि वेदमहाब्धौ, ससाहस सोत्साह च निमज्जद्भिरेव सुलभानि।

स्फुटानि विज्ञानानि—

कानिचित्तु विज्ञानानि तथा विस्पष्टमप्याम्नातानि, यथा आपाततोऽपि तदवलोकनेन वेदेषु विज्ञानमस्ति न वेति संशयलेशोऽपि न प्रभवेत्, पर तान्यपि सूत्ररूपेणैवाम्नातानि पश्याम। अत्रापि निदर्शनद्वयमुपस्थाप्यते—

'अनवण इमे भूमी इय चासौ च रोदसी।
किं स्विदत्रान्तरामूत येनेमे विधृते उभे।
विष्णुना विधृते भूमी इति वत्सस्य वेदना।
इरावती धेनुमती हि भूत सूयवसिनी मनुषे दशस्या।
व्यस्तभ्नाद् रोदसी विष्णव त दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ॥
(तैत्तिरीयारण्यके १।८।४।६)

इह पृथिवीमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य च कथं समानान्तरं धारणमिति प्रश्नमुपस्थाप्य विष्णुकर्तृकं धारणं रश्मिरेवाकर्षणेस्थापितम्। तत्र च ऋक्संहिता पठितो मन्त्र (७।९९।३) 'इरावती' त्यादि प्रमाणत्वेनोपन्यस्तः। विष्णुशब्दोऽयमादित्यनामसु निघण्टुषु पठित, ब्राह्मणेषु पुराणेष्वपि चादित्यस्य विष्णुता स्पष्टाभिधेयतया प्रस्फुटा। तेन मन्त्रद्वयमिदं सूर्यमण्डलान्तर्गतेनादित्यप्राणेन विधृतं तिष्ठतीति सूर्याकर्षणविज्ञानमत्र प्रस्फुटं भवति। अयमेवादित्यप्राणं इन्द्रशब्देनापि श्रुतिव्यावर्ण्यते "यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इति। इन्द्रस्य न केवलं पृथिवीधारकत्वमपि तु तद्वेगेनैव पृथिव्या दैनन्दिनगतिरित्यपि श्रुत्यन्तरे स्पष्टमुक्तम्—

"यत्र इन्द्रमवर्धयत्, स भूमिं व्यवर्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि ॥" (ऋ० सं० ६।१।१४)
तथैव "तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक
ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति।"
(ऋ० १।१६४।१०)
"तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्।"
(ऋ० २।२७।८)

इत्यादिष्वपि बहुषु मन्त्रेषु सूर्यकृतं पृथिव्यादिधारणमुपदिशद्भिराकर्षणविज्ञानं स्फुटीकृतम्। तिस्रो भूमयस्त्रयो दिवश्चाधाका अग्निवाय्वाहुतिनिरूपणे सक्षेपेण व्याख्यायन्ते। तथैव—

"मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति, मनसा सङ्कल्पयति, तत् प्राणमपिपद्यते, प्राणो वातम्, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मन। तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्—

'मनसा सङ्कल्पयति तद् वातमपि गच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन।"
(शत० ६।४।५)

इति शतपथब्राह्मणे, तथा प्रमाणीकृते अथर्वसंहितामन्त्रे (१२।४।३१) च विस्पष्टैरक्षरैर्मनोविज्ञानमाम्नातम्, न तत्र मनागपि व्याख्याया अपेक्षा।

अल्पमात्र निर्दर्शितम्। वर्षादिविज्ञान तु मन्त्रेषु निरुक्तादिष्वपि स्फुट व्याख्यातमेवेति। अतिगम्भीराणि सर्वाणि विज्ञानानि मन्त्रेषु स्वल्परक्षरै सकेतितानि, ब्राह्मणे च व्याख्यातानि।

वदेषु हि परिश्रम्य न केवल भौतिक विज्ञान प्राप्यत, अपि तु आधिदैविकम्, आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, अधियज्ञ च विज्ञानमामूलचूड परिपूर्णतया तत्रोपलभ्यते। यथास्मावमिय पृथ्वी स्वसवदेन चन्द्रमसा सह सूर्येण सबद्धा, सूर्योदर्यणवद्गा, तथैव सूर्योऽप भगवान् परमेष्ठिमण्डलेन सबद्ध, स च परमेष्ठी स्वयम्भूमण्डलवद्गा—इत्येव चन्द्र, पृथिवी, सूर्य, परमेष्ठी, स्वयम्भूरिति पञ्चमण्डलेयमेका कक्षा (शाखा) अस्मदधिष्ठिता, अन्यथा अप्येवविधा अनन्ता शाखा, पर न तद्विज्ञानेनास्माक किमपि प्रयोजन सिद्ध्यतीति ता उपेक्ष्यन्ते।

इह सूर्यपृथिव्योरन्तराले यदन्तरिक्ष तत्र प्रधानश्चन्द्रमा मण्डलेषु गृहीत, एवमेव तु परमेष्ठिसूर्ययोरन्तराले, स्वयम्भूपरमेष्ठिनोरपि चान्तराले विद्यतेऽन्तरिक्षम्, सन्ति च तत्राप्युभयत्र वरुण-ब्रह्मणस्पतीन्द्रप्रमुखानि मण्डलानि-इति सभूय सप्त लोका भवन्ति—ये भू, भुव, स्व, मह, जन, तप सत्यमिति वेदेषु पुराणेषु चाख्यायन्ते। अत्रापेक्षाकृता भूम्यन्तरिक्षद्युशब्दव्यवहारा प्रवर्तन्ते, यथास्मदधिष्ठितभूम्यपेक्षया सूर्यमण्डल द्यौ, मध्ये चान्तरिक्षम्। सूर्यमण्डलदैवतानान्तु सूर्य (स्व) एव भूमि, जन द्यौ, महस्त्वन्तरिक्षम्, तथैवाग्रेऽपि द्रष्टव्यम्। सभूय तु भू, भुव, स्व इति तिस्रो भूम्य, स्व, मह, जन इति त्रीण्यन्तरिक्षाणि, जन, तप, सत्यमिति त्रयो दिव। द्वयोस्त्वत्रापेक्षाकृत उभयत्र प्रवेश। एषु यान्यन्तर्गतानि महान्ति, मण्डलानि, यास्तारा, ये तत्तेषा प्राणा †, ये च तत्र तत्र + देवाद्या, यच्चैषामस्मासु प्रभाव, तत् सर्वमप्याधिदैविके विज्ञाने समाम्नायते, एतत् सर्वमुपजीव्य तत्सारभूत क्षुद्र ब्रह्माण्डरूप यदस्मदादिशरीरत्रय * तदाध्यात्मिके विज्ञाने सम्यङ् निरूप्यते। यच्चेह पृथिव्या स्थावरजङ्गमात्मक कार्यकारणपरम्परापतित तत् सर्वमाधिभौतिके विज्ञानेऽन्त पतति। इहैव मानुषचरितरूपाणामितिहासानामप्यन्तर्भाव।

अथैषा सर्वेषामध्यात्माधिभूताधिदैवतया व्याख्यातानां य पारस्परिक सबन्ध, येन सर्वमिद जगच्चक्र परिचलति।

यदेवह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। (कठोपनिषत्)

---

† तेषा सर्वेषा यत् तत्त्वमिद पृथिव्यामागत वयमनिशमुपजीवाम, तत्तेषा प्राणरूपतयैवाख्यायते। अत्रार्थे 'मनोता' शब्दव्यवहारो वेदेषु।

+ देवा, पितर, ऋषय, गन्धर्वा, असुरा इति प्राणरूपास्तत्र तत्र।

* स्थूल, सूक्ष्म, कारण चेति शरीरत्रय प्रसिद्ध शास्त्रेषु।

इत्यादिना भूयो भूय श्रुतिषु यत् समुपदिष्टम्, यच्च वैदिके विज्ञाने मौलिकमद्भुत रहस्यम्—तदिदमधियज्ञ नाम विज्ञानम्। एतदेव विज्ञाय सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्था अस्माक पूर्वजा ऋषय आसन्। अस्यैव प्रभाव —

"यस्त्वेव ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा आसन् वशे।" (यजु ३१।२१)
इत्यादिना भगवता वेदपुरुषेण समुपदिष्ट ।

अथैतेषु विज्ञानेषु विज्ञातानां तेषां तेषामर्थानां परस्पर सम्बन्धोऽपि विज्ञेय । अन्याधिदैवमृषय, पितरो, देवाश्च, सन्ति चाध्यात्ममधिभूत च ते तत्र तत्र व्याख्याता, तेषां च परस्पर सम्बन्ध इत्यपि निगूढ वेदेषु विशेषम्-यद्विज्ञान-निपुणा अद्यत्वे वेदार्थं परिभ्राम्याम । एतदनन्तरम्-एतत्सर्वपदार्थमूलभूत सर्वत्रानुस्यूत—प्रकृति, पुरुष पर ब्रह्मेति च—यत् क्रमेण सत्यमनृतमभय लोकातीतं च तत्त्व परिचीयते तज्ज्ञान नाम। यदपि विज्ञानविधयैव श्रुतिषु परिचाय्यते इत्युक्त प्राक्।

पाश्चात्त्यदेशस्थ विज्ञानमध्याहेऽपि केवलमाधिभौतिक विज्ञानमुन्नतिं गतम्। तत्राप्यद्यावधि बहव सिद्धान्ता अस्थिरा एव। भूयो भूय परिवर्तन तेषा भवति। बहुषु च विषयेष्वद्यावधि सिद्धान्त एव न स्थिरीभूत। आधिदैविकमाध्यात्मिकं च विज्ञान तत्राद्यापि शैशवमेवातिवाहयति। अधियज्ञविज्ञानस्य ■ कथापि तत्र नास्ति, दूरे तु पुरुषविज्ञानादिकथा।

बहुष ब्राह्मणग्रन्थेषु तथाविधविज्ञानानां सङ्केतो लभ्यते, येषां रहस्योऽद्याधुनिकैर्न निर्णेतुं शक्यते उदाहरणार्थं दृश्यता तावच्छतपथे (११ काण्डे ४ अध्याये) स्वैदायनोद्दालकसंवाद —(स्वैदायनस्य प्रश्न)

"स वै गौतमस्य पुत्र! ऊर्ध्वो वन धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्यात्—यस्मादिमा प्रजा अदन्तका जायन्ते, यस्मादासां जायन्ते, यस्मादासां प्रभिद्यन्ते, यस्मादासां[1] सन्तिष्ठन्ते, यस्मादासां पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव प्रभिद्यन्ते। यस्मादधर एवाग्रे जायन्तेऽथोत्तरे। यस्मात्[2] अणीयांस एवाधरे प्रथीयांस उत्तरे, यस्माद् दंष्ट्रा वरीयांसो, यस्मात्समा एव जम्भ्या ।५।

■ वै गौतमस्यपुत्र! ऊर्ध्वो वन धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद्—यस्मादिमा प्रजा लोमशा जायन्ते, यस्मादासां पुनरिव श्मश्रूण्युपपक्ष्याणि दुर्वारिणानि जायन्ते, यस्माच्छीर्षण्येवाग्रे पलितो भवति, अथ पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव पलितो भवति ।६।" इत्यादि।

---

१. जन्मोत्तर दन्ता उत्पद्यन्त इत्यर्थ । 　　२. पुनरुत्पद्यन्ते ।
३. नीचैर्दन्ता लघवो भवन्ति ।

अत्रगर्भे दन्तानामजननस्य, पुनर्जननस्य, तेषां परिमाणादे, केशश्मश्र्वादीनां च केवलं वैज्ञानिकानि कारणान्येव न विवेचितानि, अपि तु तेषां यज्ञसम्बन्धोऽपि चिन्तितः। तथैव शतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशे काण्डे (बृहदारण्यकोपनिषदि) जनकयज्ञवृत्ते (१४ षा॰ अ॰ ४।९।३३) मनुष्यशरीरस्य वृक्षस्य च साम्यं प्रदर्श्याग्रे भगवतो याज्ञवल्क्यस्य प्रश्नः —

यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः।
मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति।
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते।
जात एव न जायते कोन्वेनं जनयेत्पुनः।
धानारुह उ वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य सम्भवः।
यत्समूलमुद्वृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्।
मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति।

अत्र मृतस्य पुनरुद्भवश्चिन्तितः।

उदाहरणमात्रमिदम्, बहूनि तथाविधानि विज्ञानानि श्रुतिषु विवेचितानि, येषामन्यत्र कथापि नास्ति।

एवमेव स्वल्पैरेवाक्षरैस्सृष्ट्यादिप्रकरणमध्ये पदे पदेऽपि इतिहासा अपि श्रुतिषु प्रतिपादिताः। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

इति सुप्रसिद्धे पुरुषसूक्तमन्त्रे 'पूर्वे साध्या नाम देवा आसन्, तैर्यज्ञप्रणालीयं प्रवर्तिता, इत्यादीतिहास सङ्केतः'। तथैव 'ब्रह्मणा यज्ञब्रह्मविद्या पूर्वमथर्वणे शिक्षिता, अथर्वणा च यज्ञः पूर्वं प्रवर्तितः, इत्यादि सङ्केतोऽपि तत्र लभ्यते। 'इति दशस्य वेदना' इति निदर्शितपूर्वे अथर्वणविज्ञानमन्त्रे दशोऽस्याविष्कर्तेति सूचितम्।

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् न ह्यन्ये अशक्नुवन् ॥

(ऋ॰ म॰ ५।४०।९)

इति मन्त्रे च सूर्यचन्द्रोपरागविज्ञानमत्रिवंशजैः पूर्वं साधितमिति निर्दिष्टम्।

"यच्चिमरमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम्"

(ऋ॰ म॰ १।११०।३)

इति ऋभुदेवताके मन्त्रे ऋभूणामेकस्य चमसस्य चतुर्धाकरणं वैज्ञानिकं शिल्पमिति वृत्ते निर्दिष्टम्। अस्मिन्नेव सूक्ते—

निःषर्म् अश्नो मानवित न केनास्मा मतर पुन ।
मैवन्नात स्वन्वता नता नो युवना निगदृतेव न ॥

इति मन्त्राणि श्रुत्वा वैज्ञानिकानि कार्याणि निर्दिशन्ति ।

तद् दन्तेन दक्षनिष्कृत तथा वृषा ब्रवीमि ।
निशीथ पारय अमुत्र पुनरस्थाय चक्षुर्दुर्ननम् ॥

(ऋ० १।११६।१०)

एतादृशु मन्त्रेषु आश्चर्यभूतानि वैज्ञानिकाणि दर्शितानि, येषु बहूनि पुराणेषु विवृतानि दृश्यन्ते ।

सर्वमितिहासाच्च तत्र कञ्चन वस्तु प्राप्यते, यच्च प्रकारान्तरेण प्राप्तं सम्भवं एव ।

अत्र विचारणा महाभागाः ! यत् कतिपयैरेव जनैः एतदानीन्तन पाश्चात्य मौलिक [illegible] मन्यन्ते, तत्र परं वैदिक विज्ञानमारम्भते तथैव 'यदेदानीं यावदुपलब्ध इतिहास मन्यन्ते, तत् परम् इतिहासारम्भो वैदिक' इति, तद्वेदाराधा कल्पनाहता नाऽत्र किञ्चनवा मान्य ।

विज्ञानस्य भारते ह्रासः

अथ कालक्रमेण ह्रासमनुप्रवृत्ते तस्य आर्यजनताया बुद्धिर्मन्दतां बोधक ग्लानि तत्र मन्दताश्च भिन्नता नानाथा प्रादुरभवन् । यथाह निरुक्ते मुनिर्यास्क —

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः — वेदं च वेदाङ्गानि च ।' इति

इदं कथनम्=वेदस्याविर्भावविषयीभूत निरूपणम् । वेद समाम्नासिषुरवरे — प्रकीर्णान् मन्त्रान् संहितारूपेण समादधानाः सुधीति, ब्राह्मण प्रकरणानामनुशिष्ट वाङ्मयं । तत् कथा वेदनाम्ना, विद्यानाम्ना, वेदाङ्गनाम्ना वा यथोचित प्रचारा सन्त स्म । तथा हि गोपथब्राह्मणे—

"इमे सर्वे वेदा निर्मिता १ सकल्पा , २ सरहस्या , ३ सब्राह्मणा , ४ सोपनिषत्का , ५ सेतिहासा , ६ सान्वाख्याना , ७ सपुराणा , ८ सस्वरा , ९ ससंस्कारा १० सनिरुक्ता ११ सानुशासना १२ सानुमार्जना , १३ सवाकोवाक्या ।

(पूर्व० प्रपा २ ब्रा १०)

इति वेदवेदाङ्गवाङ्मयोदय प्रथा श्रूयते । छान्दोग्योपनिषत्सप्तमाध्याये नारद—सनत्कुमारसंवादे च—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थं (१) मितिहास (२) पुराण (३) पञ्चमं वेदाना वेदं (४) पित्र्यं राशिं (५) दैवं निधिं (६) वाकोवाक्य (७) मेकायन (८) देवविद्या (९) ब्रह्मविद्या (१०) भूतविद्या (११) क्षत्रविद्या (१२) नक्षत्रविद्या (१३) सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।" (छान्दो. प्र ७, ख० १)

इह वेदचतुष्टयीतोऽतिरिक्तास्त्रयोदश विद्या आम्नायन्ते। तथैव शतपथब्राह्मणान्तर्गताया बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादे—

"एव वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस पुराण विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।" (बृहदा. अ. ४, ब्रा. ४, ख. १०)

इति बहुविधानि विद्याप्रस्थानानि भूयन्ते। तेष्वेतेषु वेदशरीरेषु, वेदाङ्गेषु, विद्यासु च मन्त्रोक्तदिशैव तत्तद् विषयभेदेन प्रकरणभेदेन च प्रस्फुटीक्रियते स्म। परमपि प्राक्तनी वैदेकी शैली न परित्यक्ताऽभूत्, सङ्केतरूपेणैव मन्त्रशैल्यैव च तत्तदर्थप्रतिपादन सर्वत्र प्रस्तुतमभूत्।

अथ निसर्गते काले स्वार्थबुद्धौ प्राबल्यमागतायामभिचारादिकर्मसु प्रसारं गतेषु कलुषितबुद्ध्या क्रियमाणाना यज्ञाना विरलतामागम्ने प्रचारे वैदिकं विज्ञानमपि क्रमेण शैथिल्यमगमत्। महाभारतयुद्धानन्तर तु चित्रपट इव परिवर्त्ततेस्म। देशविप्लवात् छिन्नेषु लोकेषु का नाम विज्ञानोन्नति कथा? विरलतामापन्न उच्छिन्न इव वैदिका गुरुसम्प्रदाय, विरलतामापन्ना अभवन् विद्या, स्वार्थलिप्सान्यभवन् कर्माणि। अस्मिन् व्यतिकरे प्राक्तनास्तत्कालिका या वेदाङ्गप्रवक्तृणां दर्शनसूत्रकाराणा चैकदेशावलम्बेन लोकदृष्टिमाकृष्टु कृता अपि प्रयत्ना न साफल्यमभजन्। प्रत्युत भङ्गविस्तारो मतभेदविस्तारश्च वैदिकविज्ञानतिरोधानायैवाऽकल्पत।

ब्रह्मण्ये क्षाते च युगपद् विघ्नं ब्रजति तदैव दैवाद्युपस्थितो बौद्धानां समय। यस्मिन् काले न केवलं सम्प्रदाय उच्छिन्न, अपि तु वेदरहस्यावबोधका निदानरहस्यादिग्रन्था अपि प्रलयं गता। उच्छिन्ना शाखा, व्यलुप्यन्त बहूनि ब्राह्मणानि नाममात्रावशिष्टान्त विद्या। ब्रह्मतेजःप्रभावेणैव कालेन समुपस्थान्त स झञ्झावात। तदुत्तरमपि बहूनामाचार्याणां महानुभावाना प्रयत्नेन कर्मकाण्डमुपासनाकाण्ड ज्ञानकाण्ड पुनरपि संप्रदायबद्धमभूत्, परं विज्ञानशैली तु विलुप्ता नैव प्रचारमापेदे।

संप्रदायस्य विच्छिन्नप्रायत्वाद्, ग्रन्थाना च विलोपाद् विज्ञानकथाभिरपि शून्ये ऐन्द्रजालिकमायाप्रधाने तस्मिन् काले अधिकारिणा चिरकालेन विज्ञानोद्धाराय समय आसादित आचार्ये। आःश्यकतम कर्मविधिसम्प्रदायरक्षा तै कृता,

कर्ममूलमूलविज्ञानरक्षा तु न तदात्वे समवधीयत्सम्पादीकृते स्म। तत एव मन्त्र-ब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य कर्मार्थावबोधक आम्नायिकोऽर्थः सुरक्षितोऽभूत्। उपपादकं विज्ञानन्त्वर्थवादशब्दवाच्यतामापद्य परित्यक्तमभूत्कोचित्। विज्ञानविरहाच्चेयमार्य-विद्या ततः प्रभृत्येव केवलं शब्दप्रधानतां गता। तर्कव्याकरणसाहित्यादयः शब्दा-डम्बरमात्रसारा लोकेभ्योऽरोचन्त। महान्तस्तत्र तत्र ग्रन्थविस्तराः प्रावर्तन्त। जल्पप्रक्रिया कविताप्रक्रिया च विनोदायालमभूत्। क्रमेण वैदिका *उपहस्यन्ते स्म, यथा निन्द्यन्ते स्म। किमधिकेन जल्पनेन, यत् तत्परिणामभूतं जातं जायते च, तत् सर्वं प्रत्यक्षमेव।

इदं तु सत्यम्—यत् सत्यविद्याया विलयं ईश्वरपरायणाः। तत एव लेशतोऽप्यार्यविद्याया आभासमात्रमनुप्राप्यापि वैदेशिका यवनम्लेच्छाद्या अपि शिरसा गौरवं वहन्ति स्म, तत एवेयमद्यावधि रक्षिता। साहसात्याकृष्टमानसा एव तस्मिन्नपि घोरे काले बहव आचार्या विद्वांसश्च वैदिकेषु विषयेषु लेखनीमचालयन्। वेदानां भाष्याण्यपि व्यरच्यन्त। परं कर्मोपयोगी सम्प्रदायप्राप्तोऽर्थस्तत्र विवृतः, वैज्ञानिकानान्तु वैदिकानां सत्तानां रहस्यां वैज्ञानिकपद्धत्याश्च सम्प्रदायोच्छेदाद् विलाप इवाभूत्। तत एवार्वाचीनेषु भाष्येषु न वैज्ञानिकी पद्धतिमुपलभामहे। मानुषयज्ञोपयुक्ततया मन्त्रा व्याख्याता भाष्यकृद्भिः, विज्ञानबोधानुभूता प्राकृत यज्ञपरता तु समुपेक्षितैव। किञ्चाध्यात्ममधिभूतमधिदैवतं च ये दर्शिताः, तेषां विवेकोऽपि भाष्येषु नोपलभ्यते। तत एतेकस्य धर्मो अपरस्याध्यारोपेण प्रतिरुध्यमाना बुद्धिं विभ्रामयन्तीव। तस्मिन् काले तस्या विद्याया सर्वथाऽभाव एवाभविष्यति, न तु तत्र भाष्यकृतां कोऽपि दोषः। ग्रन्थकर्तृभिः किन्तु लोकरुचिरप्यवश्यमनुसरणीया भवति, अन्यथा प्रचार एवान्यथा न सम्भवेदिति। कर्ममात्रे बद्धश्रद्धास्तदा लोका इति कर्मोपयुक्त एवार्थः प्राधान्येन भाष्येषु प्रतिपादितोऽभूत्। उपपत्तिनिरूपणन्तु विस्मरणमगच्छत। तदुक्तं भाष्यकृता श्रीसायणमाधवाचार्येण ऋक्संहितायाः प्रथमे मन्त्रे नैरुक्तादिप्रक्रियां प्रदर्श्य—

> यद्यप्यवतारः आधाय ऋचोऽर्थश्च प्रपञ्चितः।
> विज्ञात बहुगाम्भीर्यं यज्ञपादधुनोच्यते॥ इति।

वेदार्थस्तु दूरं आस्ताम्, वैदिकीं शैलीमनुसृत्य स्मृतिषु तन्त्रेषु पुराणेतिहासेषु च यदुपदिष्टम्, तस्यापि मर्मज्ञानं नाभवदेव विदुषामर्वाचीनानाम्। ते शब्दमात्रेणैव परितुष्यन्तो नानुभवपथिकतां तत्समर्थं नेतुमुत्सुका बभूवुः।

किञ्चिन्निदर्शनमत्र समुपस्थाप्यते चेन्नान्ये नाऽनुचितं स्यात्। इदं तु स्मर्तं

---

* राजमाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः। द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्र च्छान्दसाः श्लोकशत्रवः। (भोजप्रबन्धे) इत्यादि बहुतरम्।

च्यम्—यत् परममान्येषु गुरुतमषु महानुभावेषु आचार्येषु ग्रन्थकृत्सु च मनागपि कटाक्षनिक्षेपेण नास्मान पङ्के पातयितु लेशतोऽप्यभिकाङ्क्षे, केवल विज्ञानदुरवस्था-मेव बोधयितुमेतानि निदर्शनानि।

विज्ञानस्य भारते दुरवस्था

पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौरिति क्रमेण व्यपदिष्टेषु त्रिषु लोकेषु अग्निर्वायुरादित्य इति तिस्र एव देवा प्रधानभूता इति स्पष्ट निरुक्तविदाम्। तेष्वेकैक प्रधानीकृत्य देवनामन्तर च तदङ्गभावमानीय वेदत्रयी क्रमेण प्रवर्तते। ऋग्वेदे अग्ने, यजुर्वेदे वायो, सामवेदे आदित्यस्य चास्ति प्राधान्येन विज्ञानम्, तदङ्गतया चान्येषाम्। अत एव 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इति पुर स्थापितमिममेवाग्नि प्रस्तुवती ऋक्सहिता प्रवर्तते 'इषे त्वोर्जेत्वा वाय स्थ, देवो व सविता प्रार्पयतु" इति वायु यजु सहितोपक्रम एव कीर्त्तयति "अग्न आयाहि वीतये" इति आगन्तुकमग्नि-मादित्य सामवेदसहिता प्रारम्भ एव प्रस्तौति। इदमेवाभिप्रेत्य "ऋग्वेद एवाग्ने-रजायत, यजुर्वेदो वायो सामवेद आदित्यात्" इति ब्राह्मणश्रुतावग्न्यादिभ्य ऋग्वेदादीनामुत्पत्तिराम्नाता विषयस्य ज्ञानकारणताया निरुक्तत्वात्। यद्यप्यग्नि, तत एव ऋग्वेदो जायते, न भवेच्चेत्, क वर्णयितुमृग्वेद प्रवर्त्तेतेति तस्य कारण-त्वमुपपादयन्ति। अयमेवाभिप्रायो—

> अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्।
> दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम्॥
>
> (मनु० अ० १ श्लो० १२)

इति भगवता मनुनाऽपि शब्दान्तरैरुपदिष्ट। पर प्रसिद्धैरपरैरपरोऽनुपौदद्भवैरनि विद्वद्भिर्रचितासु सतत्त्वगमसु वा मनुस्मृतिटीकासु नैकत्रापि स्पष्टीकरणमस्यार्थ स्योपलभामहे। पूर्वोक्ता श्रुति प्रायेण सर्वैरेव समुद्धृता, अग्न्यादिभ्यश्च कथ वेदानामुत्पत्ति इत्याशङ्कितमपि, परम् 'आगमिकत्वाच्च नात्राशङ्कयमेतत्' (गोविन्दराज) इत्यादिना समाहितम्।

'तारातारतम्य प्रश्नविधौ मेधातिथिश्चातुरी' इति बहुधा स्तुतेन सर्वमान्येन मेधातिथिना बहु सन्दर्भ विवेचितम्। पर "किं नोपपद्यते, क शङ्कारदष्टा असती र्दष्टुमर्हति। नात्रमातोऽर्थो विकल्पयितु युक्त। अग्न्यादयोऽपि देवता ऐश्वर्यभाजो नित्यविषयशक्त्य प्रजापतिस्तत्र का नामानुपपत्ति" "अर्थवादाश्चैते" इत्यादिभि रेव शब्दै शङ्कमनाना मुखमुद्रण कृतम्। अग्रे महामतरस्य दृष्टिर्मनागुक्तेऽर्थे प्रसृता, परमृग्वेदे आग्नेयसूक्तानामारम्भे दर्शनमेव ऋग्वेदस्याग्निजन्यत्व तेन हेतूकृतम्। न तु तत्राग्निविज्ञान प्राधान्येनास्तीति स्पष्टीकर्त्तु तस्यापि वाक् प्रावर्तत्। अग्र यद्वये त्वेवविधोऽपि समन्वयो न प्रदर्शित एवेति। भाष्यकृता

न श्रीमाधवाचार्येण "अस्मदादिकर्तृत्वस्य वेदानां पौरुषेयत्वं प्रसज्येत" इति उत्पाद्यते पूर्वपक्षीकृत्य तत्पक्षं न किमपि समाहितम्। वैज्ञानिकपद्धतौ तस्मिन् काले इति निर्देश एव नानुपूर्वित्वेऽस्य सर्वस्य निदानम्।

एवं चतुर्वर्गचिन्तामणौ श्राद्धखण्डे पृष्ठशतकेन पितृतत्त्वं विवेचयन्नपि तत्र भवान् निबन्धकर्ता सूर्धन्यो हेमाद्रिः श्रुतिषु स्वष्टमभि-व्यञ्जितम् 'आग्नेया प्राणा देवाः, सौम्याः प्राणाः पितरः' इति देवानां पितृणां च वैलक्षण्यं न लेशतोऽपि व्याख्याति। मनुस्मृतौ—

> ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
> देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः (अ ३)

इत्यादिना स्पष्टीकृतमपि देवपितृविज्ञानं चतुरो मेधातिथिरर्थवादत्वेनैव दूरे क्षिपति, न तु समुचितं व्याचष्टे। तस्मिन् काले वैज्ञानिकताया विरहो वैदिकवैज्ञानिकार्थ-सम्प्रदायविच्छेद एव चात्र निदानम्।

द्विविधाः पदार्था वैदिकविज्ञाने व्यवह्रियन्ते—'अस्यन्वन्तः, अनस्थाश्च'। येषामस्ति बाह्यसत्ता, ते अस्थन्वन्तः, ये तु केवलं प्रतीयन्त एव, न तु पृथग् बहिरवतिष्ठन्ते ते अनस्था इत्युच्यन्ते। इदमेव भेदद्वयम्—'अस्ति विद्यन्, भाति सिद्धम्' चेति व्यवह्रियते लौकिक्यां भाषायाम्। एतदभिप्रायेणैव पदार्थधर्मविवेचको भगवान् कणादो मुनिरपि द्वेधा पदार्थान् व्यभजत्—सदित्याख्यातान् सत्ताविद्यान् द्रव्यगुणकर्मादिकान् प्रथमं न्यरूपयत्, "सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्" इति स्पष्टमाचक्षाणश्च सामान्यादीन् भातिसिद्धानग्रे समवेशयत्। परं तदनुयायिषु प्रशस्तपादप्रभृतिषु च ते पार्थक्यसाधनसमर्थदर्शनाभावे सह महान् कलहोऽभवत् विषये प्रवृत्तः—

> "न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
> जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥"

इत्यादयो बौद्धानामाक्षेपाश्च प्रत्येकं पदार्थेषु जात्यादिष्वारोपितविमुखत्वमङ्गीकृत्य समाधीयन्त इति कृत्वा वेदे विज्ञानपरकं निर्णीय विरतम्।

संस्कृतभाषायामचेतनबोधकाः स्त्रीत्वपुंस्त्वादिशब्दा अपि स्त्रीलिङ्गादिभिर्निर्णीयन्ते। अत्र वैज्ञानिकं समुद्धरन् महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिः—

> "संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।"
> "संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान्"

इति वर्तिकं व्याचक्षाणः 'अधिकरणसाधना लोके स्त्री, स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति, कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति। इह पुनरुभयं भावसाधनम् संस्त्यानं स्त्री, प्रवृत्तिश्च पुमान्, कस्य पुनः संस्त्यानं स्त्री, प्रवृत्तिर्वा पुमान्। गुणानाम्।

तेषाम्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्। सर्वाश्च पुनर्मूर्तय पञ्चात्मिका उत्पन्न प्रसवगुणा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्यः। यथाल्पीयांसो गुणास्तत्रावरतस्य शब्द-स्पर्शो रूपमिति, रसगन्धौ न सन्ति। प्रवृत्ति खल्वपि नित्या, नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते, वर्धते वा यावदनेन वर्धितव्यम्, अपायेन वा युज्यते, तच्चोभय सर्वत्र, यद्युभय सर्वत्र कुतो व्यवस्था, विवक्षात,। उत्पत्ति-विवक्षाया स्त्री, प्रलयविवक्षाया पुमान्, उभयविवक्षाया नपुंसकम्" इति। अस्याभिप्राय स्फुट एव, यत् सर्वत्र पूर्वप्रदर्शितयज्ञप्रक्रियाविधया आदानप्रदाने प्रवर्तेते, तत्रादानविवक्षाया स्त्रीलिङ्ग शब्दस्तत्र प्रवर्तते प्रदानविवक्षया पुँल्लिङ्ग शब्द, तावुभयविवक्षया तु नपुंसकलिङ्ग शब्द इति, पर कैयटमहाभागो यज्ञ प्रक्रियामिमामनभिलक्ष्यैव शब्दस्पर्शादिरूपेण स्वकृतमपि भाष्यकृतो विवरण गौण मत्वा गुणशब्दस्य साङ्ख्यप्रसिद्ध सत्त्वाद्यर्थमुपगम्य वृद्ध्युपचयापचयौ च काल्पनिकौ मत्वा सर्वां वैज्ञानिकप्रक्रिया तिरोदधात, नागेशभट्टाद्याश्च तदेवानुसरन्ति विज्ञान प्रक्रियादेशो विलोप एवात्रापराध्यतीति न विस्मर्तव्यम्।

एवमेव पौराणिक भुवनकोशमितिहास वाऽऽलम्ब्य पाश्चात्या इदानीं सुबहु साधयन्ति। सुमहत् तेषा तत्र तत्र भाषते। परमस्माकं पुराणटीकाकृत पुराण-पाठकाश्च लेखनीं वाचं वा विभ्रमयितुं तानि प्रकरणान्युपयुक्तानि मन्वते। आधु-निकानि विकासवादादीनि विज्ञानानि भूस्तरविद्याप्रभृतयश्च स्पष्ट पुराणेषु निरू-पितानि, पर व्याख्यातृवृन्दस्य मौनमेव रोचते। वैज्ञानिकसम्प्रदायविच्छेद एव सर्वत्र हेतुरिति स्फुटमेव विदुषाम्। इयं तावद् विज्ञानस्य दुरवस्थाऽभूत्।

इतिहासविषये तु इतोऽप्यधिको विप्लव प्रावर्त्तत। वेदानामपौरुषेयत्वं समर्थयमानेन भगवता जैमिनिना "अनित्यदर्शनाच्च" इति पौरुषेयतापूर्वपक्ष मुद्भाव्य "पर तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इति समाधीयते। जैमिनेर्भगवत क आशय इति [illegible] वेत्ति सर्वान्तर्यामी भगवान्, अनेकधा स विवरीतु शक्यते विवियते च बहुभि। पर श्रीशबरस्वामिप्रभृतयो मीमांसका इत्थ वर्णयन्ति यन्मानुष चरित यदि वेदेषु वर्ण्यते तर्हि वेदास्तन्मनुष्यात्परं प्रादुर्भूता इति अनादित्वमपौ रुषेयत्व च वेदाना भज्येतेति शङ्का। न खल्वेव वेदेषु मानुषाणि चरितानि, नामसादृश्यमूलया तु भ्रान्त्या नित्यपदार्थसम्बन्धिवर्णन मानुषमित्यभिमन्यते कैश्चित्। यथा "बबर प्रावाहणिरकामयत" इत्यादिषु 'ब-ब' इति शब्दानु कृत्या 'बबर' इति वायुरभिधीयते। स च प्रवहणशील इति प्रावाहणिरुक्त। अत्र प्रवहणपुत्रो बबरनामा कश्चिन्मनुष्योऽपि भवेत्, तदितिहासभ्रान्तिर्लोकाना जायते। वस्तुवस्तु वाय्वादेर्नित्यस्यैवेद वर्णनमिति तत्समाधान चेति। एतेन साधितम्—यन्मनुष्येतिहासो वेदेषु नास्त्येवेति। इद मत बहुभिरेवेदानीन्तनैरा दृतमनूदित च।

इदं तु स्पष्टं मम। इमां पद्धतिमनुसृत्य मीमांसकाभिमतस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाणिकी व्याख्या न केनाप्यद्यावधि विरचिता, दुष्करं च कार्यमिदमिति बहवो विद्वांसः स्फुटमभिमन्यन्ते। सर्ववेदव्याख्यातारौ तत्र भवन्तौ सायणमाधवाचार्यौ भाष्यमुखोद्घाते मीमांसकमतमिदमन्ववदताम्, परं व्याख्याकाले त्विदं सर्वं व्यस्मरतामिव। यतो हि बहवो मन्त्राः, बहूनि च ब्राह्मणप्रकरणानि मानुषेतिवृत्तावलम्बनेनैव तत्रभवद्भ्यां व्याख्यातानि। यथा—

आभोगयं प्र यदिच्छन्त ऐतनापाकाः
प्राञ्चो मम के चिदापयः।
सौधन्वनासश्चरितस्य भूमना
गच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम्॥
(ऋ० सं० म० १।११०।२)

इति मन्त्रं व्याचक्षाणो माधवाचार्य आह—"ऋभवो हि सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्राः। कृतोऽप्याङ्गिरस, अतस्तेन मदीयाः ज्ञातय इत्युक्तम्। हे सौधन्वनाः सुधन्वनः पुत्राः" इत्यादि। तथैव—

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति
तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते।
(ऋ. म. १।१२५।१)

इति मन्त्रं व्याचक्षाणो माधवाचार्यो दीर्घतम=कक्षीवतो वर्णमितिहासम्, भावयव्यपुत्रेण स्वनयेन तस्मै यद्दत्तम्—तस्य विवरणं च सर्वमुपनिबध्नाति, तदेव च वृत्तमवलम्ब्य सूक्तमिदं व्याचष्टे। तथैव "युवं च्यवानं चक्रथुर्युवानम्" इति प्रदर्शितपूर्वे मन्त्रेऽपि च्यवनस्य पुराणप्रसिद्धमुपाख्यानम्। एवमेव शतश इतिहासाः सायणमाधवीये भाष्ये मन्त्रार्थरूपेण व्याख्याता उपलभ्यन्ते। ब्राह्मणेष्वपि ऐतरेयादिषु या हरिश्चन्द्रनहुषादिकथाः, ताः सर्वा अपि मनुष्याकारतद्रूपेणैव माधवाचार्येण व्याख्याताः।

एवमुव्वटमहीधरादिभिरपि इतिहासपरं व्याख्यानमेवादृतं तत्र तत्र। मीमांसका मन्त्राणामिव ब्राह्मणानां तदेकदेशभूतानामारण्यकोपनिषदादीनामपि च वेदत्वमेव सिद्धान्तयन्ति— "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" 'शेषे ब्राह्मणशब्दः" इत्यादि। तथैव च सर्वे प्रामाणिका आस्तिका मन्यन्ते। उपनिषत्सूपलभ्यमाना आख्यायिका मनुष्यपरतयैव श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतिभिः सर्वैरपि भाष्यकृद्भिस्तत्र तत्र व्याख्याताः। "शुगस्य तदनादरश्रवणात्, तदाद्रवणात्, सूच्यते हि" "क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्" (ब्रह्मसूत्र १ अ० ३ पा० ३४ ३५) इत्यपशूद्राधिकरणे च सूत्रकृता भगवता व्यासेनोपनिषत्सु मनुष्याख्यानमभिमतम्, तदाधारेणैव चाधिकरणमिदं प्रवृत्तमिति न तिरोहितं सूत्रपरिशीलिनाम्।

मनुश्चरति वेदेषु व्याचक्षाणो अपि च मान्यमहानुभावः —

"भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।"

इति सिद्धान्तमवलम्ब्यापौरुषेयतामनादितां च वेदस्य रक्षत्येव ।

अपि च "न कदाचिदनीदृशं जगद्" इत्यभिमन्यमानानां मीमांसकानामनया युक्त्या अपौरुषेयत्वरक्षणं सम्भवदपि । अन्येषां तु सर्गप्रलयप्रवाहमुररीकुर्वतां दार्शनिकानां पौराणिकानां चैते वर्तमानकल्पसम्बन्धिनः पृथिव्यादिपदार्था अप्यादिमन्त इति तद्दर्शनेऽपि वेदानामनादित्वभङ्गशङ्कातङ्को दुस्तर एव । प्रवाहरूपेण नित्यता तु पृथिव्यादीनामिव देवर्षिपितृराजर्षिप्रभृतीनामपि पौराणिका अभ्युपगच्छन्त्येवेति पक्षद्वयसाम्ये नेतिहासविलोपदोषस्य प्रयोजनं किमपि पश्यामः । ततश्च—

> सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
> वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

(मनुस्मृ० १ अ०, २१ श्लो०)

इति भगवन्मनूक्तदिशा 'स भूरिति व्याहरत्, भुवरसृजत' इति श्रुत्यनुगतया यथोत्पत्स्यमानानामपि स्थावरजङ्गमादीनां सामान्येन गुणधर्मादिकं पूर्वपूर्वकल्पानुसारि प्रथमत एव श्रुतिनिबद्धमभूत्, तथैवोत्पत्स्यमानानामृषीणां राजर्षीणां च चरितं भविष्यद्दृष्ट्या, पूर्वकल्पानुसारि वा श्रुतं श्रुतिष्विति कानुपपत्तिः ! किमिदमपौरुषेयेषु वेदेषु न सम्भाव्यते, यदा खलु भगवतो वाल्मीकेरपि भविष्यद्रामचरितोपनिबन्धनं श्रूयतेऽद्याप्यार्यैः । ये खलु वेदानामलौकिकत्वं श्रद्दधते, ते भविष्यदर्थस्य पूर्वमेव तत्र वर्णनमपि विश्वस्युरेव, इतरथा तु कयाऽपि युक्त्या तेषामपौरुषेयत्वविश्वासोऽपि दुःसाध इति मन्दप्रयोजन एवायमितिहासनिरोधनप्रयासो दृश्यते । "परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इति जैमिनीयं सूत्रमपि 'पूर्वकल्पोत्पन्नानामिदानीन्तनानां च श्रुतसामान्यम् नाम सादृश्यम्, तेन पूर्वकल्पसंबन्धीनि तानि वृत्तानि वेदेष्वाम्नातानि । ईश्वरज्ञाननिष्ठाना वा पदार्थाननुसरिष्यमाणैः पदार्थैः सह श्रुतिसामान्यम्—नामसादृश्यम्' इत्यर्थपरतया व्याख्यातं शबरैरेव । दृश्यते चायमपि मान्यानामार्याणामेव बहूनां पक्षो यज्ज्ञानरूपेण नित्या वेदा, शब्दरूपेण तु काले काले तत्तदृषिभिरेव प्रादुर्भावं नीता इति । यदाह व्याकरणमहाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिमुनिः—

"ननु चोक्तम्, न हि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसीति । यद्यप्यर्थो नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या, तद्भेदाच्चैतद् भवति— काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकमिति ।"

(महाभाष्ये अ० ४।३।१०१ 'तेन प्रोक्तम्' इति सूत्रे)

न्यायभाष्यकारस्तत्रभवान् वात्स्यायनश्च—

'मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु संप्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम्। लौकिकेषु शब्देषु चैतत् समानमिति।"

(वात्स्यायन भाष्ये, २।१।६८ 'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्–इति सूत्र)

निरुक्तकृत् तत्रभवान् यास्काचार्यश्च—

"त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति।" (निरुक्ते नैगमकाण्डे अ० ४)

'अमुतोऽमुष्य जन्मन प्रादुर्भवन्ति, इतोऽस्यार्चिष, तयोर्भाती सलग्नं दृष्ट्वेवमद्यत्।" (निरुक्ते दैवतकाण्ड अ० १)

इत्यादि तत्र तत्र मन्त्राणामृषिप्रोक्तत्वं व्यनक्ति।

"आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।" इत्यादिमन्त्रव्याख्यायां च (निरुक्ते नैगमका० अ० २) देवापिशन्तनुप्रभृतीनां चरितं तन्मन्त्रनिदानं च प्रलौति। बृहद्देवताकृच्छौनकोऽपि बहूनामृषीणां चरितानि मन्त्रनिदानत्वेन बृहद्देवतायां स्पष्टं व्याचष्टे।

आस्तामेतत् चिरन्तनं मतद्वैधम्। येऽपि तु वेदस्यापौरुषेयत्वपक्षपातिनो न मनुष्यकृतित्वं मनागपि वेदेषु सहन्ते, तेऽपीतिहासं वेदेष्वङ्गीकुर्वन्तीति भगवत्पादश्रीशङ्कराचार्यश्रीसायणमाधवाचार्यादिनिदर्शनेन साधितपूर्वम्। प्रदर्शितश्च दिङ्मात्रेण पुरुषसम्बद्धायाः समाधाने तेषां पन्था।

वेदेषु चैवमितिहासानभ्युपगमे महान् विप्लवः प्रसज्यते। सन्ति किल मन्त्रब्राह्मणात्मकेषु वेदेषूर्वशीपुरूरवःप्रभृतीनां राजर्षिहरिश्चन्द्रप्रभृतीनां च बहव एवेतिहासाः, त एव चोपलभ्यन्ते पुराणेष्वप्युपबृंहिताः। ततश्च वेदेषु यदि तदर्थं तत्पराणां हि तथैव स्वभाव्यत इति तद्घटितपौराणिकसर्वराजवंशस्यैतिहासिकतथ्यं दूरमुत्सारितं स्यात्। ततश्च 'नास्त्येव भारतीयानां कोऽपीतिहासः' 'कल्पनामात्रसाराः पौराणिका इतिहासाः' 'नासीत् कोऽपि रामो वा युधिष्ठिरो वा' 'नैतिहासिकः पुरुषो भगवान् कृष्णोऽपि' इत्याद्याः केषाञ्चित् पाश्चात्यविदुषां तदनुयायिनां भारतीयानां चानर्गला जल्पना एव विजयेरन्, गुहायां हदयताग्रं च भारतीयसभ्यतायास्तरः स्यादिति किमित परम *अनर्थकरमिदं नाम? पुनश्च भौतिकवस्तुष्वभिनिवेशवृद्धेषु मनःस्वेव अनार्षीकुर्वीमहि,* न तु शौनक–यास्क–शङ्कर–माधवादिभिः स्वीकृतं वेदेषु स्फुटं भासमानं स्वारसिकं सिद्धान्तम्।

किञ्च "यत् परः शब्दः स शब्दार्थः" इति हि मीमांसाभिमतमेव न्यायमनुसृत्य धर्मे एव मीमांसाया दृढं प्रामाण्यं व्यवस्थितीकर्तुम्, इतिहासादिविषये तु पुराणमहाभारतादीनामेव मुख्यं प्रामाण्यम्। धर्मविचारे इतिहासादीनामर्थवादान्तर्भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधनाङ्गतयैव सप्रयोजनत्वमिति जैमिनिसिद्धान्तं शिरसाऽऽद्रियामहे, परं तत्कल्पनाप्रसूता मिथ्याभूता एव इतिहासा इति न शक्यमभ्युपगन्तुम्। वेदप्रामाण्यसाधनबद्धपरिकरा महान्तो वेदभागस्यैवं मिथ्याप्रतिपादकत्वलक्षणमप्रामाण्यं शब्दान्तरेण प्रदर्शयेयुरिति महदिदमुपहासास्पदम्। अपि च—

'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥"

इति मीमांसकाभियुक्तोक्त्यनुसारं प्रमाणान्तरविरुद्धानां गुणवादत्वं भवतु नाम, अनुवादभूतार्थवादयोस्त्वैतिहासिकं तत्त्वं कथमपलप्येत। न ब्रूमो वयं वेदेषु पुराणेषु वा न सन्ति कल्पना इति, को हि नाम सचेताः—

"पिप्पल्यः समवदन्त आयतीर्जननादधि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुषः॥
ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि॥"

इत्यादीनां संवादत्वेन भासमानानामपि वचोभङ्ग्या तत्तदोषध्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वं नानुमन्येत, को वा वेदेषु कृतावगाहोऽगस्त्यमरुत्संवादादिषु क्वचिदाधिदैविकम्, क्वचिदाध्यात्मिकं तत्त्वमनेनोपबृंहितमितिहासश्चान्येति न दृढं विश्वस्यात्। पुराणेष्वपि पुरञ्जनोपाख्यानप्रभृतीनि स्वयमेवाध्यात्मिकार्थपरतया व्याख्यातानि। परं नैतावता सर्वाण्येवाख्यानानि तथाभूतानीति भ्रमितव्यम्। न हि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ भवति लक्षणेति 'गङ्गायां प्रमोदते' इत्यादावपि सा नियमेन युक्ता स्यात्।

तेन वेदेषु पुराणेषु वा यान्याध्यात्मिकाधिदैविकार्थपरतया व्याख्यातानि, तानि भवन्तु तथैव। यानि तु नार्थान्तरपरतया क्वचिदप्युक्तानि, तेषु गुणवादत्वकल्पना सर्वथानर्थायैवेति सुदृढं भावयन्तु सुधियः। सन्ति च कानिचिदाख्यानानि द्विपराणि, कानिचिच्च त्रिपराणि। आधियज्ञम्, आध्यात्मिकम्, आधिदैविकं चापि तत्त्वं तैर्बोध्यते, ऐतिहासिकं तथ्यमपि चाविष्क्रियते। बहूनि सन्त्यैतिहासिकानि तथ्यानि वेदपुराणयोरेकवाक्यतयाविर्भवन्ति, यानि वर्तमानैतिहासिकपद्धत्यापि परीक्ष्यमाणानि दार्ढ्यमेवोपयन्तीति।

तदित्थं वैदिकानि विज्ञानानीतिहासाश्च चिरसमयाद् विच्छिन्नसम्प्रदायानि न प्रतिभासन्त इति सङ्क्षेपेण प्रत्यक्षमिदम्। विलुप्तविज्ञानानां च वेदानां केवलं कर्मकाण्डार्थमाध्यात्मिकतत्त्वावबोधार्थं च महत्त्वं पर्यवशिष्यत। परं मूलभूताद् विज्ञानाद् वियोजितस्य कर्मकाण्डस्य कियन्तं कालं स्थितिं लभेत्? क्रमेण ततोऽप्यार्यजाते श्रद्धा पृथग् भवितुं प्रवृत्ता। आध्यात्मिकानि तत्त्वान्यपि च मननार्थं प्रवृत्तैर्दर्शनैर्मननोपायानि स्वप्रयोगे व्याह्रियमाणैर्वेदपद्यैः सुदूरमेव नीतानि, विप्रतिपत्त्या च व्याख्यातानीति तदर्थमपि वेदपर्यालोचनं शिथिलीभूतमिव। तथा च—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

इति भगवतो मनोरादेशमवहेल्य, वेदानेकान्ततः उपेक्ष्य, वेदाङ्गानामेकदेशभूता व्याकरण–न्याय–साहित्य–ज्यौतिषाद्या एव विशेषेण भारते व्यवहृता। वैदिकपौराणिकाख्यास्तु शिक्षितत्वेनापि न परिगण्यन्ते। केवलं श्रवणमात्रमपि सोढवद्भिः कैश्चिद्ब्राह्मणैर्वेदसंहितानां कथा चिरमूलमात्ररक्षा कर्तव्यैव इत्यवधारितमभूत्।

अथ दैवाद् विज्ञानप्रियाया आङ्ग्लजातेरागमने, तया सहायेन तदन्ते च भारते विलुप्ता विज्ञानचर्चा पुनरपि प्रावर्तत। आर्यजाते पुरातनं वाङ्मयं क्रमेण परिचयं प्राप्य बहवो यूरोपीया विद्वांसोऽपि तत्त्वान्वेषणे पुनः पर्यभ्राम्यन्, तेषु निबद्धश्रद्धाश्च तदनुगमात् प्रशंसामाकर्ण्य भारतीया अपि बहवो विद्वांसो वेदाध्ययने प्रवृत्ताः। परमतिपुरातनेऽपि काले समुन्नतं विज्ञानमासीदिति निश्चयसम्पादनविषये यूरोपीयजातेर्निर्णयो दैव विपरीतम्। इदानीमुपलभ्यमानाश्च पुराणाद्या अत्यन्तमर्वाचीना इति सिद्धान्तितवन्तः च तेषां वेदपुराणयोरेकवाक्यतायामपि सर्वथैव न जायते दृष्टिपातः। तद्बुद्धिमन्वेव स्वबुद्धिं सञ्चारयन्तो भारतीया अन्वेषकाः केचन पुराणश्रद्धाप्रतिकूलाः, केचिद् ब्राह्मणान्यपि निष्कृष्य पृथक् कुर्वन्तः, क्वचन वेदेषु केवलं सामाजिकसम्प्रदायदर्शनार्थं निष्ठिताः, क्वचन सभ्यतारम्भसामयिकानेव वेदान् मन्वते—इति विभिन्नदशामेषां प्रयत्नेन वैदिकविज्ञानमन्दिरार्गला पुनरपि चिरमनुद्घाटितैव स्थिता। योऽपि कैश्चिन्महानुभावैः सुबहु परिश्रम्य कथञ्चिद् विज्ञानोन्मेष इतिहासोन्मेषो वा कृतः, सोऽपि कांश्चित् कल्पनामात्रविश्रान्त इति न प्रतिष्ठामद्यावधि समपद्यत। यावद्धि आमूलचूडं पर्यालोच्यैकवाक्यक्रमेण परिभाषानिरूपणपूर्वकं काचिद् वैदिकविज्ञानपद्धतिरितिहासपद्धतिर्वा नाविष्क्रियेत, तावत् वैदिकमर्गलोद्घाटनं सम्भाव्यते। न तु तावान् केनापि श्रमः कृतः, नापि तादृशी सामग्री सन्निहिता। ये वेदान्वेषकास्ते दार्शनिकपरिभाषानभिज्ञा अभूवन्, ये च प्राचीनशैलीपण्डितास्तेषामपि प्रवृत्तिरेव नाभूदिति नैव तादृशं कुसुमं दुर्दैववशेन भारतेन समपादि।

यद्यपि विज्ञानेतिहासयोर्मध्यात्कालं इदानीं जगति गण्यते, प्रत्यहं नवनवा आविष्काराः पाश्चात्येषु भवन्ति, येष्वेकैकेन जगच्चित्रपटः परिवर्त्यते । ईदृशेऽवसरे वाक्प्रपञ्चमात्रसाराणां प्राक्तनानामेषां विज्ञानानामितिहासानां वा किंवदन्तीप्रायाणां प्रकाशनेन को लाभः सम्भाव्यते—इति भवेद् बहूनां मनसि वितर्कः, परं विज्ञानप्रणयिनो ये भवन्ति याथार्थ्येन, न ते कदाचिदप्यलंबुद्धिमुपासते । यतः कुतोऽप्यभिनवं किमपि शिक्षणीयमित्येवाजन्म तेषां प्रवृत्तिर्भवति । किञ्च विनैवान्वेषणं 'वेदकाले विज्ञानबाल्यकाल:' इति ये स्वमनीषासंतोषायाभिमन्यते, तेषामुद्देशे प्राक्तनो निर्बन्धः, ये तु भारतीयानामृषीणां सर्वज्ञतायां विश्वसन्ति, सर्वविधविज्ञानपारगामिता च तेषां श्रद्दधते, ये वा तदस्यास्तारतम्यपरीक्षणसमुत्सुकाः, तेषां तु प्राक्तनविज्ञानमर्मोद्घाटनं न कदाचिदप्यरुचिकरं संभाव्यते । सोत्कण्ठं ते प्राक्तनविज्ञानप्रकाशाय स्पृहयन्ति ।

अथेदमप्यालोच्यतां मनाक्, यद् बहुशः समुन्नतमपि पाश्चात्यं विज्ञानं नाद्यापि निष्ठां गतम् । अद्यापि नवनवाः सिद्धान्ता आविर्भवन्ति, प्राक्तनाश्च बहवस्तिरस्क्रियन्ते, अद्यापि च बहवो व्यापारा अज्ञाततत्त्वाः स्थिताः, अद्यापि च बहुत्र विद्यते मतभेदो वैज्ञानिकानाम् । किमन्यत्, या विद्युत् सर्वस्याधुनिकस्य विज्ञानस्य मूलस्तम्भायिता, तस्याः किं तत्त्वमिति प्रधानेऽपि विषयेऽद्यापि विवदन्ते वैज्ञानिकाः ।

एवंविधे च व्यतिकरे भारतीयानां प्राक्तनविज्ञानसाहाय्येन केषुचिदंशेषु विज्ञानमाधुनिकमुपकृतं स्यादिति सम्भावना केन हेतुनोपहास्यतां नीयते भवद्भिः ? इदं चाद्यावधि बहुषु विषयेषु यद् भारतीयैः प्राक्तनैः सिद्धान्तैर्यत्र नवीनेन विज्ञानेन विरोध उद्भावितः, तत्र कालक्रमेण भारतीयानामेव सिद्धान्तानां विजयो भवतीति । यथा वृक्षादिषु चैतन्यं भारतीयेषु ग्रन्थेषु निस्पष्टमुद्घुष्टम् । नवीनस्य विज्ञानस्यासीत् तत्र विरोधः, परं भारतजनन्या एव सुपुत्रेण श्रीजगदीशचन्द्रवसुमहाभागेन भारतीयानां सिद्धान्तोऽद्य जगति सर्वमान्यतां प्रापित एवेति न परोक्षं विदुषाम् । रसायनक्रियया ताम्राद्या अपि धातवः सुवर्णतां नेतुं शक्यन्त इति भारतीयेषु चिरन्तनः प्रवादः । नवीनं विज्ञानमद्यावधि गुरुत्वं तत्त्वान्तरमभिमन्यमानं तत्र विप्रतिपन्नं समुपहसति स्म । इदानीं वैज्ञानिका गुरुत्वस्याप्युत्पादनाम्, ताम्रादीनां च सुवर्णभावापत्तिं मन्तुं प्रवृत्ताः । एवमेकमूलमिदं सर्वजगदित्यद्वैतवादो भारतीयानां सर्वत्र प्रथितः । आधुनिकं विज्ञानं तु त्रिषष्टिमशीतिं द्विनवतिं शताधिकानि वा तत्त्वानि मूलादेव भिन्नानि मन्यत् तेषां संख्यावृद्धावेव प्रयतमानमासीत् । परमिदानीं नैतानि मूलतो भिन्नानि तत्त्वानि, परमार्थत एकमेव तत्त्वमिति प्रवृत्ता बहूनां वैज्ञानिकानां दृष्टिः । आरम्भवादापरपर्यायः परमाणुवादः प्रथमः, तदनु परिणामवादात्मकः प्रकृतिवादः, अन्ते

वैज्ञानिकैर्विकासवादी [illegible] निर्णयो [illegible] पाश्चात्ये विज्ञानेऽपि [illegible] [illegible] । तथाप्यादौ परमाणुवाद एव ([illegible] थियरी) वैज्ञानिकैरभ्युपेतोऽभूत्, इदानीं तु (एवोल्यूशन थियरी) नाम्ना [illegible] एव [illegible] [illegible] । यथा च वैज्ञानिकानां [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एव ।

दूरात् [illegible] वस्तु केन हेतुना [illegible] दृश्यते—इति [illegible] [illegible] [illegible] । वैदिकेन तु विज्ञानेन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible], [illegible] [illegible] वैदिके विज्ञाने दृश्यते, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । यानि च तत्त्वानि वैज्ञानिका [illegible] [illegible] [illegible] मन्यन्ते, तानि वैदिके विज्ञाने [illegible] [illegible] [illegible] । यदधुना 'आक्सिजन' नाम्ना [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । 'हाइड्रोजन' नाम्ना [illegible] च [illegible] [illegible] इति [illegible], '[illegible]' [illegible] '[illegible]', 'कार्बन' इत्युक्त [illegible] इति [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति वैदिक [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] च [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] च [illegible] [illegible] [illegible], [illegible]—[illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । यदि वैदिकं विज्ञानं [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] वैज्ञानिकाना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] शक्यम् ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] च [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वा [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] वैदिकैरन्वेषणेन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एव ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

'[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]'

इति [illegible] [illegible] [illegible] ।

वेदेषु पितरः

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वता यस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यत
स मे ऋषीणामृषभ प्रसीदतु ॥
तदिदं यमयय धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रसादात् प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटा ॥

त्रिविधा हि जगति दृश्यन्ते भावा —ज्ञानम् , क्रिया, अर्थाश्च । एषां त्रयाणामपि मूलानि मन , प्राण , वाक् चेति त्रितयमेव श्रुतिषु समाम्नातम् । शतपथब्राह्मणे हि "सोऽयमात्मा मनोमय , प्राणमय , वाङ्मयश्च" इति बहुध एभिरेव पदै प्रकारान्तरेण वा श्रूयते । यत्र च कस्यचिदभिनवपदार्थस्योत्पत्ति प्रस्तोतव्या भवति तत्र "स ऐक्षत, स तपोऽतप्यत् , सोऽश्राम्यत्" इत्यनेनैव क्रमेण किञ्चित्परिवर्तनेन वा बहुध श्रूयते । तत्रेक्षण नाम मनसो धर्म , तप पदबोध्या क्रिया च प्राणधर्म , श्रमश्च सर्वभूतादिभूताया वाचो धर्म इति आत्मभूते त्रयेऽपि क्षोभरूपा स्वस्वव्यापारा प्रतिपाद्यन्ते । आत्मभूतस्य त्रितयस्य क्षोभादेवाभिनवपदार्थोत्पत्तिर्भवतीति । आत्मभूते त्रितये च मनो ज्ञानस्य मूलम् , क्रिया प्राणस्य, वाक् चार्थाना मूलमिति प्रत्येतव्यम् । वाच एव विवर्तभूतानि सर्वाणि भूतानीति "वाचीमा विश्वा भुवनानि तस्थु" इत्यादिशब्दैर्बहुधा श्रूयते । भवतु नाम, प्राणो गतेर्मूलम् , गतिरेव च जगदुत्पादयतीति प्राणमेव मुख्यतया आधारीकरोति श्रुति । गति क्रिया चेति पर्यायशब्दौ । क्रियाशक्तिरेव च माया बलादिशब्दव्यवहार्या ब्रह्मणि जगत् प्रदर्शयतीति श्रुते सिद्धान्त । गतिश्चेय द्विविधा भवति । केन्द्रादारभ्य परिधिपर्यन्त गतिरित्युच्यते । परिधेरारभ्य केन्द्राभिमुखी गतिस्त्वागतिपदेन व्यवह्रियते । तत्र गतिरग्निपदेनागतिश्च सोमपदेन श्रुतिषु परिभाष्यते । एतावेवाग्नीषोमौ जगत उत्पादकावित्युक्तम्—"अग्नीषोमात्मक जगत्" इत्यादि श्रुतिषु । अग्नीषोमपदवाच्ये गत्यागती प्राणजन्ये एवेति निष्कर्ष ।

सोऽयं प्राण प्रथमम् ऋषिरूपेण, तदनु पितृरूपेण, अनन्तरञ्च देवासुररूपेण [कयाचित् प्रक्रियया गन्धर्वरूपेण च श्रुतिषु व्याख्यायते । शतपथब्राह्मणे हि षष्ठ काण्डमारभ्य पूर्वमृषीणा विवरण दृश्यते । "प्राणा वा ऋषय" इति च स्पष्ट श्रूयते । एते एव पञ्चपर्य्यय पितर , देवा , असुरा , गन्धर्वाश्चेति मिलित्वा

सूक्ष्म जगदित्याख्यायते। तत्रपितृणामुत्पत्तिर्मनुना श्राद्धप्रकरणे पितृनिरूपणावसरे स्पष्टीकृता—

> मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादय सुता ।
> तेषामृषीणामाचाना पुत्रा पितृगणा स्मृता ॥
> ऋषिभ्य पितरो जाता पितृभ्यो देवदानवा ।
> देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चर स्थाण्वनुपूर्वश ॥

जाबालोपनिषदि च स्पष्टमग्नीषोमयोरेतन्मूलभूतयोर्गत्यागतिक्रिययोश्च स्फुटं वर्णनमुपलभ्यते—

> अग्निरारूयायते रौद्री घोरा या तैजसी तनू ।
> शक्ति सोमोऽमृतमयो रसशक्तिकरी तनू ॥
> अमृत यत्प्रतिष्ठा सा तेजोविद्या कला स्वयम् ।
> स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसी ॥
> द्विविधा चेतसो वृत्ति सूर्यात्मा चानलात्मिका ।
> तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा च जलात्मिका ॥

अन्यच्च—

> ऊर्ध्वशक्तिमय सोम, अधश्शक्तिमयोऽनल ।
> ताभ्या सम्पुटित स्मादच्छश्वदिदमिद जगत् ॥ इत्यादि ।

अत्राग्निरधःशक्तिमय उक्त, तस्येद तात्पर्य यदग्निर्दक्षिणस्या दिश उत्तरा दिश गच्छति। उत्तरा दिगेव जगत ऊर्ध्वभागत्वेनाख्यायत इति तेनाग्नेर्ऊर्ध्वगतिः स्फुटीभवति। अग्निर्दक्षिणस्या दिशि स्थितस्सन्नूर्ध्वमुत्तरा गच्छति। सोमश्चोत्तरस्या स्थितस्ततोऽधो दक्षिणस्यामागच्छति। अत एव सोमस्य स्थूलावस्थारूपा आपोऽपि नदीरूपेणोत्तरस्या एव दिशो दक्षिणस्यामागच्छन्त्य सर्वैरस्माभिरनुभूयन्ते। उत्तरस्या दिशि ऊर्ध्वगतोऽग्निरेव परिधि प्राप्य सोमरूपेण परिणमति। दक्षिणस्यामागतश्च पुनरग्निर्भूत्वोर्ध्व गच्छतीत्यन्योन्यपरिवर्तनादेकस्यैव तत्तदवस्थारूपे इमे अग्नीसोमाविति स्फुट सिद्ध्यति।

इमा जाबालश्रुतिमेवानुसृत्य शक्त्युपासनाया शक्ति शिवस्य हृदयोपरि स्थिता। तत्र शिवो रुद्रपदवाच्योऽग्निरूप तदुपर्यागच्छन्ती सोमधारा तु शक्तिरूपेति। अन्यथापि चैतद्व्याख्यातु शक्यते। पुरुष एव शिवरूपेण स्थित, स च शक्त्या विना निर्विचेष्ट इति शवरूपेणैव स्थित। तदुपरि क्रीडन्तीय शक्ति स्थितेति। आस्तामियमप्रकृतकथा।

यौ त्वग्नीषोमौ गत्यागतिक्रियारूपौ प्रागुक्तौ, तत्र विशुद्धाः प्राणा अग्निरूपा एव ऋषिपदेनाख्यायन्ते। तत्र तु सोमसम्बन्धे जाते सौम्या प्राणा उद्भवन्ति।

त एव सौम्याः प्राणाः पितर उच्यन्ते। ऋषीणां प्रथमं स्वयम्भूमण्डल एवोद्गमः, तदनु परमेष्ठिमण्डले सौम्ये सोमसम्बन्धात् पितॄणामुद्गमः। अथ तृतीये सूर्यमण्डले देवानां प्रादुर्भाव इत्ययमेव क्रमो भगवता मनुनाऽभिहितः। इमे चाग्नीषोमपदाभ्यामाख्याते गत्यागती सर्वेष्वपि पदार्थेष्वनवरतं प्रवर्तेते। वेदबाह्या अपि जैनबौद्धादयस्तत्त्वमेतदनुमन्यन्ते। तथा हि—जैनदर्शने "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सतो लक्षणमुच्यते। सर्वेष्वपि पदार्थेष्वागतिरूपेण योगेन नवनवावयवोत्पादः, गतिरूपेणाग्निना च व्ययः, तयोरप्युत्पादव्यययोस्तदैवेदमिति वस्तुनि या प्रत्यभिज्ञा तदाश्रय एव ध्रौव्यम्। तानीमानि उत्पादव्ययध्रौव्याण्येव सत्तापदेनोच्यन्ते, तदाश्रयाश्च सर्वे पदार्थाः सन्त इति व्यवह्रियन्ते इति जैनसम्प्रदायः। बौद्धास्त्वपि अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वमनुमन्यन्ते। प्रत्येकं हि वस्तु यं कमप्यर्थमुत्पादयति यां कां वा क्रियामपि कुर्वद् दृश्यते तदेवार्थक्रियाकारित्वं सत्तापदेन व्यवह्रियते। तादृशसत्तावन्तश्च पदार्थाः सन्त इत्युच्यन्ते। गत्यागतिरूपा क्रिया चेयं प्रतिक्षणं परिवर्तत इति क्षणिकमेव सर्वं जगत् तैर्मन्यते। क्रियैकाद्भ्युपवादसङ्गादेव ते श्रमणा इत्युच्यन्ते।

सोमसदवाच्या आगतिरेवेयं सदार्थान् पाति नवनवानुत्पादयति चेति निरूपदेनाख्यायते। जनक एव च पितृपदेन लोके व्यवह्रियत इति रक्षणोत्पादनस्य च सम्बन्धात् सौम्यानां प्राणानां पितृत्वं स्थाने एवोच्यते।

त इमे पितरस्त्रिविधाः श्रुतिषु व्याख्यायन्ते। १—दिव्यपितरः, २—ऋतुपितरः, ३—प्रेतपितरश्चेति। तत्र पूर्वोक्तमनुवचनरीत्या ऋषिभ्य उत्पन्ना देवासुराणामुत्पादकाश्च प्राणविशेषा दिव्याः पितरः। त इमे त्रिष्वपि लोकेषु परिव्याप्य तिष्ठन्ति। तदेतद् ऋग्वेदश्रुत्या समाम्नातम्—"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः" (ऋ० अष्ट० ७।६।१७) इति। अवरे परे मध्यमाश्चेति त्रिविधाः पितर आम्नाताः। अत्र सोमसम्बन्धात् श्रीयन्तरिक्षाण्येव ग्राह्याणीति बहवो विद्वांसो मन्यन्ते। अस्माकं भूमेः सूर्यमण्डलस्य च मध्ये चन्द्रेणाधिष्ठितं प्रथममन्तरिक्षम्। सूर्यमण्डलादुपरिष्टात् परमेष्ठिमण्डलादधस्ताच्च महर्लोकाख्यं द्वितीयमन्तरिक्षम्। सूर्यमण्डलादुपरितनायास्त्रिलोक्याः सर्वेण सह लये तत्रैवर्षयस्तिष्ठन्तीति पुराणेष्वभिहितम्। तेभ्य ऋषिभ्य एव सोमसम्बन्धात् पितरो जायन्ते। परमेष्ठिमण्डलादुत्पन्नाश्च पितरो महर्लोक एव परिपुष्टा भवन्ति। अथ परमेष्ठिमण्डलादुपरिष्टात् स्वयम्भूमण्डलादधस्ताच्च जनःपदवाच्यं तृतीयमन्तरिक्षम्। तत्रापि चैषां व्याप्तिः पूर्वोक्तश्रुत्या ज्ञायते। ते परे पितर उच्यन्ते। अथर्वश्रुतावपि—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥

(अथर्व० का० १८ अ० २ सू० २)

इति नीच्यन्तरिक्षाण्येव तत्पदेनोक्तान्यनुसन्धेयानि। एत एव च त्रयो नान्दीमुखा, पार्वण (अश्रुमुखा), प्रेताश्चोच्यन्ते। नान्दी नाम समृद्धिः। सर्वोपरिष्टाद् विराजमानास्तृतीयलोकस्था पितर समृद्धिशालित्वाद् नान्दीमुखा आख्यायन्ते। मध्यमलोकस्थास्तु तदपेक्षयाऽवरकक्षाका इत्यश्रुमुखा उच्यन्ते। इत प्रेत्य ये जीवा गच्छन्ति तेऽन्तरिक्षे दिव्यपितृभि सङ्गता भवन्तीति तस्माद्-न्वर्थादवरान्तरिक्षस्था दिव्यपितरोऽपि प्रेता इत्याख्यायन्ते, यद्वा तृतीयस्मिन्नन्त-रिक्षे स्थिता पितर ऊर्ध्वमुखा भवन्तीति नान्दीमुखा उच्यन्ते। मध्यमस्थास्तु जलस्योत्पादनेऽपि कारणीभूता भवन्तीत्यश्रुमुखा उच्यन्ते, अश्रूणां जलरूपत्वात्।

ते चेमे दिव्या पितर पुन प्रत्येकं त्रिविधा —अन्नरूपा, अन्नादरूपा, तत्स्थाश्च। ये स्वयं परेषामन्नरूपा भूत्वा परान् पुष्यन्ति तेऽन्नरूपा आख्यायन्ते। ये तु परश्रोपसक्रान्ता अन्नं भुञ्जते तेऽन्नादरूपा। ये तु नान्नं भुञ्जते न परैर्भुज्यन्ते ते तत्स्था। तत्रान्नरूपा अग्निष्वात्ता, बर्हिषद सोमसदश्चेति त्रिविधा। ये अग्निनैवाप्यन्ते "अग्निरेव यान् दहन् स्वदयति ते अग्निष्वात्ता"। ये च बर्हिषि कठिनद्रव्येऽन्नरूपे तिष्ठन्ति ते बर्हिषद। ये च तरले द्रव्ये स्थिता परैरद्यन्ते ते सोमपा। एवमन्नादा अपि त्रिविधा —हविर्भुज, आज्यपाः, सोमपाश्चेति। कठिनं द्रव्यं ये भुञ्जते ते हविर्भुज। तरलं तु द्रव्यं द्विविधं श्रुतिषु परिभाष्यते। यदग्नि सम्बन्धात् प्रज्वलितमग्निरूपतामेव गच्छति तदाज्यमित्युच्यते, यथा घृतं तैलं चेत्यादि। यत्तु नाग्निना प्रज्वलति, किन्त्वग्नौ प्रक्षिप्तमग्निं शमयति तत् सोम-पदेनोच्यते। तत्राद्यं ये भुञ्जते, अर्थादात्मसात्कुर्वन्ति त आज्यपा। तत्स्थास्तु सुकालिन उच्यन्त इति सप्तविधा दिव्या पितर। पुराणेषु सप्तैव पितर आख्यायन्ते—

> कव्यवालोऽनल सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।
> अग्निष्वात्ता बर्हिषद सोमपा पितृदेवता॥

तत्र हविर्भुज एव 'कव्यवाट' पदेन, सोमसदश्च सोमपदेन, बर्हिषदश्चाग्नि-सहचरा इति साहचर्यादग्निपर्यायकेणानलपदेनोक्ता। यमश्च पितृसहचरत्वेनात्र व्याख्यायमान पितृष्वेव परिगणित इति प्रक्रियाभेदमात्रं द्रष्टव्यम्। त्रिषु लोकेषु स्थितानां पितॄणां सहचरास्त्रयो देवा भवन्ति—अग्निर्वायुरादित्यश्चेति। तत्राग्निर ष्टविधोऽष्टवसुरूपेण व्याख्यायते। वायुस्त्वेकादशरुद्ररूपेण। आदित्यो द्वादशरूपेण च श्रुतिष्वाम्नात। त इमे पितृसहचरा पितृभिरुत्पादिता वा पितृजन्यत्वाभक्ता इति भगवता याज्ञवल्क्येन भगवता मनुना च पितृपदेनैवाख्याता —

> वसुरुद्रादितिसुता पितर श्राद्धदेवता।
> प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄनाद्येन तर्पिता॥

इत्यादिना याज्ञवल्क्यस्मृतौ ।

> वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
> प्रपितामहांस्तथाऽऽदित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥

अथ पितृसहचरा अपि देवास्त्रिधा भिद्यन्ते—अग्नि सोम, यमश्चेति । अग्नौ या निरन्तर सोमाहुति पतति तस्या विच्छेदको यम आख्यायते । सोमाहुति विच्छेदे तत्तत्पदार्थानां मृत्युर्नाम नाशो भवतीति यमो मृत्युरप्याख्यायते । त इमे पितृसहचरास्त्रयो देवा श्राद्धकर्मणादौ हूयन्ते "अग्नये कव्यवाहनाय सोमाय पितृमते स्वाहा यमायाङ्गिरस्वते स्वाहा" इति । तदनु पितर पूज्यन्ते । विच्छेदकत्वात् क्वचिच्छाखायां यमो न हूयते । इत्थं दिव्यपितर सङ्क्षेपेण व्याख्याता ।

अथ ऋतुपितर आख्यायन्ते । अग्नौ सोमाहुतितारतम्याद् ऋतवो भिद्यन्ते । उत्तरस्यां दिश्यागते सूर्ये ऋत नाम तत्त्वमग्नेर्भाग उत्पद्यते । दक्षिणस्यां तु सूर्ये आगते सोम उत्पद्यते । सोम पिण्डजनकत्वात् सत्यपदेनाख्यायते । तदेतत् "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत" इत्यघमर्षणमन्त्रे समाम्नातम् । मासषट्कमग्नेर्वृद्धि सोमस्य च ह्रास, तदनन्तर मासषट्क सोमस्य वृद्धि, अग्नेश्च क्रमेण ह्रास । अग्नेस्तारतम्यादेवर्तूनां नामान्यपि संस्कृतभाषायामाख्यायन्ते । तथा हि—उत्पन्नमात्रोऽग्निर्यदा तेषु तेषु पदार्थेषु वस्तुमारभते तदा 'वसन्त' इति ऋतुनामोच्यते । "वसन्तोऽनाग्नय" इति ऋतुरपि वसन्त । यदा च वृद्धिं गत स सर्वान् पदार्थान् ग्रसति तदा ग्रीष्म इत्युच्यते, 'ग्रस' धातोरेव परोक्षया वृत्त्या ग्रीष्मशब्दनिष्पत्ते । अनन्तरमग्निवृद्धिं गतेऽग्नौ 'वर्षा' इत्यृतुनाम, वृद्धिशब्दस्यैव वर्षीयानित्यादौ व्याकरणे वर्षादेशदर्शनात् । तदिदं षण्मासात्मकमृतुत्रयमग्नेर्वृद्धिकाल, तदनु सोम उत्पन्ने तत्तारतम्यादग्निर्ह्रसति । यदा ह्रास आरभ्यते तदा शरदित्युच्यते । शीर्णो भवितुमारब्धोऽग्निरिति । यदा च विशेषेण ह्रासस्तदा 'हेमन्त' इत्युच्यते । हीनार्थबोधकाद् 'हि'धातोरेव हेमन्तशब्दनिष्पत्ते । यदा चात्यन्त शीर्णस्तदा षड्ऋतुष्वन्ताच्छिशिरपदात् तद्व्यवहार क्रियते ।

न केवलम् ऋतूनाम्, अपि तु मासानामपि नामानि तत्तत्पदार्थोत्पत्तिसम्बन्धेनैव संस्कृतभाषायां दृश्यन्ते । तथा हि—यस्मिन् मासे पुष्पफलादिषु मधूत्पद्यते स चैत्रो मधुनाम्नाऽऽख्यायते । यदा च मधोर्वृद्धि स वैशाखो 'माधव' नाम्ना । अग्नेर्वृद्धिदशायां शुक्र इति ज्येष्ठ शुचिरिति चाषाढ । अथ यदा मेघेन प्रावरणात् सूर्यनक्षत्रादयो न दृश्यन्ते तौ श्रावणभाद्रपदौ 'नभ' इति, 'नभस्य' इति चाख्यायेते । यदा च प्राणिषु 'अर्क' नामौज प्रादुर्भवति तदाऽऽश्विनकार्तिकौ 'इष' इति, 'ऊर्ज' इति च, यदा च तदेवौजो बलरूपेण परिणमति तदा मार्गशीर्षपौषमासौ 'सह' इति, 'सहस्य' इति चाख्यायेते । अथ यदा पूर्वोक्त ऋतुना

माग्निराविर्भवति तदा माघफाल्गुनौ 'तप' इति, 'तपस्य' इति च । संस्कृताध्येतारः पश्यन्तु संस्कृतभाषाया महत्त्वं यत् तत्र मासर्तुनामश्रवणादेव तन्मासर्तुप्रभृतिषु जातानां पदार्थानां परिचयोऽपि जायत इति ।

नाम्नैव ज्ञायन्ते यदेत ऋतवो न कालमात्रस्य संज्ञा अपि तु तत्तत्कालप्रादुर्भूतानामग्नीषोमादीनामिति । ते चैते अग्नीषोमाद्याः सर्वेषां पदार्थानां जनका इति पितर उच्यन्ते । अत एव "ऋतवः पितरः" इति तत्र तत्र श्रुतिषु समाम्नायते । स्मृतिष्वपि च श्राद्धप्रकरणे उक्तम्—"षड्भ्यस्तुभ्यश्च नमस्कुर्यात् पितृनेव च धर्मवित्" इति । तदित्थं द्वितीयपितृरूपा ऋतवः संक्षेपेण व्याख्याताः ।

अथ तृतीयविधाः प्रेताः पितर उच्यन्ते । येऽस्माल्लोकाल्लोकान्तरं गतास्ते प्रेताः पितरः । त एतेऽपि श्रुतिषु बहुधा श्रूयन्ते । तथा हि—मुमूर्षुपुरुषविधे उच्चारणीय एको मन्त्रः—

सगच्छस्व पितृभिः सं यमेन इष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वा यावद्यं पुनरस्तमेहि सगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥

अत्र स्पष्टं मृतस्य दिव्यपितृभिः सङ्गमनमाम्नातम् । यत्तु केचन पुनो जीवन्तमेव पितरं सम्बोधयतीति मन्त्रमिमं व्याचक्षते तदनुचितमेव, अवद्यं हित्वा इत्युपदेशस्य पुत्रकृतस्य पितरं प्रत्यनुचितत्वात्, अस्तमेहीति कथनस्य नितान्तम योग्यत्वाच्च । तस्मात् मुमूर्षुविधे एव प्रार्थनापरत्वेन मन्त्रोऽयं युज्यते ।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वान् अनष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥

अत्रापि पृथिव्या अधिष्ठाताग्निर्मृतस्य पितृलोकनयनाय प्रार्थ्यते ।

यद्वोऽग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयञ् जातवेदाः ।
तद्व एतत्पुनराप्याययामि साङ्गाः पितरः स्वर्गे मादयध्वम् ॥

अत्राग्निना परित्यक्ताङ्गस्य पुनराप्यायनं स्पष्टं श्रुतम्, यदधुनापि दशाहाभ्यन्तरे गात्रनिर्माणकपिण्डप्रधानरूपेण सर्वैरनुष्ठीयते । कियदुदाहरामि । शतशो मन्त्रेष्वेव मृतानां पितृलोकगतिराम्नायते । "ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इति कौषीतकिब्राह्मणे मृतानां स्पष्टं चन्द्रलोकगतिराम्नाता । चन्द्रलोक एव च पितृलोकपदेनाख्यायत इति, 'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति" इति सिद्धान्तशिरोमण्यादिषु स्पष्टमुक्तमस्ति । छान्दोग्योपनिषत्स्वपि च देवयानपितृयाणमार्गौ स्फुटतरं निरूपितौ । तत्रापि च चन्द्रलोकगतिः पितृयाणमार्गे स्पष्टं श्रूयते । सजातीयाकर्षणसिद्धान्तमनुसृत्य चोपपत्त्यापीदं सिद्ध्यति । सर्वं हि वस्तु स्वसजातीयेन घनेन स्वाभिमुखमाकृष्यत इत्येव सजातीयाकर्षणसिद्धान्तः । स

भाष्ये महाभाष्ये "स्थानेऽन्तरतम" सूत्रे स्पष्टं विवृतम्। यत्तु केचन पाश्चात्या विद्वांसो वदन्ति यदाकर्षणसिद्धान्तं न कोऽपि जानाति स्मेति तद्देशे देशे न्यूटने नैवाविष्कृतो भवतु नाम। अस्माकं तु श्रुतिषु तदनुगामिषु शास्त्रेषु च स्फुटमाकर्षण-सिद्धान्तो विवृतो दृश्यते। ज्योतिर्विदामग्रेसरैः श्रीभास्कराचार्यैरपि स्फुटाक्षरैः भूम्याकर्षणमस्तीति प्रतिपादितम्। बौद्धा हि मन्यन्ते स्म यद् भूमिरेव प्रति-क्षणमनेकयोजनानि नीचैः पतति। एवं स्फुटं पतन्तो यदस्माभिरुत्क्षिप्तो मृत्पिण्डः प्रक्षेपोऽस्माभिर्धारिता शक्तिस्तत्र निहिता तस्यापगमे नीचैः पततीति तदैवाकाशवती पृथिवी कथं निरालम्बा तिष्ठेदिति। यत्तु शेषकूर्मवराहादिकान् अवलम्बान् कल्पयन्ति तत्तु तैर्न मन्यते। अस्माकमपि च पुराणादिषु वैज्ञानिक शैल्याऽभिप्रायान्तरमेव तस्य वर्णनस्य व्याख्यायते। भवतु नामैतस्य बौद्धसिद्धान्तस्य खण्डनाय प्रवृत्तः श्रीभास्कराचार्य इदमुक्तवान्—

> आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत्
> खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
> आकृष्यते तत् पततीव भाति
> समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

अस्मात्सन्देहाभावो यत् पतनं नाम कस्यचिद्वस्तुनो न स्वाभाविको धर्मः, अपि त्वाकर्षणशक्तिमूलक एव। अस्मादपि प्रहितं पृथिव्यादिकं भूमिरेव स्वाभिमुखमा-कर्षति, तन्मूलमेव तस्य पतनं दृश्यते। भूमेस्त्वाकर्षकं किमपि पिण्डान्तरं नास्ति, अपि निरवलम्बितैव आकाशमण्डले स्थिता। आकाशे चाकर्षणशक्ति-र्नास्तीति कथं पततु। अत्र स्फुटैरक्षरैर्भूम्याकर्षणसिद्धान्तो न्यूटनाद् बहुपूर्वेण भास्कराचार्येण विवृतः। महाभाष्यकृता च सजातीयाकर्षणसिद्धान्तो विवृत इति पूर्वमुक्तमेव।

वेदेषु पितरः

आरण्यकेनेतदुक्तं कथा। अनेन सजातीयाकर्षणसिद्धान्तेनापि इदं मरिष्यतस्य जीवस्य चन्द्रलोकगमनमपि सिद्ध्यति। मृतस्य स्थूलं शरीरं सूक्ष्मशरीरं विहाय निष्क्रामति। तत्र च मन एव प्रधानं भवति, मनश्चेद् चन्द्रमण्डलस्यैवांश इति श्रुतिस्मृत्यादिषु स्फुटीकृतम्। ततश्च चन्द्रमण्डलांशस्य मनसश्चन्द्राभिमुखी गतिः स्फुटं प्रसिद्ध्यत्येव। येषु तपोब्रह्मचर्यादिना स्वस्य प्राणसूक्ष्मं प्रवर्द्धिता ते चन्द्रमसं न गच्छन्ति, अपि तु तेषां प्राणसूक्ष्मस्य सूर्याकर्षणात् सूर्यमण्डल-मेव यान्तीत्यपि छान्दोग्योपनिषत्सु स्पष्टमभिहितम्। येषां धनधान्यादि साधनमात्रोद्देशानां भूम्यादेव विशेषो तन्मण्डलेऽस्यैव पुनः पुनर्जायन्ते म्रियन्ते

चेति "जायस्व म्रियस्व" इत्येतत् तृतीयस्थानमिति छान्दोग्ये समाम्नातम्। एषाञ्च त्रिविधानामपि श्राद्धेन तृप्तिः स्मृतिषु स्फुटमुक्ता—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥ इत्यादिना।

एते च मृता जीवा द्वादशभिर्मासैश्चन्द्रलोकं प्राप्नुवन्तीति तावत् प्रतिमासं श्राद्धानि क्रियन्ते। दिव्यपितृभिः सङ्गताना तु वर्षान्ते सपिण्डनं क्रियते। तदनु प्रत्यब्द श्राद्धम्। श्राद्धे च या प्रक्रिया सा सर्वाऽपि वैज्ञानिकरीत्या व्याख्यातुं शक्यते। ये च भेदा नान्दीमुखाश्रुमुखादयस्ते मृतपितॄणामपि स्मृतिपुराणादिषु प्रतिपादिता—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
त्रयोऽप्यश्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्तिताः॥
तेभ्यः पूर्वतरा ये च प्रजावन्तः सुखोचिताः।
ते तु नान्दीमुखा नान्दीसमृद्धिरिति कथ्यते॥ इत्यादिना।
(ब्रह्मपुराणे)

एवं ये सोमपान कृतवन्तस्ते सोमपा इत्याद्यपि च तत्र तत्र विवृतम्।

पुराणखण्डः

(अस्मिन् खण्डे—

१. पुराणेषु विकासवादः

२ कूर्मपुराणविषयाणां समालोचनम्

३. मुद्गलपुराणविषयसमालोचनम्

४. वेदेषु पुराणमहत्त्वम्

५. पुराणलक्षणानि

एते पञ्चलेखाः संगृहीताः

—संपादकः)

पुराणेषु विकासवादः

विदितमेवैतत्प्रायेण सर्वेषामपि समयविदां विदुषां यदाधुनिका विद्वांसो विकासवादमाददते। सर्वेषामपि प्राणिनामप्राणिनां वा क्रमेणोन्नतिरिति तन्मतम्। तेन खलु वर्षशतात्पूर्वमासीद्यादृशं जगत्, तदपेक्षयाद्य वर्तते बहुतरमुन्नतम्। अद्य च यादृशं तदपेक्षयैव भाविनि समयान्तरे भविष्यत्युन्नततमेव, सेयं क्रमिकोन्नतिधारेति कथ्यते। वयन्तु (भारतीयाः) तद्विपरीतवादिन इवेति प्रसिद्धिः। अस्त्ययं संस्कार आबालवृद्धमस्मद्देशे, यज्जडचेतनोभयात्मकमपीदं जगद्यथाऽभवद्वर्षशतात्पूर्वम्, तदपेक्षयाद्यावनतम्। न वृक्षास्तादृशाः, न वा तथा प्रसविनी सस्यानां विश्वम्भरा। न पश्वादिष्वेव तादृशी शक्तिः, का तु कथा मनुष्याणाम्, ते खलु नष्टदेव मानुषा वीर्येण धर्मेण बुद्ध्या समृद्ध्या वा ह्रसन्त्येव। सोऽयमास्माकीनो ह्रासवादः। फलमपि किलानुभूयते स्वस्ववादानुकूलमेव, ते खलु प्रत्यहमुन्नमन्त्येव, वयन्तु प्रत्यहं वा प्रतिक्षणमवनतिमेवाधिगच्छामः। आस्तामिदम्, कस्त्वस्माकं शास्त्रकाराणामस्मिन् विषयेऽभिप्रायः, को वा वादस्तथ्यकोटिं स्पृशतीति सङ्क्षेपतोऽत्र निदर्शयितुमिच्छामः।

क्रमिकोन्नतिवादापरपर्यायोऽयं विकासवादः प्राणिविषये संक्षेपतः खलु द्वेधा विभक्तुं शक्यः—जगति प्राणिनामुत्पत्तिविषये च, मनुष्याणां सामाजिकव्यवस्थाविषये च। पूर्वत्र तावदेषु विकासवादसिद्धान्तः, न खलु भूम्यां परिदृश्यमाना इमे सर्वेऽपि प्राणिनो युगपदेवोदपद्यन्त, अपि तु क्रमेणैषामुत्पत्तिः। सा चाप्युत्तरोत्तरमुन्नतैव, तथा च पूर्वं तिरश्चां तत्रापि प्रथममनेकेन्द्रियाणां ततो द्वीन्द्रियाणामनन्तरं त्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां च तदनु क्रमेण समनस्कानां मनुष्याणामुत्पत्तिरिति तत्सिद्धान्तः[1] कथ्यते। सोऽयं सिद्धान्तः कथञ्चित् पौराणिकं सृष्टिक्रममनुसरतीव। तथा हि—सर्वेष्वपि पुराणेषु नवविधसृष्टिप्रतिपादनावसरे पूर्वं वृक्षाणां तदनु तिरश्चां ततो देवानां मनुष्याणां सृष्टिरभिहिता। यथा विष्णुपुराणे (१ अंश ५ अध्याय)।

> सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा।
> अबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस्तमोमयः ॥ ४ ॥
> तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
> अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥ ५ ॥

---

१. वानरा एव पुरुषकर्षणेन मनुष्यतया परिणता इति डार्विन्मतमप्येतत्सिद्धान्तमनुसृत्यैव प्रवृत्तम्।

पञ्चधावस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान् ।
[1]बहिरन्तोऽप्रकाशश्च संवृतात्मा [2]नगात्मकः ॥ ६ ॥
मुख्या नगा यतः प्रोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम् ।
तं दृष्ट्वाऽसाधकं[3] सर्गममन्यदपरं पुनः ॥ ७ ॥

तस्याभिध्यायतः सर्गस्तिर्यक्स्रोतोऽभ्यवर्तत ।
यस्मात्तिर्यक् प्रवृत्तिः स तिर्यक्स्रोतास्ततः स्मृतः ॥ ८ ॥
पश्वादयस्ते विख्यातास्तमःप्राया ह्यवेदिनः ।
उत्पथग्राहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः ॥ ९ ॥
अहङ्कृता अहमाना अष्टाविंशद्वधात्मकाः[4] ।
[5]अन्तःप्रकाशास्ते सर्वे आवृताश्च[6] परस्परम् ॥ १० ॥
तमप्यसाधकं मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत् ।
ऊर्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्त्विकोर्ध्वमवर्तत ॥ ११ ॥
ते सुखप्रीतिबहुला बहिरन्तश्च नावृताः ।
प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्ध्वस्रोतोद्भवाः स्मृताः ॥ १२ ॥
तुष्टात्मनस्तृतीयस्तु देवसर्गस्तु स स्मृतः ।
तस्मिन् सर्गेऽभवत्प्रीतिर्निष्पन्ने ब्रह्मणस्तदा ॥ १३ ॥
ततोऽन्यं स तदा दध्यौ साधकं सर्गमुत्तमम् ।
[7]असाधकांस्तु तान् ज्ञात्वा मुख्यसर्गादिसम्भवान् ॥ १४ ॥
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः ।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्वाक्स्रोतास्तु साधकः ॥ १५ ॥
यस्मादर्वाग्व्यवर्तन्त ततोऽर्वाक्स्रोतसस्तु ते ।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजोऽधिकाः ॥ १६ ॥
तस्मात्ते दुःखबहुला भूयो भूयश्च कारिणः ।
प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः [8]साधकास्तु ते ॥ १७ ॥

एवञ्च इहैकमेव अर्वाचीनो विकासवादसिद्धान्त एव प्रतिपादित इति स्फुटमेव समीक्षादक्षाणाम् । इयांस्तु विशेषः, नास्तिकमय विकासवादोऽन्येषां (युरोपी

---

१ बहिः शब्दादिषु, अन्तः सुखादिषु च प्रकाशज्ञानरहिताः । २. वृक्षरूपः । ३ संसाराप्रवर्त्तकम् । ४ ज्ञान-तुष्टि-विपर्ययात्मका एते यथा सांख्यदर्शने प्रसिद्धाः । ५. सुखदुःखाद्यनुभवन्त । ६ पितृ-पुत्रादिसम्बन्धज्ञानशून्याः । ७ केवलं भोगासक्ता इति कर्मणामनारम्भेण संसारस्याप्रवर्तका देवा अपि । ८. कर्मविधिरता संसारप्रवर्तकाः ।

मादीनां) विकासवाद इव निरीश्वरवादः, किन्तु विकासेऽपि तत्तत्कल्पना-विनिविष्ट कारणतावत्ता सन्निधानवित्ता कश्चिदीश्वरस्तदन्तर्भूतोऽप्यनुगत एव । किं वा सन्निधानवित्ता, ईश्वर एव तत्तत्स्वभावेन भिन्नाभिन्नैः स्वरूपैरव-भासते–इति ।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'
'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'

इत्यादि पदे पदे तत्तद्रूपेणावतारदर्शनं श्रुत्योरभिमतम् । तत एवात्र ईश्वर-स्यैव क्रमेण सर्वविधप्राणिजनकत्वमाख्यातम् । निखिलविकृतिसृष्टिविधिप्रथमा देवाना सर्गं पश्यति विकासवादे मानुषस्य दृष्टान्तरं प्रतिपाद्य निरुक्तं चेतसमधाने कर्मभिः सर्वतन्त्रत्वेन सृष्टिप्रकरणे मुख्यं विशेषम् । सा च पश्वादिकर्मणां शक्तिरव-रोधतः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य मानुषत्वेन मुख्यतया प्रादुर्भावोऽपि च इव सर्वानन्त-रभावाः सर्वेभ्यो मुख्यतया निर्दिष्टा इत्याशयः । कश्चित्तु मनोरिति मन्वन्तरेषु देवानां मुख्यत्वमाश्रयते । सृष्टिविस्तरेऽप्यत्र मनीषाऽर्हति ॥[१]

सोऽयं द्वितीयो विकासवादस्य सिद्धान्तः–यद् न मनुष्याविर्भावदिवसानन्तरमेव सर्वत्र विविधा सर्वकार्यक्षमा जाता बभूवुः, तत्तन्नामैश्चर्याणीति ज्ञाताः । पश्चाद् इतरदिने मनुष्या अपि वनेषु पशुभिर्निराहारं वर्तयन्ति स्म, अरण्ये वृक्षाग्रनद्यां गिरिगह्वरादिषु च वर्तमाना आसन् स्म । पूर्वं निस्सारा आसन्, पश्चात् तु वल्कल-धारकाः । विद्याया अभ्यासो वा नाभूत्कदापि । अथ क्रमेणोन्नतत्वमवाप्ताः वाते-र्शनम् । कृषिकर्म, पशुपालनपद्धतिः, वस्त्राभिनिर्माणम्, यज्ञादिकार्यं च क्रमेण बुद्धौ मनुष्याणामुदभूवन् । सर्वमिदं दिशा क्रमेणैव विकासमाप्नोत्, कल्पते, लभ्यते च । तेनाधारेणापि अनादिस्थिता अपि सहसा कश्चन काले प्रादुर्भ-वेयुरेव । अपरमन्यन्तदृष्टौ अपि एकदा सर्वदा क्रमेणोन्नतिं प्राप्नुयुः । अनुशीलितायाः कश्चन सर्वतो विनाशमनुभवन्ति, तेन संसारान्ते काश्चित् विरल् निर्जनतेति नादि । सोऽयं सिद्धान्तः कलियुगेऽपि प्रकारान्तरेण पुराणेषु

१. केचित्तु मत्स्य–कूर्म–वराह–नृसिंह–वामन–परशुराम–रामकृष्ण–बुद्ध–कल्कीति दशावतारक्रमेणापि पूर्वं जलचरा जीवाः, ततो जल–स्थलोभयचराः, ततोऽरण्यचराः, ततोऽर्धमानवाः, ततो वामनः पुरुषः, ततः क्रोधस्य प्राधान्यं, ततश्च मर्यादासंरक्षणं सम्पूर्णं, ततश्च राजनीतौ ज्ञाने ध्याने च सर्वांशे मानुषस्य पूर्णताप्राप्तिः, ततोऽन्ततः विरक्तः, ततश्च समाजोद्धारकः पुरुषः इत्यन्त इत्थं विकासवादं स्वीकुर्वन्ति न तु तद्धीनमनीषिणो विमर्शनीया इत्युपेक्षितम् ।

स्फुटं निबद्धः । तथा हि–मार्कण्डेयपुराणे सृष्टिप्रकरणे (४५–४६ अध्याययोः) नव-विधमूलसर्गादिविवरणानन्तरं मानुषसर्गविस्तरे प्रकृते ब्रह्मणो ब्राह्मणादीनां बहुविधानां मनुष्याणामुत्पत्तिमभिधाय तदनन्तरं स्त्रीणामार्तवप्रवृत्त्या स्त्रीपुरुषसंयोगाद् युगोऽन्ते सन्तानप्रवृत्तिरित्युपवर्ण्य तस्मिन् काले प्रजानां का स्थितिरित्युपनिबद्धुमारब्धम् । (*विस्तरभिया सर्वान् श्लोकाननुवर्त्यास्य तदाशय एवानूद्यते ।*

कृतयुगे तासां प्रजानां ध्यानेनैव शब्दाद्या इन्द्रियविषया उपनमन्ति स्म । ते जना शरीरस्य समुद्भवं नानुभवन्ते स्म, शीतोष्णभयमप्यभूत् । इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख, प्रियाप्रियादिद्वन्द्वरहिता अमत्सरास्ते स्वाभाविकीं तृप्तिमधिगच्छन्ति[1] स्म । अनिकेताः–गृहादिरहिताः पर्वतसमुद्रादिषु यत्र तत्र विचेरुः । पिशाचोरगरक्षःपशुपक्षिसरीसृपनक्रमत्स्याद्यालस्करा याश्च तेभ्यो भयं न प्रापच्छन् । ऋतुजन्यानि मूलफलपुष्पाणि तदा न बभूवुः । सर्वदैव नात्युष्णशीतं सुखं कालेऽभूत् । कालपरिवर्तनेन निम्नवृत्तानां तेषां पूर्वाह्णे मध्याह्ने च विनष्टता आविर्भवति स्म, परमिच्छयामेनानायासेन तृप्तिरभूत् ।

'इच्छता च तथायामो मनसः समजायत ।
अपां सौक्ष्म्ये ततस्तासां सिद्धिर्नाम्ना रसोल्लसा ॥ २० ॥
[2]समजायत चैवान्या सर्वकामप्रदायिनी ।
असंस्कार्यैः शरीरैश्च प्रजास्ता स्थिरयौवनाः ॥ २१ ॥

---

१. 'वृत्ती रसवती नाम आहारं व्याहरन्ति च'
इति तु ब्रह्माण्डपुराणे । (७ अ ४१ श्लो)
'तुल्यमायुः सुखं रूपम्' 'धर्माधर्मौ तदा न स्तः'
समूलफलपुष्पाणि वर्तनाय त्वरोपन'
'उत्तिष्ठन्ति पृथिव्या वै तेषां ध्याने रसात्मकात् ।
बलवर्णकरी तेषां जरारोगप्रणाशिनी'
'असंस्कार्यैः शरीरैस्तु प्रजास्ताः स्थिरयौवनाः'
इत्यादि तत्र ।

२. *ब्रह्माण्डे–'कल्पादौ मानसी ह्येषा सिद्धिर्भवति सा कृते'*
'तस्यां सिद्धौ प्रनष्टायामन्या सिद्धिरजायत ।
अपां सौक्ष्म्ये प्रतिगते तदा मेघात्मना तु वै ।
मेघेभ्यः स्तनयित्नुभ्यः प्रवृत्तं वृष्टिसर्जनम् ।
सकृदेव तया वृष्ट्या संसिक्ते पृथिवीतले ।
प्रादुरासंस्ततस्तासां वृक्षाश्च गृहसंज्ञिताः' इत्यादि ।

तासां विना तु सङ्कल्पं जायन्ते मिथुना प्रजाः ।
सम जन्म च रूपं च म्रियन्ते चैव ता समम् ॥ २२ ॥
अनिच्छाद्वेषसंयुक्ता वर्तन्ते तु परस्परम् ।
तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमता विना ॥ २३ ॥
क्वचित्क्वचित्पुनः सामूत् क्षितिर्माम्येन सर्वशः ।

अथ क्रमेण कालपर्ययात्तासां सिद्धीनां नाशे आकाशात्प्रच्युता रसा (पयस) कल्पवृक्षा भूत्वा तद्गृहस्थिता अभूवन् । त्रेतायुगमुखे च तेभ्य एव वृक्षेभ्यस्तासां प्रजानां सर्वविधा प्रत्युपयोगा (आहार-परिधान-शीतोष्णनिवारणाद्या) समाजायन्त । ते वृक्षा एव तज्जीवनान्यभूवन् । सर्वेषां साधारण्येन भोग्यास्ते वृक्षा आसन् । कालपर्ययेण तु तेषां जनानां मनसि रागः उद्बभूव । स्त्रीषु च मासि मास्यार्तव भूयो भूयश्च गर्भोत्पत्तिः प्रवृत्ता, तदैव ते वृक्षा विलयं गता ।

अथापरे चतुःशाखा वृक्षाः पृथिव्यां प्रादुरभूवन्—

वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ॥ ३० ॥
तेष्वेव जायते तेषां गन्धवर्णरसान्वितम् ।
अमाक्षिकं महावीर्यं पुटके पुटके मधु ॥ ३१ ॥
तेन ता वर्तयन्ति स्म मुखे त्रेतायुगस्य वै ।

एवं साधारण्येन वृक्षैर्वर्तयतां तेषां मनसि रागो लोभात्मना परिणतः, ततश्च ममेदं ममेदमिति वृक्षान् परिगृहीतवन्तः स्वस्वमभिमन्यन्ते स्म । तेनापचारेण तेऽपि वृक्षा नष्टप्रायाः[1] । ततश्च शीतोष्णक्षुत्पिपासादीनि द्वन्द्वानि प्रजाः पीडयामासुः । ततो द्वन्द्वोपघाताय पुराणि तैः क्रियन्ते स्म ।

मरुधन्वसु दुर्गेषु पर्वतेषु दरीषु च ।
संश्रयन्ति च दुर्गाणि वार्क्षं पार्वतमौदकम् ॥
कृत्रिमं च तथा दुर्गं मित्वा मित्वात्मनोऽङ्गुलैः ।
मानार्थानि प्रमाणानि तास्तु पूर्वं प्रचक्रिरे ॥ ३६ ॥

अत्र वितस्ति-हस्तादीनि भूम्यादिमानानि सर्वाण्याख्यातानि, पुराणां च पुर-खेटक-द्रोणीमुखशाखानगरखर्वटग्रामघोषादिभेदास्तत्प्रमाणानि लक्षणानि च विस्तरेणाभिहितानि । एवं ताः प्रजाः पुरग्रामादि कृत्वा अथ शीतोष्णादिशान्तये गृहाणि निर्ममुः । पूर्वं हि ता वृक्षाश्रया आसन्, तत्र

[1] प्रणष्टाः प्रभुणा सार्द्धं कल्पवृक्षाः क्वचित् क्वचित् । इति ब्रह्माण्डादिषु ।

वृक्षशाखापर्वतदरीणां यादृशा आकारा हृदयंगमा बभूवुस्तत्सादृश्येनैव गृहाणि विरचयितुमारब्धानि । आयन्ते किलाद्यापि बहुत्र वृक्षाणां गृहकारा प्राकृता संनिवेशा, पर्वतदरीषु च स्फुटमेव भवति बहुत्र प्रासादादिसाम्यम् ।

> वृक्षस्यैव गता शाखास्तथैव चापरा गता ।
> नताश्चैवोन्नताश्चैव तद्वच्छाखा प्रचक्रिरे ॥ ५३ ॥
>
> या शाखा कल्पवृक्षाणां पूर्वमासन् द्विजोत्तम ।
> ता एव शाखा गेहानां शालास्तेन तासु तत् ॥ ५४ ॥

(शालासादृश्याद् गृहभागा अपि शालेत्याख्याता इति भाव) । एवं द्वन्द्वोपघात (शीतोष्णादिनिवारण) कृत्वा ततस्ते जना वृक्षमधूनां नाशाद् वार्तोपाय (जीवननिर्वाहयत्न) चिन्तयामासु । तेषु क्षुत्तृडार्दितेषु विषाद व्याकुलेषु (त्रेतायुगमुखे) वृष्टिरुदभूत् । वृष्टेरुदकानि च यानि निम्नगतानि तान्यवरोधात् स्रोत खातादिरूपाणि परिणतानि, नद्यश्च प्रवृत्ता, ततो भूमेरपां च संयोगादकालकृष्टा ग्राम्यारण्याश्चतुर्दशौषधय प्रादुर्भूता ।

> ऋतुपुष्पफलाश्चैव वृक्षा गुल्माश्च जज्ञिरे ।
> प्रादुर्भावस्तु त्रेतायामाद्योऽयमौषधस्य तु ॥ ६० ॥
> तेनौषधेन वर्तन्ते प्रजास्त्रेतायुगे मुने ।

अथ रागलोभाभिभूतैर्जनैर्नदीक्षेत्रपर्वतादीनां वृक्षगुल्मौषधादीनां च ममत्वेन परिग्रह आरब्ध, तेनापचारेण भूमिस्ता ओषधीर्ग्रस्तवत्यभवत् । नष्टास्वोषधीषु विभ्रान्ता क्षुधाकुला प्रजा ब्रह्माणं शरणं प्रापु । स च तासां पीडानिवारणाय सुमेरुं वत्सं कृत्वा वसुधां दुदोह, तदा सस्यानि समुत्पन्नानि ।

> जज्ञिरे तानि बीजानि ग्राम्यारण्यास्तु ता पुन ॥ ६६ ॥
> ओषध्य फलपाकान्ता गणा सप्तदश स्मृता ।
> व्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिला ॥ ६७ ॥
> प्रियङ्गव कोविदारा कोरदूषा सतीनका ।
> माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावा सकुलत्थका ॥ ६८ ॥
> आढक्यश्चणकाश्चैव शणा सप्तदश स्मृता ।

अग्रे आरण्या यज्ञियाश्चौषधय आख्याता, यदा ता पुनर्न प्रारोहन् तदा ब्रह्मा कर्मजां हस्तसिद्धिमाविरभावयत् । तत प्रभृति कृष्टपच्या ओषधयो जज्ञिरे । एवं वार्तायां सिद्धायां चातुर्वर्ण्यमर्यादा स्थापिताऽभूत् । धर्मानुवर्तिनां सत्तद्वर्णानामाश्रमाणां च ऐन्द्रमारुतप्राजापत्यादीनि स्थानानि ब्रह्मणा नियमितानि ।

[1]ततो दण्डनिर्माणं राजप्रजाव्यवस्था च प्रावर्तत। सरीसृपादिभ्यो भयं चापि प्रजासु प्रवृत्तम्। इत्येवमेषा युगाख्यायिका मार्कण्डेयेनाभिहिता। वायुप्रोक्ते ब्रह्माण्डपुराणे द्वितीयेऽनुषङ्गपादे सप्तमाध्याये चाप्येतच्छायेणैवमेवोक्तम्। वायुपुराणे चादितोऽष्टमेऽध्याये इत्थमेव सर्वमभिहितम्। अग्रे चायवीयेऽष्टपञ्चाशेऽध्यायेऽपि विस्तरेण युगव्यवस्थानमित्थं प्रायेणैव। त्रेतायां धर्मविद्यालाभ यज्ञादिकर्मप्रवृत्तिश्च बहुधा तत्र तत्राभिहिता। अथास्य विस्तृतमभिप्रायं तत्र स्वाभिप्रायमाधुनिका-द्विकासवादादत्र विशेषं च समयान्तरे पाठकेभ्य उपहरिष्याम।



1. वर्णधर्मैश्च चीर्यन्त्यो व्यनश्यन्त परस्परम्।
ब्रह्मा बुद्ध्वा तु तत्सर्वं याथातथ्येन स प्रभुः।
क्षत्रियाणां बलं दण्डं युद्धमाजीव्यमादिशत्, इत्यादि ब्रह्माण्डे वायौ च।

कूर्मपुराणविषयाणां समालोचनम्

कूर्मपुराणस्य पूर्वार्धस्यारम्भे रोमहर्षणसूतस्य नैमिषक्षेत्रे शौनकादीनां समीपे गमनं, शौनकादीनां च पुराणकथाविषयकः प्रश्नः, तत्र सूतस्य कूर्मरूपधरं हरिं प्रणम्य अष्टादशानां पुराणानां नामधेयकथनम्। एषु नामसु भागवतानन्तरं पूर्वं भविष्यमेवोक्तं, तदनन्तरं नारदादीनां क्रमस्तु सुव्यवस्थित एव, चतुर्थं च स्थाने शैवं पुराणमेव गणितमित्येव विशेषः। अत्र च पुराणानामनन्तरम् अष्टादशानाम् उपपुराणानामपि नामधेयानि सन्तीति विशेषः। तदनु कथाप्रसङ्गारम्भे पूर्वं समुद्रमन्थनप्रसङ्गे, मन्दराख्यस्य पर्वतस्य स्वपीठे धारणार्थं भगवता विष्णुना कूर्मरूपं धृतं स च सर्वैर्देवैः विभिन्नैः स्तुत इति वर्णनम्। ततश्च यदा समुद्राद् भगवती श्रीराविर्भूता, भगवता विष्णुना च सा गृहीता, तदा सर्वैर्देवैश्च विभिन्नैः 'भगवन् केयं देवी?' इति पृष्टः कूर्मरूपधरो भगवान् विष्णुरिदमाह—'इयं मे परमा शक्तिर्मायाख्या मद्रूपैव, अनयैव जगद् धार्यते। इयञ्च जगन्मोहयति। अनयैवाहं जगत उत्पत्तिं प्रलयं च करोमि। इयञ्च सर्वजगत्सूतिः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिर्मत्त प्रागेव सञ्जाता। देवपितृमनुष्याद्या एतां न विदन्ति' इति।

अस्यायमाशयः, यद् शक्तिः शक्तिमाश्च अभिन्नावेव भवतः। यथाऽग्नेर्दाहकत्वशक्तिर्नाग्नेर्भिन्ना भवति तथैव सर्वत्र बोद्धव्यम्। वेदान्तिनश्चैतां मायाशक्तिं भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्यां वदन्ति। अनिर्वाच्येन च पदार्थेन न द्वैतं भवति, इत्यद्वैतमेव ते मन्यन्ते। अतएव अभिन्नत्वमेवानुसन्धाय मत्तः पूर्वमियं जातेति भगवतो वचः। शक्तिशक्तिमतो पौर्वापर्यं नास्तीत्येवाभिप्रायः। अथवा आगमशास्त्रे शाक्ता पूर्वं शक्तिमेव वदन्ति। सा शक्तिरेव स्वाश्रयं स्वस्वामिनं कल्पयति।

अनन्तरञ्च विस्तरं पृष्टेन भगवता कूर्मेण इन्द्रद्युम्नकथा वर्णिता। इन्द्रद्युम्नो हि भगवन्तमाराधयाञ्चक्रे। तस्य सम्मुखे श्री प्रादुर्बभूव तेन पृष्टा च स्वतत्त्वं बोधयामास। पुनश्च केनोपायेन भगवान् ज्ञातुं शक्य इति पृष्टा, भगवन्तमेवाराधयेत्युक्तवती। तेनाराधितश्च भगवानपि दर्शनं ददौ, कल्याणोपायान् पृष्टश्च वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण भगवान्महेश्वरः समाराध्य, तेन कल्याणं प्राप्यते इत्याद्युक्तवान्। तथानुष्ठितेन्द्रद्युम्नः कल्याणं प्राप्तः।

अनन्तरं ऋषिदेवादिभिः पृष्टेन भगवता कूर्मेण पूर्वमाश्रमाचारा विवृताः। इहैव च भगवता कूर्मेण सृष्टिः हिरण्यगर्भप्रसादाद् ब्रह्मण उत्पत्तिः कथिता, ब्रह्मणा च श्रियं दृष्ट्वा 'अनया जगन्मोह्य' तत एव मया सृष्टिं कर्तुं शक्येत इति प्रार्थितो देवः श्रियं जगन्मोहयेति कथयामास। ये तु नारायणस्य महेश्वरस्य च

भक्तिपरायणा वर्णाश्रमाचाररताश्च तावन्मोहयेत्याद्यप्युक्तम्। अनन्तरत्र वर्णधर्मा भगवता कूर्मेणोपदिष्टाः। तदनु सृष्टिविषय ब्रूहीति पृष्टेन सृष्टिरुक्ता तत्र चतुर्मुखो महेश्वरः सर्वनियन्ता सर्वतोमुखः सनातनोऽसौ तयेरितश्च त्रिगुणात्मकं सृष्टिं करोतीत्यादिविवरणम्। तत्र च प्रथमं ब्रह्मा समवर्तत तस्य ब्रह्मणो दिनमेव सृष्टिः, रात्रिश्च प्रलयः। अथ नैमित्तिकः प्रलयः।

अत्रायमाशयः, ये प्राणिनो यावत्सूर्यं पश्यन्ति तावत्तेषां दिनं, यावच्च सूर्यो नैव दृश्यते तावदेव तेषां रात्रिरिति सम्प्रदायः। अस्मात्तु मनुष्येषु तु सम्यगेवैतत् विस्तरमपेक्षते। पितरश्च विधूर्ध्वभागे स्थिताः कृष्णाष्टमीमारभ्य शुक्लाष्टमीपर्यन्तं सूर्यं पश्यन्ति। अमावास्यायां सूर्यश्चन्द्रश्च सहैवोदयमस्तञ्च प्रयात इति चन्द्रस्योपरिभागगतानां शिरस्येव सूर्य इति अमावास्या तेषां मध्याह्न-कालो भवति। अस्मदभिमुखस्तु चन्द्रभागस्तस्मिन् दिने न प्रकाशते इत्यस्मा-भिश्चन्द्रोऽमायां न दृश्यते। भवतु नाम एवं रीत्या पञ्चदशदिनानि पितॄणां सूर्यदर्शनं शुक्लाष्टमीमारभ्य कृष्णाष्टमीपर्यन्तन्तु तेषां सूर्यस्यादर्शनमिति रात्रिः। पूर्णिमायां यदास्मदभिमुखो भागश्चन्द्रस्य पूर्णः प्रकाशते तदोर्ध्वभागस्थितानां न प्रकाशलेशोऽप्यस्य इति पूर्णिमा तेषां मध्यरात्रकालः। एवं रीत्याऽस्माकं मासेन पितॄणामेकमहोरात्रं भवति। अनयैव रीत्या ये देवाः सुमेरुपर्वते ध्रुवस्याधस्तान्निव-सन्ति तैरुत्तरगोलस्थितः सूर्यो निरीक्ष्यते, दक्षिणगोलस्थस्तु न निरीक्ष्यते। स्वस्व-स्वस्तिकान्नवत्यंशपरिमितमेव खमण्डलं दृश्यत इति ध्रुवाच्च नवत्यंशा विषुवद्-वृत्तपर्यन्तमेव पूर्णा भवन्तीति। सूर्यो हि भगवान् मासषट्कं विषुवतो दक्षिणे, मासषट्कञ्च विषुवत उत्तरे परिभ्रामयति। तत्रश्च मासषट्कपर्यन्तं सूर्यस्यानवरतं दर्शनान्मासषट्कमित्थं देवानां दिनम्। मासषट्कमिता च सूर्यस्यादर्शनाद्रात्रि-रित्यस्माकं संवत्सर एव देवानामहोरात्रम्। अनयैव रीत्या ब्रह्मणा यावत्सूर्यो दृश्यते तावत्तस्य दिनम्, अदर्शने च रात्रिरिति फलति। ब्रह्मा च क्वावस्थित इति विचारे भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इति प्रत्यह जप्यमानव्याहृत्यर्थ-भूताः ये सप्त लोका अधऊर्ध्वभावेन सन्ति सन्निविष्टाः, तेषां सर्वेषामुपरि योऽयं सत्यलोकः स्वयम्भूलोकापरपर्यायभूतः स एव ब्रह्मणः स्थानमिति पुराणप्रसिद्धिः। स च सर्वेषामुपरि व्याप्त इति तत्कुक्षावेव सर्वे लोकाः स्थिताः। तृतीये लोके स्वरित्याख्ये च स्थितः सूर्यो न कदापि कुक्ष्यन्तःस्थितो ब्रह्मणोऽदृश्यो भवति। स खलु तदैव ब्रह्मणोऽदृश्यः स्याद्यदा स्वयं विशीर्णो भूत्वा प्रलयं यायात्। तदित्थमेकस्य सूर्यस्य यावदवस्थितिः तावद् ब्रह्मणो दिनम्, यावत्तु ब्रह्मा स्वरिति अपरः सूर्यो नोत्पाद्यते तावती ब्रह्मणो रात्रिः। इयमेव ब्रह्मणो रात्रिर्नैमित्तिकप्रलय इत्युच्यते। अस्मिन् प्रलये भूः, भुवः, स्वरिति व्याहृतीनां त्रयाणां लोकानां सूर्य-सम्बद्धानां विनाशो भवति। महरित्याद्या ऊर्ध्वलोकास्तु तथैवावतिष्ठन्ते। अत एव

ब्रह्मणो दिनस्य कल्पशब्देनाभिधानम्, तत्र चतुर्दशानां मनूनां गणना च पुराणेषु कृता । अस्माकं सहस्रयुगपर्यन्तमेतद्दिनम्, तावत्येव च रात्रिरित्यहोरात्राणां गणनया मासवर्षादिक्रमेण यदा शतवर्षात्मकं ब्रह्मण आयुः पूर्णं भवति तदा एको ब्रह्मापि लयं यातीति तदाऽसौ प्राकृतप्रलय उच्यते । तदा च सर्वे लोकाद्याः प्रकृतौ प्रलीय तिष्ठन्ति । पुनश्च महारात्र्यन्ते तेषां सृष्टिर्जायते इति पौराणिकी परिभाषा । सैवात्र निरुक्ता । प्राकृतप्रलयान्ते च महेश्वरस्यापि रात्रिरित्युच्यते । यद्यपि सदैवैकरसस्याविकृतस्य महेश्वरस्य न दिनं न वा रात्रिरिति वस्तुतः शास्त्रं तथापि लोकदृष्ट्या तथाप्येव व्यवहारः क्रियते ।

अथ प्राप्तपरिपाकानां प्राणिकर्मणामुद्बोधवशेन महेश्वरस्य सिसृक्षा जायते । तदा स भगवान् योगेन प्रकृतिं पुरुषं च प्रविश्य क्षोभयति । अत्र च दृष्टान्तोऽस्मिन् पुराणेऽभिहितः —

> यथा मदो नरस्त्रीणां यथा वा माधवोऽनिलः ।
> अनुप्रविष्टः क्षोभाय तथाऽसौ योगमूर्तिमान् ॥ (१।४।१४)

यद्यपि प्रकृतिपुरुषावपि भगवतो न भिन्नौ पुराणेषु अद्वैतवादस्यैवाभ्युपगमात्, तथापि "स एव क्षोभको विप्रा क्षोभ्यश्च परमेश्वरः । स सङ्कोचविकासाभ्यां प्रधानत्वे व्यवस्थितः" ॥ ततश्च क्षोभ्यमानात् प्रधानात् प्रधानपुरुषात्मकं महत् प्रादुरभूत् । तदेव महद्बीजम्, तदेव च महान्, आत्मा, मतिः, ब्रह्मा, प्रबुद्धिः, ख्यातिः, ईश्वरः इत्यादिभिः शब्दैरुच्यते । तस्माच्च महतः त्रिविधोऽहङ्कारः प्रादुरभूत् । वैकारिकः, तैजसः, भूतादिश्चेति तस्य तिस्रो विधाः । अयञ्चाहङ्कारः अभिमानकर्ता, मन्ता, आत्मा जीवश्चेत्यादि पदैराख्यायते । अथ सत्त्वप्रधानाद् वैकारिकादहङ्कारात् वैकारिका दश देवा इन्द्रियाधिष्ठातारः मनश्चैकादशं प्रादुरभूत्, तैजसाच्च इन्द्रियाणि । भूतादेरहङ्कारात् तमःप्रधानात् पूर्वं शब्दतन्मात्रं, शब्दतन्मात्राच्चाकाशं, आकाशाद्विकुर्वाणात् स्पर्शतन्मात्रम् । ततश्च स्पर्शगुणको वायुः, वायोः रूपतन्मात्रम् ततस्तद्गुणकं तेजः, तेजसो रसतन्मात्रम् । ततश्च रसाधाराणि अम्भांसि, ततः गन्धतन्मात्रं, ततो सङ्घातरूपा गन्धगुणा पृथिवी । अथ पूर्वस्य पूर्वस्य महाभूतस्य उत्तरोत्तरस्मिन् अनुप्रवेशात् आकाशः एकगुणः, वायुर्द्विगुणः, तेजस्त्रिगुणम्, जलं चतुर्गुणम्, पृथिवी च पञ्चगुणा जायते । एतानि सर्वाण्यपि भूतानि त्रिगुणात्मकानि परस्परानुप्रवेशात् परस्परधारकाणि च । एतानि च महदादीनि सप्त पृथग्भूतानि यदा किमपि कर्तुं न शक्नुवन्ति तदा सप्तापि सम्भूय अण्डमुत्पादयन्ति । जलबुद्बुदवत् तदण्डमुदकेशयमेवाभवत् । अस्मिंश्च प्रवृद्धे अण्डे क्षेत्रज्ञो नाम हिरण्यगर्भः प्रादुर्भवति । स एव प्रथमशरीरी पुरुषश्चाख्यायते । अयमेव सर्वेषां भूतानामादिकर्ता । य एव प्रधानादपि परः पुरुष आख्यातः स एव हिरण्यगर्भरूपेण प्रादुर्भवति ।

मेरुरुल्बममूत्तस्य जरायुश्चापि पर्वताः ।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मनः ॥ (१।४।४०)

अस्मिन्नेवाण्डे सूर्यचन्द्रादिकसनक्षत्रं सदेवासुरमानुषं जगत् स्थितम् । अत्र च पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि दशदशगुणैरुत्तरोत्तरैर्भूतैरावृतानि । सर्वाणि च भूतानि अहङ्कारेण तदपि च महता तदपि चाव्यक्तेनावृतानि । अत्र च एतदभिमानिनो योगात् पुरुषास्तिष्ठन्ति । इदं ब्रह्माण्डं प्रजापतेर्द्वितीया मूर्तिरिति वैदिकी श्रुतिराह हिरण्यगर्भश्च तृतीयं भगवद्रूपम् । अथ तस्मादेव हिरण्यगर्भात् चतुर्मुखो ब्रह्मा प्रादुरभूत् । स एव रज आश्रित्य सृजति । सत्त्वमाश्रित्य पालयति, तम आश्रित्य च रुद्ररूपेण सर्वं संहरति । यादृच्छया च नानारूपाणि करोति । एतानि रूपाणि तस्य गुणविशिष्टानि, वस्तुतः स एक एव । अयमेव च नानाकार्यकरणात् बहुधा करणाच्च आदिदेव, प्रजापतिः, महादेव, ब्रह्मा, ऋषिः, नारायणः हरिरित्यादिनामभिरुच्यते । एतावत्पर्यन्तं भगवतोऽबुद्धिपूर्विका सृष्टिः ।

इदमत्राकूतम्—रसो बन्धश्चेति सर्वस्यापि जगतो द्वे मूलतत्त्वे । तत्र रसो निर्विकारः सदैकरूपो मुख्यो विभुश्च न तद्विनाकृतं किञ्चिदपि स्थानमस्ति । बलन्तु क्षणावस्थायि अल्पाल्पमात्रञ्च परं सङ्ख्यया तदनन्तम् । ततः सर्वत्रैव रसं तदभिव्याप्नोति । तद्धि प्रवाहरूपेण नित्यम्, स्वरूपेण तु क्षणावस्थायि । यथा गङ्गातटे स्थितः पुरुषः प्रतिक्षणमेव जलं स्वचक्षुषोऽग्रे पश्यति परं यज्जलं पूर्वस्मिन् क्षणे दृष्टं तदुत्तरक्षणे नास्ति । नवं नवं जलं प्रतिक्षणं गच्छत्यागच्छति च । इयमेव प्रवाहनित्यता उच्यते । तद्रीत्यैव बलमपि रसाश्रितं बोद्धव्यम् । अस्य च जलस्य न स्वतन्त्रा सत्ता किन्तु रसाश्रितं तत्सत्तयैव सत्तावत्प्रतीयते । इदञ्च रसापेक्षया भिन्नमभिन्नं वेति न निर्वक्तुं शक्यते । तस्मादनिर्वचनीयम् । अनिर्वचनीयत्वादेव च न द्वैतं भवति मिलितं तद्द्वयमेकमेवाख्यायते । अतो जगतो मूलमेकमेवोच्यते । इदञ्च बलं यावत्सुप्तं तावद्रसादभिन्नरूपमेव, जागरितेन तु तेन अपरिच्छिन्नोऽपि रसः स्वस्य परिच्छिन्नत्वात् परिच्छिन्न इव दर्श्यते । यथा हि तरङ्गाः समुद्रजलं स्वपरिच्छिन्नमेव दर्शयन्ति तद्वत् । एवं—परिच्छेदेन दर्श्यमानो रसः पुरुषरूपो भवति । स एव रसप्राधान्ये पुरुषः, बलप्राधान्ये तु प्रकृतिरित्याख्यायते । तत एवात्र प्रकृतिरपि महेश्वरान्न भिन्नेत्युक्तम् । अत्र पुरुषरूपत्वे रसस्य त्रयो भेदाः क्रमशः प्रादुर्भवन्ति—अव्ययः, अक्षरः, क्षरश्चेति । यदा बलं सीमानं करोति परं तत्र चितिर्ग्रन्थिर्वा न जायते सोऽव्ययपुरुष इत्युच्यते । यदा तु यथा वह्निनिर्माणे इष्टकोपरि क्रमेणान्या इष्टका श्रीयन्ते तथा बलोपरि बलान्तराणि यदा चीयन्ते तदा तया चित्या अक्षरपुरुषः प्रादुर्भवति । यद्यपि बलं क्षणिकमिति चितिस्तत्र न सम्भवति तथापि रसाश्रितं

तदव्याहतं भवतीति वस्तुतोऽयं तदङ्गाणामिव तत्र चिदिदं भवति । एवं प्रकृतया चितया यदा बलानां परस्परं ग्रन्थिर्जायते तदा पुरुषप्रादुर्भावः । यथा च स्वप्राधान्ये अव्ययः, अक्षरः, क्षर इति त्रयो भेदा भवन्ति तथैव बलप्राधान्ये महानक्षरः पञ्चाग्नयश्चेति भवन्ति भेदाः । एषाञ्च परस्परं सम्बन्धात् सर्वोऽपि सर्गः प्रजायते । अथोऽव्ययात्मपुरुषस्य परिच्छिन्नत्वात् इति परिच्छेदे कलाप्रादुर्भावाश्च भवन्ति पञ्चकलाः—आनन्दः, विज्ञानम्, मनः, प्राणः, वागिति । तत्र मनः प्राणो वागिति सृष्टिसाक्षिणः । आनन्दो विज्ञानं मन इति तु मुक्तिसाक्षिणः । अथ प्राणव्यापारेणाक्षरस्य प्रादुर्भावः वाग्व्यापारेण तु क्षरस्येति अव्ययः सर्वालम्बनम् । अक्षरपुरुषस्यापि सन्ति पञ्चकलाः—ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, अग्निः, सोमश्चेति । प्राणव्यापारेणाक्षरस्य प्रादुर्भाव इत्युक्तं प्राक् । प्राणे च प्रतिष्ठा गत्यागती वर्तेते । सर्वे हि पदार्थाः प्रतिक्षणं परेभ्यः किञ्चन ददति परेभ्यश्च किञ्चिदाददते । यथा दीपः स्वप्रकाशं सर्वत्र प्रसारयति तैलञ्चोपादत्ते तथैव सर्वत्र बोद्धव्यम् । तत्र यया शक्त्या आगमनं जायते सा विष्णुरित्युच्यते । यया तु निर्गमनं स इन्द्र इत्युच्यते । अनवरतं प्रवर्तमानयोरपि गत्यागत्योः तदेवेदं वस्तु इति प्रत्यभिज्ञायते तदिदं प्रतिष्ठाभागरूपेण ब्रह्मणा क्रियते त एते त्रयो हृदयाः । अग्नीषोमौ च पृष्ठ्याविति ताभ्यामेव जगदुत्पद्यते । अथ क्षरपुरुषस्यापि सन्ति पञ्च कलाः, प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः अन्नमिति । एतस्यैव कलाप्रधानानां महदादीनामपि भेदा जायन्ते इतीयं संक्षिप्ता वैदिकी सृष्टिप्रक्रिया । तामेवाधारीकृत्य पुराणान्यपि प्रवर्तन्ते । तत्र महेश्वरो य आम्नातः स परात्परः पुरुषः तत एव तत्र त्रिपुरुषप्रादुर्भाव उक्तः । अक्षरपुरुषस्य च भेदाः ब्रह्मा, विष्णुर्महादेव इत्यादयः स्थाने स्थाने निरूप्यन्ते तथैव व्याख्यास्यामः । अत्र इन्द्रः, अग्निः, सोमः, इति त्रीनेकीकृत्य पौराणिकभाषया महादेव इत्युच्यत इति स्मर्तव्यम् । स एव महादेवोऽत्र प्रक्रियायां शङ्करः, पुराणानि च सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृत्यादिप्रक्रियामेव प्रायोऽधारीकुर्वन्तीति सैव प्रक्रिया अपेक्षिता । केवलं प्रसिद्धसांख्यदर्शनादयमेव भेदः यदत्र प्रकृतिस्वातन्त्र्यं न मन्यते । महेश्वरादेव प्रकृतिकल्पना तेनैव च क्रियमाणा सर्वानुवर्तिनी । त्रिस्रो मूर्तयश्च भगवतो या आम्नाताः तत्रायं भावः, त्रिधा तावदस्मच्छास्त्रेषु ब्रह्मोपासनं विधीयते विश्वरूपेण, विश्वचरेण विश्वातीतरूपेण च । ता एव त्रिस्रो मूर्तयोऽत्राख्याताः । एकैकस्यां मूर्तावेव, विश्वरूपश्च हिरण्यगर्भः, स एव विराट् ब्रह्म तत्रैवाख्यायते । भगवान् महेश्वरश्च विश्वातीत इति । यथायमक्षरब्रह्मप्रादुर्भाव उक्तः स पर पुरुष एव स्वाध्यायैर्ध्रुवदीप्त्यै आम्नातव्यं तदप्यनुसन्धेयम् ।

अथात्र सृष्ट्यादौ शब्दकल्पना उक्ता सा पूर्वमेवास्माभिरभिव्याख्याता । तत्र तत्त्वं निर्णयः पदार्थानामिति सर्वतः परा परमा ईश्वरा संस्कृतभाषया गम्यते । पदार्थविषय

ब्रह्मण आयुर्भवति । अस्मद्वर्षपक्षया ब्रह्मण आयुषो गणनायां द्विपरार्धपरिमितान्येव दिनान्यायान्तीति गणितक्रमेणानुसन्धेयम् । अथात्र कूर्मे महीप्रादुर्भाव कथमिति वर्ण्यते । तदेतत् वराहप्रादुर्भावप्रकरणम् । वराहोऽयं यज्ञरूपेण वायुरूपेण च तत्र तत्र व्याख्यातः । यदा हि जले आपः, फेनं, मृत्स्ना, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्यमिति क्रमशाऽष्टविधा जायन्ते तदा तासां विधानां सम्यक् पिण्डीकरणार्थं सर्वतोमुखो विलक्षणो वायुः प्रचलति । स एव सर्वानवयवान् संहत्य पिण्डरूपतां नयति । अयमेव वायुः वृणोति च अहोति चेति वराह आख्यायते इत्युक्तं ब्राह्मणेषु ।

अत एव वराहदंष्ट्राया पृथिवी स्थितेति व्याख्यायते शास्त्रेषु । तेनैव सन्तत प्रसंचरेण वायुनाऽद्यापि पृथिवीपिण्ड ध्रियत इति । अयमेव वराहो यज्ञरूपेण भागवतादिषु व्याख्यात । इह तु ऋषिभिर्व्यापकरूपेणैव संस्तुत ।

अथ सृष्टिं वितन्वतो भगवतो पूर्वमबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुरभूत् । तमो मोह, महामोह, तामिस्र अन्धतामिस्रश्चेति । इमे एव योगदर्शने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इति पञ्चक्लेशा आख्यायन्ते । इमानि बुद्धेस्तामसानि रूपाण्येव सन्ति यतो सृष्टौ बुद्धेर्नोपयोग इतीयमबुद्धिपूर्विका सृष्टिरुक्ता । एतैः पञ्चभि क्लेशैरेव वलिता सर्वेऽपि प्राणिनो जायन्ते, इत्येषा सर्ग आवश्यक । तदनु चतुर्दशविध प्राणिनां सर्ग प्रतिपादित । पूर्वं नगानां वृक्षलतादीनां सर्ग, मुख्ये जातत्वादिमे मुख्या उच्यन्ते, तदनु तिर्यग् योनीनां चतुर्विध सर्ग । सरीसृपा, पक्षिण, मृगा (आरण्यका) पशवः (ग्राम्या) चेति । एत सर्गमसाधक मत्वा ऊर्ध्वस्रोतसां देवानां सात्त्विक सर्ग प्रवर्तित । तेषामष्टविधत्वमन्यत्राख्यातम् । अनन्तरञ्च अर्वाक्स्रोता मनुष्यसर्ग प्रादुरभूत् । इमे मनुष्य रजोबहुला प्रायेण दुःखिनो जायन्त । इत्येवं महदाद्या अष्टौ सर्गा कथिता । मनुष्याणामग्रे भूतादीनां सर्गोऽत्र पुराणे निर्देशेनोक्त । स तमःप्रधान पिशाचादीनां सर्गो विज्ञेय ।

अथ मनुष्येषु पूर्वं सनकादीनां कुमाराणां मानससर्गो ब्रह्मणा कृत । इमे च पञ्चापि योगिनो वैराग्यपरमा सृष्टिं कर्तुं न प्रवृत्ता । इमानेव सर्गेऽप्रवृत्तान् विलोक्य ब्रह्मण दुःख क्रोधश्च उद्भूत । क्रोधं निरुन्धत तस्य ललाटान्नील-लोहितो भगवान् महादेव प्रादुरभूत् । स्वयमेव परमेश्वर इदानीं प्रादुर्भूत । ब्रह्मा प्रणम्य त प्रजासर्गार्थमाह । तदा भगवान् महादेव आत्मसदृशान् रुद्रान् ससर्ज । ये जरामृत्युविवर्जिता सदैकरूपा आसन् । तान्दृष्ट्वा ब्रह्मणा जरामृत्युयुतान् प्राणिनस्सृजेति प्रार्थितो भगवान् नाहं जरामृत्युयुतान् स्रक्ष्यामीति प्रोवाच । तदा ब्रह्मणा स सर्गो निवारित । ततश्च ब्रह्मा स्थानाभिमानिन कालाभिमानिनश्च नदीसमुद्राधिष्ठातॄन् कलाकाष्ठाद्यधिष्ठातॄंश्च पूर्वं ससर्ज, तदनु च स्वशिरोऽवयवेभ्य दशर्षीन् ससर्ज । त एते स्वस्यां सृष्टौ प्रवृत्ता सर्वान् ससृजु ।

अनन्तरञ्चात्र देवादीनां सर्ग पुनर्विस्तरेणोक्त । पूर्वं जघनादसुरा सृष्टा । असुरान् सृष्ट्वा च सा तनुस्तेन त्यक्ता रात्रिर्बभूव । इयं रात्रिस्तमोबहुला अस्याञ्च

सुराणां प्राधान्यञ्ज्ञायते। ततश्च ब्रह्मा सत्त्वबहुलां तनुमास्थाय मुखतो देवान् सृजन्। दीव्यन् इमे जाता इति देवा उच्यन्ते। तत देवान्सृष्ट्वा याऽपि तनुस्तेन त्यक्ता, दिनं बभूव। तत्सत्त्वबहुले तस्मिन् च देवा प्रभवन्ति। ततश्च पुनः सत्त्वमात्रात्मिकां तनुं गृहीत्वाऽस्मान् पितृवन्मन्यमानास्तेन पितरः सृष्टाः। याऽपि च तनुस्तेन त्यक्ता, सन्ध्याऽभवत्। तत एव सन्ध्याऽपि सत्त्वप्रधाना पितृगणस्य तत्र बलाधिक्यम्। ततश्च रजोमात्रात्मिकां तनुं गृहीत्वा मनुष्यास्तेन सृष्टाः। सा च तनुस्त्यक्ता, ज्योत्स्ना बभूव। तस्मान्मनुष्या ज्योत्स्नायां हृष्यन्ति। एवमन्यः स्तोत्रमन्यः सर्वे प्राणिनः सृष्टाः।

अनायमाशयः—यथाऽस्माभिः पूर्वमुक्तं क्षरं पुरुषं तन्मात्रात्मरूपाम् प्रकृतिमुपादाय स्वावयवेभ्यः सर्वान्प्राणिनः सृजतीति तथैवात्र क्षरः पुरुषो ब्रह्मा तत्तद्गुणबहुलास्तास्तास्तनूरुपादाय देवादीन् सर्वान् प्राणिनश्च पारवर्तनशीलाः स्वत एव निर्वर्तते इत्येव तनुपरित्यागस्याशयः। तेषु तेषु कालावयवेषु चापि तस्य तस्य गुणस्य प्राधान्यं बोधयितुं तत्तत्तनुरूपत्वं कालावयवानामुक्तम्। मनुना हि भगवता "ऋषिभ्यः पितरो जाताः; पितृभ्यो देवदानवाः। देवेभ्यश्च जगत्सर्वं" इत्यप्युक्तम्। ते ऋषिभिः पितृदेवा भागभाजः। इमे स्तोत्रोक्ताः प्राणिभ्यास्तत्तज्ज्ञोऽभिवाधिन इत्येव विरोधोऽस्य समाधेयः।

अग्रे ऋषिप्रश्नसमाधानं भगवतो रुद्रस्य ब्रह्मणः सकाशात् प्रादुर्भावो विस्तरेण निरूपितः। तदग्रे च सूर्यचन्द्रवंशस्थानां राज्ञां चरितेषु चन्द्रवंशे भगवतः कृष्णस्य प्रादुर्भावः, तत्र तत्र महेश्वरतत्त्वस्य विवृतम्।

उत्तरार्धारम्भे ऋषिभिः परमं ज्ञानं पृष्टो रोमहर्षणो यावद् वक्तुमुपक्रमते तावदेव तत्रैव भगवान् व्यासः समागतः। रोमहर्षणेन दण्डवत् प्रणिपत्य मुनीन् प्रत्युक्तं यदेव साक्षात् भगवान् समागत इत एव श्रुश्रूषध्वम्। स्वयञ्च व्यासः प्रत्युक्तः "एते मुनयः परमं ब्रह्मज्ञानं श्रोतुमिच्छन्ति कृपया भवता बोध्यन्ताम्।" तदा व्यासेनोक्तं "एकदा सनत्कुमाराद्या अन्येऽपि च कणादकपिलाद्या बहव ऋषयः पूर्वे बदरिकाश्रमे नारायणमिदमेव ज्ञानं पृष्टवन्तः। एषां संवादकाले एव तत्र भगवान् शिवः तत्रैवाविर्भूतः। किञ्च भवन्तो विचारयन्तीति तान् पृष्टवान्। ततश्च ते प्रार्थितः स्वयमेव ब्रह्मज्ञानं सर्वान् बोधयितुं प्रवृत्तः। "इदमीश्वरगीते त्युच्यते। सैव च मया भवद्भ्यः श्राव्यते' इत्युक्त्वा भगवान् व्यास ईश्वरगीताः श्रावयामास। तत्र हि भगवता यदुपादिष्टं तस्यायं सारः—ज्ञानेनैव परः संसारे व्याप्तम्। ये च विमूढा अर्थतत्त्वं परं वदन्ति योऽस्माज्ञानं परोऽपि स सर्वान्तरसाक्षिचिन्मात्ररूपः। स एवान्तर्यामी पुरुषः, प्राणः, महेश्वरः कालः इत्यादिशब्दैरुच्यते। स एव च मायया त्रिविधास्तनूः करोति। वस्तुतः स पाणिपादादिभिरिन्द्रियैर्विहीनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मैश्च हीनः। यथा हि प्रकाशतमसो

परस्परं सम्बन्धः सर्वथा असम्भाव्य तथैव तस्य मायया मायिकेन जगता चैक्यं सर्वथा असम्भाव्यमेव। यथा च छाया मलिना तथा जीवात्मापि स्वभावतो मलिनो विकारी च। एवं मलिनस्य मुक्तिः कदापि न सम्भवति। यदा तु मुनयो विकारहीनं निर्द्वन्द्वमानन्दरूपमात्मानं पश्यन्ति तदा मुक्ता भवन्ति। कर्तृत्वसुखदुःखाद्यभिमानोऽहङ्कारजन्य। स च जनैरात्मन्यारोपितः। योगिनस्तु प्रकृतेः परं शुद्धमात्मानं पश्यन्ति। यद्यप्यात्मा स्वयंज्योतिः परमहङ्कारेण सहाविविक्तः सदसदात्मकं जना पश्यन्ति। प्रधानं पुरुषं च पृथक् पृथक् बुद्ध्वा कूटस्थं निरञ्जनमात्मानमक्षररूपं योगिनः पश्यन्ति। अस्य रागद्वेषादयो दोषाश्च केवलं भ्रान्तिनिबन्धनाः। इत्याद्यात्मोपदेशोऽत्र कृतः। अग्रे च भगवद्गीतायामिव साङ्ख्ययोगविभागोऽपि दर्शितः। भगवद्गीताया अर्थतः क्वचिच्छब्दतोऽपि च छायाऽत्र लक्ष्यते, यथा—

> "यतो गुह्यतमं देहं सर्वगं तत्त्वदर्शिनः।
> प्रविष्टा मम सायुज्यं लभन्ते योगिनोऽव्ययम्॥
> ये हि मायामतिक्रान्ता मम या विश्वरूपिणी।
> लभन्ते परमं शुद्धं निर्वाणं ते मया सह॥" इत्यादि
>
> (२।२।५३-५४)

अग्रे च सृष्टिं विवृण्वता भगवता अव्यक्तात् कालः, प्रधानं, पुरुषश्चाभूवन्निति कथितम्, तेभ्यश्च सर्वमिदमुत्पन्नं तस्मात् ब्रह्ममयमेव सर्वं जगदिति। प्रकृतेश्च महान् ततश्चाहङ्कारो जायते। एक एव महानात्मा अहंकार इति, जीव इति, अन्तरात्मेति च कथ्यते। तेनैव सर्वं सुखं दुःखञ्च वेद्यते। तस्य विज्ञानात्मकस्य मन उपकारकं भवति। मनस एव सान्निध्यात् पुरुषस्य संसारः। प्रकृत्या वियोगश्च पुरुषस्य कालेन जायते, उक्तं हि—

> कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
> सर्वे कालस्य वशगा न कालः कस्यचिद्वशे॥
> सोऽन्तरा सर्वमेवेदं नियच्छति सनातनः। (२।३।१६-१७)

स एव भगवान् नारायणः सर्वज्ञः पुरुषोत्तम इत्यादिशब्दैरुच्यते। सोऽहमेव ब्रह्माव्यय इति भगवतोपदिष्टम्।

इत्यादि सर्वमुपदिश्य च भगवान् महेश्वरो स्वमैश्वरं भावं दर्शयन् ननर्त। देवा ऋषयश्च तं महादेवं विष्णुना सह नृत्यन्तं ददृशुः। क्रमेण च सहस्रबाहुं सहस्रशिरसं चन्द्रार्धशेखरम्, नागमण्डितं चर्मवसनं शूलपाणिनं स्वेन तेजसा सर्वं ब्रह्माण्डमावृत्य स्थितं ददृशुः। दर्शकानाञ्च नामान्यप्यत्रोक्तानि, यथा—

> सनत्कुमारः सनको भृगुश्च सनातनश्चैव सनन्दनश्च।
> रैभ्योऽङ्गिरा वामदेवोऽथ शुक्रो महर्षिरत्रिः कपिलो मरीचिः॥ (२।५।१८)

यथा—

> मोक्षदेवोगिन शान्त स्त्वत्त्वानरत यत ।
> अभावे नैष्ठिक दान्तमुपकुर्वाणक तथा ॥
> तदलाभे गृहस्थन्तु मुमुक्षु सङ्गवर्जितम् ।
> सर्वालाभे साधक वा गृहस्थमपि भोजयेत् ॥ (२।२१।१८ १६)

किञ्च—

> अपि क्रियाकुलैर्मुक्ता हीनवृत्ता नराधमा ।
> यत्नेन मुक्तत हव्य तदन्नदामुर द्विजा ॥ (२।२१।२६)

इत्यादिना वृत्तप्रशस्यापि भुवते । अग्रे च निमन्त्रिमाना ब्राह्मणाना निमन्त्रणस्य श्राद्धकर्तुश्च धर्मा विवृता । तत्रैतद्विशेषतो द्रष्टव्यम्—

> आमन्त्रितो ब्राह्मणो वै योऽन्यस्मै कुरुते क्षणम् ।
> स याति नरक घोर शूकरत्वं प्रयाति च ॥
> आमन्त्रयित्वा यो मोहादन्य चामन्त्रयेद् द्विज ।
> स तस्मादधिक पापी विष्ठाकीटोऽभिजायते ॥ (२।२२।७–८)

द्वाविंशमध्यायमारभ्य च कल्पोक्त सर्वोऽपि श्राद्धविधिर्मन्त्रप्रतीकनिर्देशपूर्वक निर्दिष्ट । तत्र चायमारम्भ —

> ततो निवृत्ते मध्याह्ने लुप्तरोमनखान्द्विजान् ।
> अभिगम्य यथामार्ग प्रयच्छ्रेद्दन्तधावनम् ॥
> तैलमभ्यञ्जन स्नानं स्नानीयञ्च पृथग्विधम् ।
> पात्रैरौदुम्बरैर्दद्याद्वैश्वदेवत्यपूर्वकम् ॥ (२।२२।२० २१)

अग्रे च भोजनप्रसङ्गे—

> भिक्षुको ब्रह्मचारी वा भोजनार्थमुपस्थित ।
> उपविष्टेषु य श्राद्धे काम तमपि भोजयेत् ॥
> अतिथिर्यस्य नाश्नाति न तच्छ्राद्ध प्रशस्यते ।
> तस्मात्प्रयत्नाच्छ्राद्धेषु पूज्या ह्यतिथयो द्विजै ॥ (२।२२।३१–३२)

एव सर्वोऽपि विधिरत्र विवृत । भोजनेषु च मातानामपि संग्रहोऽत्र कृत ।

पञ्चविंशेऽध्याये च अशौचविवरणम् । तत्र जननाशौचे अय विशेष उक्त —

> दशाहं निर्गुणे प्रोक्तमाशौचं चातिनिर्गुणे ।
> एकद्वित्रिगुणैर्युक्तश्चतुस्त्र्येकदिनै शुचि ॥ (२।२३।७)

जननाशौचे सपिण्डाना स्पर्शनिषेधो नास्ति मरणाशौचेऽपि चतुर्थेऽह्नि स्पर्श इति स्पष्टमुक्तम् । अग्रेऽपि बालादीनामाशौचे स्मृत्युक्तमाशौचं निर्गुणानामेवेति

भूयो भूय उक्तम्। वैतान उपासनाश्च परदारेण पुत्रादिभिः कारयितव्या इत्यपि स्पष्टमुक्तम्।

अथ विच्छिन्नप्रमादेन म्रियतेऽग्न्यादिषादिभिः।
तस्याशौचं विधातव्यं कार्यञ्चैवोदकादिकम्॥ इति च
(२।२३।६४)

क्रियास्वपि विशेष उक्तः—

जाते कुमारे तदहः कामं कुर्यात्प्रतिग्रहम्।
हिरण्यधान्यगोवासस्तिलांश्च गुडसर्पिषा॥
फलानि पुष्पं शाकञ्च लवणं काष्ठमेव च।
तक्रं दधि घृतं तैलमौषधं क्षीरमेव च॥ (२।२३।६५।६६)
आशौचिनो गृहाद् ग्राह्यं शुष्कान्नञ्चैव नित्यशः।
आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः॥ (२।२३ ६७)

अग्रेऽपि मृताशौचेऽस्य विशेषः—

पिण्डं प्रतिदिनं दद्युः सायं प्रातर्यथाविधि।
प्रेताय च गृहद्वारि चतुर्थे भोजयेद् द्विजान्॥ (२।२३।७०)
पञ्चमे नवमे चैव तथैवैकादशेऽहनि।
युग्मांश्च भोजयेद्विप्रान्नवश्राद्धं तु तद् द्विजा॥ (२।२३।७२)

सर्वोऽपि च प्रेतकल्पोऽत्र सक्षेपेणोक्तः। अग्रे चतुर्विंशेऽध्याये श्रौतस्मार्ताग्निहोत्रविधानम्। अग्रे दानधर्माः गृहस्थवृत्तयः एव विवृताः। सप्तविंशेऽध्याये च वानप्रस्थाश्रमधर्माः। तत्र नानाविधानि तपांसि वर्णितानि। अथाष्टाविंशे यतिधर्माः, तत्र सन्यासस्य बहवो भेदा उक्ताः, यथा—

ज्ञानसन्यासिनः केचिद् वेदसन्यासिनः परे।
कर्मसन्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्तिताः॥
यः सर्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भयः।
प्रोच्यते ज्ञानसन्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थितः॥
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।
प्रोच्यते वेदसन्यासी मुमुक्षुर्विजितेन्द्रियः॥
यस्त्वग्नीनात्मसात्कृत्वा ब्रह्मार्पणपरो द्विजः।
ज्ञेयः कर्मसन्यासी महायज्ञपरायणः॥ (२।२८।५-८)

सन्यासिनाञ्च धर्मेषु उक्तम्—

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेत् क्वचित्॥
यस्तु मोहेन वाऽन्यस्मादेकान्नादी भवेद् यतिः।
न तस्य निष्कृतिः काचिद्धर्मशास्त्रेषु कथ्यते॥ (२।२८।१७ १८)

इदमपि चोक्तम्—

एकवासा द्विवासा वा शिखी यज्ञोपवीतवान्।
कमण्डलुधरो विद्वान् त्रिदण्डी याति तत्परम्॥ २।२८।३१)

अत्र च ध्येयमुक्तम्—

महान्तं पुरुषं ब्रह्म ब्रह्माणं सत्यमव्ययम्।
सितं सितेतराकारं महेशं विश्वरूपिणम्॥
ओङ्कारेणाथ चात्मानं संस्थाप्य परमात्मनि।
आकाशे देवमीशानं ध्यायीताकाशमध्यगम्॥ (२।२९।१४ १५)

अग्रे च धर्मातिक्रमे यतीनां प्रायश्चित्तान्युक्तानि। इतः परं त्रिंशमध्याय मारभ्य चतुस्त्रिंशदध्यायान्तं प्रायश्चित्तानां विवरणम्। तत्रैव च व्यासगीता समाप्तिः। ततः परं ऋषिभिः सूतस्तीर्थविस्तरं पृष्टः। स च नानाविधानि तीर्थान्याह। तत्र यौवतीर्थानामाधिक्यम्, नर्मदामाहात्म्यञ्चातिविस्तृतम्। मन्थ समाप्तिपर्यन्तं (चतुश्चत्वारिंशाध्यायपर्यन्तं) तीर्थानामेव वर्णनम्।

मध्ये च देवदारुवनवृत्तान्तः। तत्र हि भगवान् शङ्करः स्वलीलयाऽतिसुन्दरं रूपं कृत्वा दिगम्बरः (नग्नः) ऋषीणामाश्रमेषु प्रविष्टः। विष्णुश्च स्त्रीरूपधारिणं सह निनाय। सापि स्त्री बहुसुन्दरी वस्त्राभरणभूषिता तमनुगच्छति स्म। एवमूत शङ्करं दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यः पतिव्रता अपि मोहात्तमनुजग्मुः ऋषिदाराश्च विष्णुरूपायां स्त्रियामासक्ता नानोपहासान् चक्रुः। तेन च कुपिता ऋषयः शिवमायाविमोहितास्तं लोष्टलगुडादिप्रहारैस्ताडयामासुः। केवलं वशिष्ठाश्रमे पतिव्रताशिरोमणिभूतया अरुन्धत्या स पूजितः चिकित्सितश्च। पुनश्च ऋषिभिः कृद्धैः भर्त्सितस्तद्वशात् स स्वीयं लिङ्गं छित्वा तत्रैव पातयामास। स्वयञ्च विष्णुना सहान्तर्दधे। तदा च देवदारुवने महान्त उत्पाताः प्रादुर्भूवन्। तदा अविरत्या अनसूयया "अयं देवो महादेव आसीत् भवद्भिश्च ज्ञानेन हृदित इति भवतां भयमुपस्थितम्" इत्येव ऋषयो बोधिताः। सर्वे च ते ब्रह्मणः समीपे गत्वा सर्वं वृत्तमाचख्युः। तदा ब्रह्मणापि बहुनुशोचिताश्च तदाज्ञया तत्रैव देवदारुवनं आगत्य तं लिङ्गं वैदिकेन विधानेन पूजयामासुः। पुनश्च शङ्करस्य दर्शनमवाप्य कृतार्था बभूवुरित्यादि। अनन्तरञ्च पञ्चचत्वारिंशेऽध्याये प्रतिसर्गं निरूप्य ग्रन्थसमाप्तिः कृता। देवदारुवनकथायाश्चेदमेव तात्पर्यम् यल्लिंगं प्रकृतिः। तामेव प्रकृतिं प्रधानीकृत्य भगवांस्तत्र गतः। त्रिगुणया प्रकृत्या मोहिताश्च ऋषयस्तत्र अभिरे। यदा तेन प्रकृतिविरुद्धा ब्रह्मणा च प्रकृतावेव भगवान् पूज्य इत्यादिष्टं तदा तत्पूजनेन पुनः प्रकृतिरहितो भगवांस्तैर्दृष्ट इति। अन्ते च फलश्रुत्या ग्रन्थसमाप्तिः।

मुद्गलपुराणविषयसमालोचनम्

मुद्गलपुराणमुपपुराणेषु क्वचिद् गणितम्। क्वचित्तु उपपुराणेभ्योऽप्य वरकक्षाकेष्वौपपुराणेषु गण्यते। औपपुराणानि चातिपुराण नाम्नापि केचिदाहु। एषा नामानि च बृहद्विवेके दृश्यन्ते—

आद्य सनत्कुमार च नारदीय बृहच्च यत्।
आदित्य मानव प्रोक्त नन्दिकेश्वरमेव च ॥
कौर्म भागवत ज्ञेय वाशिष्ठं भार्गव तथा।
मुद्गल कल्कि देव्यौ च महाभागवत तथा ॥
बृहद्धर्म परानन्द वह्नि पशुपतिं तथा।
हरिवंश ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ॥

अत्र पठितानि सनत्कुमारादीनि कानिचिदुपपुराणेष्वपि पठ्यन्ते—

आद्य सनत्कुमारोक्त नारसिंहमथापरम्।
तृतीय स्कान्दमुद्दिष्ट कुमारेण तु भाषितम् ॥
चतुर्थ शिवधर्माख्य साक्षान्नन्दीशभाषितम्।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमत परम् ॥
कपिल वामन चैव तथैवोशनसेरितम्।
ब्रह्माण्ड वारुण चाथ कालिकाह्वयमेव च ॥
माहेश्वर तथा साम्ब सौर सर्वार्थसंचयम्।
पराशरोक्तमपर मारीच भास्कराह्वयम् ॥

एतत्सर्वमालोच्य विद्वद्भि प्रतीयेत यत् यानि कैश्चिदुपपुराणत्वेनोक्तानि तान्येव विभज्य कैश्चिदौपपुराणत्वेन पृथग् गणितानि। वस्तुत सर्वेषामेषामुप पुराणत्वम गणन युक्त प्रतिभाति।

उपपुराणेषु प्रायेणैकैका काञ्चिद् देवतामुद्दिश्य त माहात्म्यमेव विवृत दृश्यते। यद्यपि महापुराणेष्वपीय प्रक्रियोपलभ्यते, तत्रापि शैवपुराणेषु भगवत शिवस्य, वैष्णवेषु पुराणेषु च भगवतो विष्णोर्माहात्म्यातिशय ख्यापित इति, तथापि उपपुराणेषु तु प्रक्रियेयमतिशयेन विजृम्भिता विलोक्यते। अत्र च परस्पर विरोधो नाशङ्कनीय। यतो हि सर्वस्यापि चराचरात्मकस्य मूलभूतमेक परब्रह्मै, मुख्यत योपास्य सर्वत्र विवक्षितम्। तत्तु न स्वरूपेणोपासितु शक्यम्—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम्"

"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इत्यादिभिः श्रुतिभिः तस्य वाङ्मनसाविषयतायाः स्पष्टमुद्घुष्टत्वात्। तस्मिन् मनोनिवेशो हि तदुपासनं भवति, यच्च मनोविषयतामेव नावगाहते तत्र मनो निरोद्धं कथं कर्तुं शक्यं स्यात्। कथं वा स्तुतिः तस्य सम्भवति, वागतीतत्वात्। तथा च तदुपासना न सम्भवतीति जीवनस्यैव निष्फलत्वमापतति, तद्वारणाय सगुणसाकाररूपाण्याधारीकृत्य तस्मिन्मनो निरुध्यमिति श्रुतिस्मृत्यादिषु मार्ग उपदिष्टः। तानि च सगुणसाकाररूपाणि अधिकारिभेदेन पञ्चशास्त्रेषु निर्दिष्टानि यथा विष्णुः, शिवः, शक्तिः गणेशः, सूर्यश्चेति। ते हि देवाः स्वस्वाधिकारे नियुक्ताः स्वस्वकार्यं निर्वहन्ति। एषु कस्मिंश्चिदेकस्मिन् स्वरुचिमनुसृत्य ब्रह्मबुद्धिरुपासकेन कर्तव्या, तद्रूपं तेनोपासकेन परब्रह्मतया भावनीयम्, अन्यानि तु रूपाणि यथायथं स्वस्वाधिकारविशिष्टान्येव भावनीयानि।

तदित्थं येन यद्रूपं परब्रह्मतया भावितं तदेव तद्दृष्टौ सर्वतः प्रधानं स्यात्। अन्यानि तु रूपाणि यथास्थितानि तदनुगामीन्येव स्युः। अनेकेषु रूपेषु परब्रह्मतया भावितेषु तूपासनैव न सिध्येत्। चित्तस्यैकाग्रता हि उपासनायाः फलम्, अनेकेषु ब्रह्मतया भावितेषु तु इतस्ततः प्रचलच्चित्तं कथमेकाग्रं भवेत्। तस्माद् ब्रह्मबुद्धिरेकस्मिन्नेव कस्मिंश्चिद्रूपे कर्तव्या। इतरेषु तु न विद्वेषः कार्यः। अपितु यस्मिन् अधिकारे ते स्थिताः तादृशाधिकारविशिष्टत्वमेव तेषां मन्तव्यम्। तथा च परब्रह्मतया भावितस्य रूपस्याङ्गप्रत्यङ्गान्येव तेऽन्ये देवा भवेयुः। परब्रह्मतया भावितं तु रूपं सर्वतः प्रधानमित्येव पुराणेषूपपुराणेषु च कस्यचिदेकस्य प्राधान्यं तत्र तत्र ख्यापितम्। रुचिभेदकृतोऽधिकारभेद एवात्र निदानम्, न तु परस्परं कोऽपि विरोधः।

तदेतत् पातञ्जले योगसूत्रेऽप्युक्तम् "यथाभिमतध्यानाद्वा" इति। यस्या-धिकारिणः स्वभावाद् यत्र रुचिः, तदेव रूपं तेन ध्यातव्यमिति तदर्थः। तदेव रूपं द्वारीकृत्य निर्विकल्पकसमाधिना तस्य ब्रह्मणि प्रवेशः स्यादिति योगसूत्राशयः।

तदित्थं विभिन्नतया मनोनिवेशार्थं स्वीकृतेषु रूपेषु भगवान् गणपतिरेवात्र पुराणे परब्रह्मरूपेण ख्यापयितुमुपदिष्टः। किञ्चिद्रूपं द्वारीकृत्य प्रवेशोऽपि मायाशबलिते ब्रह्मण्येव सम्भवति। निष्कलं तु ब्रह्म केवलमुपलक्षणतया निषेधमुखेनैव ज्ञेयं भवेत्। तदर्थं च निर्विकल्प एव समाधिरुपयुक्तः स्यादिति न तद् वाचा वर्णयितुं कथमपि शक्यम्, ततश्च मायाशबलितं ब्रह्मैव गणपतिरिति पुराणेऽस्मिन्नुपदिष्टम्।

माया च तस्य बुद्धिः सिद्धिरिति द्विविधा ख्यापिता। तत्र बुद्धिः चित्तशब्देन पर्यायेणाप्युक्ता, पञ्चविधा सा चोक्ता। पञ्चविधत्वं च क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तम्, एकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तस्य टीकाकृता व्याख्यातम्। क्षिप्तं संसारिणां, मूढं

भ्रान्तानां विक्षिप्तं मुमुक्षूणां, विशेषेण ब्रह्मणि क्षिप्तमित्यर्थं एकाग्रं योगे प्रयतमानानां, निरुद्धं च योगिनामिति । एते भेदाः प्रायेण योगदर्शनादेव गृहीताः स्युः । चित्तपदं चेदं शास्त्रेषु बहुधा व्याख्यायते । सांख्यदर्शने मनोबुद्धिरहङ्कार इति त्रिविधमेवान्तःकरणमुक्तम् । योगदर्शने तु चित्तपदमनेकसूत्रेषु व्यवहृतं दृश्यते । परं तदन्तःकरणसर्वांशत्वेनैवोक्तमिति प्रतीयते । वेदान्तिनश्च मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति चतुर्धान्तःकरणं व्याचक्षते । "सङ्कल्पं, व्यवसायम्, अहंभावं स्मृतिञ्चेति" एतादृशीं च वृत्तिं तेषामभिदधति ।

अथागमशास्त्रे तु "चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम्" (प्रत्यभिज्ञाहृदये, सू० ५) इति चित्तं व्याख्यातम् । तथा च चितिशक्तेः प्रथमं सङ्कोचो बुद्ध्यपेक्षयापि सन्निकृष्टतरश्चित्तमिति प्रतीयते । इह तु बुद्धिपर्यायत्वेन चित्तशब्द उपात्तः । एभिश्च बुद्धिवृत्तिभेदैश्चित्तपदवाच्यैः यद् यत्प्राप्यते तत्सर्वं सिद्धिपदेनोच्यते । एता बुद्धिवृत्तयस्तत्फलानि चेत्युभयमपि संसारेऽन्तर्भूतमिति मायारूपत्वेनात्र निर्दिष्टम् । यद्यपि निरुद्धेन चित्तेन प्राप्तव्यो मोक्षो न मायायामन्तर्भावयितुं युक्तः । तथापि स मोक्षश्चरमवृत्त्यैव लभ्यः, ततः पूर्वं निरुद्धेनापि चित्तेन प्राप्ता अणिमादिसिद्धयो मायायामन्तर्भवन्ति । वृत्तयस्तु सर्वा अपि मायान्तर्भूताः सन्त्येवेति बुद्धिः सिद्धिरिति भगवतो गणेशस्य द्वे माये अत्र व्याख्याते । गणपतेश्चापि रूपं जगद्विशिष्टब्रह्मत्वेनात्र स्थापितम् । शिरो ब्रह्म तदधरमङ्गन्तु जगदित्येवमुक्तम् । अपरत्र तु योगरूपेण गणपतेश्च इति कायः सविकल्पकसमाधिरूपेण, शिरश्च निर्विकल्पसमाधिरूपेण निर्दिष्टम् । यदा गजः शुण्डादण्डं मुखे निवेश्य निमीलितनेत्रो भवति तदा मण्डलाकारं तन्मुखमेकरूपमेव प्रतीयते, न च तत्रावयवभेदः प्रतीयते इति निर्विकल्पसाम्यं तत्राभिसहितम् । कल्पवेद्यविषयैकाकारैव तत्र वृत्तिर्भवतीत्येकदन्तरूपेण तदेव सूचितम् । काये तु विभिन्ना अवयवाः प्रतीयन्त एवेति तस्य संसाररूपता प्रस्फुटैव । चतुर्भिश्च भुजैश्चतुर्दिग्व्याप्तिः सूच्यते । करेषु चिह्नानि च चतुर्विधपुरुषार्थसूचकानि । तत्र पाशोऽर्थरूपः, अर्थरूपेण पाशेनैव जीवानां विशेषतो बन्धनदर्शनात् । मोदकन्तु कामरूपम्, तात्कालिकसुखरूपमोदहेतुत्वात् । अङ्कुशश्च धर्मरूपः नियन्तृत्वेन धर्मस्याङ्कुशसादृश्येनैव प्रवृत्तिदर्शनात् । अथ कमलं जलस्थितमपि जलेन मनागपि न लिप्यते इति मोक्षरूपं तद्भगवतो हस्ते स्थितम् । एवञ्चतुरोऽपि पुरुषार्थान् यथाधिकारं सेवमानो भगवान् गणपतिः संसारिभ्यो ददातीति ते एते तद्भुजस्थतया निर्दिश्यन्ते ।

अस्मिंश्च ग्रन्थे एकैकस्मिन् खण्डे गणपतेरेकैकन्नामाधिकृत्य तद्व्याख्या विशेषेण दर्शिता, यथा प्रथमखण्डे वक्रतुण्डनामव्याख्या । द्वितीयखण्डे एकदन्तनामव्याख्या, तृतीये लम्बोदरनामव्याख्या चतुर्थे गजाननामव्याख्येत्यादि ।

तत्र तृतीये लम्बोदरपदमित्थं व्याख्यातम्—गणपते कार्य संसारस्य दृश्यते प्राक्। संसारिणाञ्चोदरं दुष्पूरं भवति। बहुतरभोगेऽपि तत्र शान्तेरदर्शनात्। अतएव गणपतेर्वर्धुविस्तृतमुदरं मूर्तिषु दृश्यते। ब्रह्मरूपश्च गणपतिः संसारिणामुदरं प्रविश्य भुङ्क्ते।

> अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
> प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

इति भगवद्गीतायां गणपत्यभिन्नेन भगवता कृष्णेनाभिधानात्। तस्मात् परेषामुदरं प्रविश्य भोगकरणादपि तस्य महदुदरं व्याख्यात इति। एवमत्र भगवतो गणेशस्य स्वरूपं स्थाने स्थाने निरूपितम्।

तत्र तत्र कथाभिश्च भगवतो गणेशस्यैव पञ्चसु देवतासु प्राधान्यं ख्यापितम्। तथा हि सूर्यमण्डलमभितो निदिश्य सूर्येण सहैव भ्राम्यन्तो बालखिल्या एकदा सूर्यं पृष्टवन्तः यत् 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता" इत्यादाभिः श्रुतिभिस्त्वमेव सर्वजगत्कारणं सर्वस्यात्मा चाम्नायसे। भवन्तमपि च ध्याननिरतं पश्यामः। तद्भवान् कमभिध्यायतीति नो मनसि जिज्ञासा समुदेति तां कृपया शमय इति।

तदा सूर्यः "गणपतिरस्माकं सर्वेषामधिष्ठाता स एव च परं ब्रह्म, तदाज्ञयैव वयं सर्वे स्वस्वकर्मसु प्रवर्तामहे। तमेवाहं सततमभिध्यायामि" इति तान् प्रबोधितवान्। निर्दिष्टश्चात्र गणपतिस्तत्र प्रागुक्तम्। भूयश्च तस्माद्यारम्भ सुस्पष्टं व्याचक्ष्व कृपयेति पृष्टः सन् स्वीयां कथां कथितवान् यत् कश्यपो मन्त्रं प्रयच्छन् मां सुचिरमाराधितवान्। ततस्तुष्टः सुप्रसन्नश्चाहं यदा वरं प्रदातुं तत्समीपे गतः तदा स मां बहुतरं स्तुत्वा "त्वमत्र मत्पुत्रतां याहि" इति वरं प्रार्थितवान्। अहञ्च प्रसन्नस्तस्मै तादृशमेव वरं दत्तवान्। एवमदित्यापि बहुतरं तपस्यन्त्या स एव वरो मत्सकाशाल्लब्धः। विश्वकर्मा च मत्पत्नी संज्ञानाम्नी तपसा समाराध्य "त्वं मे पुत्री भूया" इति वरं प्रार्थितवान् प्राप्तवांश्च। तथाहं कश्यपाददित्यां द्वादशभी रूपैरवतीर्णः। मत्पत्नी संज्ञा च विश्वकर्मणः पुत्रीत्वमगात्। तथापि विश्वकर्मणा सा मह्यं प्रदत्तेति आवयोः सम्बन्धो जातः। तथा विहरंश्चाहं श्रुतिवाक्ये स्वमेव सर्वश्रेष्ठतया मन्वानो गणपतिं व्यस्मार्षम्। तदा गणपतिना विघ्नः समुत्पादितः। स चेत्थरूपो यन्माली सुमाली चेति द्वौ भ्रातरौ दैत्यकुले समुत्पन्नौ। ताभ्यां च तपसा शिवमाराध्य मत्तोऽप्यधिकप्रकाशं विमानमेकं प्राप्तम्। प्रकाशयन्तौ तौ रात्रिमेव व्यलोपयताम्। दिवा मत्प्रकाशः रात्रौ च तदीयविमानप्रकाश इति सर्वदैकविधप्रकाशसद्भावाद् रात्रिः केनापि न प्राज्ञायत।

तदा च प्रातर्मध्याह्नादिकालस्याप्यज्ञानात्तत्कालविहितानि यज्ञादिकर्माण्यपि विलोपमेव गतानि। अहमेव च यज्ञाहुतिभिराप्यायितो भवामीति मदाप्यायनमपि

यज्ञविक्षेपान्निवृत्तम् । एवंविधं व्यतिक्रममालोक्य मया स्वतेजसा विनाशेन सद्यैव तौ दैत्यावपि दग्धौ । तदा च स्वभक्तानां दाहात्कुपितेन शिवेन त्रिशूलेन मदीयं शिरश्छिन्नम् । तदा सर्वेषामेव वैदिकानां कर्मणां लोपो जातः । सर्वा अपि च प्रजा मत्सम्बद्धा इति तासामपि विनाश आपतितः । तदा च सर्वैः ऋषिभिः संभूय भगवान् शिवः प्रार्थितो यत् किमिदं भवता कृतम् । सूर्यं विना कथं प्रजानां स्थितिः सम्भवेत् । न चायं प्रलयकाल इत्यकाण्ड एव सर्वप्रलयः इव भवता प्रारब्ध इति । तदा च शिवेन विचार्योक्तम्—गणपतिना समुत्पादितोऽयं विघ्न इति गणपतिमेवाराध्याहं सूर्यं जीवयिष्यामीति । अनन्तरञ्च भगवन्तं गणपतिं प्रसाद्य शिवेनोक्तम् यत्सूर्यं जीवय अन्यथाहमपि त्वदीयं शिरश्छेत्स्यामीति, इत्थं विज्ञापितेन श्रीगणपतिना स्वीयं विघ्नमुपसंहृत्याहं जीवितः प्राणितः मदीयं शिरः पुनः कायेन योजितम् । पूर्वं छिन्नं मदीयं शिरश्च काश्यां लोलार्के निपतितमभूत् । तत्रैव चाहं जीवितः । पुनर्जीवितेन च मया चिन्तितं यत् श्रुतिर्मां सर्वेषामात्मानमाह आत्मनश्च कथं मृत्युः सम्भवेत् । तस्मादहं सर्वेषामात्मेत्येवानुमीयते । न च मया सर्वे जनाः प्रसूताः । तस्मादयं प्रायोऽहमरण्यमेव गत्वा तपश्चरिष्यामीति । अरण्यं गन्तुं प्रवृत्ते च मयि ब्रह्मा अनेनेत्थं मां प्रबोधयाञ्चकार—

यच्छ्रुते सत्यमेवाह भवन्तं भवान् सर्वस्य जगतः आत्मा भवतैव च सर्वा अपि प्रजाः पाल्यन्ते । परं सर्वेऽपि वयं ब्रह्मणः शासने तिष्ठामः । तच्छक्त्या च सर्वे वयं तच्छक्तिमन्तः । स ब्रह्मरूपो भगवान् गणपतिः सर्वैरस्माभिः समुपास्यः सेवनीयश्च । भवता गणपतिनिरादरेण विस्मृतमिति तत एवायं विघ्नः समुत्पन्नः । इदानीं स्वाधिकारं सम्यङ्निर्वाहयता भवता सर्वाधिपतिर्गणपतिः सदा स्मरणीयः सेव्यश्चेति ।

अस्याः कथायामिदं रहस्यं यत् कश्यपो नाम ऋषिरेकः, ऋषयश्च मौलिकाः प्राणाः, सर्वाधिभूता इति श्रुतिषु ख्याप्यते । तदुक्तं शतपथब्राह्मणे—"असद्वा इदमग्र आसीत्, तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषयः" इति । तेभ्य एव चाग्रे सर्वोत्पत्तिः समाम्नाता । भगवता मनुना चाप्युक्तम्—

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः ।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ इति ।

एवञ्च ऋषिभ्य एव पितरो देवाश्च जायन्त इति सिद्धम् । अत एव च "काश्यप्यः सकलाः प्रजाः" इति कश्यपस्य सर्वप्रजानिर्मातृत्वं पुराणादिषु ख्याप्यते । कश्यपश्चायं "कश्यपः पश्यको भवति" इति ब्राह्मणेषु निरुक्तः ।

कूर्मोऽपि च जन्तुविशेषः कश्यपशब्देनाख्यायते। स च यथाङ्गानि सङ्कोचयति विकासयति च, तथैव कश्यपनामा सूर्योऽपि स्वाङ्गभूताः प्रभा बहिर्निःसारयति, समये सङ्कोचयति चेति उभयोः सादृश्यम्। कूर्मस्य च पृष्ठभागः दृढो भवति, अधोभागश्चातिकोमलो भवति। तथैव ब्रह्माण्डस्याप्येको भागः सूर्यातपात्कठोरो भवति, अपरश्च मृदुरिति ब्रह्माण्डप्रतिकृतिरयं कूर्मः।

सदेतदुर्ध्वमालोच्याधोमुखोऽत एव सर्वमध्यस्थितः पदार्थः प्राणविशेषः कश्यप इत्याख्यातः। ऊर्ध्वमध इति द्वेधा विभक्तस्याकाशस्योर्ध्वभागोऽदितिर्नाम अधोभागश्च दितिर्नाम। ते उभे अपि कश्यपस्य पत्न्यौ समाख्याते। तत्र प्रकाशमाने ऊर्ध्वभागे देवा उत्पद्यन्ते। अन्धकारितेऽधोभागे चासुराः। तदित्थं सदैव घनभूतोऽत एव "चित्रं देवानामुदगादनीकम्" इति श्रुत्या देवानामनीकरूपत्वेनाम्नातः सूर्योऽपि कश्यपाददित्यां जात इति स्पष्टीभवति। स च द्वादशसु मासेषु पृथक्पृथक्कार्यकरणाद् द्वादशरूप आख्यायते। सूर्यस्योदय एव सर्वेषां प्राणिनां चेष्टाः प्रवर्तन्ते इति चेष्टापरनाम्नी संज्ञा तत्पत्नीत्वेन पुराणेषूक्ता। अन्यत्र पुराणेषु सुरेणुरित्यपि तस्या नाम स्मर्यते सूर्यस्योदयकाले गवाक्षादिषु रेणव इव चलन्तः प्रतीयन्ते या 'जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणुरजस्स्मृतम्' इत्यादिस्मृतिषु त्रसरेणुत्वेनाख्यायन्ते, एतदेवाभिप्रेत्य त्रसरेणुरपि सूर्यपत्नीत्वेनाख्यातं द्रष्टव्यम्। तस्या अपसरणे च छायानाम्नी परापि स्त्री सूर्यपुराणेषूक्ता। प्रभाया अपसरणे छाया जायते इति तदभिप्रायोऽपि स्फुटः। सा चेयं विश्वकर्मणः पुत्री इत्याख्याता। अत्र विश्वकर्मेति सर्वकरणशीलः सर्वशक्तिमान् पारमेश्वरमण्डलं रूपं द्रष्टव्यम्। तत एव च सर्वेषां प्राणिनां चेष्टाः प्रादुर्भवन्ति। व्यष्टिभूतानां जीवानां चेष्टायाः समष्टिरूपपरमात्माधीनत्वात्। सूर्यशिरश्छेदस्य चायमभिप्रायो यत् प्रत्येकस्मात्पदार्थाद् ये किरणा बहिर्गच्छन्ति ते सूचीमुखा भवन्ति, ते च मध्ये मध्ये छन्नास्सन्तः पुनस्तिर्यग् गच्छन्ति। तत एव दूरस्थं वस्तु शनैर्लघु प्रतीयते इति "छन्दोवेदनिरुक्ते" गुरुवर्यैः श्री विद्यावाचस्पतिमहोदयैः स्पष्टं व्याख्यातम्। इदमेव श्रुतिषु क्वचिद् गायत्र्याः शिरश्छेदरूपेणाम्नायते। इह तु सूर्यशिरश्छेदरूपेणोक्तम्। किरणानां परस्परं सम्पर्केण शिरश्छेद एव सूर्यशिरश्छेदत्वेनोक्तः, सूर्यकिरणानां सूर्याभिन्नत्वात्। सर्वं चेदं रुद्ररूपेण वायुना क्रियते इति रुद्ररूपशिवकृतस्य शिरश्छेदस्योक्तम्। एवंविधैरागतैः किरणैरेव चन्द्रमसो दीप्तिं यान्ति, स च रात्रावपि प्रकाशते इति रात्रावपि प्रकाशः कथायामुक्तः। सूर्यस्य शिरस्यापि च गणपत्याराधने हेतुस्तु पूर्वं विवृत एव गणपत्याराधकैर्गणपतेरेव परब्रह्मत्वेन विलक्षणादिति सर्वं यथायथं योज्यम्। काश्यां शिरःपतनादि च लोलार्कतीर्थमहिमख्यापनार्थमेव द्रष्टव्यमिति। अग्रे च मोहस्योत्पत्तिवृत्तान्ते बालखिल्यैः पृष्टः सूर्यस्तान् बोधयाः

मास—यदेकदा शिवो भगवान् वने एव तपश्चरन्नास्ते स्म। तदैव तारकासुरेण स्वस्वस्थानेभ्यः परिभ्रंशिना देवा शिवस्य वीर्योत्पन्नेन हन्तव्य एव तारकासुर इति निश्चय कैलासे पार्वतीसन्निधे गता। सर्वत्र वृत्तान्त तस्यै न्यवेदयन्। तदा पार्वती भिल्लीरूप विधाय वने शिवसन्निधौ गता। आन्मसुन्दरेण च तत्रैव वने पुष्पचयादि कुर्वती विचरति स्म। समाधेर्व्युत्थानकाले च शिवस्तद्रूप दृष्ट्वा मोहितो भूत्वा ता ग्रहीतुमधावत्। सा च ततो दूरीभवन्त्येव ततस्ततो विचरति स्म, न तद् हस्तगा बभूव। भूतामूर्च्छस्तद्ग्रहणायोत्सुक शिवस्तामन्व धावत्। धावमनुधावत एव शिवस्य वीर्यं चस्कन्द। तदैव च वीर्यं मोहरूपतामा पन्न। ततश्च परावृत्तेन शङ्करेण ध्यान कृत्वा पार्वत्येवेयमासीदिति प्रत्यभिज्ञातम्। ततश्च स पार्वतीसविधे गत्वा देवाना च प्रार्थना श्रुत्वा तया सह रन्तुमारेभे। मध्य एव कामस्यापि कथाऽत्र वर्णिता। एव भिल्लया कामवशगेन शङ्करेण क्रोधात्कामो भस्मीकृत। पश्चाच्च यदा ■ पार्वतीसमीपमाजगाम, तदा काम सस्मार "मह्यमङ्ग देहि यत्त्वया भस्मीकृतम्" इति तत्प्रार्थितश्च 'गणपतिमाराधय स एव तुभ्यमङ्ग दास्यति" इत्युपदिश्य गणपतेरेकाक्षर मन्त्र तस्मै ददौ। तेन मन्त्रेण समाराधितश्च भगवान् गणपति प्रत्यक्षीभूय तस्य कानिचित्स्थानानि निर्दिष्टवान्। एवविधेषु स्थानेषु त्व वसस्वाशयापाप्रकार। अङ्ग तु तव विष्णोरवतारभूतेन कृष्णेन दास्यते। स एव रुक्मिण्या त्वामुत्पादयिष्यति। तत्रापि च तवैव रतिरेव भार्या भविष्यतीत्यादि कामकथा मध्ये एवात्र वर्णिता। तदनु कार्तिकेयजन्मकथापि प्रक्रान्ता बहुकाल पार्वत्या रममाणोऽपि भगवान् शङ्करो यदा न तृप्तमगात् तदा देवै प्रेरितो वह्निर्भिक्षुकवेषेण रममाणयोस्तयो प्रदेश गत्वा दूरस्थित एव भिक्षामयाचत तदा कश्चित् पुरुष आयात इति विज्ञाय पार्वतीपरमेश्वरावुत्थितावभूताम्। उत्थितमात्रस्य च शम्भो वीर्यं भूमौ चस्कन्द।

तदादाय च पार्वती भिक्षारूपेण भिक्षुरूपाय वह्नये प्रददौ। वह्निस्तदग्निरवा दुर्जरत्वात् तदसहमानश्च गङ्गा गत्वा तत्रोद्गीर्णेन तच्चिक्षेप। तत्र स्नानार्थमागताश्च कृत्तिका जलेन सह तत्पपु। ता अप्यसहमानाश्च शरस्तम्ब तदुद्गिरन्ति स्म। तत्रैव कुमारो जात। कृत्तिकाभ्यो जातत्वादय कार्तिकेय उच्यते। शरस्तम्भे च जातत्वात् शरजन्मा। त नारदो ददर्श। स च कैलास गत्वा पार्वतीं प्रति कुमारजन्मावृत्तान्तमवदत्। पार्वती तमानाय्य त पय पाययामास। कृतसत्कारश्च स सेनानिर्भूत्वा देवै सह तारक हन्तु जगाम। बहु युध्वापि हन्तु न शशाक। तदा कथ हन्तु शक्नुयामिति शम्भु पप्रच्छ। शम्भुनोपदिष्टश्च गणपतिमाराधयाञ्चक्रे। 'आराधितश्च गणपति प्रत्यक्षीबभूव। कार्तिकेयेन स बहुधा स्तुत। अत्रैव स्तुतौ मूषकवाहनस्यापि रहस्यमुक्तम्—यथा मूषक पृथिव्या प्रच्छन्न एव निवसति, प्रच्छन्न एव च वस्तूनि छिनत्ति, तदा त्वमपि सर्वेषामन्तर्निगूढो निवससि। अविज्ञात एव

भक्तानां वचनानि ज्जिरस्ति' इति मूषकवाहनस्य मुख्यस इत्यादि। गणपतिना दत्तवरश्च स पुनर्देवानां सेनापतिर्भूत्वा युद्धाय यातः तारकासुरं जघान चेति मध्य एव तारकासुरकथा पुराणान्तरस्वादिनी कथिता। एवं गणपतिस्तवस्वरूप मवान्तरविशेष उक्तः। अथाग्रे पुनर्मोहचरितमुपक्रान्तम्, यत्र वीर्योद्धतो मोह दैत्यगुरुं शुक्रं शरणं गतः। तेनैव तस्य संस्कारा कृताः, सूर्याराधनोपदेशश्च दत्तः, तेनाराधितश्च सूर्यस्तस्मै वरान् ददौ, सूर्यप्रसादवरश्च स देवानामपि पतिर्बभूव। प्रमादश्च मुना मदिरानामोपयमः। तस्या तस्य रसव उम क्रूर मधावी शोचनी हरणश्चेति पञ्चमुना बभूवुः। विषयानाम नगरश्च सर्वेषामेव दत्तम्। अनन्तरं सर्वेषां देवानामधिपो भूत्वा स्वमुनान् तनन्नाधिपत्ये प्रतिष्ठा पयामास। देवांश्च देवनिकायेभ्यो निरस्य तन्निकायेष्वपि स्वाधिकारमवाकरोत्, अथ देवा पराजिता शम्भुसमीप विष्णुसमीपं च गताः। सर्वे च सम्भूय गणपतिमेव शरणं याताः। ते प्रार्थितश्च गणपतिस्तत्र याद्धुं चलितः। नारदश्च पुरैव दौत्येन तत्समीप प्रस्थानमाप। स्वसमीपमागतं नारदमसौ सत्कारेण पप्रच्छ। "त्वं सर्वत्र विचरसि। लोकस्य वार्तां ब्रूहि", इति तेन पृष्टश्च नारदः "गणपतिस्त्वां योद्धुमभियाति, तदासौ भगवान् किमिच्छुः स्यादिति नोऽस्ति। तत्सदृशेन गणपतिना सह तव योधनमनुचितम्। सर्वं तु शरणं प्रयाहि" इत्यादि जगौ। तेन पृष्टश्च गणपतेर्महिमानं तु प्राह नारदसत्तवान्। एवं प्रश्नावितश्च मोहासुरो गणपतिं ययौ, तेनादिष्टश्च दत्तस्य स्थानानि दत्त्वा देवैः सह पातालं निवास इति मोहकथासारः।

अथास्या कथाया निगूढाभिप्राय प्रकटीक्रियते। अत्र लिङ्गपुराण रुद्र द्वेधा श्रुतौ व्याख्यातः 'तस्य द्वे तनू घोरान्या च शिवान्या च' तत्र शिव तनुसंगतान् सर्वस्मादस्ते घोरतनुस्तु मुखान्तरेऽपि पर्वतान् पततो गतु तत्र तत्र प्राप्यते। तदेवं चरतः घोरतनोरंशत्वं रुद्रस्यैव। अतएव तस्य वने विचरणमत्र निर्दिष्टम्। अन्यत्तु पुराणेष्वपि च ब्रह्मणा यदा रुद्रेन रुद्र उत्पादितः, प्रजाः सृजेति चादिष्टः, यदा तेन भयङ्करी मायाङ्करी प्रजा सृष्टा मारणा, तदा ब्रह्मणा स्वसृष्टिकरणान्निवर्तितः इति तत्र तत्रावगम्यते। एव विरूपैव रुद्रस्य दीपणा माहात्म्यविशेषतया वर्णिता। मोहस्य च प्रबलं आसुराध्वर सृष्टिषु भवति, अत असुराचार्यस्यैव समीप तस्य गमनमुपदिष्टम्। तस्य याद्य परिवारो वर्णितः तत्र स्वरूपतुल्यनामकै आध्यात्मिकत्वेनैव मोहस्यैव रूपकविधया कल्पना कृताऽस्ति इत्येव मामनः। तथाहि प्रमादस्तस्य श्वशुर उक्तः। तत्कन्या च मदिरा मोहस्य पत्नीत्वेनोक्ता। मदिरयैव मोह प्रवर्तते। मोहन च मदिरापायी प्रवर्तयितुं योग्यतामादधाति पत्नीत्वोपपत्तेः युक्तमेव। सुताश्च तस्य ये उक्तास्ते मोहजनिता व्यापारा एव। उग्रः क्रूरश्च मोहन सादरश च ज्ञायते। 'मेधावी' इति पाठस्तु मोहपुत्रेषु प्रमादजनितोऽशुद्ध एव प्रतीयते, टीका

कृता तु नानाविधविग्रहमादायान्येषामिति इति व्याख्यातम्। अन्यत्र तु "अनेकमायी" इति मोहकेषु मध्ये पुरः प्रतिभाति। मोहेनैव अनेकमायने प्रवृत्तिदर्शनात्। अन्ते च लोकमेवोपादयति मोहः लोकार्थस्य च तत्त्वार्थ-हरणार्थं चौर्यमुत्पादयतीति पक्षेऽपि मोहकाः स्थाने व्याख्याताः।

तस्य नामं च विष्णावतारं निर्दिष्टं तदनुसारेण, मोहाकान्ताना निषेध्यामपि दर्शनात् प्रवृत्तस्य मोहोत्पादकस्य दैत्यवृत्तीरनिवर्तनरूपकार्यस्य तत्पादयतीति देवान् स्वस्थानात् प्रच्याव्य दैत्यानां तत्र निवेशः कल्पेन प्रतिपादितः। कामक्रोधहिंसादीनां वृत्तीनामेव मोहेन ग्रहणात्। एवंविधाना दैत्यानां दुर्धर्षाणां वृत्तीनां सर्वदा एव देवानन्तरत्वेन मोहकत्वादैत्यसंवादे तत्प्रकाशने। एवमिदं मोहनाश्ने प्रवृत्ते नष्टं परिपन्थकत्वमनुसृत्य दैत्यानां वृत्तीनां कदाचिदुदयो भवत्येव। देवैः प्रार्थितश्च भगवान् नारायणो मोहकमिदं प्रवृत्तः तदा मोहः स्वनयनेन प्रति पुरुषं प्रतिपादितम्। पातालमानयत् परमुपायान्तरेण, तदाभिनीतेष्वपि, अधिकृत हि देवानां त्रिलोकीस्थानं बलाः अनुगता च प्रबाले इत्येव पूर्वं महान् व्यवस्था कृतासीत्। देवेन्द्रकर्मेण-पुराणे स्मरणीयोऽयमिति देवा उक्तम्—

> त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां दैत्याः सन्तु हविर्भुजः।
> पूर्वं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ॥

इति मोहकरूपया आख्यानिकं रहस्यम्।

मध्ये कार्तिकेयकथया च चालितोऽयं तस्य अपीदं तात्पर्यमन्यत्र—यद् देवी सर्वात्मनैव तत्र तत्र व्याप्यते। कृत्तिकाभ्योऽपि इति बहुमातृ-भ्योऽपि पञ्चते। अन्तरिक्षाद् विस्तीर्णो वायुरेव वहिप्रावर्तते। "अग्नीषोमात्मकं जगदिति" वाक्यानुरोधेन परिणामेऽग्निसोमयोर्यस्मै पुष्क-पदार्थेन नवीनेन आहुत्या च सोमेनैव परिणामेन द्रष्टव्यम्।

तदेवं च यशीर्षेणोक्तम्। यद्—"आविरेव" नाम्ना परिणामेव पावनाया वैज्ञानिकाः, तथैव सर्वत्रैव यौगिकी धारणाया अत्र सम्बन्धात्। कदाचिदपि च तत्स्वरूपादेव तत्स्वरूपतये इति। कदाचिदपि तत्स्वरूपाय प्रवृत्ते मत्स्येन वर्णिता कश्यपादि तत्त्वसन्तानोत्पत्तिः। तत्तु च कृत्तिकाया-स्तन्त्रस्य, अन्यत्र वर्णिता आख्येयं नैवं व्याख्याने।

अन्ये च सर्वार्थसङ्ग्रहेऽप्यत्र महापुराणानां वर्णितमेव। तत्र च वाल्मीकिपुराणादीनामपि सारभूतत्वं तत्र तत्र निर्दिष्टम्।

व्याख्यान विधाय अष्टमेऽहि इतिहासव्याख्यानम्, नवमेऽह्नि पुराणाख्यानं च विहितम्, तत्र चेतिहासपुराणविशेषणत्वेन वेदशब्द स्पष्टमुपात्त —

'अथाष्टमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितासु एषैवाऽवृद अध्वर्यविति ह वै, होतरित्येवाध्वर्यु, मत्स्य साम्मेदो राजेत्याह, तस्योदकेचरा विशस्त इह आसत इति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चापि समेता भवन्ति, तानुपदिशति इतिहासो वेद सोऽयमिति कञ्चिदितिहासमाचक्षीतैवमेवाध्वर्यु सप्रेष्यति, न प्रक्रमान् जुहोति। (१२ क०) ॥

अथ नवमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितासु एषैवावृद अध्वर्यविति ह वै होतरित्येवाध्वर्यु, तार्क्ष्यो वै वैपश्यतो राजेत्याह, तस्य वयांसि विशस्तानी मान्यासत इति वयांसि च वयोविधिकाश्चोपसमेता भवन्ति, तानुपदिशति पुराणं वेद सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्यु सप्रेष्यति, न प्रक्रमान् जुहोति (१३ क०) ॥

एतदग्रे च साम्ना प्रवचनमुक्तम्। अथमत्र क्रम —पूर्वं सावित्रीरिष्टि इष्टी इत्वा यदाश्वमेधे अश्वो विमुक्त, तदनन्तर यजमानस्य देवसदनाख्ये यत्कर्तव्य भवति—तत् शतपथे त्रयोदशस्य काण्डस्य चतुर्थाध्याये तृतीये ब्राह्मणे समाम्नातम्। तदुक्तमध्यायारम्भ एव—"प्रमुखाश्व दक्षिणेन वदि हिरण्मय कशिपूपस्तृणाति (कशिपु मृदु आसनम्) तस्मिन् होता उपविशति, दक्षिणेन होतार हिरण्मये कूर्चे यजमान, (कूर्चं सपादमासनम् पीठभूतम्) दक्षिणत ब्रह्मा च उद्गाता च। हिरण्मय्या कशिप्वा पुरस्तात् प्रत्यङ् अध्वर्यु—हिरण्मये वा कूर्चे हिरण्मये वा फलके (पादरहितमासनम् फलकम्) समुपविष्टेषु अध्वर्यु— सप्रेष्यति (होतार प्रेरयतीत्यर्थ) इत्यादि। एतत्सर्वं भगवता कात्यायनेनापि विवृत श्रौतसूत्रेषु (अश्वमेधप्रकरणे) दक्षिणतो वेदेर्हिरण्ययेषूपविशन्ति ॥ १८ ॥ अध्वर्युयजमानौ कूर्चयो ॥ १९ ॥ फलकयोर्वा ॥ २० ॥ होतृब्रह्मणोद्गातार कशिपुषु ॥ २१ ॥ होतर्भूतान्याचक्ष्व, भूतेष्विम यजमानमध्यूहेति पारिप्लवं प्रेष्यति ॥ २२ ॥ ह वै होतरिति प्रतिगृणाति" इत्यादिना। अत्र अध्वर्युणा प्रैषे कृते होता सर्वान् ऋग्वेदादि व्याख्यान श्रावयति। इदमेव पारिप्लवाख्यान मुच्यते। दश दिनानीद व्याख्यान प्रत्यह प्रचलति। प्रत्यहं तिस्र सावित्र्य इष्टय क्रियन्ते। तत्र षट्सु दिवसेषु व्याख्यानानन्तर प्रक्रमहोमोऽपि विधीयते, सप्तमादिषु चतुर्षु दिनेषु तु प्रक्रमहोमो न क्रियते। एव दशसु दिवसेषु पूर्वेषु पुनरावृत्तः पुनरावृत्त इति संवत्सरपर्यन्त षट्त्रिंशदावृत्तय क्रियन्ते। तदुक्तम्—'एतदेव समानमाख्यानम् पुन पुन संवत्सरं परिप्लवते। तद्यत् पुन पुन परिप्लवते तस्मात् पारिप्लवम् षट्त्रिंशतम् दशाहानाचष्टे' इत्यादि (शतपथ० १३ का०, ४ अ०, ३ ब्रा०, १५ क) प्रत्यह च श्रुतिवि

यजमानातिरिक्ता विभिन्नाः श्रोतारो यज्ञमण्डप आहूयन्ते। यस्याख्यानस्य यो राजा आम्नातस्तत्प्रजाभूताः तदुपयुक्ता एव श्रोतारः तस्मिन् दिने सन्निधाप्यन्ते ॥

तत्र प्रथमे दिने मनुर्वैवस्वतो राजा, तत्प्रजानां मनुष्याणां प्रतिनिधिभूताः अश्रोत्रिया गृहस्थाः श्रोतारः ऋचां व्याख्यानम्। द्वितीये दिने यमो वैवस्वतो राजा तत्प्रजानां पितॄणां प्रतिनिधिभूताः स्थविराः (वृद्धाः) श्रोतारः यजुषां व्याख्यानम्। तृतीये दिने वरुण आदित्यो राजा, तत्प्रजानां गन्धर्वाणां प्रतिनिधिभूताः शोभना युवानः श्रोतारः अथर्ववेदस्य व्याख्यानम्। पञ्चमे दिने अर्बुदः काद्रवेयः (सर्पः) राजा, तत्प्रजानां सर्पाणां प्रतिनिधिभूताः सर्पविदः (सर्पपालकाः 'सपेरा' इति प्रसिद्धाः) सर्पैः सहिताः श्रोतारः सर्पविद्याया व्याख्यानम्। षष्ठे दिने कुबेरो वैश्रवणो राजा, तत्प्रजानां रक्षसां प्रतिनिधिभूताः पापकृतः सेलगाः (सेलं गायन्ति ये) श्रोतारः, देवजनविद्याया व्याख्यानम्। सप्तमे दिने असितो धान्वो राजा, तत्प्रजानाम् असुराणां प्रतिनिधिभूताः, कुसीदिनः (कुसीदम्—ऋणरूपेण दत्तानां रूप्यकादीनां वृद्धिं 'ब्याज', इति 'सूद' इति च प्रसिद्धं ये उपजीवन्ति) श्रोतारः मायाप्रतिपादकस्य वेदस्य व्याख्यानम्। अथाष्टमे दिने मत्स्यः साम्मदो राजा, तत्प्रजानामुदकेचराणां मत्स्यानां प्रतिनिधिभूता मत्स्याश्च मत्स्यघातकाश्च श्रोतारः इतिहासस्य व्याख्यानम्। नवमे दिने तार्क्ष्यो (गरुडः) वैपश्यतो राजा, तत्प्रजानां पक्षिणां प्रतिनिधिभूताः पक्षिणश्च पक्षिविद्यावेत्तारश्च श्रोतारः पुराणस्य व्याख्यानम्। दशमे तु दिने धर्म इन्द्रो राजा, तत्प्रजानां देवानां प्रतिनिधिभूताः प्रतिग्रहवर्जिताः श्रोत्रियाः श्रोतारः साम्नां व्याख्यानमिति। एवं वेदमध्ये व्याख्यानविधानात् "वेदः सोऽयम्" इति स्पष्टं श्रवणाच्च वेदत्वमितिहासपुराणयोरत्र स्पष्टमुक्तम्। उभे चेतिहासपुराणे अशिक्षितप्रायाणामवरजातीयानामनर्हकर्मरतानामपि चोद्धारके इत्यपि श्रोतृविवरणेन व्यञ्जितम्। अनेनैव श्रोतृविवरणेन न प्रसिद्धवेदभागावितिहासपुराणे अपि । ततः पृथगेव वेदपदबोधनीये वेदवदभ्यर्हणीये चेत्यपि स्फुटं व्यञ्जितम्। तत एव वेदानधिकृतानामपि श्रोतृतया इहोपस्थापनम्। वेदज्ञानामृत्विग्यजमानादीनामपि च तच्छ्रवणविधानमित्युभयोपकारकत्वमनयोरितिहासपुराणयोर्व्याख्यातं भवति ॥

तदित्थं ब्राह्मणेषु बहुत्र पञ्चमवेदत्वमितिहासपुराणयोः स्फुटमाम्नातमिति प्रदर्शितम्। न हि ब्राह्मणानि चतुर्णामेव वेदानामन्तर्भूतानि स्वस्यैव पञ्चमत्वमाचक्षीरन्निति ब्राह्मणेभ्यः पृथगेवेतिहासपुराणयोः सत्त्वमेभिः प्रमाणैः साधितं भवति, वेदवदभ्यर्हितत्वञ्च पुराणेतिहासयोः ॥

मन्त्रे च पुराणेतिहासयोरपि वेदैः सहैव परमात्मन उद्भव आम्नायते—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥ (अथर्व० ११।७।२४)

अत्र उद् ऊर्ध्वम् अर्थात् सर्वेषां भूतभौतिकानामवसाने, शिष्ट उर्वरितः परमात्मा, तस्मादुच्छिष्टात् परमात्मनः ऋगाद्याः सर्वेऽप्युत्पद्यन्ते—इति श्रीसायणाचार्यप्रभृतयो व्याख्यातम् । वैज्ञानिकास्सम्प्रदायवादिन इत्थं वदन्ति—यावत्कियदपि पदार्थं परमः पुरुषः परात्मा व्याप्य तस्मिन्ननुप्रविष्ट इति यावत्—ततो ज्यायान् यतो यदा विच्छिद्यते तदा स 'उच्छिष्ट' इत्युच्यते । यथा ग्रीष्मे धूमावृतस्थलेषु प्रस्तरादिष्वनुगतोऽप्युष्णत्वरूपः सूर्ये इन्धनाद्विच्छिन्नस्तस्मिन् प्रस्तरादावेव स्थितो भवति, तत एव अस्तङ्गतेऽपि सूर्ये तस्मात् प्रस्तरादौ ऊष्मानुभूयते । यदि तु सोऽस्तमितः सर्वतस्तस्माद्विच्छिन्नो न स्यात् तदा सूर्येण सहैव गच्छेदिति कथं प्रस्तरादावूष्मानुभवः स्यात् । सोऽयं भाग ऋग्वेदपरिभाषया 'मन्युः' इत्युच्यते, आथर्वणे च 'उच्छिष्ट' इति परिभाषितः । सतद्वेत्थमत्र सन्ति—स्वरूपाख्ये द्वे जगतो मूलतत्त्वे—ब्रह्ममायाऽपरपदाभिधेये । तत्र रसो विभुर्नित्यः, बलं तु परिच्छिन्नमपि विनश्वरमपि च सन्तानानन्त्यात् व्याप्तिमत् प्रवाहनित्यं च, तादृग्व्याप्तबलोऽपि परिच्छिन्न इवाभाति । तत एव च निर्मिमाणत्वाद् बलं मायेत्युच्यते । तस्मिन् परिच्छिन्ने मायाख्ये महाबले यावान् रसभागोऽनुप्रविष्टो भवति—ब्रह्मादिविश्वाख्यभागः, स पूर्वोक्तेन प्रकारेण मन्युः मूलस्य उच्छिष्टश्च परिभाष्यते । स एव च भवति सर्वजगदुपादानम्—इति तस्मादेव सर्वा सृष्टिराथर्वणे समाम्नाता । अत्र पुरुषसूक्तसंवादोऽपि—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ इति ॥

अनेनैव प्रकृतविचारेण । पुराणानां वेदैः सह तस्मादेव सर्वजगन्मूलात् उत्पत्तिरिति स्पष्टमेव मन्ये । अत्र च नान्यविशेषणत्वेनोक्तः स्वतन्त्रः पुराणशब्दः पुरातनविद्याया एवाभिधायक इति नात्र सन्देहावसरः । बृहदारण्यकोपनिषद्यपि—

"स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ।" (बृह० २।४।१०) इति महतो भूतस्य परमात्मनो निःश्वसितत्वेन वेदाः पुराणानि चाख्यातानि । अयमत्राभिप्रायः—यथास्मद्देहशरीरे द्विविधा श्वासक्रिया समुपलभ्यते—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।

कृतिजन्य भवेत्कर्म—

इति न्यायशास्त्रोक्तप्रक्रियया जायमाना प्रथमा । पुरुष प्रथममिन्द्रियादिभि स्वप्रतिकूल दृष्टा या मशक वा पुरुषान्तरमेव वा प्रहरन्त जानाति, ततश्च निवारयेयमेनमिति वा पलायेयम् इति वा इच्छति, इच्छयाऽऽत्मनि यत्न प्रादुर्भवति, प्रयत्नवदात्मप्रेरणाच्च हस्ते पादे वा क्रिया भवति, यया दृष्टादिक पुरुषान्तर वा निवारयति तत पलायितोऽन्यत्र वा गच्छतीति क्रम सर्वत्रानु भूयते । अपरा स्तु क्रिया अनिच्छाकृता एव भवन्ति—यथा हृत्कम्प, नेत्रनिमी लनम्, श्वासनिर्गमश्चेत्याद्या । न हि वय स्वेच्छया प्रयत्नमुत्थाप्य श्वास दिक प्रेरयाम, अबुद्धिपूर्वकमेव तु सतत क्रमेण ता क्रिया स्वभावात् प्रवर्तन्ते । तथैव परमात्मनोऽपि स्वभावादेव वेदपुराणादिक प्रादुर्भवति—न तु बुद्धिपूर्वक तदुत्पादयत इति नि श्वासशब्दाशयेन प्रयत्नानन्यत्वरूपापौरुषेयत्व च वेदपुराणादी नामाभिव्यञ्जितम् । नहीश्वरस्यापि वेदपुराणाद्युत्पादने स्वातन्त्र्यम्, अपि तु नि श्वासवदेव तानि स्वभावतस्तस्मात्प्रादुर्भवन्ति इति । यथा च नि श्वासैरेव शरीरस्यात्माधिष्ठितत्वपरिचय, सर्वथा नि श्वासनिरोधे हि मृत इत्येवोच्यतेऽ लि , तथैव ब्रह्माण्डस्येश्वरशरीरभूतस्य वेदपुराणादिभिरेवेश्वराधिष्ठितत्वनिश्चय । यदि नामाभिव्यन् वेदा पुराणानि वा, न तर्हि कनाप्येतदधिष्ठाता परमेश्वर प्रत्यभ्यज्ञास्यत । वेदपुराणादिभिरेवेश्वर प्रत्याय्यते । तदुक्त भगवता व्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु—'शास्त्रयोनित्वात्' । (१।१।३) इति ॥

जगज्जन्मादिकर्तृ ब्रह्मेति शास्त्रेणैव प्रत्याय्यतेऽयमर्थ ।

यत्तु केचिदाहुरित्थ—उपात्तेय श्रुतिर्बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमैत्रे यीसवादे समुपलभ्यते, तत्र च जीवात्मैवोपक्रान्त 'न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति' इत्यादिना । ततश्चाथ महतो भूतस्येति प्रकान्तो जीवात्मैव ग्रहीतव्य इति नैतया श्रुत्या परमात्मन सकाशाद् उत्पत्तिर्वेदपुराणादीनां सिध्यति इति । तदेतद्वाक्यान्वयाधि करणेन भगवता व्यासेनैव ब्रह्मसूत्रेषु समाहितम् । जीवात्माभेदेनैवात्र परमात्मान ग्राहयितु प्रवृत्तो भगवान् याज्ञवल्क्य प्रथम लौकिकाय जीवात्मानमेव प्रियतास्प दत्वेन ग्राहयित्वा तदभिन्नतयैव परमात्मनो दर्शन विधत्ते । तत एव 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इति । 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम्' इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञामुपनिषद्ध्यधिष्ठानमन्ववदत् । तेन च सर्वजगन्मूलभूतस्य परमात्मन एवात्र ज्ञेयत्वेनोपक्षेप इति स्फुटीभवति । मूलकारणस्य विज्ञानेनैव सर्वविज्ञानसम्भवात् । इद सर्वं यदयमात्मा इति च वदन्

सर्वात्मभूत परमात्मैवात्र वेदनयोपदिष्ट इति स्फुटीचकार । तदग्रे महद् भूतपदाभ्यां तमेव स्मारयित्वा तस्मात् सर्वस्याप्युत्पत्तिमभिदधे — इति सुस्फुटोऽयमर्थः । ये तु जीवात्मनः परमात्मना सहाद्वैतभाव न सहन्ते, तेषां दुरभिलप्येव श्रुतिरियं यन्त्यदेतत् ।

यदपि केचिदाहु —"इतिहास पुराण विद्योपनिषत् श्लोक सूत्रव्याख्यानादिकं सर्वमिदं ब्राह्मणभागस्यान्तर्गतमिह ग्राह्यम्, अतः प्रागवस्थाप्रतिपादकं 'नैव वा किञ्चिदग्र आसीत्' इत्यादि ब्राह्मणभाग एव पुराणम् । 'देवासुरा संयत्ता आसन्' इत्याद्यश्चेतिहासा " इत्यादि, तदपीदं न विवेकबुद्धिग्राह्यम् । इह हि उपदर्शितायां बृहदारण्यकश्रुतौ 'ऋच' 'यजूंषि' 'सामानि' इति नोपात्तम् अपि तु 'ऋग्वेद' 'यजुर्वेद' सामवेद' इत्युपात्तम् । 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (मी० सू० २ । १ । ३५) इत्यादिजैमिनिसूत्रोक्तेऽत्र ऋक्पदेन पद्यान्येव गृहीतुमुचितानि । सामपदेन गीतय एव, यजुःपदेन गद्यान्येव । ऋग्वेदपदेन तु ऋक्प्रधानः सर्वोऽपि संहिताब्राह्मणात्मक ऋग्वेद इति प्रसिद्ध शब्दो ग्राह्य । तथैव च सामवेदयजुर्वेदपदाभ्यामित्यपरिर विद्वत्परम्परागता शब्दार्थ व्यवस्थिति ॥

तथा च ब्राह्मणानामृग्वेदादिपदैरेव सङ्गृहीतत्वात् पुनरितिहासपुराणग्रहणम पार्थक्यमेव । तथैव च उदाहृतपूर्वायां छान्दोग्यश्रुतावपि ऋग्वेदादिपदानि सङ्कीर्त्य इतिहासपुराणमित्यस्य विशेषेण पञ्चमम् इत्यपि श्रूयते । यदि नाम ब्राह्मणानामेव केचन भागा इतिहासपुराणशब्दाभ्यां विवक्षिता स्युः, तर्हि पञ्चमपदेन ते भागाः कथं सङ्गृहीरन् ? तत्र हि विद्यागणना वा प्रस्तुता, ग्रन्थगणना वेति तावद्विचार्यम् । तत्रादितः एव विद्यागणना चेन्मन्येत, ऋग्वेदाद्युपादानं तर्हि नान्वियात्, न हि ऋग्वेद इति यजुर्वेद इति वा कापि विद्या प्रसिध्यति । बह्वीनां विद्यानां तत्र तदन्तर्भावात् । तस्मात् 'पञ्चमम्' इति पर्यन्तम् ग्रन्थगणनैवाभिप्रेतेत्यकामेनाप्यवश्यं स्वीकर्तुमुचितं स्यात् । अत एव च अथर्ववेदस्य चतुर्थत्वेन पृथग्गणनापि युक्तिमती । अन्यथा यजूंषि इत्यादिरूपेण चेदपरिगण्यते, न तर्हि आथर्वणं चतुर्थमिति वक्तव्यं स्यात् । ऋगादिपदेन तद्भागानामपि सङ्गृहीतत्वात् । अनन्तरन्तु भवतु विद्यागणना स्फुटम्, तत्र तत्तद्वाचकपदाभ्रणात्, विद्याशब्दस्य स्पष्टं श्रवणाच्च । एतश्च ग्रन्थगणनायामितिहासपुराणमिति पुराणविद्याप्रतिपादको ग्रन्थ एवोक्तः न तु ब्राह्मणेषु तत्र तत्रोपलभ्यमानास्ते भागा इत्येव युक्तमभ्युपगन्तुम्, बृहदारण्यकश्रुतावपि तुल्यन्यायात्तथैव । यथा चेतिहासपुराणमिति शब्दौ विद्यावाचकौ ग्रन्थेऽपि प्रवर्तेते, तथाप्रिमेषु प्रकरणेषु सुस्फुटं स्यात् । श्रीशङ्कराचार्या अपि ब्रह्मसूत्रभाष्ये देवताधिकरणे 'ज्योतिषभावाच्च" इति सूत्रस्य भाष्ये "इतिहास

पुराणमपि पौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरं मूलमाकाङ्क्षते" इति पूर्वपक्षे इतिहासपुराणयो-र्वेदातिरिक्तता स्पष्टमुक्त्वा तत्प्रामाण्ये च संशयं प्रदर्श्य सिद्धान्तपक्षे "मावं बादरायणेऽस्ति हि' इति सूत्रभाष्ये ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं शक्यम्। तस्मात् समूलमितिहासपुराणम्" इत्युक्तम्। तेनेतिहासपुराणानां वेदातिरिक्तत्वेऽपि आर्षत्वं प्रामाण्यं च स्पष्टमुक्तम्। तदेवमितिहासपुराणानां वेदातिरिक्तत्वे सिद्धे तन्मूलभूतमितिहासपुराणं वेदेभ्यः पृथगेव सिध्यति। किं च ब्राह्मणभागा एव यदि इतिहासादयस्तैस्तैः पदैः श्रुतिषु निर्दिष्टनामभिः परिगृहीताः तर्हि, ब्राह्मणानां मुख्यो भागः कर्मविधिर्नाम केन शब्देन गृहीत इति विमृश्यं स्यात्। किं सर्वा विद्या अधिगतवतापि नारदेन कर्मभागो नाधीतः? बृहदारण्यके वा तस्य परमात्मनः उत्पत्ति-र्नाम्नाता? अन्ये पुराणाद्या ब्राह्मणभागा महतो भूतान्निःश्वसितरूपेणोत्पन्नाः मुख्यो ब्राह्मणभागः कर्मविधिरूपश्च न महतो भूतादुत्पन्न इति अत्यद्भुतमनुन्मत्त-कः श्रद्दधीत? विद्यासूत्रव्याख्यानादिपदेषु तद्ग्रहमिति ब्रूयुश्चेत्, ननु विलक्षणेयं पदावलिर्यद् ब्राह्मणेष्वप्राधान्येन यत्र कुत्रचिदुपलभ्यमानाः पुराणादिभागाः स्वशब्दै-रुच्चार्यन्ते। मुख्यतमो विधिभागस्तु कथञ्चिद्गौणरूपेण केनचिच्छब्देन, एतावान् मद्देशलम्भनतां नारदयाज्ञवल्क्यादीनाम् वचने न शब्दं नोच्चारयन्ति इति तस्मा-दृग्वेदादिपदैरेव मन्त्रब्राह्मणात्मकास्ते ते वेदा इह गृहीताः। अग्रे चाम्नाता इतिहासपुराणाद्या ब्राह्मणेभ्यः पृथगेवेत्यर्थः, स्फुटतरं स्वीकार्यः। यत्तु केचन वेदमन्त्रभागस्यानादितामुद्घोषयन्तोऽपि 'यज्ञनिष्ठापरो मन्त्राणामर्थः पश्चात् प्रवृत्त' इति साधयितुं सङ्क्रामन्ति तेषां मते—

> 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
> गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
> ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्
> यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥ (ऋ॰ १०।७१।११)

इत्यादिना स्पष्टं यज्ञे ऋत्विक्कार्यविभागप्रतिपादकानां निरुक्ते च तथैव व्याख्या-तानां मन्त्राणां कः प्रामाणिकोऽर्थः स्यात्? यजुःसंहितापूर्वविंशतिकाध्यायस्य यज्ञ-विनियोगक्रमेणैव सङ्घटितायाः का सङ्गतिश्च? किं च 'मन्त्रात्मकान् वेदान् समु-दिश्य तदर्थग्रहणेऽशक्तान् जनान् ईश्वर एव तदर्थं ग्राहयामास, तानि मन्त्र-व्याख्यानरूपाणि ब्राह्मणानि' इति स्वनिबन्धे श्रीस्वामिदयानन्देनाप्युक्तम्। ब्राह्मणेषु च कर्मबोधपराण्येव व्याख्यानानि मन्त्राणामुपलभ्यन्त इतीश्वरबोधितादप्यर्थात् प्राक् का व्याख्या संभवेत्? ननु भोः श्लोकाः एतानि व्याख्यानानि अनु-व्याख्यानानि इत्यादावपि तर्हि परमात्मन आविर्भूतमनादित्वं स्वीकर्तुमापद्येदिति चेत्

वादम्। अनतिशङ्कनीया भगवती श्रुतिरिति श्लोकसूत्रव्याख्यानादिकमपि मूलभूत-मनाद्यभ्युपगन्तव्यमेव। यथा त्विदानीं पुराणेतिहासा व्यासेन रूपान्तरीकृता एव अस्माभिरुपलभ्यन्ते, तथा श्लोकसूत्रादिकमपि मूलभूतमनादि नोपलभ्यते, तैस्तैर्मुनिभी रूपान्तरतां प्रापितमेव तु लभ्यत इत्येव स्वारसिकः सिद्धान्तः स्वीकरणीयः स्यात्, गत्यन्तराभावात्। अत एव च "इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः, सरहस्याः, सब्राह्मणाः, सोपनिषत्काः, सेतिहासाः, सव्याख्यानाः, सपुराणाः, ससंस्काराः, सनिरुक्ताः, सानुशासनाः, सानुमार्जनाः, सवाकोवाक्याः", इति (गोपथ० पूर्वभाग० प्रपा० २ १ का० १) इति गोपथश्रुतिरप्युपपद्यते। इह हि स्फुटमेव ब्राह्मणेभ्यः पृथक्कृत्य पुराणेतिहासादीनि कल्पव्याख्यानादीनि चोपात्तानि। ब्राह्मणवसिष्ठन्यायाश्रयणं त्वगतिकगतिः। तस्मात् सर्वाण्येतानि वेदवदनादीन्यासन् पूर्वयुगे, इदानीं तु मन्त्रब्राह्मणोपनिषदात्मका वेदा एव स्वस्वरूपे सुरक्षिता अध्ययनपरम्परया द्विजैः। अन्यानि तु कालपर्ययेण रूपान्तरता-मेवापद्यमानानि उपलभ्यन्ते, न तु अनादिरूपे इत्येव स्पष्टं फलति—इत्यलं विस्तरेण। तदित्थं पुराणानां पञ्चमवेदत्वमीश्वरनिःश्वसितत्वमनादित्वं च श्रुतिभिरेव प्रतिपाद्यत इति किमतः परं तन्महत्त्वमनुकीर्तनीयं स्यात्॥

पुराण-लक्षणानि

अथ पुराणविद्यायां प्राधान्येन के के विषया अन्तर्भवन्ति, के वा तत्राप्राधान्येन संगृह्यन्त इत्यादि पुराणाधारेणैव निरूपणीयम्। तत्र प्रायेण सर्वेषु पुराणेषु पञ्चलक्षणानि पुराणस्य व्याख्यातानि, पञ्चविषयाः प्राधान्येन पुराणविद्यायामन्तर्भवन्तीति तत्तात्पर्यम्। तैरेव विषयं लक्ष्यते-विज्ञायते इति तानि लक्षणानि। तानि च विद्यास्वरूपान्तर्गतानीति स्वरूपलक्षणानि बोद्धव्यानि।

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

लक्षणमिद किञ्चित्पाठभेदेन ऐक्यरूप्येण वा विष्णुपुराणे (३ अंशे, ६ अ०, श्लो० २४), मार्कण्डेयपुराणे (अ० १३४ श्लो० १३), अग्निपुराणे (अ० १, श्लो० १४), भविष्यपुराणे (अ० २, श्लो० ५), ब्रह्मवैवर्तपुराणे (अ० १३३, श्लो० ६), वराहपुराणे (अ० २, श्लो० ४), स्कन्दपुराणे (प्रभासखण्डे अ० २, श्लो० ८४), कूर्मपुराणे (पूर्व०, अ० १, श्लो० १२), मत्स्यपुराणे (अ० ५३, श्लो० ६४), गरुडपुराणे (आचारकाण्डे अ० २, श्लो० २८), ब्रह्माण्डपुराणे (पूर्वभागे अ० १, श्लो० ३८), शिवपुराणे (वायवीय सं०, अ० १, श्लो० ४१), देवीभागवते तथा अन्यत्रान्यत्रापि च लभ्यते। सर्गो नाम सृष्टि, जगत उत्पत्तिः; प्रतिसर्गो नाम दृश्यमानस्यास्य सर्वस्य समये समये प्रलयः; वंशः—उपादानभूतानां तत्त्वानाम्, देवादीनाम्, मनुष्याणां च उत्पत्तिपरम्परा; वंश्यानुचरितम्—तत्तद्वंशभवानां तत्तेषां विषये यद्विशिष्य वक्तव्यं तद्विवरणम् (अत्रैव तत्तन्मनुष्यवंशप्रसूतानां महर्षीणां राज्ञां च चरितान्यपि समाविष्टानि); मन्वन्तरम्—सृष्ट्यादीनां कालव्यवस्थापनम्—इति सामान्येन शब्दानामेषां विवरणमपि तत्र तत्र प्राप्यते। क्वचित् प्रतिसर्गपदेन आदिसृष्टेरनन्तरं जायमाना अवान्तरसृष्टिरपि व्याख्यायते, प्रलयस्तु सृष्टिप्रातिलोम्येन व्यवस्थापनीय इति तदाशयः। अत्रार्थे प्रतिसर्गपदस्थाने विसर्गपदं केचिन्निवेशयन्ति। वंश्यानुचरितस्थाने वंशानुचरितमिति बहुत्र पाठः। तत्र वंशभवानामनुचरितमिति मध्यमपदलोपी समास आश्रयणीयः, वंशे भवानां चरितं वंश्य एव समारोप्य वा व्याख्येयम्।

अत्र लक्षणे कुत्र कुत्र कस्य कस्य विषयस्य समावेश इत्यपि तत्र तत्र विवृतम्, यथा विष्णुपुराणे आरम्भ एव प्रश्नमुखेन विवरणम्—

सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत् ।
बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति ॥
यन्मयं च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम् ।
लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च ॥
यत्प्रमाणानि भूतानि देवादीनां च सम्भवम् ।
समुद्रपर्वतानां च संस्थानं च यथा भुवः ॥
सूर्यादीनां च संस्थानं प्रमाणं मुनिसत्तम ।
देवादीनां तथा वंशान्मनून् मन्वन्तराणि च ॥
कल्पान् कल्पविभागांश्च चातुर्युगविकल्पितान् ।
कल्पान्तस्य स्वरूपं च युगधर्मांश्च कृत्स्नशः ॥
देवर्षिपार्थिवानां च चरितं यन्महामुने ।
वेदशाखाप्रणयनं यथावद् व्यासकर्तृकम् ॥
धर्मांश्च ब्राह्मणादीनां तथा चाश्रमवासिनाम् ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं त्वत्तो वासिष्ठनन्दन ॥
(विष्णुपुराण १ अ०, १ अ०, ४-१० श्लो०)

अत्र "यत्प्रमाणानि भूतानि, देवादीनां सम्भवं, समुद्रपर्वतानां भुवश्च संस्थानम्, सूर्यादीनां संस्थानमिति सर्वं सर्गेऽन्तर्भवति । देवादीनां यथा, वंशो, कल्पान्, कल्पविभागानित्यादि सर्वं, युगधर्मांश्च मन्वन्तरप्रकरणे, देवर्षिपार्थिवादीनां चरितं वंश्यानुचरिते, वेदशाखाविभागकरणादपि च तत्रैवान्तर्भाव्यम् । वायुपुराणे चापि—

पुराणवेदो ह्यखिलस्तस्मिन् सम्यक् प्रतिष्ठितः ।
भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी ॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थी कथा यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
एका सुपरिभाषा च भूमावोषधयो यथा ॥ (अ० १।१८,१९)

एवमादि विस्ताररूपेणैवोक्तम् । श्रीमद्भागवते ब्रह्मवैवर्ते च पुराणानां दशलक्षणानि वर्ण्यन्ते । तत्र श्रीमद्भागवते यथा—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥
भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥
(द्वितीयस्कन्धे १० अ०, १-७)

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥
अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥
निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥
आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥

श्रीमद्भागवत एव द्वादशे स्कन्धे सप्तमेऽध्याये अष्टम श्लोकमारभ्य किंचिद्भेदेन दशलक्षणानि परिगण्यन्ते—

पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः ॥
सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंश्यानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ॥
अव्याकृतगुणक्षोभान् महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां संभवः सर्ग उच्यते ॥
पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ॥
वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥
रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥
मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः ।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥
राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
वंश्यानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ॥
नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धास्य स्वभावतः ॥
हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः ।
यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥

व्यतिरेकान्वयौ यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रय ॥
एवंलक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविद ।
मुनयोऽष्टादश प्राहु क्षुल्लकानि महान्ति च ॥

ब्रह्मवैवर्तेऽप्येतानि दशलक्षणानि शब्दान्तरैरुच्यन्ते —

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं विप्र पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥
एतदुपपुराणानां लक्षणं च विदुर्बुधा ।
महतां च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते ॥
सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषां च पालनम् ।
कर्मणां वासना वार्ता मनूनां च क्रमेण च ॥
वर्णनं प्रलयानां च मोक्षस्य च निरूपणम् ।
उत्कीर्तनं हरेरेव देवानां च पृथक् पृथक् ॥
दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम् ।

(कृष्णखण्डे १२ अ०, ६–११ श्लोक)

तत्रैतस्मिन् विचार्यमाणे त्रिषु स्थानेषु दशानां लक्षणानामुक्तौ शब्दभेद एव, नाभिप्रायभेद । श्रीमद्भागवते द्वादशे स्कन्धे, सर्ग १, विसर्ग २, वृत्ति ३, रक्षा ४, अन्तराणि ५, वंश ६, वंशानुचरितम् ७, संस्था ८, हेतु ९, अपाश्रय १०, इति लक्षणान्युक्तानि । द्वितीये स्कन्धे तु सर्ग, विसर्ग, इति द्वौ समानौ शब्दौ, अन्तराणीत्यस्य स्थाने स्पष्टीकृत्य 'मन्वन्तर' इति पदं निवेशितम्, अपाश्रयस्थाने च आश्रय एवोक्त । हेतु —जीवस्य संसारप्राप्तिहेतु अविद्याकर्मादिकं यत्, यत् स्थाने तत्र ऊतिपदं निवेशितम्, 'ऊतय कर्मवासना' इति स्पष्टीकृतमेव । एवं पञ्चानां साम्यम् । अनन्तरं वंश वंशानुचरिते ईशानुकथापदेन गृहीते 'हरे, अस्यानुवर्तिनां च कथा—इति श्रुतिराजादिचरितानामपि संग्रहस्य तत्र स्पष्टमुक्तत्वात्, वंशमन्तरेण वंशानुचरितकथनस्यासामञ्जस्येन वंशस्य वंशानुचरित एवान्तर्भाव । संस्थापदेन चतुर्विधं प्रलयो द्वादशे स्कन्धे संगृहीत, तत्र वैलक्षण्यं बोधयितुमात्यन्तिकरूपस्य मुक्तिर्द्वितीये पृथगुपात्ता, निरोधश्च नैमित्तिकप्राकृतिकप्रलयरूप पृथग् बोधित । द्वादशे रक्षापदेन अवतारकथाबोधकम् अनुग्रहरूपं पोषणमपि संगृहीतमासीत्, द्वितीये तु ईशानुकथा, पोषणं चेति पृथक् कृत्योक्तम् । एवं द्वयस्यान्तर्भावे, द्वयस्य पृथक्करणेऽपि नव लक्षणानि सम्पन्नानि । द्वादशे च वृत्तिशब्देन भूतानां परस्परोपमर्देन जीवनरूपा या स्थितिरुक्ता, सा द्वितीये स्थानपदेन समुपात्ता । स्थानं स्थिति "वैकुण्ठविजय' इति यदुक्तम् तस्यायमेवाशयो यत्पालकस्य विष्णोर्वैकुण्ठपदाभिधेयस्यायमेव

विसर्गः—स्वकार्यसाधकत्वा यद्भूतानि परस्परमक्षणादभावेन जीवन्तीति। एवं भागवतोक्तानां दशानां लक्षणानां सामञ्जस्यम्। ब्रह्मवैवर्तेऽपि सृष्टिः १, विसृष्टिः २, स्थितिः ३, कर्मणां वासना ४, मनूनां वार्ताः ५, प्रलयानां वर्णनम् ६, मोक्षस्य निरूपणम् ७, इति सप्त लक्षणानि समान्येन। हरेः कीर्तनम्—इति आश्रय-पोषणं च तत्रैव संगृहीतम्। वेदानां च पृथक्पृथगिति ईशानुकथा बोधिता क्रमेण अक्रमेण वा वार्तेति वंशानुचरितं पृथक्कृत्योक्तमिति शब्दान्तरेण तान्येव दशलक्षणान्युपात्तानि।

वस्तुतस्तु इमानि दश पञ्चानामेव विस्तारमात्रम्। सर्गः, प्रतिसर्गः (प्रलयः तस्या), वंशः, वंशानुचरितम्, मन्वन्तराणीति पञ्च लक्षणानि श्रीमद्भागवतस्य द्वादशे स्कन्धे स्वशब्देनैवोपात्तानि। अन्यत्र यथा संग्रहान्ते तयोक्तान्येव। अवशिष्टेषु पञ्चसु विसर्गः खलु सर्गस्यैवावान्तरो भेदः, आश्रयशब्देनोक्तश्च ईश्वरश्च सर्गकर्तृत्वेन, हेतुरित्यूतिरिति वा समाख्याता कर्मवासना च सर्गहेतुत्वेन सर्गे एवान्तर्भावमर्हतः। वृत्तिरिति स्थानमिति वाभिसंहितः परस्परमुपमर्दोपमर्दकभावः वंशानुचरिते स्फुटमन्तर्भवत्येव। ईशानुकथा पोषणं च रक्षा वापि वंशानुचरित एवान्तर्भवन्ति, अवताराणां वंशविशेष एव प्रादुर्भावात्, वंशानुचरितपदेन अवतारचरितानामपि संगृहीतत्वात्। तस्मात् पञ्चानां प्रपञ्च एव दशलक्षणानीति नात्र परस्परं कोऽपि विरोधः। केवलमीश्वरतत्त्वप्राधान्यबोधनाय पृथक्कृत्य भागवतादौ तानि प्रोक्तानि।

प्रत्येकं हि शास्त्राणां मुख्यप्रतिपाद्याः प्रातिस्विका विषयाः पृथक् पृथक् भवन्ति। यद्यपि प्रासङ्गिका अन्यदीया विषया अपि तत्रापतन्ति। यथा धर्मशास्त्रे मनुस्मृत्यादावपि सृष्टिप्रक्रिया, आध्यात्मिका दार्शनिकाश्चापि विषयाः प्रसङ्गेन सन्ति निरूपिताः। दर्शनेष्वपि चास्ति धर्मनिरूपः प्रासङ्गिकः। तत्तच्छास्त्रलक्षणे क्रियमाणे तु तत्तस्य प्रातिस्विको विषयः स एव लक्षणत्वेन निरूपणीयो भवति। सर्गादयः पञ्चैव च पुराणानां प्रातिस्विका विषयाः, एषामन्यत्र स्पष्टमनुल्लेखात्, कर्म, वासना, ईश्वरः इत्याद्यास्तु विषया न पुराणानां प्रातिस्विकाः, तेषां वेदेषु दर्शनेषु उपासनाग्रन्थेषु धर्मशास्त्रेष्वपि च विस्तरेण प्रतिपादनात्। एवन्तु नास्ति विद्यासु स कोऽपि विषयः, यः पुराणेषु न संगृहीतो भवेत्, परं सर्वेऽपि ते विषयाः पुराणानां लक्षणानि न भवन्ति। प्रातिस्विका एव तु सर्गाद्या विषया लक्षणत्वेन निरूपयितुमुचिता इति त एव सर्वत्र पुराणलक्षणत्वेन निरूप्यन्ते। श्रीमद्भागवतस्य तु प्रादुर्भाव एव भागवतान् धर्मान् व्याख्यातुमिति तदुपक्रम एव स्पष्टम्। तस्माज्जगदीश्वरो भगवानेव

तत्र मुख्यं प्रतिपाद्यं, अन्येषां निरूपणं तु केवलमीश्वरस्वरूपपरिज्ञानायेति—

'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्'

इति तत्र स्पष्टमुक्तम्। मुक्तिरेव तत्र मुख्यतया साध्या, सा च जगदीश्वरानुग्रहमन्तरेण नावाप्येति मुक्तिपोषणादीनामपि मुख्यतया कथनं तत्र युक्तमेव। न तु सर्वेषु पुराणेष्वेषा मुख्यता, तथा सति—

"त्वया भागवता धर्मा प्रायेण न निरूपिताः"

इति नारदस्य व्यासं प्रति कथनमसमञ्जसं स्यात्। यद्यपि ईश्वरस्य ईश्वरभक्त्यादेश्च निरूपणमन्यत्रापि पुराणेषु सुविस्तरं प्राप्यत एव, विशिष्य च महाभारते, तथापि पुराणान्तरेषु मुख्यप्रतिपाद्यं सृष्ट्यादिकमेव, महाभारते च भरतवंश्यानामितिहास एव मुख्यं प्रतिपाद्यं इतीश्वरस्य तद्भक्तेस्तद्धर्माणां च निरूपणं तत्र तत्राप्राधान्येन, भागवते तु प्राधान्येनेति भागवते स्फुटमभिमन्यते। तत एव तत्रेश्वरप्रधानानां दशानां लक्षणानां विवरणं कृतम्।

दशलक्षणरहस्यम्

तत्रापि दशलक्षणकथने रहस्यमिदं प्रतीयते—

"जन्माद्यस्य यतः"

इत्यादिना जगतो जन्मस्थितिसंहारकर्तृत्वमीश्वरलक्षणमभिहितम्—आम्नातं च तदेव श्रुतिषु—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत्र जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति।

आगमिकप्रत्यभिज्ञादर्शने तु परमशिवपदाभिधेयस्य परमेश्वरस्य पञ्चकृत्यकारित्वं प्रतिपादितम्, तानि च पञ्चकृत्यानि, सृष्टिः, स्थितिः, संहारः, विलयनम् (निग्रहः), अनुग्रह इति। अत्र त्रीणि कृत्यानि पूर्वोक्तानि श्रौतान्येव, जीवस्य बन्धप्रापणम्, अनुग्रहेण मोचनं चेति द्वयमधिकमुक्तम्। तान्येतानि पञ्च भगवत्कृत्यानि लक्षणरूपेण श्रीमद्भागवते द्वितीये स्कन्धे सर्गः, स्थानम्, निरोधः, विसर्गः, पोषणम्, इति शब्दैरभिहितानि। विसर्गपदेन पौरुषसर्गस्योक्ततया निग्रहेण जीवभावप्रापणस्यैवाभिसंहितत्वात्। पोषणपदेनानुग्रहस्तु स्पष्टं तत्रोक्त एव। अथास्य पञ्चकृत्यकारिणः परमेश्वरस्य द्वे रूपे—तत्र उपास्यमनुग्राहकं रूपम् आश्रयपदेन, जगत्परिचालकं च कालरूपम् मन्वन्तरपदेन संगृहीतम्। तदित्थमीश्वरसम्बन्धेन सप्त लक्षणानि व्याख्यातानि। निगृहीतस्य जीवभावं गमितस्य तु सम्बन्धेन संसारसंपातिका ऊतिः (कर्मवासना) विमोचनसाधिका ईशानुकथा, पोषणफलभूता मुक्तिश्चेति त्रीणि लक्षणान्युक्तानीति दशैतानि जीवेश्वरसम्बन्धेनैव पर्यवस्यन्ति।

तान्येतानि प्राधान्येन भगवन्तमीश्वरम् तदाराधनाधिकारिणं जीवं च प्रकृत्य तन्निरूपणप्रवृत्तस्य श्रीमागवतस्यैव लक्षणानि भवितुमर्हन्ति, न तु पुराणसामान्य-लक्षणानि। तत एव भागवत एवैतानि निरूपितानि, न पुराणान्तरेषु। यत्तु द्वादशे स्कन्धे अष्टादशानां महतां पुराणानामिमानि लक्षणानीत्युक्तम्, तदप्यङ्गेन कथंचित् सर्वत्रैव तन्निरूपणमभिप्रेत्य, पञ्चानामेव विवृतिरूपाणि दशेत्यभिप्रेत्य वेति सम्यगव धार्यम्। ब्रह्मवैवर्तेऽप्येकत्र पञ्चलक्षणान्युक्त्वा परत्र स्वस्य भागवतानुसारित्वम् भिव्यङ्क्तुं दशलक्षणान्यपि तदनुसारीण्युपात्तानि इति कृतं विस्तरेण। एवं देवीभागवतेऽपि पुराणान्तरवत् पुराणानां पञ्चलक्षणान्युक्त्वा सर्गप्रतिसर्गयो किञ्चिद्वैलक्षण्येन विवरणं कृतम्—

> तस्मात्तु सात्त्विकी शक्ती राजसी तामसी तथा।
> महालक्ष्मी सरस्वती महाकालीति ता स्त्रिय ॥ २० ॥
> तासां तिसृणां शक्तीनां देहाङ्गीकारलक्षण।
> सृष्ट्यर्थं च समाख्यातः सर्गः शास्त्रविशारदैः ॥ २१ ॥
> हरिद्रुहिणरुद्राणां समुत्पत्तिस्तत स्मृता।
> पालनोत्पत्तिनाशार्थं प्रतिसर्गः स्मृतो हि स ॥ २२ ॥
> सोमसूर्योद्भवानां च राज्ञां वंशप्रकीर्तनम्।
> हिरण्यकशिप्वादीनां वंशास्ते परिकीर्तिताः ॥ २३ ॥
> स्वायम्भुवमुखानां च मनूनां परिवर्णनम्।
> कालसंख्या तथा तेषां तत्तन्मन्वन्तराणि च ॥ २४ ॥
> तेषां वंशानुकथनं वंशानुचरितं स्मृतम्।
> पञ्चलक्षणयुक्तानि भवन्ति मुनिसत्तमाः ॥ २५ ॥

(१ स्कन्ध १।१८)

अत्र प्रधानरूपा शिवरूपैव या चिच्छक्तिः, तस्याः अंशानां महालक्ष्म्या-दीनामाविर्भावः सर्गपदेन, ताभिः शक्तिभिः शक्तिमतां ब्रह्मविष्णुरुद्राणामाविर्भावनं च प्रतिसर्गपदेनोक्तम्। तदपि तस्य प्रातिस्विकमेव लक्षणं निर्देश्यम्। सर्वेषु पुराणेषु तस्याः प्रक्रियाया अनुपलम्भादिति। तथैव—

> ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च।
> ससंहारश्च प्रदृश्येत पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

(इति स्कन्दपुराणे प्रभासखण्डे २।९४।९५। मात्स्ये च ५३।६४, ६५) यदन्यथाविवरणं दृश्यते तदप्येकदेशिमतम्। एषामपि पञ्चानां पूर्वोक्तेषु पञ्चसु समावेश इति बोधनपरं वा। एवं सर्गादीनि पञ्चलक्षणान्युक्त्वानन्तरमेव कथनादिति।

तदित्थं पुराणसामान्यलक्षणानि सर्गादीनि पञ्चेति स्पष्टीकृतम्। तत्रापि च सर्ग एव मुख्य, अन्यानि तु तत्स्वरूपप्रतिपादकानि तच्छेषभूतानि मन्तव्यानि। तत एव बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पुराणपद व्याचक्षाणै श्रीशङ्करभगवत्पादै 'पुराणमसदा इदमग्र आसीदि'त्यादि (२ अ०, ४ ब्रा०, १० ख०), इति सर्ग एव पुराणानां मुख्य लक्षणमुक्तम्, वदमाध्यकृद्भि श्रीमाधवाचार्यप्रभृतिभि श्रीपोद्घाते तदेवानुसृतम्।

पञ्चसु लक्षणेषु प्रत्येकं पञ्च विधाः

अथ गुरुप्रवरविद्यावाचस्पतिश्रीमधुसूदनझामहाभागचरणैस्तु पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग नामके निबन्धे पुराणलक्षणेषु पञ्चसु प्रत्येकं पञ्चविधत्वमाख्यातम्। तथा हि—

> सृष्टिक्रमो भिन्नमतान्यवतारोऽप्ययायति।
> ब्रह्माण्डमिति सृष्टयो पुराण पञ्चलक्षणम्।

१—सृष्टिप्रथमा षट्पर्वा, २—सृष्टिर्मध्यमा चतुर्विधा, ३—सृष्टिरुत्तरा षड्विधा, ४—सपरायसृष्टि, ५—सृष्टीनामायतनमितिपञ्चविधा सृष्टि।

> शास्त्रावतरण कल्पशुद्धि सृष्टयुपसहृति।
> ज्योतिश्चक्र भुव कोश पञ्चैता प्रतिसृष्टय॥

अत्र अनुसृष्टि प्रलय (सृष्ट्युपसहृति) इति द्वयमपि प्रतिसृष्टिपदेन गृहीतम्। अनुसृष्टेश्चैविस्तारश्चतुर्धा कृत। तत्राख्यानोपाख्यानगाथाकल्पशुद्धिरपि च तस्मिन्नेव लक्षणे संगृहीतानि। तच्चैतदग्रे तैरेव विवृतम्—

> त्रैलोक्यविधविधा ज्योतिश्चक्रं च भुवनकोशश्च।
> प्रासङ्गिकं च यथावगी पुराण तु पञ्चविधम्॥
> आख्यानोपाख्याने गाथा अथ कल्पशुद्धिश्च।
> प्रासङ्गिकं चतुर्धा मनसमाधिप्रसङ्गतोऽधीतम्॥
> श्रौतं स्मार्त सम्यश्चाचारो धर्मभेदास्ते।
> नानोपासनभेदा दर्शनभेदाश्च कल्पशुद्धिरिह॥

तदेव ज्योतिश्चक्रम्, भुवनकोश, शास्त्रानुव्यूह (शास्त्रभेदविवरणम्), कल्पशुद्धि, सृष्ट्युपसंहारश्चेति पञ्चपर्वा प्रतिसृष्टि, तत्र कल्पशुद्धेर्महान् विस्तार।

अथ, वंशवंशानुचरिते अपि पञ्चविधे उक्ते—

> ऋषिवश पितृवश सूर्यचन्द्राग्निवंशका।
> इत्य वंशविभागोऽपि पुराण पञ्चलक्षणम्॥
> ऋषीणां देवयोनीनां राज्ञां सूर्यादि-वंशिनाम्।
> देवासुराणामन्येषां चेदानुचरित स्मृतम्॥

ऋषिचरितम्, देवयोनिचरितम्, सूर्यवंशचरितम्, चन्द्रवंशचरितम्, अग्निवंशचरितम्, इति पञ्चधा वंशानुचरितम्। देवचरितम् असुरचरितं च देवयोनिचरित एव समावेश्यमिति तद्भावः। एवम्—

युग दिव्ययुगं नित्यकल्पः कल्पाश्च सप्त ये।
त्रिंशत्कल्पाश्च कल्पन्ते मन्वन्तरनिरूपणे॥

इति पुराणेषु लभ्यमानाः कल्पभेदा मन्वन्तरप्रकरणे संगृहीताः। तदित्थं पुराणोक्ता विषयाः पञ्चसु लक्षणेष्वेव संगृहीताः, विस्तरश्च पुराणविद्याया इह प्रदर्शितः।

पुराणेष्वतिरिक्ताश्चत्वारो विषयाः

अथ लोकोपयोगितया चत्वारो विषयाः पुराणेषु प्रासङ्गिकतया विशिष्य संगृहीता इत्यपि पुराणेष्वेव प्रतिपाद्यते—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहिता चक्रे पुराणार्थविशारदः॥ इति॥

(विष्णुपु० ३।६।१५, ब्रह्माण्डपु०, पू० भा० ३४।२१)

एतच्च विवृतं विष्णुपुराणस्य श्रीधरीयायां टीकायाम्—

स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥ इति॥

वंशानुक्रमेण यानि चरितान्याख्यायन्ते तानि वंशानुचरिताभिधे गृह्यन्ते, यानि तु तत्र तत्रोपदेशार्थं वंशक्रममनपेक्ष्यैव दृष्टान्तरूपेण पूर्वचरितानि संगृह्यन्ते तानि आख्यानोपाख्यानशब्दाभ्यामत्र संगृहीतानि, यथा महाभारते नलोपाख्यानम्, सावित्र्युपाख्यानम्, मार्कण्डेये मदालसोपाख्यानम्,—इत्यादीनि बहूनि तत्र तत्र द्रष्टव्यानि। तत्रापि वक्त्रा यत्स्वयं दृष्टम् तदाख्यानशब्देन, यत्तु परम्परया श्रुतम् तदुपाख्यानशब्देन ग्राह्यमित्युक्तं श्लोके। केचित्तु वेदोक्तानामाख्यायिकानामनुवादरूपाणि आख्यानानि, स्वकल्पितानि नलादीनां राज्ञां चरितानि तु उपाख्यानानि इत्याहुः। अथापरे एवमाहुः—वंशो वंशानुचरितं चेति द्वयं पुराणलक्षणं सर्ववस्तुवृत्तापेक्षया वैज्ञानिकमेव बोद्धव्यम्। मनुष्यविशेषाणां राज्ञां चरितानि तु आख्यानान्येव, प्रसङ्गात् संगृहीतानि चोपाख्यानानीति। गाथास्त्विमा अतिप्राक्तन्यः। वेदस्य ब्राह्मणभागेऽपि बहुत्र समुपलभ्यन्ते गाथाः, प्रथमप्रकरणोक्तासु पुराणप्रतिपादिकासु श्रुतिषु च गाथा अपि पृथगुक्ता एव। येन केनचिन्महामहिमभाजा

अथवा प्रभातेन युगान्तरभावेन वा स्वानुभवो यादृशो ग्रन्थेषूपनिबध्यते, ता एव भवन्ति गाथाः । यथा पारस्करगृह्यसूत्रे विवाहप्रकरणे वरो वदति—

> सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति ।
> यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ॥
> यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत् ।
> तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥

यथा वा महाभारते पुत्रस्य यौवनं गृहीत्वाप्यतृप्तेन ययातिना स्वानुभवः प्रदर्शितः—

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ इति ॥

उपदेशार्थमत्युपयोगिन्य इमा गाथाः—इति पुराणेषु स्थाने स्थाने समहस्ताः । एतासां च पृथक् सङ्कलनम् प्रकाशनं चात्युपयोगि भवेल्लोकानाम् ।

कल्पशुद्धिः कल्पानां परिगणनादीनीति केचित् । वयं तु ब्रूमो यद् सा कल्पशुद्धिर्मुख्यलक्षणे मन्वन्तरे एवान्तर्भूता, इह तु कल्पशुद्धिर्धर्मव्यासप्रकरणम्, तदपि पुराणेषु बहुतरं समाहितम् । तत्र कल्पो नाम वेदाङ्गेषु परिगणितं कर्मकाण्डप्रतिपादकं श्रौतगृह्यसामयाचारिकसूत्रसमुदायः, तदुक्ता अष्टचत्वारिंशत् संस्काराः, शिष्टपरिगृहीताः सदाचाराश्चात्र कल्पशब्देन गृह्यन्ते । तदुक्तं स्मृतिकृता गौतमेन—गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं जातकर्म नामकरणमन्नप्राशनं चौलोपनयने चत्वारि वेदव्रतानि स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानम्, एतेषां चाष्टकान्वष्टका पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः, अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यमाग्रायणं निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमयज्ञसंस्थाः इत्येते चत्वारिंशत् संस्काराः, अथाष्टावात्मगुणाः दया सर्वभूतेषु, क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति । एते श्रौताः स्मार्ताः सामयाचारिकधर्मरूपाश्च सर्वे संस्काराः पुराणेषु प्रसङ्गेन तत्र तत्र प्रतिपाद्यन्ते एतदुपयुक्ताश्च शिष्टपरिगृहीताः सदाचाराः ।

संस्कारो नाम त्रिविधः स्मर्यते शास्त्रेषु—दोषमार्जनम् अतिशयाधानम् हीनाङ्गपूर्तिश्चेति । द्विविधा खलु दृश्यन्ते पदार्था जगति—प्राकृताः संस्कृताश्च । ये प्रकृत्योत्पादितास्तस्मिन्नेव रूपे स्थिताः शिलोच्चयनदीमहीरुहादयस्ते प्राकृताः । ये तु मनुष्यैः स्वकृत्य स्वोपयोगाय कृताः, ते भवन्ति संस्कृताः । प्राकृताः पदार्थाः स्वस्वरूपे स्थित्वा संस्कारानवाप्य प्रायशः मनुष्योपयोगिनो नैव भवन्ति,

अल्पमेव वोपयोगं साधयन्ति। तस्मान्मनुष्यास्तान् संस्कृत्य स्वयमुपयुङ्क्ते। यथान्नं वस्त्रं वा यथा प्रकृतिरुत्पादयति, न तत्तथास्मदुपयोगि भवति। प्रकृत्योत्पादितं शालिगोधूमादिकं स्वोपयोगाय वयं संस्कुर्महे। तत्र प्रथमं तत्सहचरमस्मदनुपयोगि तृणतुषापत्रादिकमपनयामः, धूलीबहुले क्षेत्रे समुत्पन्नस्य निसर्गसहचरीं धूलीं च दूरीकुर्मः तदेतद्दोषमार्जनम्। अथ स्वच्छीकृतं पेषण्या निष्पिष्टं वह्निना परिपक्वं कुर्मस्तदेवदतिशयाधानम्। रुच्युत्पादनाय लवणशाकादिभिश्च संयोजयाम' सेयं हीनाङ्गपूर्तिः। तथैव यथाविध वस्त्रं परिदध्मस्तथा प्रकृत्या नोत्पादितमिति जानन्ति सर्वेऽपि। प्रकृत्या कार्पास उत्पादितः दोषमार्जनेन संस्कारेण तदन्तःस्थानि बीजानि विशोध्य धूलीकणादृन् दूरीकृत्य अतिशयाधानात्मकेन च संस्कारेण तूलं तन्तुरूपतां वयनेन वसनरूपतां सेवनेन परिधानीयरूपतां च प्राप्य हीनाङ्गपूर्तये पिधायकवर्तना (बटन) दिभिः संयोज्य तस्योपयोगो मनुष्यसमाजेन क्रियते। एवमेव लोह–रजत–सुवर्णादिषु धातुषु गृहनिर्माणादिष्वपि च संस्कारत्रयमनुसन्धेयम्। जडवस्तुषु संस्कारानेतान् सर्वेऽपि मानवाः परिनिष्ठन्ति, तत्र कौशलमुपदर्शयन्तश्च महद्यशो धनराशिं चार्जयन्ति। परं चेतनानां मानवानामप्येते भवन्ति संस्काराः, तेऽपि चैतैः संस्कारैः कमप्युत्कर्षं जगदुपयोगितां चावहन्तीति विशिष्य भारतीयैर्महर्षिभिरेव विज्ञातम्। तैरेव महर्षिभिर्मनुष्याणां त्रिविधाः संस्कारा आविष्कृताः। एवमेतेऽष्टचत्वारिंशत्संस्कारा धर्मशास्त्रेषु विवृताः पुराणेष्वपि विस्तरः एषां बहुतरं प्राप्यते।

शुद्धिपदेन गृहीतं धर्मशास्त्रस्य द्वितीयं शुद्धिप्रकरणम्। सा च शुद्धिः षोढा व्याख्यायते। मलशुद्धि, स्पर्शशुद्धि, अन्नशुद्धिः, एनःशुद्धिः, मनःशुद्धिश्चेति। आत्मनः प्रतिकूलं यदागन्तुकमापतति तद्दोषशब्देन अशुद्धिशब्देन च व्यवह्रियते। तदपनय एव च दोषमार्जनशब्देन शुद्धिशब्देन व्याख्यायते। तत्र स्वरूपसंसक्ताः स्वरूपे संसर्गमात्रमुपक्रान्ताः ये दोषाः तेषामपनयो दोषमार्जनसंस्काररूपेण प्राग्व्याख्यातः। ये तु आगन्तुका दोषाः स्वरूपे अप्रविष्टा अपि संसर्गमात्रेण परम्परया वा स्वरूपं दूषयितुमुपक्राम्यन्ति, अनपनीतानां कालक्रमेण स्वरूपेऽनुप्रवेशश्च येषां संभाव्यते तदपनयोऽत्र शुद्धिप्रकरणेऽधिक्रियते। यद्यपि सांख्यवेदान्तयोर्यद्यप्यात्मस्वरूपं विवृतं, तत्र न क्वापि दोषसंसर्गसंभावना, तथापि व्यावहारिक आत्मा कर्ता भोक्ता चात्मशब्देन विवक्षितो द्रष्टव्यः। सोऽयं व्यावहारिक आत्मा सत्त्वप्रधान इति सत्त्वगुणविरोधिनस्तम उद्रेचयन्तो भावा अशुद्धिपदेन सर्वत्र निर्दिश्यन्ते। ते च येन येन मार्गेणात्मना संबध्यात्मानं दूषयितुं समुद्यन्ति, तेन तेन मार्गेण तेषामपनयः स्मृतिषु व्याख्यातः पुराणेषु च संगृहीतः।

त एते सर्वेऽपि संस्काराः शुद्धयश्च धर्मशास्त्रविषया अपि पुराणेषु सविस्तरं संगृहीताः। अत्रैव शुद्धौ कथंचित्संस्कारेष्वपि वा तीर्थानि व्रतान्यपि चान्तर्भवन्ति,

देषा श्रुतिस्मृत्यादिषु सङ्क्षेपेण सकेतमात्र पुराणेषु च तद्विस्तर । व्रतोपवासादिक अन्तर्मलशोधक सत्वविशेषोत्कर्षक चेति शुद्ध्यर्थं सस्कारार्थं चाप्युपादीयते । एषां व्रतोपवासादीनामपि मूलमार्ग श्रुतिस्मृत्योरित्युपदर्शित प्राक् । विस्तरस्त्वेषा पुराणेष्वेव दृश्यते । एवमुपासनाविषयोपि पुराणेष्वतिविस्तृत । पूजाविधिप्रकारादिक तदीय विज्ञानमपि च तत्र तत्र विवृतम् । त इमे विषया अल्पमुद्रावेनान्तर्भाव्या ।



शब्दशास्त्र-खण्डः

[मुनित्रयस्यान्येषां च पुरातनानां शब्दशास्त्रनिर्मातॄणामैतिहासिकी समालोचनाऽत्र खण्डे सविस्तरं द्रष्टव्या-संपादकः]

पुरातनानि व्याकरणानि वैयाकरणाश्च

सुप्रथितमिदम्, यद् व्यवहारातीता भाषा व्याकरणसाहाय्यमन्तरेण न शक्या प्रविपत्तुमिति ।

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
> वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इत्यभियुक्तोक्तेषु शक्तिग्राहकेषु व्यवहारस्तावच्छक्तिग्राहकशिरोमणिरिति सर्वेषामैकमत्येनाभ्युपगमः । कमपि शब्दमजानानः शिशुर्नान्येनुपायेन शक्यो बोधयितुम् ऋते व्यवहारात् । तत्तच्छब्दैस्तेषु तेषु पदार्थेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती वयोवृद्धानामनवरत पश्यन् ■ भाषाया व्युत्पद्यत इति सतत प्रत्यक्षीकुर्मः । अत एव येषा बालानामग्रे मातापित्रादयः सर्वेऽपि वयोवृद्धाः संस्कृतेनैव व्यवहरन्ति, ते विनाप्यध्ययन संस्कृत एव व्युत्पन्ना संस्कृतमेव भाषमाणा अवलोक्यन्ते, येषां तु समक्ष सर्वेऽप्याङ्ग्लभाषामेव सततमुच्चारयन्ति, ते विनाप्यध्ययनम् आङ्ग्लभाषा बुध्यन्ते बोधयन्ति च साम्प्रतमेवेति सुप्रत्यक्षम् । स एव व्यवहारः संस्कृतभाषया एवंविधोऽद्यत्वे न दृश्यते, कैश्चिद्देशातिविरलैर्व्युत्पत्त्यर्थमेवावलम्ब्यत इति तादृशमपवाद विहाय संस्कृतभाषा शिक्षणेनैवाधिगन्तव्या कालेऽस्मिन् । व्यवहारातिरिक्ता अन्ये उपमानाप्तवाक्य-वाक्यशेषविवृतिसिद्धपदसान्निध्याख्या शक्तिग्रहोपाया कञ्चित्पदविशेष एवोपयुक्ता इति भाषाज्ञाने न पूर्णं साहाय्यमावहन्ति । ततश्च व्यवहारपदात् प्रच्युताया भाषाया परिज्ञानाय कोशो व्याकरणञ्चेति द्वावेव मुख्योपायौ । तत्रापि कोशो नाम्नां शक्तिग्रहमात्र उपयुज्यते, भाषाया स्वरूपसङ्घटन तु व्याकरण एव सर्वात्मना आयतत इति निश्चप्रचम् ।

व्याकरणानि तु यद्यप्यनेकानि स्मर्यन्ते—

> इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
> पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्याष्टौ व्याकरणान्येभिः प्रणीतानीति बहवो विश्वसन्ति । क्वचिदयमिदमित्थमपि पठ्यते—

> ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् ।
> सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम् ॥

तद्रीत्या अन्यान्यपि व्याकरणानि कौमारसारस्वतशाकलानि सिद्ध्यन्ति ।

परमिदानीं समुपलभ्यमानेषु व्याकरणेषु पाणिनीयमेव व्याकरणं सर्वत: प्राचीनमिति बहुभिरभ्युपगतो युक्तिसिद्धोऽर्थः ।

श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकप्रमुखानां विचारदक्षाणां तु मतमिदम्—पाणिनितः प्राचीनमेवंविधं सर्वतोमुखं व्याकरणं नासीदेवेति । 'इन्द्रश्चन्द्र' इत्यादिपद्ये हि अष्टावादिशाब्दिका इत्येवोक्तम्—न त्वेते व्याकरणकर्तार इति । शाब्दिकास्तु शब्दशास्त्रप्रौढतरम्, शब्दशास्त्रपारदृश्वत्वम्, शब्दशास्त्रप्रचारकत्वमित्यादिभिरनेकैः प्रकारैः शक्यं व्यवहर्तुम् । शब्दशास्त्रपदेन च न केवलं व्याकरणमेव, अपि तु कोश-मीमांसादिकमपि शक्यते ग्रहीतुम् । 'पदवाक्यप्रमाणपारावारीण' इति महत्सु विराडप्रयुज्यमाने विशेषणे 'पद' शब्देन व्याकरणम्, 'वाक्य' शब्देन मीमांसा, 'प्रमाण' शब्देन च न्याय व्यपदिश्यन्ते शिष्टैः । शब्दपदेन च पद वाक्य चोभयमपि शक्यते सग्रहीतुमिति वाक्यार्थनिर्णायिका मीमांसापि शब्द शास्त्रम् । ये चैतेऽष्टौ शाब्दिका परिगणिता, तेषु विभिन्नप्रकारकमेव शाब्दिकत्वं प्रमाणान्तरैः प्रसिद्धयति । तथा हि—इन्द्रोऽत्र प्रथम शाब्दिक पठित, तद्विषये दृश्यते पस्पशाह्निके महाभाष्य एवैकमाप्रमाणकम्—'एव हि श्रूयते-बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्य वर्षसहस्र प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायण प्रोवाच, नान्त जगाम । किं पुनरद्यत्वे—य सर्वथा चिरं जीवति, स वर्षशतं जीवति' इत्यादि । तेन इन्द्रस्य बृहस्पतिसकाशे प्रतिपदोक्तानां शब्दानां पारायणरूपेणाध्ययन प्रसिद्धयति । यथा चाधीतम्—तथैव तेन व्याकरण निर्मितं स्यादिति शब्दकोशरूपव्याकरण निर्मातृत्वमेव तत्र सिद्धयतीति श्रीसामश्रमी निरुक्तालोचने प्राह स्म । वस्तुतस्तु इन्द्रोऽयमनेकविध । श्रुतिषु हि अनेकविधा देवाश्च देवविशेषा इन्द्राद्याश्च श्रूयन्ते— सन्ति अग्निमहाः प्राणविशेषा जगन्निर्मातारो देवा इन्द्राद्या, सन्ति च तारा मण्डलेऽपि इन्द्रादिपदभाजो नक्षत्रविशेषा देवा, यथा विशाखानक्षत्रस्याधिपतिस्त- द्योगतारारूप इन्द्र, रेवतीनक्षत्रस्याधिपति पूषा, पुष्यस्याधिपतिस्तद्योगतारारूपो बृहस्पतिरित्यादि । अथ द्युलोकवासिन शरीरधारिणोऽपि सन्ति देवा, ये "अष्ट विकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुषश्चैकविध" इति चतुर्दशविधे सर्गे सांख्यकारिकायां सत्त्वबहुलसर्गे परिगणिता — 'ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र' इत्याद्या । पुनश्च देवलोकतया क्लृप्ते हिमालयादुत्तरप्रदेशे भूभागेऽप्यासन् तद्भूभागाधिष्ठातारो देवा इन्द्राद्या, यत्सकाशं गत्वाऽर्जुनस्य विद्याग्रहण पुराणेषु आख्यायते, दशरथदुष्यन्तादीनां च युद्धे तत्साहाय्यार्थं गमनमनुवर्ण्यते । तत्रास्य मनुष्यविधस्य भूखण्डवासिन इन्द्रस्य बृहस्पतिसकाशेऽध्ययन महाभाष्ये भवेदि बद्धम् । प्राणविधस्यापि तु अशरीरिण इन्द्रस्य व्याकरणकर्तृत्व श्रुतिष्वाम्नायते—

'वाग्वै पराच्यव्याकृता अवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुरु इति । सोऽब्रवीद्—वरं वृणे, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्यातामिति । तस्मादैन्द्र

वाग्यथः सह वदते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' इति। (तैत्तिरीये षष्ठकाण्डे)

अस्यायमाशयः—यथा पश्वादीनां वागसंस्कृता अव्याकृता—अविभक्ता भवति, न हि तत्र पदवाक्यादिविभागः कथमप्युपलभ्यते, तथैव प्रकृत्या मनुष्याणामपि वाक् पदवाक्यादिविभागविरहितैवोच्चार्यते। इन्द्रस्तु ज्ञानस्याधिष्ठाता प्राणरूपो देवः, स वाचं मध्यत आक्रम्य व्याकरोति—पदवाक्यादिरूपेण प्रविभक्तां करोति। सापि योऽयं पदवाक्यादिप्रविभागः, स खलु ज्ञानकृतः। पश्वादीनां तादृशज्ञानाभावात्तु न जायते इति। तेन मनुष्याणां वाक् पश्वाद्यपेक्षया संस्कृता परिष्कृतेति सुस्पष्टमेव। इत एवोक्तं हरिणा—

> वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
> कैश्चिद्दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः॥
>
> (वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे १०८)

इह ज्ञानस्य शब्दरूपेण या परिणतिरुक्ता, सैवेन्द्रकृता वाक्संस्काररूपा विज्ञेया। तत एव च मनुष्याणां वाग्व्यवहारे परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति भेदचतुष्टयं निरूपयन्ति शास्त्राणि। इह परा वाक् तु परब्रह्मरूपा वाङ्मनसातीता केवलं योगिभिर्निर्विकल्पसमाधौ ज्ञातुं शक्या विज्ञातुम्। तदन्यायां पश्यन्त्यामपि न शब्दार्थयोः प्रविभाग इति सापि सम्मुग्धज्ञानरूपा न साक्षात्प्रत्येतव्या भवत्यर्वाग्दृशाम्। तदनु मध्यमायां तु शब्दार्थप्रविभागो भवति, किन्तु केवलं मानसः। सापि परेण पुरुषेण न प्रतिपत्तुं शक्या। चतुर्थी वैखरी ■ शब्दरूपतया सर्वैर्विज्ञायते। तदेवोक्तं श्रुत्या—

> 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
> गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥' इति।

निगमरूपोऽयं मन्त्रोऽनेकधा मुनिभिराचार्यैश्च व्याख्यायते, नामाख्यातोपसर्गनिपातेति भेदचतुष्टयमुपक्रम्य महाभाष्ये व्याख्यातः, पशुषु वाच एको भागः, पक्षिषु एकः, सरीसृपेष्वेकः, तुरीयस्तु मनुष्येष्वित्यपि क्वचिद् व्याख्यायते, परं परापश्यन्तीत्यादिभेदचतुष्टयानुवादेन तु समनुगतार्थमिदं सुस्पष्टतया भवति 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इति। तथा च सम्मुग्धज्ञानरूपया पश्यन्त्या, स्फुटज्ञानरूपया च मध्यमया वैखरी वागियमर्थावबोधजननी भवतीति न कोऽप्यत्र विवादावसरः। ज्ञानस्य च मूलमिन्द्रप्राण इति एतेनैव वैज्ञानिकेन रहस्येन इन्द्रः प्रथमो व्याकरणकर्ताऽभिधीयते। तदेतदन्यादृगेव व्याकरणकर्तृत्वमिन्द्रस्य सिद्ध्यति, न तु ग्रन्थनिर्मातृत्वमिति पाणिनेः पूर्वमैन्द्रव्याकरणसत्ता न सुस्पष्टं सिद्ध्यति।

ग्रन्थरूपमपि व्याकरणं केनचिदिन्द्रनामकेन विदुषा विरचितं भवेदिति सन्देह दोलाधिरूढमेव।

चान्द्रं तु व्याकरणं किञ्चिदासीदिति स्वीक्रियते ऐतिह्यविदैः। तदुक्तं राजतरङ्गिण्याम्—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देश तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥
(राजतरङ्गिणी १-१७६)

चान्द्रगोमिनामा ये ख्याता वैयाकरणेषु प्राक्तना महान्तो विद्वांसः, तैरेव चन्द्राचार्यपदाभिधेयैर्महाभाष्यस्य जीर्णे पुस्तके दाक्षिणात्येषु कथञ्चिल्लब्धे काश्मीर-देशे अभिमन्युराज्यकाले नीतम्, तैरेव महाभाष्यस्य विलुप्तप्रायस्य प्रचारः कृत, स्वीयं चाभिनवं व्याकरणं विरचय्य प्रचारितमिति पद्येनोक्तेन सिद्ध्यति। तेन काश्मीरमण्डले प्रचरितमपि व्याकरणमिदं भगवत पाणिनेर्वह्वर्वाचीनमिति न कोऽपि तत्र सहायीत। पाणिनिसूत्रभाष्यकृत पतञ्जलेरपि बहुतरपश्चाद्भवत्वमेव.म्। ततश्च चान्द्रं व्याकरणं किमपि पाणिनेः पूर्वमपि भवेदिति नात्र प्रमाणं किमपि समुपतिष्ठते। एवं काशकृत्स्ने काशकृत्स्नस्य वा व्याकरणकर्तृत्वे न किमपि प्रमाणमुपलभ्यते, मीमांसकत्वं तु तस्य 'काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी' (४ अ. १ पा १ आ ९४ सूत्रे) इति भाष्योदाहरणादेव सुप्रतिपन्नम्। मीमांसकानामपि शाब्दिकत्वं प्रथमं एवोपयुक्तं प्राक्। आपिशलेस्तु पाणिनिसूत्रेषु दृश्यते नामोल्लेखः, 'वा सुप्यापिशलेः' (६।१।९२) इति, तस्माद्वैयाकरणेषु तन्मतमादृतमासीदिति शक्यतेऽभ्युपगन्तुम्— तत एव अस्तु आपिशलिकेषु तद्गणनापि सुयोजैव, परं व्याकरणं किमपि विशिष्टं तेन निर्मितमिति सन्देहास्पदम्—तथाविधेऽशो प्रमाणानुपलब्धेः। न हि पाणिनिसूत्रेषु येषां नामोल्लेखः, ते सर्वेऽपि व्याकरणनिर्मातार इत्यभ्युपगमो न्याय्यः। 'ते एव एव भवन्ति' 'प्रयोगविशेषे तेषामेवविधमभिरुचिः' इत्येव बोधनेनापि नामोल्लेखस्योपपन्नत्वात्। शाकल्य, काश्यप, स्फोटायन, चाक्रवर्मण, गालव, भारद्वाज, गार्ग्य च सेनक इत्येवं पाणिनिसूत्रेषु बहूनि नामानि स्मर्यन्ते, सर्वेऽप्येते व्याकरणप्रणेतार इति न शपि ह्र अत वा। कस्यचिदेकत्र कस्यचिद् द्विवारम्— कस्य-चिच्च त्रिवारमपि नाम स्मृतम्—तेनापि प्रयोगविशेष एव तत्तेषामभिरुचिर्योधितेति शक्यमनुमातुम्। व्याकरणं तु तत्प्रणीतं यदि स्यात्, तर्हि बहुवारं तन्मतप्रदर्शनाय नाम स्मर्येत। शाकल्य, गालव, गार्ग्यश्च बहुधा पाणिनिना स्मृता —

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (१।१।१६) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च (६।१।१२७) लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) सर्वत्र शाकल्यस्य (८।४।५१) इति शाकल्य।

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६।३।६१) तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य (७।१।७४) अङ् गार्ग्यगालवयोः (७।३।९९) नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् (८।४।६७) इति गालवः ।

ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०) (पूर्वोक्ते) (७।३।९९) (८।४।६७) इति गार्ग्यः ।

तेषु शाकल्य ऋक्संहितायाः पदपाठकर्तृतया प्रसिद्ध इति प्रातिशाख्यमपि केनचित्तेन निर्मितं भवेत्, तत एव प्रातिशाख्येष्वपि 'शाकल्यः' 'शाकल्यपिता' इत्यपि च स्मर्यते । तेन प्रातिशाख्यप्रसङ्गेनैव स संभाव्यते, सन्धिविषये तस्य कश्चित् क्वचिद्विभिन्ना विचारा एव प्रसिद्धाः स्युः, व्याकरणं न तेन निबद्धं भवेदित्यपि शक्यते कल्पयितुम् । गार्ग्यस्तु निरुक्तकृता भगवता यास्केनापि अनेकधा स्मृतः ।

तत्र "सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके" [निरुक्त, १ अ.] इत्युक्तिस्वारस्येन तस्य नैरुक्तेषु गणनाऽऽसीत्, न तु वैयाकरणेष्विति प्रतीयते । 'वैयाकरणानां चैके' इत्यतः पृथग् गार्ग्यनामस्मरणात् । यदि नाम गार्ग्योऽपि वैयाकरणोऽभविष्यत्, 'वैयाकरणानां चैके' इत्यनेनैव तर्हि तस्यापि गृहीतत्वाद् 'गार्ग्यः' इति पृथङ् नाम्यधास्यत । यदि अन्यस्यापि कस्यचिद् वैयाकरणस्य विशिष्यात्र नामनिर्देशः स्यात्, तर्हि गार्ग्यस्यापि पृथङ् नामनिर्देशः समञ्जसो भवेत्, 'वैयाकरणानां चैके' इति सामान्योक्त्या तु ये वैयाकरणा निरूढान्यपि नामानि स्वीकुर्वन्ति, ते सर्वे एवोपात्ता इति गार्ग्यस्य पृथङ् नामग्रहणं न कथमपि सामञ्जस्यमावहति—वैयाकरणेभ्यः पृथक् शाकटायनस्यापि नामात्र गृहीतमिति शाकटायनोऽपि न वैयाकरणत्वेन यास्कस्याभिमत इति सत्यव्रतसामश्रमिमहाशया मन्यते । मन्मते किन्तु तेषां मतं न सम्यक् प्रतिभासते—पक्षान्तरे शाकटायनस्य नामग्रहणेन तादृशकल्पनानुदयात् । 'सर्वाणि नामानि धातुजानि न सन्ति, कानिचिद्रूढान्यपि सन्ति' इति मतं केषाञ्चिद्वैयाकरणानां प्रदर्शितम् 'वैयाकरणानां चैके' इति । शाकटायनस्तु वैयाकरणोऽपि सन् सिद्धान्तेऽस्मिन्नन्येभ्यो वैयाकरणेभ्यो विप्रतिपन्नः, स हि सर्वाणि नामानि धातुजान्यभ्युपगच्छतीति तस्य नामोल्लेखः पक्षान्तरबोधनायावश्यक एव । प्रत्युत यदि शाकटायनो वैयाकरणो नाभविष्यत्, तत्तर्हि पक्षान्तरे 'वैयाकरणानां चैके' इति नाम्यधास्यत । शाकटायनातिरिक्तानां वैयाकरणानां धातुजव्यतिरिक्तनिरूढनामस्वीकारे सहमत्यात् । शाकटायन एव तत्र विमतः, सोऽपि च वैयाकरण इति तत एव सर्वेषां वैयाकरणानामैकमत्यं नास्तीति सूचयितुं 'वैयाकरणानां चैके' इत्युक्तम् । अन्यतमोऽपि यदि स्वेन सहमतो भवति, तस्य तर्हि प्राधान्येन नामोल्लिखन्ति पक्षाभिनिविष्टा इति सर्वजनीनोऽयं प्रत्ययः ।

[illegible] इति। [illegible] इति। [illegible] इति [illegible]। [illegible]। [illegible] इति। [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible] इति [illegible]। [illegible] इति [illegible]। [illegible] इति [illegible] इति [illegible]। [illegible] इति [illegible]। [illegible] इति [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]

पृथग् व्याकरणनिर्मातृत्वं कश्चिद्विचारप्रवीणः परिकल्पयेत् । तदेवमापिशलिरपि कस्यचित्प्रातिशाख्यस्य प्रवक्ता निर्माता वा सम्भवत्, शब्दप्रयोगविषये परिगणनीयः शिष्टो वा भवतु, व्याकरणनिर्मातृत्वं तु तस्य संशयविषयतां नातिक्रामति, इदतरप्रमाणानुपलब्धेरिति ।

शाकटायनो यद्यपि सुप्रसिद्धो वैयाकरण एवेति प्रत्यपीपदाम पूर्वम्, तथापि तद्रचितं व्याकरणं कीदृशमासीदिति न शक्यते कथमप्यनुमातुम् । प्रमाणानुपलब्धेः । यत्तु इदानीं जैनसमुदाये शाकटायननाम्ना प्रसिद्धमेकं व्याकरणं प्रचलति, मुद्रितमपि प्राप्यते, तत्तु न कथमपि पाणिनेः प्राक्तनं भवितुमर्हतीति तद्रचनापरीक्षणेनैव स्पष्टं सिद्ध्यति । तद्धि सर्वरूपेण पाणिनीयं व्याकरणमनुकरोति, न केवलं सूत्रकारस्य पाणिनेः, अपि तु वार्तिककारस्य भाष्यकारस्यापि च सिद्धान्ताननुवदन्ति तदीयानि सूत्राणि । एतद्विषये मनाग् विवेचयाम ।

प्रचलितशाकटायनव्याकरणविचारः ।

पाणिनीये व्याकरण इवास्य शाकटायनव्याकरणेऽपि 'अइउण्' इत्यादिसूत्राणि उपजीव्यत्वेनाश्रितानि, तदाधारेण प्रत्याहारप्रक्रिया च सूत्रेषु निबद्धा । केवलं चतुर्दशसूत्राणि त्रयोदशत्वे प्रापितानि, भेदः प्रख्यापयितुं किञ्चिद् व्यत्यासश्च कृतः, तत्र कारणमनुपदं चिन्तयिष्यामः । इमान्यक्षरसमाम्नायरूपाणि चतुर्दश सूत्राणि पाणिनये महेश्वरेणोपदिष्टानीति सर्वजनीना चिरन्तनी प्रसिद्धिः । नन्दिकेश्वरकृतकाशिकाया च तथैव विस्पष्टं प्रतिपादितम् । भारते प्रसिद्धासु अनेकविधासु वर्णमातृकासु इयमन्यतमा माहेश्वरी वर्णमातृका पृथगेव परिगण्यते । सोऽयं माहेश्वरोपदेशः साक्षाद्वा डमरुनादद्वारेण वा भवतु, 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' इति प्रक्रियया बुद्धौ प्रादुर्भावेन वा भवतु, पाणिनेः पूर्वमयमक्षरसमाम्नायक्रमो नासीदिति, तदाधारेण प्रवृत्ता चेयं प्रत्याहारप्रक्रिया पाणिन्युपक्रमेवेति च तस्याः प्रसिद्धेर्मूलमभ्युपगन्तव्यमेव । 'न ह्यमूला जनश्रुतिः', ततश्च पाणिनेः पूर्वकालभवेन शाकटायनेन कथमेवंविधो वर्णसमाम्नाय उपजीव्यत्वेनाश्रीयताम्, कथं वा प्रत्याहारप्रक्रिया स्वसूत्रेष्वनुसूत्यताम् ? अथ यत्परिवर्तनं सूत्रेष्वेषु दृश्यते—तस्यापि मूलमन्विष्यताम्—'ऋलृक्' इति सूत्रे लृकारग्रहणं वार्तिककारेण प्रत्याख्यातम् (महाभाष्यस्य द्वितीयाह्निके विचारोऽयं द्रष्टव्यः) तदत्रापि परित्यक्तम् । तेन सूत्रकारात् पाणिनेः का कथा, वार्तिककाराद् वररुचेरपि परभवत्वमस्य शाकटायनस्य स्पष्टं सिद्ध्यति । तथैव 'अइउण्' 'लण्' इत्युभयत्र णकारोपादानमपि भाष्यकृता चिन्तितम् 'किं पुनर्वर्णोत्सत्ताविव णकारो द्विरनुबध्यते' इत्यादिना, साधिता च तेन 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति परिभाषा, इह तु सर्वमिमं विवादं परिहर्तुं 'लण्' सूत्रस्यो णकारः परित्यक्तः, लकारश्च

पूर्वसूत्र एव 'हयवरट्' इति निवेशित । तथैव 'अनुस्वारविसर्गाद्ययोगवाहानामपि अकारोपरि शर्षु च पाठ कर्तव्य' इति भाष्यकृता साधितम्, इहापि 'शषसर्' इति सूत्रे सकारात्परतोऽयोगवाहाना पाठो दृश्यते, तेन महाभाष्यकृत पतञ्जलेरपि परभवत्वमस्य शाकटायनस्य सिद्धयति। पाणिनिर्हि भगवान् स्वपूर्वेभ शाकटायनमादरेण स्वीयेषु सूत्रेषु स्मरति, यदि तेन शाकटायनस्यैतानि प्रत्याहार सूत्राणि दृष्टान्यभविष्यन्, कुतस्तर्हि तत्र सन्देहोत्पादकमेव परिवर्तन व्यधास्यत। तस्मादस्य शाकटायनस्य पाणिनिपूर्वभवत्व न कथमपि कल्पयितु शक्यम्। तथा 'शश्छोऽटि' इति पाणिने सूत्रम्, वार्तिककारेण च तत्र 'तच्छ्लोकेन' इत्यादि प्रयोगाणा सिद्धये 'अटि' स्थाने 'अमि' इत्युपसंख्यातम्। इह तु इदानी प्रकाशिते शाकटायनव्याकरणे 'शश्छोऽमि' इत्येव सूत्र दृश्यते। यदि हि पाणिने पूर्वमपि 'तच्छ्लोकेन' इत्याद्या प्रयोगा प्राचलिष्यन्, तद्व्याख्यानपर च 'शश्छोऽमि' इति स्पष्ट सूत्र पाणिनिना अद्रक्ष्यत, तर्हि कथ स तान् प्रयोगानुपेक्ष्य 'अटि' इति स्वसूत्रे अवक्ष्यत्। तस्मात्स्पष्टमिद सिद्धयति, यत्पाणिनिना अडतिरिक्ते वर्णे परे छकारादेशो न दृष्ट, पूर्वमप्रचलितत्वाद्वा अनवधानाद्वेत्यन्यदेतत्, तत एव तेन अटि पर एव छकारादेशो विहित, वार्तिककारेण तु लकारादावपि परे छकारादेश पश्यता तन्न्यूनतापूरण कृतम्। ततोऽपि परभवेन शाकटायनेनानेन वार्तिकमतमेव प्रमाणीकृत्य 'शश्छोऽमि' (१।१।१४४) इत्येव सूत्र पठितम्। तदिद मेव 'शश्छोऽमि' इति सूत्रमस्य शाकटायनस्य पाणिने कात्यायनाच्च परभवत्व साधयितु करस्थामलकसन्निभ प्रमाण न केनाप्येतिहासिकदृष्टिमताऽपलपितु शक्यम्। तथैव 'प्रौह, प्रौद, प्रैष, स्वैर' इत्यादिप्रयोगाणा सिद्धये वृद्धिविधान पाणिनिसूत्रेषु न दृश्यते, वार्तिककृता 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' 'स्वादीरेरिणो' इत्याद्यु पसंख्यातम्। इह तु शाकटायनीये तत्साधनार्थं 'प्रस्योढोणघूहैषैष्ये' (१।१।८४) 'स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम्' (१।१।८५) इत्यादि सूत्राणि दृश्यन्त। यदि भगवता पाणिनिना सूत्राणीमानि दृष्टानि अभविष्यन्, कथ तर्हि स तत्समानार्थक सूत्र स्वव्याकरणे न प्राणेष्यत। कियदुदाहराम, वार्तिककृता यत्र यत्रोपसंख्यान कृतम्—तत्सर्वमत्र सूत्रेष्वनूदित दृश्यते, तच्च सर्वं वार्तिककारात् परभवत्वमस्य साधयितु पर्याप्तम्। किञ्च 'अचो रहाभ्या द्वे' इति पाणिनिना रेफहकाराभ्या परस्य यरो द्वित्व विहितम्, एव सति 'मद्रह्रद' इत्यादौ हकारोत्तरवर्तिनो रेफस्यापि द्वित्व प्राप्नोतीति तत्र 'नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य' इत्यादि माठरपरिवेषणन्यायेन स्वीकृत्य भाष्यकृता तत्र द्वित्वप्रतिषेध साधित। इह तु सूत्र एव स्फुटम् 'अचो ह्रो ह्च' (१।१।११७) इति रेफहकारयोर्द्वित्वप्रतिषेध उपलभ्यत इति भाष्यकृतोऽपि परभवत्वमस्य शाकटायनस्य सुस्पष्टम्।

प्राचीन खलु शाकटायनो निरुक्तकृतो यास्कादपि पूर्वभव, यास्केन

तन्मतस्य तत्र क्वाऽनेकत्रानूदितत्वात्। परन्त्वत्रच्छाकटायनस्तु न निरुक्तपूर्वभवः सिद्ध्यति। निरुक्तकृता हि 'अरण्यानी' इति पदं निर्ब्रुवता 'अरण्यानी—अरण्यस्य पत्नी (निरुक्त ९।२८) इत्युक्तम् (९।२९) पत्नी-पालयित्री-देवतेति तद् व्याख्याता दुर्गाचार्यः। पाणिनिना भगवता प्रयोग एव तदानुक् ङीष् च विदधता तदेवानुसृतम्। वार्तिककृता तत्र 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' इति विशेषं ब्रुवता 'महदरण्यमरण्यानी' इति विग्रहो व्यञ्जितः। इह च शाकटायन व्याकरणे 'हिमारण्याद् गुरौ' (१।३।५७) इति वार्तिकानुसारेण सूत्रं दृश्यते। तेन स्पष्टमिदं सिद्ध्यति, यन्नूनं निरुक्तकाले पाणिनिकाले च जडयोरपि हिमारण्ययोः पत्नीत्वमारोप्य तदधिष्ठातृदेवताभिप्रायेण वा 'हिमानी' 'अरण्यानी'-प्रयोगौ प्राचलताम्, परन्तु महत्त्वार्थस्तत्र प्रसिद्धो नासीत् इति महत्त्वार्थ एव वार्तिककृता अनेन शाकटायनेन च प्रयोगाविमौ साधितौ। तदित्थमयं शाकटायनो न पाणिनेरपि वा निरुक्तकारात् प्राक्तनः कथमपि सिद्ध्यति। ताभ्यां पूर्वं आसीत् कश्चन शाकटायन इति सत्यम्, परं तेन किञ्चिद् व्याकरणं निर्मितं न वेति सन्दिग्धमेव। तथैव निरुक्तकृता 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनः' इति या शाकटायनस्य प्रतिज्ञाऽनूदिता, यच्च 'पदेभ्यः पदेतरार्धान् सञ्चस्कार शाकटायनः, एतेः कारितं च यकारादिं च, अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च' इत्यादिना या 'सत्यमर्थं मापयतीति सत्यम्' इति सत्यशब्दव्युत्पत्तिः प्रदर्शिता शाकटायनमतेन, न तादृशं किमप्यत्रोपलभ्यते। तस्मादपि निरुक्तकृत्परिचितो नायं शाकटायन इति स्फुटीभवति। एवं शौनकेनापि ऋक्प्रातिशाख्ये 'प्रथमं शाकटायनः' (प० २ सू० १६) इति सूत्रे शाकटायनोऽवसाने वा प्रथमस्थाने व्यञ्जनं ककारादि मन्यते, गार्ग्यस्तु अवसाने द्वितीयं व्यञ्जनमाहेत्युक्तम्। परमत्र शाकटायन व्याकरणे तु 'चर्त्वम्' (१।१।६४) इति विकल्पेनेवावसाने चर्त्वं मुनिना उभयमप्यनुज्ञातम्। तस्माच्छौनकपरिचितो नायं शाकटायन इति सिद्ध्यति। तथैव कात्यायनप्रातिशाख्येऽपि 'परिग इति शाकटायनः' (३।८०) इत्यादिना 'युष्मदादेरस्य न' इति पदस्य पत्वं शाकटायनमतेनोक्तम्, तदपि नेह प्राप्यते इति कात्यायनस्यापि परिचितोऽयं शाकटायनो न भवति। किमन्यत् प्रातिशाख्ये बहुत्र शाकटायननाम गृहीतमिति वैदिकशब्दसाधनमपि शाकटायनेन पूर्वं कृतमिति स्फुटी भवति। तस्मात् केवललौकिकव्याकरणप्रणेताऽयं शाकटायनो न पूर्वभवः। किञ्च छान्दसस्यैव लिटः स्थाने क्वसुकानचौ पाणिनिना विहितौ। परन्तु कालिदासादिभिर्लौकिकेऽपि तेषां प्रयोगा आरब्धा इति दृष्ट्वा लौकिकस्य व्याकरणं केवलमुद्दिश्य निबध्नता अनेन शाकटायनेनापि क्वसुकानचौ विहिताविति पाणिन्यपेक्षया बह्वर्वाचीनत्वमस्य सुस्पष्टीभवति।

निबन्धवैलक्षण्यमस्य शाकटायनस्यार्वाचीनतां स्फुटं प्रतीयते प्रेक्षावताम्। तथा

हि—'पञ्चकृत्वः' 'दशकृत्वः' इत्यादिप्रयोगान् साधयितुं पाणिनिः अभ्यावृत्ति गणनायाम् कृत्वसुच्प्रत्ययं विधत्ते। इह तु शाकटायने 'वारे कृत्वस्' (३।४।२२) इति समुपलभ्यते। 'अभ्यावृत्तिगणना' स्थाने 'वार' शब्दप्रयोगः कियदर्वाचीन इति, विवेचका एवात्र प्रमाणम्। तथैव पाणिनिना अभूततद्भावे च्विप्रत्ययोऽन्वाख्यात, अनेन शाकटायनेन तु तत्र 'कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्त्वे' (३।४।९५) इति च्विविधानं सूचितम्। 'प्राग् अतस्य तत्त्वम्' इति अभूततद्भावशब्दापेक्षया शब्दोऽयं कियती प्राञ्जलतां गाहते, ऋषेर्मुनेर्वा किमीदृशी भाषा भवितुमर्हतीति सुधिय एव विवेचयन्तु। अथ तिङन्तप्रकरणे पाणिनिना 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' 'अस्मद्युत्तमः' इति युष्मदस्मच्छब्दयोः कर्तृत्वे कर्मत्वे वा मध्यमोत्तमपुरुषौ विधाय तत 'शेषे प्रथमः' इति तदतिरिक्ते सामान्येन प्रथमपुरुषो विहित। इह ■ 'लोऽन्ययुष्मदस्मासु तिप् तसझि' (१।४।१) इत्यादिना सूत्रेण युगपदेव सर्वे प्रथमाद्याः पुरुषा विहिताः। तत्र युष्मदस्मच्छब्दाभ्यां प्रागुपात्तोऽन्यशब्दः कथं तदपेक्षयाऽन्यं शब्दं बोधयेदिति जानाति सूत्रकृदेव। किञ्च 'सामानाधिकरण्यबोधनाय न कश्चिच्छब्दोऽत्रोपात्त, न वा श्रुतश्चिदनुवृत्त, ततश्च 'अन्य-युष्मद्-अस्मद्-शब्देषु सन्निहितेषु प्रथमाद्याः पुरुषाः स्युरिति 'देवदत्त त्वया गच्छतु' इत्यादौ युष्मच्छब्दसान्निध्येऽपि कुतो न मध्यम इति मृग्यमत्र समाधानम्। 'अन्ययुष्मदस्मदर्थे प्रत्येकमेकद्विबहुषु वर्तमानाद्धातोर्लस्य यथासंख्यं तिप्-तस्-झि इत्यादेशा भवन्ति' इति प्रक्रियासंग्रहकृतोक्तोऽर्थस्तु न कथमपि बुद्धावुपारोहति, न हि 'त्वं करोषि' इत्यादौ कृधातुर्युष्मच्छब्दार्थे वर्तते इति केनापि शेमुषीजुषा शक्यं वक्तुम्। 'युष्मदाद्यर्थेषु वर्तमाना या क्रिया, तद्वाचका द्धातो' इत्यर्थकरणेऽपि न निर्वाह, इह हि क्रियाशब्देन व्यापारो वा विवक्ष्येत, फलं वा? आद्ये 'त्वं त्वत् क्रियसे' इत्यादौ कथं मध्यम, व्यापारस्य युष्मदर्थेऽभावात्। अन्त्ये च 'त्वां करोति' इत्यादौ कुतो न मध्यम, फलस्य युष्मदर्थगामित्वात्। तस्मात् 'सामानाधिकरण्ये' इत्येव पाणिनेर्भगवत उक्तिः सूपपादा भवति, न त परित्यज्य सम्यक्तदुपपत्तिः। किञ्च 'त्वं चाहं च ते च गच्छाम' इत्यादौ कुतो न मध्यमपुरुष प्रथमपुरुषो वा? युष्मदर्थस्य अन्यार्थस्य च क्रियाश्रयत्वात्। पाणिनेस्तु युष्मदस्मच्छब्दसामानाधिकरण्ये जाग्रति शेषपदार्थस्या सम्भवात् तत्र प्रथमपुरुषप्राप्ति, मध्यमपुरुषं तु परत्वादुत्तमपुरुषो बाधत इति न काप्यनुपपत्तिः। एवमेव बहुधैतानि सूत्राणि न क्षोदक्षमाणि न तद्‌ग्रन्थस्थौची आपीति कृत विस्तरेण।

यत्तु 'त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य' इति पाणिनिसूत्रे यच्छाकटायनमतमुपात्तम्, तदत्र 'न संयोगे' (१।१।११९) इति सूत्रे दृश्यते, यच्च 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' इत्युक्तम्, तदत्र 'अव्यक्तश्रुतिश्च' 'वानुस्वारात्' (१।१।१५४, ५५) इति सूत्र-

योर्दृश्यते, तथा 'लङ शाकटायनस्यैव' इति यत्पाणिनिना जुसादेश उक्तः, सोऽप्यत्र 'आद् द्विषो मेर्जुस् वा' (१।४।१०६) इति दृश्यते—तेन अयमेव शाकटायनः पाणिनेः पूर्ववर्ती—इति साधयन्ति, तन्न क्षोदक्षमम्। प्रायेण पाणिनेः सर्वाण्येव सूत्राण्यत्र शाकटायनेऽनूदितानि शब्दान्तरैर्दृश्यन्ते, तथैवैतान्यपि पाणिनिसूत्राण्यत्रानूदितानीत्यपि शक्यते वक्तुम्। यतो हि शाकटायनो 'द्विष: परस्य लङो मेर्जुस् मन्यते' इति पाणिनिनोक्तम्। अर्थादन्ये न मन्यन्त इति वचनाद्विकल्पः सिद्ध्यति। न तु शाकटायनोऽपि विकल्पेन मन्यत इति पाणिनेरुक्तिः। इह तु सूत्रे शाकटायनोक्तेऽपि विकल्प एव विहित इति पाणिनेरनुवाद एवाऽयं सिद्ध्यति, पाणिनिना यन्नाम गृहीतम्—स तु शाकटायनो भिन्न एवेति दृढाभिर्युक्तिभिः प्रत्यपीपदाम। मतभेदोऽपि च दृश्यते, पाणिनिना शाकटायनमतेन लघुप्रयत्नतरौ यकारवकारौ दर्शितौ, इह तु अस्पष्टश्रुती तौ विहितौ। यदि पाणिनिना एतत्सूत्रमतमुद्धृतं स्यात् तर्हि 'अस्पष्टश्रुती' इत्येवोक्तं स्यात्। न हि पाणिनिः शब्दान्तरैर्गोपायितः परमतमनुवदितुमिच्छति, स्पष्टं शाकटायननामग्रहणात्। तस्मादनेनैव शाकटायनव्याकरणकृता पाणिनिमतमनूदितम्, लघुप्रयत्नतरशब्दं स्पष्टीकर्तुं च तत्र 'अस्पष्टश्रुती' इति निवेशितम्। कोऽयमस्पष्टश्रुतिशब्दो लघुप्रयत्नतरतां स्पष्टमावेदयितुं शक्नोति न वेत्यन्यदेतत्। किंच शाकटायनमते लघुप्रयत्नतरौ यकारवकारौ भवतः। अन्यमते तु न भवत इति पाणिन्युक्त्या विकल्पः फलति, न तु शाकटायनोऽपि विकल्पमिच्छतीति पाणिनिसूत्रात् प्रतीयते। इह तु लघुप्रयत्नतरौ स्वयमपि विकल्पेन विहिताविति पाणिनिसूत्रानुवाद एवात्र फलतीति भाव्यं सुधीभिः।

अन्यदपि विचार्यताम्—जैनमहाभागा उणादिसूत्राण्यपि शाकटायनकृतानि मन्यन्ते, न चोपलभ्यमानानामुणादिसूत्राणामेभिः शाकटायनसूत्रैरेककर्तृत्वं सम्भवति। अयं हि प्रसिद्धशाकटायनव्याकरणप्रणेता केवलं लौकिकं व्याकरणमन्वाचष्टे, न तु वैदिकशब्दसाधनेऽस्य प्रयत्नो दृश्यते। अत एव वैदिकशब्देषु हि स्वरसिद्धये येऽनुबन्धा पाणिनिना प्रत्ययागमादिष्वासञ्जिता, तेऽनेन परित्यक्ताः। तथाहि—स्वरार्थमेव स्त्रीप्रत्यये ङीपङीषोर्भेदः पाणिनिना कृतः, अत्र शाकटायने तु 'ङी' इत्येक एव प्रत्ययः उभयोः स्थाने दृश्यते, 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति पाणिनिः, श्य एव तत्र शाकटायने। 'चिल्' स्थाने (ञि) इत्येवात्र शाकटायने दृश्यते। तेन स्वरार्था अनुबन्धा नेह समादृता इति स्फुटमेव। उणादिसूत्रेषु तु स्वरार्थमनुबन्धासञ्जनं स्फुटं दृश्यते—उप्रत्ययप्रकरणे हि 'धान्ये नित्' इति पठितमुणादिषु 'अणु' शब्दसिद्ध्यर्थम्। तत्र नित्त्वं केवलं स्वरार्थमेव विहितम्, नान्यत् किमपि प्रयोजनं नित्त्वस्य। तथा चास्मिन् शाकटायनीये न स्वरसिद्ध्यर्थं यत्नः, उणादिषु तु ■ स्फुट इति कथमुभयोरेककर्तृकतास्तु। तथैवात्र शाकटायने गुणवृद्धिसम्प्रसारणादिसंज्ञा न दृश्यन्ते—उणादिषु तु ता एता 'कहेर्वृद्धिश्च' रौहिषो

मृगशिरेषु, 'स्यन्दे सम्प्रसारणं घञ्' किन्तु, इत्यादिसूत्रेषु बहुशो व्यवहृता। एवं लिङ्गादि शाकटायने न दृश्यते, उणादौ तु 'मृजष्णिर्गोपश्च मज्म्', इत्यादौ सापि व्यवहृता। पित्प्रयुक्तो ङीप्प्रत्ययोऽस्मिन् शाकटायने न विहितः, उणादिषु तु ङीप्प्रत्ययार्थं पित् 'कॄ शॄ वृञ् चतिभ्यः ष्वरच्' इत्यादौ दृश्यते, शर्वरीत्यादयः प्रयोगाश्च तत एव सिद्ध्यन्ति। कियदुदाहरामः, उणादिसूत्राणामेतस्य शाकटायनव्याकरणस्य चैककर्तृकत्वं न केनापि सम्भावयितुमपि शक्यम्। तस्मान्नेदं शाकटायनव्याकरणं प्राचीनशाकटायनमुनिकृतम्, नापि वा इमानि उणादिसूत्राणि पाणिनिपूर्वभवेन शाकटायनेन रचितानि। उपलभ्यमानेषु उणादिसूत्रेषु सर्वापि प्रक्रिया पाणिन्यनुसारिणी प्रतीयत इति पाणिने 'उणादयो बहुलम्', इति सूत्रं दृष्ट्वा परभवेन केनचित् साहाय्यार्थमिमानि उणादिसूत्राणि रचितानीत्युणादौ पठितौ कश्चिदपि शङ्कीयात्। भवतु कदाचित् पाणिनेः पूर्वमपि कानिचिदुणादिविधायकानि सूत्राणि, उपलभ्यमानानि तु न सम्भवन्ति पाणिनेः पूर्वभवानि। एवं च पाणिनेः पूर्वं शाकटायनव्याकरणं न प्रमाणैः प्रसिद्ध्यति। संस्कृतव्याकरणशास्त्रेति हासलेखकेन श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकमहाशयेन तु 'एतच्छाकटायनव्याकरणरचयितुर्नामापि पाल्यकीर्तिः' इति जैनग्रन्थप्रमाणैरेव साधितम्। समयस्तस्य नवमी दशमी वा विक्रमशताब्दी निर्दिष्ट इति नानेदानीं विस्तराऽऽवश्यकता। आसीच्छाकटायनो वैयाकरणः, अतिप्राक्तनः, तेन व्याकरणं रचितमिति तु सन्दिग्धम्।

अथामरजैनेन्द्रयोस्तु पाणिनिपरभवत्वं सुप्रसिद्धमेव। तथैव पश्चात्तरं प्रोक्तानां सारस्वतादीनामाधुनिकत्वेऽपि न कस्यापि विवादः। तदित्थं पाणिनेः पूर्वं कस्यापि व्याकरणस्य सत्तामनुमातुं नास्ति दृढतरं प्रमाणमिति श्रीमान् पाणिनिरेव प्रथमो व्याकरणकर्ता स्वीकार्यः—इति श्रीमत्सत्यव्रतसामश्रमिमहाशयस्य मतं निरुक्तालोचने विवृतं दृश्यते—तदेवात्रोपबृंहितमस्माभिः।

पाणिनेः पूर्वमपि व्याकरणसत्तासाधनम्।

अथ दिङ्मात्रं ब्रूमः। इदानीं पाणिनेः पूर्वभवं किमपि व्याकरणं सर्वाङ्गपूर्णं नोपलभ्यत इति सत्यम्, किन्तु पाणिनेः पूर्वं किमपि व्याकरणं नासीदेवेति न शक्यमभ्युपगन्तुम्। पूर्वमपि व्याकरणसत्ताया बहुभिः साक्षिभिः साध्यमानत्वात्। तथाहि—पाणिनिरेव भगवान् 'आङि चापः' इति तृतीयाविभक्तेरेकवचनमाङ्शब्देनाह, न च तृतीयैकवचनं तेन 'आङ्' इति पाठितम् किन्तु 'टा' इति। तत्र 'आङिति टासंज्ञा प्राचाम्' इत्येवं व्याख्यातारो वदन्ते। तेनेदमेव सिद्ध्यति—पूर्वप्राचीनेषु व्याकरणेषु तृतीयैकवचनम् 'आङ्' इत्येव अन्वभासीत्, तत्तत्परिभाषायां चिरप्रयुक्तानि कार्याणि परिहर्तुं पाणिनिना "टा"रूपतां प्रापितम्, परं पूर्वभवव्याकरणकारवचनात्—तस्यापि स्मरणरक्षणार्थं वा सूत्रे 'आङ्' अपि निर्दिष्टः।

तथैव 'औङ आपः' इत्यपि। न हि प्रथमाद्वितीययोर्द्विवचने 'औङ्' प्रत्ययः पाणिनिना स्वव्याकरणे स्वीकृतः, अपि तु 'औ' 'औट्' इति। प्राक्तनव्याकरणतत्कारयस्तु सूत्रे 'औङ' इत्युच्चारितम्। किमन्यत्—'कर्मणि द्वितीया' 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यादिषु द्वितीयातृतीयादिनाम्ना विभक्तयः पाणिनिना विहिताः, न तु द्वितीयातृतीयादिसंज्ञा स्वशास्त्रे कृता। तत्रापि प्राक्तनव्याकरणदृष्टसंज्ञाभिरेव व्यवहार इति व्याचक्षते व्याख्यातारः। न च 'सु-औ-जस्' इत्यादीनां क्रमेण गणनयैव प्रथम-द्वितीयत्वादिसिद्धेस्तदर्थं संज्ञाप्रयासो न कृत इति शक्यं समाधातुम्। तिङ्क्ष्वप्यस्तु प्रथम-मध्यमोत्तमसंज्ञा अपि गणनयैव सिद्धत्वात् तदर्थं सूत्रप्रणयनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। प्रसिद्धो ह्यस्यार्थस्य बोधक उत्तमशब्दः संस्कृतवाङ्मये। तस्मात्पक्षप्राप्तये यत्नः कर्तव्य एवापि पाणिनेः शैली, न च सा सुष्ठु समाद्रियते तत्र व्याकरणान्तरसंज्ञासमाश्रयणमेव युक्तमापतति। तथैव 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' इति दशसु कृत्प्रत्ययेषु इण्निषेधः पाणिनिना पठितः। न चैतेषु बहवः प्रत्ययाः पाणिनिशास्त्रे कृत्प्रत्ययेषु पठ्यन्ते—तस्माद् व्याकरणान्तरस्था अप्यत्रानूदिता इत्येव वक्तव्यं स्यात्। उणादिष्वेते पठिता इति चेत्, तदपि व्याकरणान्तरमेव, न पाणिनीयमित्यनुपदमेव साधितमस्माभिः। स्तुन्धातुः, स्तम्भु-स्तुम्भुप्रभृतयश्च न पाणिनीये धातुपाठे दृश्यन्ते, सूत्रेषु तु पठ्यन्ते। यान् सौत्रान् धातूनाहुर्व्याख्यातारः। त एतेऽपि पूर्वव्याकरणसंस्कारेणैव पाणिनिना स्वसूत्रेषु निबद्धा इत्येव स्वीकर्तुमापतति। यत्र 'चर्करीतं च' इत्यदादिगणे पठितं पाणिनिनाचार्येण, यङ्लुगन्तं तेन गृह्यत इति व्याख्यातार आहुः। न च पाणिनीये व्याकरणे यङ्लुगन्तं चर्करीतमिति परिभाष्यते, प्राक्तनेषु व्याकरणेषु कारितमिति णिजन्तम्, चिकीर्षितमिति सन्नन्तम्, चेक्रीतमिति यङन्तं, चर्करीतमिति यङ्लुगन्तं व्यवहृतमासीत्, निरुक्तेऽपि दृश्यते तथा व्यवहारः। तस्मात् प्राचीनव्याकरणसंस्कारेणैव पाणिनिना चर्करीतं च इत्यदादौ निवेशितम्। किञ्च 'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्'। 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' १।२।५७) इत्यत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्याय अद्यतनादिकालविधानाय च वचनं न कर्तव्यमिति पाणिनिना तादृशवचनं खण्डितम्, तद्वचनं केषांचिदपि भवेत्, तदेव तत्खण्डनमुपयुज्येत, निरस्तस्य खण्डनस्यायुक्तत्वात्, तच्च वचनं पूर्वेषां वैयाकरणानामेव भवितुमर्हतीत्यपि पूर्वव्याकरणसत्ता स्फुटं सिद्ध्यति। किं चानेन पूर्वैः 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' इति स्वयं लिङ्गवचनं विधाय 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' (१।२।५३) इति पाणिनिना तदर्थं सूत्रकरणानावश्यकत्वं वा प्रकटितं, तस्मादिदमेव शक्यं वक्तुम्—यत्पूर्वव्याकरणान्यनुसृत्य पूर्वं विधानं कृतम्, तदनु च स्वमतेन तत्खण्डितमिति। तस्माद्भगवान् पाणिनिरेव स्वपूर्वभवव्याकरणसत्तायां मुख्यं साक्षी। अथ भाष्यस्यापि पश्य इत्यवधानम्। 'अत एकहल्मध्ये' इत्यादिसूत्रे

'देन्तु' इत्युदाहरति पतञ्जलिः। 'दद्रे पदस्य लिटि' इति सूत्रे च 'दद्रने' इति। तावेतौ प्रयोगौ पाणिनिसूत्रैर्न सिद्ध्यतः, दम्भधातोरुपधाभूतस्य नकारस्य, स्वञ्जधातोरुपधाभूतस्य नकारस्य च लिटि लोपार्थं पाणिनिना प्रयत्नाकरणात्। दधोऽन्तस्य लिटः पाणिनिनिर्दिष्टस्य कित्वाभावात्। तस्मात् 'अन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा' इति व्याकरणान्तरमतमनेनोदाहरणेनाभ्युपगतमिति भट्टोजिदीक्षित आह। 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इति सूत्रे च भारद्वाजीया पठन्ति—'णिश्रिग्रन्थि' इत्यादि महाभाष्यकृतोक्तम्, इमे भारद्वाजीया व्याकरणान्तराचार्या एव शक्या उररीकर्तुम्। 'ओङ आपः' इति सूत्रे च द्विवचने ङित्त्वयुक्तं कार्यं भाष्यादि कुतो नेत्याशङ्क्य 'अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्, पूर्वसूत्रेषु च येऽनुबन्धा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते' इति स्पष्टं भाष्यकारः पूर्वसूत्रचर्चां स्वीकरोति। पाणिनिकृतमिह तदर्थनिर्देशकं पदमिति वार्तिककारभाष्यकाराभ्यामपि पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तरप्रचारः स्पष्टं सत्यं दत्तम्। इदमेव भाष्यं व्याचक्षाणेन कैयटेनोक्तम् 'पूर्वाचार्यैर्द्विवचने घिदौ पठितौ, न चेह (पाणिनीये व्याकरणे) क्वचिदपि औङ्प्रत्ययोऽस्ति, तदन्यमतार्थं पूर्वसूत्रनिर्देशः' इति। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्', इति सूत्रे च वार्तिककृता तद्व्याख्यायां भाष्यकृता च 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' इति स्फुटमेव शाकटायनव्याकरणसत्ता स्वीकृता। शकटस्य तोकम्—शाकटायनो व्याकरणे नाम धातुजमाह—इत्युक्त्या तदीयव्याकरणसत्ता स्पष्टं प्रतीयते—न तु तस्य मतमात्रम्। यद्यपि उपलभ्यमानं शाकटायनव्याकरणं न पाणिनितः प्राचीनं भवितुमर्हतीति विद्वांसः प्रथयन्ति, तथापि आसीत् किमपि शाकटायनव्याकरणं पाणिनेः पूर्वमित्यत्र तु न संशयलेशः। पाणिनिना तन्नामग्रहणम्—निरुक्तवार्तिकभाष्यादिषु तद्व्याकरणनामोल्लेखश्च। 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (१।१।२१) इति सूत्रभाष्यव्याख्यायां च स्फुटं कैयट आह 'आपिशलिकाशकृत्स्नयोः' 'अमध्ये' इति वचनाद् अन्यत्र मध्यनिवेशाभावः। नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्थाहेतव इति मुनित्रयवचनेनाऽत्र व्यवस्थानुमितम्' इति। अनेन लेखेन स्पष्टं प्रतीयते—यत् कैयटेन स्वसमये विद्यमानमापिशलिशाकृत्स्नयोर्व्याकरणं दृष्टम्। तत एव च मन्ये पाणिनिसूत्रेष्वस्य स्पष्टं निर्दिष्टम्। अस्मिन् युगे च वैयाकरणे पाणिनीयव्याकरणमेव प्रमाणत्वेन मन्यमानेऽपि परे तेनानुसन्धत्तम्। तत्र पूर्वं भर्तृहरिणा च भाष्यस्य त्रिपादीव्याख्यायां 'तदन्ते' आपिशलिव्याकरणे स्तो भिन्न इत्युक्तम्' तेन च सोऽप्यापिशलिव्याकरणं दृष्टवानिति स्फुटं प्रतीयते। अतोऽनयम् तद्विषयविवेकः सुबन्तविषयकश्च निर्देश इति आपिशलिशाकृत्स्नयोः प्रातिशाख्य सम्मतं दृष्टं स्यादित्यपि न वक्तुं शक्यम्, प्रातिशाख्ये हि केवलं स्वरविषय सन्धिविषयश्च भवतीति तद्विशदसुबन्तादिविचारस्य तत्र न सम्भवः। प्राचीनानि

प्रातिशाख्यानि सुबन्त–तिङन्त–तद्धितादीनपि व्याख्यान्ति स्मेति चेत्—व्याकरणान्येव तर्हि तानि, इति नाममात्रेऽयं विवाद पर्यवस्यति। माधवोऽपि धातुवृत्तौ 'तनादिगणे 'क्षिणु हिंसायाम्' इति धातु प्रकृत्याह—'अत्र सर्वत्र पिद्वचनेषु विकरणापेक्षो गुण 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति न भवतीत्यात्रेयमैत्रेयौ। तथा चापिशलि शब्दकरणेषु धातुगुणमभिधाय करोतेश्च मृदेश्चेत्य-सूत्रयत्। पुगन्तलघूपधस्य च इत्यत्र रक्षितेन चोक्तम्। .. शाकटायनक्षीर-स्वामिभ्यामय धातवं पठ्यते।' इत्यादि। तेन स्पष्टमिद सिध्यति–यन्माधवेना-पिशल शाकटायन च व्याकरण दृष्टम्, तयोरुद्धरण वा आत्मग्रन्थे क्वचन दृष्टमिति। भट्टारकहरिश्चन्द्रादिभिश्च ऐन्द्रव्याकरणस्यापि सूत्रमुद्धृतमिति तदपि बहुकालपर्यन्त प्रचलितमासीदिति प्रसिद्ध्यति। किं च या एता 'असिद्ध बहिरङ्ग-मन्तरङ्गे' इत्याद्या परिभाषा भाष्यकृता पाणिन्यक्षरै साधिता, याभिर्विना पाणिनीये व्याकरणे न भवति निर्वाह, ता अपि व्याकरणान्तरेषु वाचनिक्य इत्येव नागेशाद्या अभिमन्यन्ते। तस्मात्सर्वेऽपि वैयाकरणा पाणिने पूर्वं व्याकर-णान्तरसत्तायां दृढ साक्षिण। अथ शास्त्रान्तराणामपि साक्ष्य दृश्यताम्। भगवता पाणिनिना 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो' इति सूत्रयता पाराशर्यापरपर्याय-व्यासविरचितशारीरकसूत्राणा सत्ता स्वस्मात्पूर्वं स्फुटमभिव्यञ्जिता। तदाद्ये तेषां भिक्षुभिरध्येयत्वाद् भिक्षुसूत्राणीति प्रसिद्धिर्भवेन्नूनम्। व्याससूत्राणि चेमानि सर्वेभ्यो दर्शनसूत्रेभ्योऽर्वाक्तनानि सर्वेषामत्र समालोचनदर्शनात्। ततश्च सर्वाणि दर्शनसूत्राणि पाणिने प्राग्भवान्येवेति उररीकर्तव्य भवति। तत्र च गौतमीये न्यायसूत्रे 'विकारादेशोपदेशात् संशय' इति सूत्र शब्दनित्यत्वप्रकरणे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीये पादे दृश्यते। तस्यायमवाशयो यत् केचन वैयाकरणा शब्देषु विकारान् विदधति, केचिच्चादेशान्। विकारो नाम तस्यैव वर्णस्य वर्णान्तरतापत्ति, आदेशस्तु एकस्य वर्णस्य स्थाने वर्णान्तरप्रयोग। तत्रानयो किं सत्यमिति विचार्यते। एव प्रतिज्ञाय तेन उभावपि पक्षौ चिन्तितौ, आदेशपक्षश्च सिद्धान्तित। विकारादेशविधान चेद व्याकरणशास्त्रे एव सम्भवतीति तत पूर्वं व्याकरणाना सत्ता सिद्धा भवति। तच्च व्याकरण पाणिने पूर्वभवमेवेति सत्यापि साक्ष्य पूर्वं भवव्याकरणसत्ता प्रमाणीकरोति। न्यायसूत्रस्य पाणिनिपरभवत्वस्वीकारे समान-कालिकत्वस्वीकारेऽपि च पाणिनिरादेशवादी, इह चोभयोरुपदेश ख्यापित इति विकारवादि व्याकरणमपि किञ्चित्पूर्वमासीदेवेति सिद्ध्यति। वाल्मीकीये रामायणे च हनुमत प्रथमदर्शनकाले श्रीरामेण लक्ष्मण प्रत्युक्तम्—

> नून व्याकरण कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
> बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपभाषितम्॥

(वा. रा. कि. काण्डे)

तेन तदात्वेऽपि व्याकरणसत्ता प्रतीयते । न च पाणिनीयस्य तदात्वे सम्भव इति व्याकरणान्तरमेव प्रागभव स्वीकार्यं स्यात् । किं बहुना वेदाङ्गेषु मुख्यतया सर्वत्र व्याकरणं पठ्यते—ब्राह्मणेष्वपि च तत्र तत्र व्याकरणविषया निर्दिश्यन्ते—इति एतद्युगजातपाणिनिपर्यन्तं मुख्यं वेदाङ्गं नैव प्रचलितमिति न कथमपि श्रद्धातुं शक्यम् । चीनदेशाद्भारतभ्रमणार्थमागतः ह्यूआनच्याङ्-नामकः पर्यटकोऽपि पाणिनिविषये बहु लिखन्निदमपि जगाद—यत् पाणिनेः पूर्वं बहूनि व्याकरणानि परस्परं विप्रतिपन्नानि विशृङ्खलानि च प्रचरन्ति स्म । तत्रैन्द्रस्य व्याकरणकर्तृतया स्पष्टमनेन नाम गृहीतम् । एतस्य लेखानामितिवृत्तविषये बहुतरं प्रामाण्यमभ्युपगम्यते ऐतिहासिकैः । युक्ततरं च तत्, देशान्तरादागतेन स्पष्टमक्षिभ्यां विलोक्य यल्लिखितं तत्राविश्वासे कारणाभावात् । व्याकरणस्वरूपसत्ता यद्यपि न तेन स्वयं दृष्टा—अथापि द्वादशशतमितवत्सरेभ्यः पूर्वमपीह जनाः पाणिनेः प्राग्व्याकरणसत्तामभ्युपगच्छन्ति स्म, तेभ्य एव तेन श्रुतमिति तु निर्विवादम् । ततश्च 'नह्यमूला जनश्रुतिः' इति न्यायेन न तत्र सन्देहोऽवतरेत् । बृहत्कथामूलकेषु कथासरित्सागर-बृहत्कथामञ्जरीप्रभृतिष्वपि पाणिनेः पूर्वमैन्द्रव्याकरणस्य सत्ता, पाणिनीयव्याकरणप्रसारोत्तरं तद्विलोपश्चेति स्पष्टमुद्घुष्यत एव । तस्मादेवमनेन प्राणदर्शनेन ज्ञानाधिष्ठात्री मानुषी वाग् व्याकृतेति व्याख्यातपूर्वं श्रुतेस्तात्पर्यं मनभिशङ्कनीयमास्ता वैज्ञानिकदृष्ट्या, अथापि मनुष्यविशेषोऽपि कश्चिदिन्द्रो व्याकरणग्रन्थमपि कञ्चन निर्मितवानेवेति बहुभिः साक्षिभिः साधितोऽयमर्थो नापलपनीयः कथमपि । यद्यपि पस्पशाह्निके महाभाष्ये कथं शब्दानुशासनं कर्तव्यम्—इति प्रश्नमुत्थाप्य शब्दानां प्रतिपदपाठः कर्तव्य इति पूर्वपक्षरूपेणोपन्यस्य तस्य शब्दप्रतिपत्त्यनभ्युपायता प्रदर्श्य उत्सर्गापवादरूपेण नियमबोधकसूत्रनिर्माणमेवाभ्युपाय इति सिद्धान्तितम्, तेन पाणिनीयव्याकरणमेव सूत्रैर्नियमपरिष्कारकमिति मन्यत इवेति केचिदाशङ्कन्ते, बृहस्पतीन्द्रनामोल्लेखाद् बृहस्पतिने्द्राय शब्दपारायणमेव शिक्षितम्—इति स्पष्टोक्त्या च बृहस्पतेरधीत्य शब्दपारायणरूपमेव व्याकरणमिन्द्रेण विरचितं स्यादित्यनुमिन्वन्ति, परं महाभाष्यकारेणैव यदा पूर्वं प्रदर्शितरीत्या नियमबद्धव्याकरणसत्ता पूर्वमपि स्वीकृता, तदेमे व्यञ्जनानुमाने न प्रसक्ते प्रमाणं । अपि तु लक्षणस्य व्याकरणस्यावश्यकत्वमेव तेन व्याकरणप्रयोजननिरूपणावसरे स्थापितम्, तच्च लक्षणरूपं व्याकरणं प्राक्तनं पाणिनीयं चेति सामान्येन सर्वं संगृहीतमित्येवाभ्युपगन्तव्यं स्यात् । अग्रे च शब्दस्य नित्यत्व-कार्यत्वविचारमुपक्षिप्य 'संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्' इत्यादिना विस्तरभियाऽत्र तं विचारमुपेक्षमाणेन 'उभयथाऽपि लक्षणं प्रवर्त्यम्' इति वैयाकरणानां नैकमत्यमिति प्रदर्शयता 'कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्' 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति पाणिनिव्याकरणविचारारम्भं सूचयता

महाभाष्यकारेणैव स्फुटमिदं ध्वनितम्—यत्पूर्वमपि सन्ति विविधानामाचार्याणां लक्षणानि, तेषु कानिचिच्छब्दस्य नित्यतां कानिचिच्चानित्यतां लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तन्ते—पाणिनिस्तु भगवान् शब्दनित्यतावादमेव लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्त इति। 'इदं लक्षणं कथं प्रवृत्तम्' इत्युक्त्वा लक्षणान्तराणामपि सत्ता ध्वन्यत एवेति सुधिय एव विवेचयन्तु। इत आरभ्यैव पाणिनीयस्य व्याकरणस्य विचारारम्भ इतीतः प्रागुक्तं प्रयोजनादिकं सर्वमपि सर्वव्याकरणसाधारणमित्यपि स्फुटीभवति, तेन लक्षणस्य विशाकरणं पाणिनीयमेवेति पूर्वोक्ता व्यञ्जना न पदं लभते। आस्तां विस्तरः। श्रद्धेयस्यापि सामश्रमिमहाभागस्य पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तररचना नासीदेवेति 'निरुक्तालोचनप्रदर्शितं मतं न वयमभ्युपगन्तुं प्रभवाम'। इदानीं पाणिनेः पूर्वं सर्वं किमपि व्याकरणं नोदलभ्यत इति तु स्फुटमेव। तेन तानि व्याकरणानि कथमिव कीदृशानि वा आसन्—इत्यादि विवेक्तुं नास्त्येव किमपि साधनम्। निप्रतिपत्तिरेषा कश्चित्कश्चिदासीदिति तु पाणिनिसूत्रेषु तत्तन्मतोद्धरणादेव प्रतीयते, लौकिकसंस्कृतस्य लेखेनापि च तत्सिद्ध्यति। तस्यामपि तादृश्यां विप्रतिपत्तावस्थायां पाणिनीयः सिद्धान्त एवास्माभिरादर्तव्य इत्यपि च कैयटोक्त्या प्रदर्शितपूर्वम्।

प्रातिशाख्यानां पाणिनेश्च पौर्वापर्यविचारः।

अथ यान्येतानि प्रातिशाख्यान्यधुना समुपलभ्यन्ते, तानि पाणिनेः प्राक्तनानि पश्चाद्भवानि वेत्यत्रापि विप्रतिपत्तिरेव। सत्यव्रतसामश्रमिमहाशयः पाणिनेरर्वाक्तनान्येतान्युपगच्छति। युरोपीयास्तदनुयायिनश्च भारतीया गवेषका विद्वांसः केचन पाणिनेः प्राक्तनानि प्रातिशाख्यानि मन्यन्ते। केचित्तु पाणिनेरर्वाक्तनानि। केचित्तु शौनकादीनि प्राक्तनानि, कात्यायनादीनि चार्वाक्तनान्यभ्युपगच्छन्ति। आश्चर्यमिदं यत्प्रातिशाख्येष्वपि पञ्चाशतोऽप्यधिकानां पूर्वाचार्याणां नामानि गृह्यन्ते, परं न क्वापि तेषु पाणिनेर्नामग्रहणम्। पाणिनिनाऽपि भगवता स्मृताः केचिदाचार्याः शाकल्य-शाकटायन-गार्ग्य-गालव-काश्यपप्रभृतयः, समुपलभ्यमानप्रातिशाख्यप्रणेतॄणां शौनक-कात्यायन-कुत्सादीनां नामानि तु न क्वापि स्मृतानि। ये तु ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यं शाकटायनकृतमभिमन्यन्ते, तेषामपि नये न ऋक्तन्त्रप्रणेता शाकटायनः पाणिनिना गृहीतनामेति सम्भाव्यते—तादृशानां मतानाम् अदर्शनात्। न च ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यमिदानीमुपलभ्यमानं पाणिनेः पूर्वमेवं सम्भवनीयमनुपदं दर्शयिष्यामः। यदि क्वापि परस्परं नामोल्लेखोऽभविष्यत्तर्हि सुखं पौर्वापर्यनिश्चयोऽभविष्यत्। ये तु शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४-३-१०६) इति शौनकनामग्रहणात् शौनकं पाणिनेः प्राक्तनं सिसाधयिषन्ति ते नितान्तं भ्रान्ताः। नह्यत्र प्रातिशाख्यप्रवक्ता शौनको गृहीतेति, प्रत्युत शौनकप्रोक्ते छन्दसि विवक्षित एव णिनिप्रत्ययः पाणिनिनानुशासित—वेदाङ्गे तु वाच्ये शौनकीया शिक्षा—

इत्येव तत्र प्रत्युदाह्रियते। अस्ति च मन्त्रद्रष्टापि शौनकः सुप्रसिद्धः। ननु च अङ्गप्रवक्तृव्यावर्तनाय यत्सूत्रे छन्दसीत्युपात्तम्, तेन अङ्गप्रवक्तुरपि परिचयः पाणिने सिद्ध्यति, अन्यथा कस्य व्यावर्तनाय 'छन्दसि' पदं सूत्रोपात्तं स्यात्, तेन प्रातिशाख्यप्रणेता शौनकोऽपि पाणिने प्राक्तनः सिद्ध्यतीति चेत्, तदपि भ्रान्तम्। 'शौनकीया शिक्षे'ति प्रत्युदाहरणदर्शनेन शिक्षाप्रवक्तुरेव पाणिनेः प्राक्तनत्वसिद्धेः। न हि शिक्षाप्रवक्ता प्रातिशाख्यप्रवक्ता च शौनक एक इति शक्यम् आस्थातुम्, शौनकीये प्रातिशाख्ये शिक्षाविषयाणां वर्णक्रम-स्थानप्रयत्नादीनामपि दर्शनात्। यदि हि भगवता शौनकेनानेनैव पृथक् शिक्षा निरमास्यत, न तर्हि प्रातिशाख्ये ते विषया समग्रहीष्यन्त, पुनरुक्तत्वापत्तेः। तस्मात् प्रातिशाख्यप्रवक्तुः शौनकस्य पाणिनिपरिचितत्वे न किमपि मानमिति सुराधम्। यत्तु 'अष्टा वाधानवधानेऽप्रग्रहानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्' (शौ॰ प्रा॰ प॰ १ सू॰ ६३) इत्यत्र आचार्यपदेन पाणिनिरेव शौनकेन स्मृत, तेन पाणिनिरपरभवत्वं शौनकादीनां प्रातिशाख्यकर्तॄणां सिद्ध्यतीति सामश्रमिमहाशय आह स्म, तन्न युज्यते। यतो ह्यत्र अष्टानामपि स्वराणामवसानेऽनुनासिकत्वमुक्तम्, स्वराश्च शौनकेन 'अकारादावि उ ए ओ ऐ औ' इत्यादावेवोक्ता। तत्र दीर्घाणां परिगणनेऽपि अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ऋ, ॠ, इत्यष्टौ भवन्ति। ततश्च ऋकारस्याप्यत्रानुनासिकत्वं विहितमिति स्पष्टं भवति। पाणिनिना तु 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' इति अण्पदेन 'अ, इ, उ' इति त्रयाणामेवानुनासिकत्वं विहितमिति न ऋकारस्यानुनासिकत्वं लभ्यते सिद्ध्यति। अत्राण् पूर्वणकारेणैव ग्रहणस्य भाष्यकृता सिद्धान्तितत्वात्। ततश्च सर्वथैव मतभेदे 'आचार्य आह' इति आचार्यपदेन कथं पाणिनेर्ग्रहणं सिद्ध्येत्। न हि पाणिनिरष्टानामनुनासिकत्वमाहेति मृषा प्रलापः शौनकस्य तथा सति सिद्ध्येत्। तस्मादविचारिताभिधानमेवेदं सामश्रमिमहाशयस्य। यदपि च तेनैवोक्तं निरुक्तालोचने 'व्याडिना पाणिनीयानि सूत्राणि सम्यग्व्याख्यातानि, व्याडेश्च नाम शौनकेन बहुधा स्मृतम्—

परिग्रहे त्वनार्षान्ता तेन वैकाक्षरीकृतात्।
परेषां न्याससमाचारं व्याडिस्तु चेत् स्वरो परो (प॰ ३।२३)

उभे व्याडिः समस्वरे (३।२८) व्याडेः सर्वत्राभिनिधानगोः (६।४३)

समापाद्य नाम वदन्ति षत्वं तथा णत्वं सामवशाश्च सन्धीन्। उपाचार लक्षणतश्च सिद्धमाचार्यो व्याडिशाकल्यगार्ग्यो (३।३१) व्याडिर्नोक्तिकयमनुनासिकं (१३।३७) इत्यादिषु। तच्चेदं व्याडेर्नामग्रहणं पाणिनेरेव नामग्रहणं प्रत्येतव्यम्। व्याडेः पाणिनिसूत्रव्याख्यातृत्वादिति। तदेतदपि न मनोरमम्। कोऽयं व्याडिः, कति च व्याडिनामान आचार्याः, इति सर्वमेवाद्यावधि अस्फुटमेव। पाणिनिनापि

'छव्यादय शालायाम्' (६।२।८६) इति सूत्रे छव्यादिगणे व्याडिपदं सगृहीतम्। तेन पाणिने प्राक्तनोऽपि कश्चिद्व्याडिरासीदिति निश्चप्रचम्। व्याडिकृता विकृतिवल्ली प्रसिद्धयति, तत्र तेन बहुधा शौनकमत सगृहीतम्। मङ्गलाचरणे च—'नत्वादौ शौनकाचार्य गुरु वदमहानिधिम्' इति गुरुत्वेन शौनक स्मृत इति सामश्रमिणैवोक्तम्। न हि शौनक स्वाध्यायस्य व्याडेराचार्येषु नाम गृह्णीयात् 'आचार्या व्याडिशाकल्यगार्ग्या' इति। तस्मादन्यो विकृतिवल्लीप्रणेता व्याडि, अन्यश्च शौनकेनाचार्येषु परिगणितो व्याडिरित्येव वक्तु युक्त भवति। शौनकेन च स्वरविषय एव प्रायेण व्याडि स्मृत, अन्येष्वपि प्रातिशाख्येषु तस्य नाम दृश्यते, इति प्रातिशाख्यप्रवक्तैवाय सम्भाव्यते। स एव च प्राचीनो व्याडि पाणिनिनाऽपि छव्यादिषु पठितो भवेत्, शालसम्बन्धिन हि व्याडिं पाणिनि स्मरति, प्रातिशाख्यकृता चाप्यन् परिषद शालाश्चेति श्रीवासुदेवशरण प्रभृतय प्रमाणै प्रसाधयन्ति इति। पाणिनिसूत्राणि व्याडिना व्याख्यातानीत्यपि किंवदन्तीमात्रम्, न तु प्रमाणसिद्धम्। महाभाष्यकृता हि सग्रहग्रन्थस्य नाम गृहीतम्, न तु सग्रहो व्याडिकृत इति, पाणिनिसूत्रव्याख्याभूत इति वा तेन क्वचिदुक्तम्। नागेशादिभि किंवदन्तीमात्रमेवाश्रित्य सग्रहस्य व्याडिकृतत्वादि ख्यापितम्। सग्रह स्वतन्त्र एव ग्रन्थ शब्दविचारपरो भवेदित्यपि सम्भाव्यत एव। अतिप्राचीनेन हरिणाऽपि तस्य लोप एवोक्त इति तद्विषयक यत्किमप्यनुमान कपोलकल्पनामात्रमेव। कथासरित्सागरादौ पाणिनिसमकालिको व्याडिरुच्यते, पर सामश्रमिमहाशय कथासरित्सागरमत्यर्थं निनिन्देति कथ तदाधारेण पाणिनिसम कालिक व्याडिमभ्युपगच्छतु। मान्यानपि पूर्वाचार्यान् नामसादृश्यभ्रान्ताननेकशोप हसन् सामश्रमिमहाशय कथ व्याडिनामविषय एव विभ्रान्त इति न वय विवेक्तु प्रभवाम। तस्माद् व्याडिस्मरणेन पाणिनेरर्वाग्भवत्वसाधन प्रातिशाख्याना न इदमिति पौर्वापर्यं पाणिनीयात् प्रातिशाख्याना सन्दिग्धमेव भवति। तथैव बृहद्देव तया शौनकविरचितायामेव 'भगवानाह शौनक' इति शौनकस्य 'भगवान्' इति विशेषण दृश्यते। तस्मादत्यन्त भिन्निभा कति शौनका इत्यपि न निश्चित भवति।

प्रातिशाख्याना पाणिनिपूर्वभवत्व ये वदन्ति, तेषामेषा युक्ति—यत् प्रति पदमुच्चार्य पत्वणत्वादिविधाने प्रातिशाख्यकारा क्लिश्यन्ति, तत् पाणिनेरुत्तर भवाना न सम्भवति। पाणिनिना षत्वणत्वाद्यनुगमस्य कृतत्वात्, तादृशक्लेशस्य पश्चादनवसरदुस्थत्वात्। तथा हि शौनकीये ऋग्वेदप्रातिशाख्ये—पञ्चमपटल-स्यादित एव अष्टत्रिंशत्सूत्रपर्यन्त षत्वप्रपञ्चो दृश्यते, तत्र च प्रत्येकेषु सूत्रेषु बहुत्र प्रतिपदमुच्चार्य षत्व विहितम्। तत उत्तर च तथैव ऊनचत्वारिंश सूत्रमारभ्य सप्तपञ्चाश सूत्रं पर्यन्त यावणत्वप्रपञ्च कृत, तत्रापि बहून प्रतिपदमुच्चार्य णत्वविधिनिषेधौ दृश्येते। तथैव कात्यायनीये प्रातिशाख्येऽपि तृतीयस्याध्यायस्य

पञ्चाशं सूत्रमारभ्य चतुरशीतितमसूत्रपर्यन्तमष्टात्रिंशत्या सूत्रैः पदस्य विधिनिषेध प्रपञ्चः, आधिक्येन च प्रतिपदपाठ एव स्वशरणीकृतः, तदग्रे च तत्रैव पञ्चाशीतितमं सूत्रमारभ्य प्रायेण नामग्राहमेकादशभिः ग्रन्थैः सूत्रैर्णत्वप्रपञ्च उक्तः। अन्येष्वपि प्रातिशाख्येषु सैषैव प्रक्रिया प्रायशः दृश्यते। सोऽयं प्रपञ्चः स्वच्छन्द शास्त्रार्थमेवेत्यपि न विस्मर्तव्यम्। पाणिनिना तु भगवता लोके वेदस्य सर्वासु च शाखासु अनुगतीकृत्य लघुभिः पञ्चषष्ट्या सूत्रैः (अष्टमाध्याये तृतीये पादे ५५–११९ सूत्रे) षत्वविधिः समापितः, णत्वं च तदनुगतीकृत्य लोकवद साधारण्येन लघुभिरूनचत्वारिंशन्मितैः सूत्रैः सर्वमपि बोधितम् (८।४।१–३९)। एवं विसर्जनीयस्य क्वचित् सकारो भवति, क्वचिद्वा षकारः, क्व वा रेफः, क्व तु विसर्ग एवेत्येतदर्थं प्रतिपदग्रहणात्मकानि अतिप्रलम्बानि ऊनचत्वारिंशत् सूत्राणि शौनकीय प्रातिशाख्ये चतुर्थे पटले (२५–६३) अवलोक्यन्ते, कात्यायनोऽपि तृतीयाध्यायस्य षष्ठसूत्रमारभ्य एकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं पञ्चत्रिंशता सूत्रैः स्वशास्त्रीय विसर्गाणामुक्तविधं विकारं प्रत्यपादयत्। पाणिनिस्तु ८।४।३४ सूत्रमारभ्य ८।४।५४ पर्यन्तमेकविंशत्या लघुभिः सूत्रैर्लोकवेदसाधारण्येन विसर्गस्योक्तविधान् आदेशान् समग्रहीत्। इतोऽतिरिक्तोऽपि 'अन्तरिच्छन्ति' 'प्रातरग्निम्' 'अविभरपाये' इत्यादिषु रेफस्योत्वव्यावृत्तये 'अन्तरादासमन्त' 'प्रात' 'अविभ' इत्यादिर्महान् प्रपञ्चः शौनकस्य प्रथमे पटले उपलभ्यते। पाणिनिना तु रोऽसुपम्, कल्पस्य रपस्य नोऽत्वमित्यनुगमेन सर्वं साधितम्। तथैव एङः पदान्तादति (६।१।१०९) इति पाणिनिना अकारस्य पूर्वरूपमुक्तम्, तत्तु क्वचित् भवति, क्वचिद्वा न भवतीत्येतस्य शौनकीयद्वितीये पटले चतुर्दशसूत्रमारभ्य पञ्चत्रिंशत्सूत्रं यावत्प्रतिपदग्रहणपुरःसर महान् प्रपञ्चो दृश्यते। एतद्धि प्रातिशाख्येषु अभिनिधानमुच्यते। यजुःप्रातिशाख्ये चापि चतुर्थाध्यायस्य एकषष्टितमं सूत्रमारभ्य षडशीतितमसूत्रपर्यन्तमस्यैव पूर्वरूपस्य महान् प्रपञ्चः कृतः। पाणिनीये ■ केवलं स्वल्पैरेव सूत्रैश्छन्दस्यस्वादोऽनुगतीकृत्य दर्शितः। कियदुदाहार्यम्। अनुगमाभावेन सर्वत्रैव प्रातिशाख्येष्वेवमेव स्वरसंस्कार विषये विस्तरो दृश्यते। यदि हि पाणिनीयं व्याकरणं पूर्वमभविष्यत्, तत्र चानुगमाः प्रातिशाख्यकृद्भिरद्रक्ष्यन्त, तर्हि नैवमननुगमकृतः क्लेशस्तैः सोढव्योऽभविष्यत्। एवमेव वर्णानां तदीयस्थानप्रयत्नादिविवरणं चापि प्रातिशाख्येषु सविस्तरं निर्दिष्टमिति नैव पाणिनीयसदृशे व्याकरणे क्रियते सम्भवति। पदक्रमादीन् विकृति पाठानपि च प्रातिशाख्यानि विदधति, तच्चेदं क्रमादिकं स्वरवर्णादिविपर्यासपरिहाराय यैवाभ्यस्यत इति सुस्पष्टमेव। पाणिनीये व्याकरणे तु स्थिते सर्वत्र प्रकृतिप्रत्ययादिविभागपुरःसरं पदं एव स्फुटं सुस्पष्टमवगते न स्वरवर्णादिविपर्ययशङ्केति क्रमादिविधानं व्यर्थमवापतेत्। तस्मात्पाणिनेः पूर्वभवान्येव प्रातिशाख्यानीति केचिन्मन्यन्ते।

परे त्वेव प्रत्यवतिष्ठन्ते—पाणिनिना सुप्तिङ्कृदादयः सर्वेऽपि व्याकरणभागाः सुस्पष्टं निरुक्ता इति तत्रानुगमः शक्यते कर्तुम्। प्रातिशाख्यानि तु केवलं स्वरं सन्धींश्च विवृण्वत इति ते केन प्रकारेणानुगमं कर्तुं शक्नुयुः। प्रतिपदपाठातिरिक्तं किं तेषां शरणम्? यथा—आदेशप्रत्यययोरिति पाणिनिः षत्वमनुगमयति, केवलं प्रातिशाख्यमधीयानस्तु आदेशं प्रत्ययं वा कथं परिचिनोतु? तत्तदुपसर्गयोगे तत्तद्धातोस्तत्र तत्र षत्वमित्येव पाणिनेरनुगमः। यस्तु धातुप्रत्ययादिकं न सम्यक् परिचाययति, स कथं तथाविधमनुगमं प्रदर्शयतु? तस्मात् पाणिनेरनन्तरभाविभिरपि प्रातिशाख्यैः प्रपञ्चः कर्तव्य एव स्यात्। किञ्च पाणिनिर्विकल्पनिर्देशेन बाहुल्केन च बहुत्र सङ्क्षेपं करोति, सर्वासामासां सर्वथा लौकिकानाञ्च प्रयोगाणां निर्वाहकेण कर्तव्यनेनैव भवेत्। प्रातिशाख्यानि तु स्वस्वशाखाम्नायनियतानि न विकल्पेन बाहुल्केन वा प्रवर्तितुं प्रभवन्ति। वेदेषु हि बिन्दुविसर्गादिकमपि किञ्चित् कथमपि न परिवर्तेत इत्यादिस्येतदर्थं प्राचामाचार्याणां महान् प्रयत्नो दृश्यते। तस्य प्रयत्नस्य प्रतिनिधिभूतान्येव प्रातिशाख्यानि। तानि यदि विकल्पं बाहुल्कं वा निर्दिशेयुः, कुत्र तर्हि षत्वादिकमिदं प्रयोक्तव्यम्, कुत्र वा न प्रयोक्तव्यमिति सन्देहाना एव प्रयोक्तारो भवेयुः। प्रातिशाख्येषु तु यत्रैव विकल्पो व्यवह्रियते यत्र स्वशाखायामपि द्विविधः प्रयोग उपलभ्यः स्यात्, तथापि च विभागस्तत्र तत्र स्पष्टं तैर्बोधनीयो भवति। तस्मात् स्थितेऽपि पाणिनीये व्याकरणे न निःसन्देहं वेदेषूच्चारणं सिद्ध्येदिति अनन्तरमपि सम्भवेदेव प्रातिशाख्यानामपेक्षा। यथा—पूर्वपदात् (८।३।१०६) इति सूत्रेण पूर्वस्थितात्पदात्परस्य सकारस्य विकल्पेन षत्वं पाणिनिना विहितम्, तेन 'दिविष्ठि' इत्यत्र षत्वं जायते 'युवं हिस्य स्वर्पति' इत्यत्र तु न जायते। विकल्पविधानादेव। प्रातिशाख्यकृता तु नैतावता परितोषः, यदि कश्चिद् 'दिविस्थि' इति षत्वाऽभावघटितं प्रयुञ्जीत, 'युवं हिष्ठ' इति च षत्वविशिष्टम्, तदपि पाणिनीयरीत्या शुद्धं स्यात्। तथा च विप्लवो वेदे प्रसज्येत। तदर्थं शौनकेन 'ह्रस्वाक्षरेणैव सत् स्थ' (५।४) इति विशिष्य नियमः प्रदर्शितः। 'सद्, स्थ' इत्यनयोः पदयोर्ह्रस्वाक्षरपूर्वयोरेव षत्वं जायते इति तदर्थः। तेनासन्देहो जातः। तथैव 'सुञ' (८।३।१०७) इति निपातस्य सुञः पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य अविशेषेण षत्वं पाणिनिना विहितम्, तेन 'ऊषुण' 'अभी षु णः' इत्यादि सिद्ध्यति। 'सुदीतिभिः' 'सुदीदिहि' इत्यादौ तु सुञः षत्वं यन्न दृश्यते तदर्थं न विशिष्य प्रयत्नः कृतः, विकल्पेन बाहुल्केन वा तत्समाधानं स्यात्। शौनकेन तु 'स्वरह्रस्वाक्षरेण' (५।५) इति वचनाद्ह्रस्वाक्षरात्पदात्परस्य षत्वं न भवतीति स्पष्टं व्यवस्था कृता। एवमेव 'त्वे षु नो मरुतो मृळयन्तु' (ऋ० १।१६९।५) इत्यत्र सुञः षत्वं दृश्यते, 'त्वे सु पुत्र शवसः' (ऋ० ८।९२।२४) इत्यत्र तु न दृश्यते तदर्थमपि 'ऋकारेणापि रिफति न परं चेत्' (५।८) इति शौनककृता

व्यवस्था दृश्यते, पाणिनेस्तु विकल्पेनैव निर्वाहः। विकल्पश्च कुत्र भवति, कुत्र न वा भवतीति व्यवस्थित्यभावेन वेदेषु विप्लवाशङ्का। कात्यायनेन तु स्वशाखायां यावदुपलम्भम् 'ओकारात्तु' 'उश्चापृक्तात्' (अ० ३।६१–६२) इति ओकारा दुकाराच्चापृक्तात्परस्यैव सुपः षत्वं विहितम्, न ततोऽतिरिक्ता षत्वप्रयोगास्तस्या शाखाया लभ्यन्त इति। एवं पाणिनिना 'युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम्' (८।३।१०३) इति युष्मच्छब्दावयवे तच्छब्दावयवे च तकारे परे सामान्येन षत्वं विहितम्, परं 'त्रिभिष्टिवं देवताता' इत्यादौ यजुषि षत्वं न दृश्यत इति नामग्राहं तन्निषेधः कात्यायनेन कर्तव्योऽभूत् (३ अ० ८१ सू०) यद्यपि कात्यायनेन तच्छब्दे परे सामान्येन षत्वं न विहितम्, तथापि यत्र विहितम्—तद्यथावृत्तेष्वपि नामग्राहं निषेध आवश्यकोऽभूत्। एवं 'संकेव क्षोदः सिसिचे निवत्वे' (ऋ० १।१२।१५) 'वृत्त्वाक सिसिचुरुत्समुद्रिणम्' (ऋ० २।२४।४) इत्यादौ 'आदेशप्रत्यययोः' इति प्राप्तमपि षत्वमभ्यासात्परस्य सकारस्य न दृश्यत इति नामग्राहमेव तन्निषेधः शौनकेन (५।२१) कृतः, नान्यथा गतिः। पाणिनेऽपि 'वा भावकरणयोः' (८।४।१०) इति भावकरणार्थकप्रत्ययनिमित्तपानशब्दनकारस्य णत्वं विकल्पेन पाणिनिना विहितम्, किन्तु 'इदं त्वरात्रिनिमित्तपानम्' (ऋ० ६।४०।१६) इत्यादौ नकार एव पाठ्यः 'सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः' (ऋ० ५।८३।८) इत्यादौ तु णकार एवेति व्यवस्थार्थं शौनकेन (५।४१) प्रयत्नः करणीय एवाभूत्। तथा अस्तदादेशस्य 'न' इति पदस्य 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) इत्यनुगतोऽपि णत्वं पाणिनिना दर्शितम्, परम् 'ईशानासो ये दधते स्वर्णः' (ऋ० ७।९०।६) 'अर्यमा णो अदितिः' (१।१४।१८) इत्यादिषु धातुस्थादपि भिन्नेष्वप्युपपदेषु णत्वं दृश्यते 'सोमानिन्द्र न' (६।११४।४) इत्यादौ तु धातुस्थरुकारात्पर-स्यापि न दृश्यते, तदिदं पाणिनीयैर्बाहुल्यादेव समाधेयम्, शौनकीये प्रातिशाख्ये तु तदर्थं विशिष्य प्रयत्न आवश्यक एव वेदरक्षार्थम्, (शौ० प्रा० ५।५८), यजुःप्रातिशाख्येऽपि 'इन्द्र एणम् प्रथमो अध्यतिष्ठत्' 'समिन्द्रे णो मनसा नेषि गोभिः' इत्यादौ प्रतिपदमुच्चार्यैव णत्वं विहितम्, नैतत्पाणिनीयैः सूत्रैः सिद्ध्यति। तथैवाभिनिधानेऽपि 'अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्वस्युषु च (६।१।११६) इति पाणिनीयं सूत्रं व्याचक्षाणेन कौमुदीकृतैव स्पष्टमुक्तम्—'यद्यपि बहुचैस्तेनोऽवन्तु रथत्' 'सोऽयमागात्' 'तेऽरुणेभिः' इत्यादौ प्रकृतिभावो न क्रियते, तथापि बाहुल्कात् समाधेयम्। प्रातिशाख्ये तु वाचनिक एवायमर्थः, इति। उव्वटेनापि शौनकप्रातिशाख्यस्य व्याचक्षाणेनादावेव प्रयोजनप्रस्तावे उक्तम्—'अथ व्याकरणे यत्सामान्येन 'ऋत्वितुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पा० सू० ६।३।१३३) इति। ... ...तदपवादस्यापवितुमिदमारभ्यते—न सर्वाण्येतानि प्रोक्तानि पदान्यस्यां शा खायां दीर्घाणि भवन्ति, इत्यादि। तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकृदपि च तथैव प्रति

पादितम् । अस्मदुदाहृतभाषानिदर्शनादिभिरवगतम्, सन्ति यादृशो वैदिकास्तथा-विधाः प्रयोगाः, ये पाणिनीयैः सूत्रैरन्वयं न लिङ्गयन्ति, बाहुलकं वा विस्तरो वा तत्र शरणीकरणीयो भवति । तत्र सन्देहनिवृत्तये सत्यपि पाणिनीये व्याकरणे प्रातिशाख्यानामावश्यकता वर्तत एवेति नेदानीं पाणिनिपूर्वत्वमेव प्रातिशाख्यानां पृथक् साधयितुम् । प्रत्युत परमनेनैव प्रकारेणैतत् सिध्येत्, यदि पाणिनेः पूर्वमेव प्रातिशाख्यस्पष्टं भवेयुः प्रयत्नानि निर्माणादिविषयेऽनुपलब्धविशेषाः प्रादुर-भविष्यन्त, तर्हि तानाप्यन्यपाणिनिरपि स्वीयेषु सूत्रेषु तदन्तःकरिष्यदेव । परं नैतदस्ति इह प्रमाणम् । एवं सर्वेषां प्रातिशाख्यानां प्राचीनत्वेऽपि यदि पाणिनेः सप्तकीयत्व, तर्हि तादृशो गुणानुस्मरणमन्धः स्यात्, तस्य प्रभावो नैव लोके लभ्येत् । तस्मात् लौकिकानां प्रयोगाणां सर्वेषां च वैदिकानां तुल्यतयैकं व्याकरणं निबध्नन् विकल्पबाहुल्यकादाश्रयणेनैव, नान्या गतिः । तदित्थं सन्देहास्पदान्येतानि प्रमाणानि ।

पाणिनीये स्थिते कल्पादिवेदाङ्गानामर्थेनैव भवेदिति च यच्चैतदुक्तम्, तदपि न मनोरमम् । नहि व्याकरणमधीत्यैव वेदा अध्येयाः—अध्येयाः परिनिष्ठि-पुरोहितेन प्रवर्तन्ते इति महाभाष्यकारैरुक्तम् । ये च केवलं वेदमेव सम्यगध्येतुमिच्छन्ति—तदर्थमेवाधिकारेण वेदाङ्ग । तस्मात् तेषां कृते पदवर्णसन्धिविसर्गादिज्ञानसन्देह-निवृत्तये कदापि पदच्छन्दसां विकृत्योऽपेक्ष्यन्त एव । न च पाणिनीयेन व्याकरणेन सर्वासु शाखासु वर्णस्वरादिसन्देहा निवर्तयितुं शक्यन्त इत्यनुवादेनैव प्रवर्तितवान् । तस्मादन्योऽपि हेतुः पूर्वरीत्यैव प्रवर्तमानो भवति । किञ्च पाणिनीयस्य व्याकरणस्य महान् व्यापारो यो व्याख्यानमुपलभ्यते प्रायेण सर्वं वैदिकीयैः, तेन विकृतिरूपा जटा-घन-शिखा-रथादिका अष्टौ विकृतयो लक्षिता इति पाणिनेरनन्तरं विकृतीनामावश्यकता कथं प्रतिपादयतु ! यदपि वर्णनिर्देशस्थानप्रयत्नाद्यनुविधानदर्शनेन प्रातिशाख्यानां पाणिनिपूर्वत्वं सिषाध-यिषन्ति, तदपि नैवानुकूलते । पाणिनिर्हि वैयाकरणः, पदान्वाख्यानं तस्य लक्ष्यम् । तत एव वर्णस्वर-स्थानप्रयत्नादिविवेचनार्थं तु शिक्षा पृथक् व्यवस्थाप्यत् । प्रातिशा-ख्यानि तु शिक्षामपि स्वरसन्धिप्रयत्नविषयत्वीति शिक्षाभिन्ना मन्त्रसम्पादनाय कथं तैर्न निरूप्येरन् । तदुक्तं शौनकीयप्रातिशाख्यभाष्ये उव्वटेन मन्त्रोच्चारणप्रस्तावे—

> शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम् ।
> तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ॥

अयमभिप्रायः—वेदाङ्गतया सामान्यतो पृथक् शास्त्राणि प्रणीतानि शिक्षा, छन्दः, व्याकरणम्—इति त्रीण्यपि यत् सर्ववेदसाधारण्येन लक्षणं कुर्वन्ति, तस्य स्वशाखायां विशेषेणैव वेदशब्दानिति नियम्यितुं प्रातिशाख्यान्यारभ्यन्त इति । यथा च सहैव शिक्षादि प्रातिशाख्यैः सम्बन्धोऽन्वयन्त इति ।

विष्णुमित्रोऽप्याह—

[illegible] यो न वेत्त्यनु न कर्मण्यस्य भवेत् ।
[illegible] हि मन्त्राणां [illegible] ।

तत्र चानुपूर्व्यं व्याख्यायते । आनुपूर्व्येण सर्ववेदाध्ययनम् । तथा चोक्तम्—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा दैवं चेत्यर्थमेव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे । इति ।

स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा, इति [illegible] प्रातिशाख्यशिक्षा वेदितव्या । दैवं योगार्थं निरुक्तशिक्षा इत्यादि [illegible] । तस्मात् प्रातिशाख्ये [illegible] स्वनियमता निर्देश्यन्नपि न तावता पौर्वापर्ये [illegible] ।

[illegible] विचारे सति—प्रातिशाख्येषु [illegible] प्रदर्शितम्, पाणिनिना तु न [illegible] विशिष्य [illegible] सुगमं [illegible] । इदञ्च [illegible] प्रातिशाख्येभ्यः [illegible]—[illegible] विधानेन [illegible], अर्वाचीनेषु तु [illegible] कुर्वन्ति । तत्र निदानमन्यत् प्रातिशाख्यानां प्राचीनत्वमाविष्कर्तुं भवेदिति । तथा हि शौनकीये प्रातिशाख्ये—

[illegible] वाङ्नाद [illegible] ।
[illegible] ॥ २ ॥

'[illegible]' इत्यादिना [illegible] पूर्वोक्तेनापि [illegible] च प्रदर्श्य—

'[illegible] होमं समाप्य'

इति [illegible] वा, [illegible] यदा प्राणो भवति, वाक् तदा [illegible], [illegible] तूष्णीं वा भवति [illegible] वा, प्राणे तदा वाक् भवति, प्राणस्तदा वाचं [illegible] (ऐ० आ० ३।२।६) '[illegible]', [illegible] वाचि हि प्राणं जुहुम, प्राणे वा वाचम्, [illegible], स एवाध्याय (ऐ० आ० ३।२।६) इत्यादि श्रुतौ [illegible] होमं [illegible] निर्दिष्ट, स एव [illegible] । उक्तं च—

[illegible] प्राणं [illegible] ।
[illegible] (ऐ० प्र० ७३।१)

इत्यादिना [illegible] निरुक्तम् । तत्र [illegible]—'[illegible]' '[illegible]' (ऋ० ७।६,७) इत्यादिना [illegible] [illegible] । किन्तु शौनक [illegible] । श्रूयते च—

'अथ वाचो वृत्तिं व्याख्यास्यामः', वायुः प्रकृतिरित्याचार्याः, वायुर्मूर्ध्नि श्वासीभवति, श्वासो नाद इति शाकटायनः। वायुरुत्सर्गेण कं मूर्धनि-अवतीर्य- घोऽयं -स खलु सविशेषं प्रतिपन्नः श्वासेतिरभिवृत्तिः, स श्वसितः शिरः प्रतिहत्य आकाशमद्वारकं नदतिर्भवति'।

इत्यादिना विशिष्य वर्णोत्पत्तिविज्ञानं विवृतम्। एवमन्यत्रापि। तथा च प्रातिशाख्यानामेषां पाणिनिपूर्वभवत्वमेवाऽनुमीयत इति। अत्रापि परे विप्रतिपद्यन्ते-प्रातिशाख्येषु हि शिक्षादिविषयोऽपि संगृहीत इत्युक्तं प्राक्। वर्णोत्पत्तिविज्ञानप्रदर्शनं च शिक्षाया एव विषय। पाणिनिना च शिक्षा पृथगेव रचिता, न व्याकरणसूत्रेषु संगृहीता, तस्माद्वर्णोत्पत्तिविज्ञानस्य सूत्रेषु प्रसङ्ग एव नास्ति, शिक्षायान्तु पाणिनिनाऽपि वर्णोत्पत्तिविज्ञानं विवृतमेव—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। इत्यादिना।

प्रत्युत प्रातिशाख्यैः श्वासनादादिविवरणेन वैखर्या वाच एवोत्पत्तिरुक्तान्ता। प्राणवायुव्यापाराद्युत्तरमेव ते व्यापारं विवृण्वते, पाणिनिस्तु प्राणव्यापारात्पूर्वमपि आत्म-बुद्धि-मनोव्यापारं सगृह्णन् मध्यमां पश्यन्तीं चाऽपि वाचमभिव्यञ्जयतीति तत्रैव विज्ञानाधिक्यं स्फुटति। किञ्च ऋक्तन्त्रे प्रथमे प्रपाठके विषयोऽयं विवृतः। स च प्रपाठको न व्याख्यातः व्याख्यात इति मूलग्रन्थानुपगमात एव तस्यानुमीयते, शौनकीयेऽपि प्रथमाध्यायस्याद्यभागेव विषयस्याऽस्य विवरणमिति प्राक्तनात्कस्माच्चिद् ग्रन्थादत्र वैज्ञानिको विषयोऽयं संगृहीत इत्येव प्रतीयते। अन्येषु तु प्रातिशाख्येषु न तथा प्रतिपाद्यते विज्ञानमिति नायमपि निर्णयहेतुर्दृढः प्रसिद्ध्यति। सन्देहास्पदमेवाऽत्रापि पौर्वापर्यम्। किञ्च पाणिनिरादेशवादी, प्रातिशाख्यानि च विकारवादीनि। एकस्य वर्णस्य वर्णान्तरतापत्तिर्विकार इत्युच्यते, एकस्य वर्णस्य वर्णसमूहरूपस्य प्रातिपदिकस्य धातोः पदस्य वा स्थानेऽन्यस्योच्चारणन्तु आदेश इति। तत्र दार्शनिकरीत्या विचार्यमाणो वर्णपदादिषु विकारो नैवोपपद्यते। न शब्दनित्यत्ववादे, न वा अनित्यत्ववादे-उभयथापि विकारो न सम्भवति। नित्यतावादे हि कूटस्था अविनाशिनो वर्णा इति कथं विकारः सम्भवेत्। अनित्यत्ववादे च उच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णा न तावत् स्थितिं लभन्ते-यावत् तानुपमर्द्य वर्णान्तरं तत्रागच्छेत्। न च वर्णसमूहरूपं प्रातिपदिकधातुपदादि वस्तुतः स्वरूपं धत्ते-वर्णानामुच्चरितप्रध्वंसिनां समुदायासम्भवात्, तस्माद् बुद्धिपरिकल्पिता एव धातुप्रातिपदिकादय इम इति न तत्रापि विकारसम्भवः। सोऽयं विकारासम्भवः

शब्दानामनित्यत्वादिना न्यायसूत्रकृता गोतमेन सूत्रेषु सम्यग्विवृत इत्यवोचाम । तत एव पाणिनिर्विकारमत परित्यज्य आदेशपक्षमेव गृहीतवान्—'षष्ठी स्थानेयोगा' इति परिभाषाप्रमाणं । विवृतञ्च विस्तरेण तन्महाभाष्ये । 'प्रातिशाख्यानि तु विकार-पक्षमेव परिगृह्णन्ति । पदान्तादिष्वेव विकाराः शास्त्रं पदे दृष्टेषु वचनात् प्रतीयात्' (पट० २ सू० ५) इति शौनकेन सन्ध्यशास्त्रप्रवृत्तौ स्पष्ट विकारपदं प्रयुक्तम् । ऋक् तन्त्रप्रणेत्राऽपि 'विकार' (सू० ९१) 'उत्थान' (सू० ९२) इति स्पष्ट विकार पदं प्रयुक्तम् । कात्यायनोऽपि 'तस्मिन्निति विकारः' (१।१३१) इति विकारमेव स्वीकरोति 'द्वितीयया विभक्त्या यो निर्दिश्यते स विकारः प्रत्येतव्यः' इति तदर्थः, एवमन्यत्रापि । सूत्रशैल्यप्येषा विकारपरैव, 'ककारपकारयोः षकारम्' (३।२१) (ककारपकारयो परयोर्विसर्जनीयः षकारमापद्यते–षकाररूपतां गच्छति) इत्यादि कात्यायनः । 'दीर्घम्' (९३) (स्वरौ दीर्घमापद्येते) इत्यादि ऋक्तन्त्रकार, 'ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्' (पट० २।२७) (ह्रस्वपूर्वस्तु स विसर्जनीयः स्वरोदयो अकारमापद्यते) इत्यादि शौनक । 'ओकार आवम्' (९।१५) (ओकारः यदा स्वरपरः, अवं विकारमापद्यते) इत्यादि तैत्तरीय प्रातिशाख्ये । तस्मादस्मत विकारवादिप्रातिशाख्यापेक्षया आदेशवादी पाणिनिरेव वैज्ञानिकपूर्वन्य इति स्फुटीभवति । वर्णा अपि ह्रस्वदीर्घप्लुतयुक्तास्तैः प्रातिशाख्य कृद्भिः संगृहीता इति तत्तल्लक्ष्ययापि पौर्वापर्यं न निर्णेतुं शक्यते । भवतीदं यद्यपि विचार्यम्—शौनकीये प्रातिशाख्ये लृकारः स्वरेषु न परिगण्यते, पाणिनीये ह्रस्व एव लृकारो गृहीतः । दीर्घस्तु नास्त्येव । कात्यायन–ऋक्तन्त्रयोस्त्रिविधोऽपि लृकारः परिगृहीतः । तैत्तरीयप्रातिशाख्ये च पाणिनिवत् केवल ह्रस्व इति । अथ चाऽपि स्वरान्तरवद् ह्रस्वदीर्घौ लृकारौ वर्णसमाम्नाये पठ्येते । स्वरान्तराणा-मिव तयापि भेदोऽस्त्येवेति, एतेन मतभेदमाश्रित्य पूर्वापरीभावः कथञ्चिदनु-मीयेत । त्रिविधमपि लृकारं छन्दोऽर्वाचीनाः, अतोऽन्यन्तस्तु सर्वत्र प्राचीनाः इति सम्भाव्यते । परं माध्यन्दिनादिकृद्भिः सर्वैरेव स्वरान्तोरयुक्ता वर्णा इह सङ्गृह्यन्ते इत्येवोक्तमिति नैतदप्यनुमान दृढ भवितुमर्हति ।

अथ सूत्रप्रक्रियाया अन्तरङ्गपरीक्षा कर्तव्या । तद्रीत्या कात्यायनप्रातिशाख्य-न्तु पाणिनेरर्वाचीनमेवानुमीयते । तस्य हि सूत्रग्रन्थनशैली पाणिनिना तद्वद् अवदति । किञ्च 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (अ० १।१६४) 'तस्मादित्युत्तर-स्यादेः' (१।१३५) 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१३६) इति सूत्राणि स्पष्टं पाणिनिसूत्रानुकारीणि दृश्यन्ते । तत पाणिनिनैव प्रातिशाख्यादुद्धृतानीति विप-रीतमेव किं न स्यादिति चेद्, नैषा परिभाषाशैली अन्येषु प्रातिशाख्येषु दृश्यते इति पाणिनेरेव शैली कात्यायनेनानुकृतेति मन्तव्यं स्यात् । इदञ्च विशेषेणावधेयम्—

पाणिनिना हि 'आदेः परस्ये'त्येतदपेक्षया 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इत्यस्य परत्वं रक्षितुम् 'तस्मादित्युत्तरस्य' 'आदेः परस्य' इति पृथग् योगौ कृतौ, तेन 'अष्टाभ्य औश्' इत्यादौ 'तस्मादित्युत्तरस्ये'ति प्रवर्तते, 'आदेः परस्ये'त्येतत्तु 'अनेकाल्-शित्सर्वस्ये'त्यनेन बाधितं न प्रवर्तते, तदेतत्स्पष्टीकृतं सिद्धान्तकौमुद्याम्। प्रातिशाख्ये तु 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'ति परिभाषणाऽभावात् पृथग्योगकरणस्य नास्त्यावश्यकत्वमित्यनुसन्धाय कात्यायनेनात्र 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इत्येक एव योगः कृतः, तदेतत् पाणिनेरनुकरणं स्पष्टं बोधयति। किञ्च 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति नास्ति प्रातिशाख्यानां शैली, तेषु स्थानी न प्रायेण षष्ठ्या निर्दिश्यते, अपि तु प्रथमया निर्दिश्यते—'अमुको वर्ण अमुकरूपतामापद्यते' इत्यादि क्रमेण, तदेतन्निदर्शितं प्राक्। कात्यायनेनापि प्रायेण सैव शैली सूत्रेष्वनुसृता—'विसर्जनीयः' (प्राति० ३।६) 'चटयोः शम्' 'तथयोः सम्' (३।७-८) 'लकारो ल ल्म्' (४।१३) 'मभानुमानिकम्' (४।१४) 'सर्वो अकार ओकारम्' (४।४३) इत्यादिषु। क्वचिदेव तु स्थानषष्ठी निर्दिष्टा—'यकाराकारयोर्लोपस्वरे पदे' (४।४१) 'यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः' (४।१२७) इत्यादौ। तथापि 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति परिभाषा कृता तेन स्पष्टं प्रतीयते परिभाषेयं पाणिन्यनुकारिणी, सूत्रप्रणयनं तु सजातीयप्रातिशाख्यसंस्कारेणेति।

'अन्त्यादलोऽल्पूर्वं उपधा' (१।१५) 'समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः (१।४३) 'मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः' (१।७५) 'संख्यातानामनुदेशो यथा-संख्यम् (१।१४३) 'विकारी यथासम्भवम्' (१।१४२) 'विप्रतिषेध उत्तरं बलवदलोपे' (१।१५९) स्वरो परवत्तम्' (४।१२) इत्यादीनि च सूत्राणि कात्यायनीये प्रातिशाख्ये 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' 'स्थानेऽन्तरतमः' 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यादिभिः पाणिनिसूत्रैः समानार्थानि किञ्चित्परिवर्तिताक्षराणि दृश्यन्ते। किमन्यत्—पाणिनिसूत्रेषु वार्तिक-कारोऽपि कात्यायनः उच्यते, प्रातिशाख्यकृदपि। तयोर्मतसंवाददर्शनादेकत्व-मेवानुमीयते। तथा हि—अत्रैव 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इति सूत्रे आस्यपदस्य प्रयत्नविशेषणतामभ्युपगम्य भिन्नस्थानानामपि सवर्णसंज्ञामाशङ्क्य 'आस्ये तुल्य-देशप्रयत्नं सवर्णम्' इति न्यासो वार्तिककृतोट्टङ्कितः, प्रातिशाख्ये च 'समानस्था-नकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः' इति आस्यात् स्थानग्रहणं पृथक् कुर्वता सैव प्रक्रियाऽ-नुसृता। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति पाणिनीये सूत्रे 'लुग्लोपयणयवायावेका-देशेभ्य.' इति लुकः परापेक्षयापि बलवत्त्वं वार्तिकं उट्टङ्कितम्, प्रातिशाख्ये तु लुको लोपस्य च पार्थक्याभावेन लोपमात्रे विप्रतिषेधविधिर्निरुद्धः 'विप्रतिषेधे उत्तरं बलवदलोपे' इति। 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्य.' इत्यप्यस्ति पाणिनीये

वार्तिकम् । प्रातिशाख्येऽपि 'मुड् मुदि जित्वरे' (३।१३) इति तदनुवादो दृश्यते। 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' इति पाणिनीये वार्तिकम्, 'तद्बृहतोः करपत्योस्तलोपश्च' (३।५३) इति प्रातिशाख्ये तदनुवादः। यद्यपि तद्बृहतोः करपत्योरित्येतद्गणपाठे पारस्करादिगणे केचित् पठन्ति, परं भाष्यकृता 'वक्तव्यम्' इत्युपन्यासाद् वार्तिकमेतद् प्रतीयते। न हि गणसूत्राणि भाष्यकृदनुवदति। भवतु वा गणसूत्रम्, तथापि पाणिन्यनुक्तमिदं प्रातिशाख्ये सिद्धमेव। 'दाधाद्घ्नोऽन्तस्य च टः संज्ञायाम्' 'धारो वा' इति दार्वाघाट–धार्वाघाटादिशब्दसिद्ध्यर्थं प्रयत्नः पाणिनिवार्तिककारेण कृतः, प्रातिशाख्येऽपि 'स आघाटनाघ्नरात्' इति तत्सिद्ध्यर्थं प्रयत्नो दृश्यते। प्रक्रियाभेदोऽत्र यो दृश्यते, स तु प्रातिशाख्ये णत्वणादिप्रत्ययानामविवरणादेव। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) इति पाणिनीये सूत्रे 'ऋकाराच्चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिककृतोक्तम्, प्रातिशाख्येऽपि 'ऋषरेफेभ्यो नकारो णकारं समानपदे' इति ऋकारं संयोज्य पाणिनिसूत्रमर्थतोऽनूदितम्। 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति सूत्रेऽपि 'अयव्यवाये प्रतिषेधः' इति वार्तिककारः, प्रातिशाख्येऽपि, 'स्वरयवह कवर्गैश्च' (३।८५) इति सूत्रेण सम्प्रत्यव्यवधानमुक्त्वा अन्ते 'शिखिनिर्गतमध्यम व्यवहितोऽपि' (३।९५) इति प्रतिषिद्धव्यवधाने नकारस्य प्रकृतिभावोऽपि विहितः। भाष्यकृता सूत्रस्य नियमार्थतामाश्रित्य वार्तिकं खण्डितमित्यन्यदेतत्। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इति सूत्रे 'षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' इति वार्तिकमारब्धम्। प्रातिशाख्येऽपि 'षड् दशदन्तयोः सङ्ख्यावयोर्थयोश्च' (३।४७) इति तदेवानुकृतम्। अत्र तु उवट आह 'षोडन्त' इति, एतच्च शिष्यव्युत्पादनार्थम्, नहि संहितायामुदाहरणं लभ्यते, इति टीकान्तरे च शाखान्तरस्योदाहरणं दर्शितम्। तट्टीका तु स्फुटमेवेदं भवति, यत्पाणिनीये वार्तिके यदुक्तम्, तत्सूत्रकारेण तदनुवादरूपेणैव दन्तशब्दोऽत्र निवेशित इति। एवं पाणिनीयवार्तिके 'वर्णात्कारः' इति पठितम्, प्रातिशाख्येऽपि 'निर्देश इतिना, कारेण च' (१।३७) इति तदनूदितम्। यत्तु प्रातिशाख्ये 'नानुस्वारयमविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः' इति अनुस्वारादिशब्देभ्यः कारप्रत्ययस्य निषेध आख्यातः, स [illegible] पाणिनीये प्रत्याहारसूत्रेष्वेषां वर्णत्वेनाऽनिर्देशात्तत्रोपेक्षित इति प्रतीयते। एवमेवान्विष्यमाणे प्रसङ्गे बहुत्र पाणिनीयवार्तिकस्य वाजसनेयप्रातिशाख्यस्य च मैक्यमुपलभ्यते। यानि तु वार्तिकानि न प्रातिशाख्येऽनुसृतानि तत्साध्याः शब्दाः अस्यां शाखायां न सन्तीत्येव प्रायेण सिद्ध्येत्। यदि हि वाजसनेयप्रातिशाख्यं पाणिनेः पूर्वमभविष्यत् पाणिनिना विधानानीमानि तथाऽद्रक्ष्यन्त, तर्हि, कथं स इमानि विधानानि स्वसूत्रेषूपैक्षिष्यत। कथं शर्परे खरि विसर्गलोपस्तेन स्वसूत्रे न विहितः स्यात्। कथं च षोडशादिशब्दसिद्ध्यर्थं षष उत्वं

न विधीयेत। मनुष्यसुलभमनवधानं ग्रन्थेषु सम्भवतीति सत्यम्, परमन्येषां विधीन् स्पष्टं दृष्ट्वापि कथमनवधानमनल्पमतेः सम्भवेत्। तस्मात् पाणिनेरेवा- नन्तरमेव यजुःप्रातिशाख्यमिति सिद्ध्यति। एवं पाणिनीयाः समासतद्धिताद्याः संज्ञा अप्यनारम्भ एव स्फुटमुक्ताः — 'तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्' (का० प्रा० १।२९) अत्र हि चतुष्टयेति समासविशेषणं स्पष्टं पाणिनीयव्याकरणं स्मारयति। व्याकरणान्तरेऽपि कृत्तद्धितसमासादिसंज्ञाः स्युरित्यभ्युपगमेऽपि समासस्य भेदचतुष्टयं तत्राप्यासीदिति कल्पनायां मानाभावः। नचैवंविधा शब्दभेदा अन्येषु प्रातिशाख्येषूपलभ्यन्ते इति पाणिनीयसंस्कारेणैव कात्यायनेन विभागोऽयं प्रदर्शित इति सुस्पष्टं शक्यमनुमातुम्। एवं व्याकरणपद्धतिरपि यजुःप्रातिशाख्येऽनुसृता 'इत्तस्य मूर्धन्यापत्तिर्नेति' (१।५२) इत्यादिना। न ह्यन्येषु प्रातिशाख्येषु बाहुल्येन व्याकरणं दृश्यते। एवमेव एङः परस्याकारस्य पूर्वरूपमभिनिधानशब्देन शौनकादिभिरुच्यते, कात्यायनेन तु 'एदोद्भ्यां पूर्वमकारः' (४।१२) इति पूर्वरूपशब्दं वदता पाणिनिप्रक्रियैवानुसृता। 'नश्छव्यप्रशान्' इति पाणिनीय प्रक्रियायां च परं लाघवमत्र 'चछयोः शम्' 'तथयोः सम्' इति (३।१३४–१३५) प्रदर्शितम्—इत्याद्यनुसन्धेयम्। तेन यजुःप्रातिशाख्यस्य पाणिनिपरभवत्वमेकान्त- रङ्गपरीक्षया सिद्ध्यति। अभ्युपगम्यते चाप्येतदितिहासविद्भिर्बहुभिस्तथैव। तैत्तरीय प्रातिशाख्यमपि अनेनैव तुल्ययोगक्षेमम्। तत्राऽपि हि 'उच्चैरुदात्त' (१।३८) 'नीचैरनुदात्त' (१।३९) 'समाहार स्वरित' (१।४०) इति सूत्राण्यनूदितानि लभ्यन्ते। 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' इति पाणिनीयसूत्रं च 'तस्यादित उच्चै- स्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धह्रस्वम्' 'उदात्तसमः शेषः' (१।४१–४२) इति सूत्रद्वयेनानूद्यते। अत्रापि ह्रस्वपदं स्वार्थमप्रयुक्तमेव पाणिनीये सूत्र इव व्याख्याकृद्भिरुच्यते। 'एकवर्णं पदमपृक्त' (१।५४) इत्याद्या संज्ञा अपि पाणिनिनैव प्रवर्तिता। 'एकः पूर्वपरयोः' 'अन्तादिवच्च' इति पाणिन्यनुकरणेन 'अथैकमुभे' (१०।१) इत्याद्यधिकारसूत्रम्, 'आद्यन्तवच्च' (१।५५) इति परि- भाषापि किञ्चिद्विषयभेदेनाश्रीयते। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इत्यस्य स्थाने 'तत्र पूर्वं पूर्वं प्रथमम्' (१।३) इति विपरीतं परिभाष्यते। 'वर्णात्कारो रस्तु वर्णस्य' (१।१६) 'न विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्यानाम्' (१, १६–१८) इत्यादि च कात्यायनेनैव विधीयते। अन्यदपि कात्यायनानु- करणमत्र दृश्यते इति तस्यापि पाणिनिपरभवत्वे न सन्देहः।

अथ ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यमेवमेवालोच्यते। तत्र हि सुडागमप्रकरणे बहूनां सूत्राणां पाणिनिसूत्रैरक्षरशः, किञ्चिद् व्यत्यासेन, अर्थतो वा परं साम्यं प्रतीयते। तान्युदाहरिष्यामः —

शब्दतन्त्रे	पाणिनीये
१ स सुट्करोतौ (१८९)	१ सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे (६।१।१३७) समवाये च (६।१।१३८)
२ अड्व्यवायेऽभ्यासे (१९०)	२ सुट् कात्पूर्वः (६।१।१३५)
३ कुन्तकारस्कर इष्टे (१९१)	३ ,, ,,
४ पर्युपसृष्टप्रतियत्नवाक्येषु (१९२)	४ सम्परिभ्याम्० (पूर्वोक्तम्) उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च (६।१।१३९)
५ अव वर्चोऽवस्करयो (१९३)	५ वर्चस्केऽवस्कर (६।१।१४८)
६ पार पर्वते (१९४)	६ पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्
७ अप रथ (१९५)	७ अपस्करो रथाङ्गम् (६।१।१४९)
८ चित्रानुव्यालखनम् (१९६)	८ अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने (६।१।१४२)
९ उपस्ती हिंसायाम् (१९७)	९ किरतौ लवने (६।१।१४०) हिंसायां प्रतेश्च (६।१।१४१)
१० वि शकुनौ (१९८)	१० विष्किर शकुनिर्विकिरो वा (६।१।१५०)
११ कुस्तुम्बुरु जातिः (१९९)	११ कुस्तुम्बुरूणि जाति (६।१।१४३)
१२ आस्पदमास्थायाम् (२००)	१२ आस्पदं प्रतिष्ठायाम् (६।१।१४६)
१३ अपरस्पर सातत्ये (२०१)	१३ अपरस्परा क्रियासातत्ये(६।१।१४४)
१४ प्रस्कण्व ऋषि (२०२)	१४ प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी (६।१।१५३)
१५ गोष्पदमुदकमाने (२०३)	१५ गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु (६।१।१४५)
१६ अगोष्पदमनाचरिते (२०४)	१६ ,, ,, ,,
१७ आश्चर्यमनित्ये (२०५)	१७ आश्चर्यमनित्ये (६।१।१४७)
१८ आरशा आस्कमो निष्कुलिङ्गा (२०६)	१८ × × ×
१९ समास श्चन्तु चन्द्रे (२०७)	१९ ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे (६।१।१५१)
२० कास्तीराजस्तुन्दे नगर (२०८)	२० कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (६।१।१)
२१ नदी रथस्पा (२०९)	२१ रथस्पा नदी (गणपाठे (६।१।१५७) सूत्रोपरि)
२२ मस्करा वेणु (२१०)	२२ मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयो (६।१।१५४)
२३ तस्कर स्तेन (२११)	२३ तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयो सुट् तलोपश्च (गणपाठे ६।१।१५७ सूत्रोपरि)

कश्चिदपि विचारक एतद् ब्रूयादेव, यदीदृश सादृश्य यादृच्छिक न सम्भवति, अवश्यमेकेन परस्य सूत्रपाठोऽनुकृत एव, तत्र केन कस्य पाठोऽनुकृत इति विचार्यम्। कतिपयेषु सूत्रेषु एकस्यापरेण भेदो दृश्यते, तत्र पाणिन्यपेक्षया प्रातिशाख्ये यत्र न्यूनता, तत्र तु शक्यमेव वक्तुम्—यत्सामशाखाया तादृशा प्रयोगा नोपलभ्यन्ते इत्यतः प्रातिशाख्यकृता ते परित्यक्ता। यथा—'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयो' इति पाणिने पाठ, 'मस्करो वेणु' इति लघुश्च प्रातिशाख्यस्य। तत्र परिव्राजकार्थो मस्करिशब्द सामशाखाया नोपलभ्य स्यादित्येव प्रातिशाख्यकृता परित्यक्त इति सम्भाव्यते। तथैव 'प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी' इति पाणिनिसूत्रस्य हरिश्चन्द्रपद यत्प्रातिशाख्ये परित्यक्तम् 'प्रस्कण्व ऋषि' इति सूत्रे, तत्रापि 'समास ऋतुचन्द्रे' इति सूत्रेणैव हरिश्चन्द्रशब्दसिद्धिरिति हेतु सम्भाव्यते। पाणिनिना तु 'हस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' इति सूत्रयताऽपि लौकिक हरिश्चन्द्रपदसाधनार्थं प्रस्कण्वहरिश्चन्द्राविस्यत्रापि हरिश्चन्द्रपदग्रहण कृतम्। एवम न्यत्राप्यूह्यम्। पर प्रातिशाख्यविधान यत्र पाणिनिना परित्यक्तम्, तत्र हेतुर्न दृश्यते। यथा 'अवमर्यादावर्चस्कयो' इति मर्यादाया वर्चस्के च ऋकृतन्त्रकार अवस्करपद साधयति, पाणिनिस्तु वर्चस्के एव। तत्र मर्यादार्थे अवस्करशब्द कथ पाणिनिनोपेक्षित? पाणिनिर्हि सर्ववेद—लोकसाधारण व्याकरण निबध्नातीति न सामशाखाप्रयोगस्तस्योपेक्ष्यो भवितुमर्हति। तथैव 'आस्का आस्कामौ विस्फुलिङ्ग' इति कथ पाणिनिनोपेक्षितम्? सम्भवति मनुष्यसुलभमनवधान तेषा अत्यादिदृष्टाना प्रयोगाणामित्यवोचाम, पर यदि पाणिनिना ऋकृतन्त्रसूत्राण्यनुकृतानि स्यु, तर्हि मध्ये स्थितमेकं सूत्र स कथ परित्यजेत्? प्रत्यक्षं परिदृश्यमाने सूत्रे नानवधानमल्पमतेरपि सम्भाव्यते, किं पुनरनल्पमते। तस्मात्पाणिनिना ऋकृतन्त्रसूत्राणि नानुकृतानि, अपि तु ऋकृतन्त्रकृतैव पाणिनिसूत्राण्यनुकृतानि, तत्र स्वशाखायामदृष्टा प्रयोगविशेषा अर्थविशेषाश्चोपेक्षिता, अनवधानेन विस्तरभयेन वा पाणिनिना त्यक्तास्तु स्वशाखायां दृश्यमाना कतिचिदर्था प्रयोगा वा सगृहीता इत्येव सम्भाव्यते। तदित्यमृकृतन्त्रस्यापि पाणिनिपरभवत्वमेवा त रङ्गपरीक्षया सिद्ध्यति। यत्तु 'किरताऽध्यात्मम्' इत्यसष्ट प्रातिशाख्य उक्तम्, पाणिनिना तु 'चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' इति स्पष्ट तद्विवरण कृतम्, तस्मात् पाणिने परभवत्वमेव केचित्साधयन्ति। तदेतदुक्तस्य प्रमाणस्यात्रे अतीव दुर्बलम्, चतुष्पाद्रूप शकुनिरूप च विशेषमुपेक्ष्य सक्षेपेण अध्यात्ममित्येव प्रातिशाख्य कृता समुद्धृतमित्यन तथाविधविशेषाभावात्। हर्षजीविकाकुलायकरणाद्या विशेषास्तु वार्तिककृता दर्शिता, न सूत्रकृता पाणिनिनेति।

सूत्रान्तराणामपि ऋक्तन्त्रे सादृश्यं दृश्यते—

ऋक्तन्त्रे	पाणिनीय
१ उद स्थास्तम्भो (१६७)	१ उद स्थास्तम्भो पूर्वस्य (८।४।६१)
२ पृषोदरादीनाम् (१६६)	२ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (६।३।१०९)
३ सन्निकर्षः संहिता (६७)	३ पर सन्निकर्षः संहिता (१।४।१०९)
४ गो (७९)	४ सर्वत्र विभाषा गो (६।१।१२२)
५ न वा (८०)	५ ,, ,, ,,
६ अवङ् वा (८१)	६ अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३)

दीर्घप्रकरणे तु षकारप्रकरण इव विशेषेण सादृश्यमुपलभ्यते। यथा—

ऋक्तन्त्रे	पाणिनीये
२१५ कर्णस्य भृङ्गे (कर्णाभृङ्ग)।	×
२१६ वृषस्य कपिमोदनीदर्भेषु। (वृषामोदनी, वृषाकपि)	×
२१७ कर्णे प्लीहाङ्कुशकुण्डलोपरिष्टाध्वस्तवाणानाम्। (प्लीहाकर्णी, अङ्कुशाकर्णी, कुण्डलाकर्णी इत्यादि)	कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य (६।३।११५)
२१८ विश्वस्य नर वसुराट्सु। (विश्वानर, विश्वावसु, विश्वाराट्)	विश्वस्य वसुराटोः (६।३।१२८) नरे संज्ञायाम् (६।३।१२९)
२१९ मित्र ऋषौ।	मित्रे चर्षौ (६।३।१३०)
२२० श्वितपदवराहकर्णदन्तदंष्ट्रेषु सम्मति चेत्। (श्वावित्, श्वापद, श्वावराह इत्यादि)	शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्य (वार्तिकम्)
२२१ सर्वनाम्नो दृशि। (कीदृग्, अस्मादृक् इत्यादि)	इदङ्किमोरीश्की (६।३।९०) आ सर्वनाम्न (६।३।९१)
२२२ उक्षवेहती। (उक्षावेहती)	×
२२३ उपानधे। (उपानद्धो रोग)	×
२२४ साङ्केन [illegible] समागमे। (हस्ताहस्ति, मुष्टामुष्टि, केशाकेशि, दण्डादण्डि)	अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३७)
२२५ अष्ट। (अष्टाकपालम्)	छन्दसि च (६।३।१२६) अष्टनः कपाले हविषि (वार्तिकम्) (गवि च युक्ते) (अष्टागवम्, अष्टाकपालम्)

ऋक्तन्त्रे	पाणिनीये
२२६ प्राक् शतात्। (अष्टादश, अष्टाविंशति)	इत्यष्न सख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः (६।३।४७) 'प्राक् शतादिति वक्तव्यम्'
२२७ पद-गोयुक्त-दन्त-धानीये च तीर्थे। (अष्टापदम्, अष्टागोयुक्तम्, इत्यादि)	अष्टन सज्ञायाम् (६।३।१२५)
२२८ नाम्नां पादि। (पुरापाट, यवापाट्)	छन्दसि सह (३।२।६३) (णिःप्रायय उपधावृद्धि)
२२९ वने ऽग्रप्रभृतीनां प्राच्यभरत सज्ञा चेत्। (ओलूपावनम्, सुन्दरावनम्)	वनगिर्योः सज्ञायाम् कोटरकिंशुलुकादीनाम् (६।३।११७)
२३० उपसर्गे धाताववकाशे नामभूते। (उपानत्, प्रावृट)	नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु कौ (६।३।११६)
२३१ इयपरे गुवादावकाराङ्के (नीवर्तं, परीवर्तं, परीवाप)	उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२)
२३२ प्रसन्नादौ सादनदृद्धसेनेषु। (प्रासद, प्रावृद्ध, प्रासेन इत्यादि)	,, ,, ,,
२३३ न ऽत्वमावे लुडने चे। प्रासादो गुरुणाम्, प्रसादो मृत्तिकायाः)	,, ,, ,,
२३४ निष्ठायामित्वादौ (नीत्त, वीत्त, परीत्त)	दस्ति (६।३।१२४)
२३५ उ च कारो दर्शने (चकारादि कारोऽपि गृहीत (प्रतीकाशते, अनूकाशते)	इक काशे (६।३।१२३)
२३६ पुरुष धु। (एवा ह्यसि, योबा निन्द)	इयचोऽतस्तिङः (६।३।१३५)
२३७ उघोर्घुनि घोषादि (तमू शुचिम्, अस्मस्य नू मह)	ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (६।३।१३३)
२३८ इ (शुची इवम्, यदी वहन्ति, गृणुही गिर)	×
२३९ सोऽस्मि दन्त्येऽन्ते (कृधी न, अभीषुण, इत्यादि	×
२४० वण्द्वे	×

अग्रेऽपि प्रातिशाख्ये दीर्घस्य बहुप्रपञ्च—२९५ सूत्रपर्यन्तम्। नाममाह च्वे तत्र दीर्घविधानम्। तत्र प्रायेण 'अचि तुनुघ' इति निर्दिष्टे सूत्रेऽन्तर्भवति। अग्रे पाणिनीयेऽपि कतिचन सूत्राणि दृश्यन्ते येषां प्रतिरूपकं प्रातिशाख्ये न लभ्यते। यथा—वले (६।३।११८)। मतौ बह्वचोनजिरादीनाम् (६।३।११९)। शरादी नाञ्च (।३।१२०) इको वहेऽपीलो (६।३।१२१)। चिते कपि (६।३।१२७) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (६।३।१३१) ओषधेश्च विभक्तौ प्रथमायाम्। (६।३।१३२)। वा धपूर्वस्य निगमे (६।४।९) (अमुष्याणम्, अमुक्षाम्) इति।

अत्रापीद सादृश्य याद्दच्छिक न प्रतीयते, अध्ययमेकेन परस्य समन्वयनं दृष्ट्वाऽनुवाद इव। तत्रापि पूर्वोक्ता युक्तिरनुसन्धेया, पाणिनीयसूत्राणां प्रतिरूपकं प्रातिशाख्ये यत्र न दृश्यते, तत्र सामवेदे एतादृशाः प्रयोगा न लभ्यन्त इति वक्तुं युक्तम्। ऋक्तन्त्रस्य केवल सामशाखीयत्वात्। सर्वशाखानां लौकिकप्रयोगैः सह समुदाय केन पाणिनिना तु प्रातिशाख्ये दृष्टास्तत्र तत्र विषया कुत उपेक्षिता इत्यत्र न किमपि समाधान स्यात्। विश्वावसु, विश्वामित्र, इत्यादौ प्रातिशाख्ये दृष्टो दीर्घविधिर्यदि पाणिनिनानूदितस्तर्हि 'उत्तानच' 'उभावृतौ' इत्यादिषु कुत उपेक्षित इति नैतदुत्तरयितु शक्यते। तादृशप्रयोगाणामनतिप्रसिद्धत्वात्पूर्वेत्यपि सर्वत्र न वक्तु शक्यते—'वृषाकपि' इत्यादि प्रयोगाणां संस्कृतवाङ्मये सुप्रसिद्धत्वात्। किञ्च 'अपद' 'अवराह' इत्यादौ पाणिनिनोपेक्षितमपि दीर्घत्वं वार्तिककारेणोपसंख्यातम्, तेनापि प्रयोगाणामप्रसिद्धिर्न सम्यक् प्रतीयते। पाणिनिर्हि 'द्वयच सत्यायाम्' इत्यच्छब्दस्य सामान्येन दीर्घ विधत्ते, 'अष्टदृसम्' इत्यादौ तु दीर्घ न दृश्यते, तदर्थ पाणिनेर्न कोऽपि यत्न। प्रातिशाख्ये तु 'प्राक् शतात्', इत्युक्तम्, वार्तिककारेणापि 'प्राक्शतादिति वक्तव्यम्' इत्यनूदितम्। तस्मादनेन प्रकरणेनाऽपि 'ऋकतन्त्रप्रातिशाख्यस्य' पाणिनिपरभवत्वमेव प्रतीयते। अनवधानेन मनुष्यमुलभेन पाणिन्युपेक्षिता प्रयोगा प्रातिशाख्ये सामसंहिताया मन्विष्य विशेषेण सङ्गृहीताः, त एव च वार्तिककृता पश्चादनूदिता इत्येव कल्पना ज्यायसी। सूत्राण्येवंविधानि सम्मुखे स्थितानि यदि स्युः, तर्हि अनवधान न सम्भवतीत्यसकृदावेदितम्। किञ्च तिङ्कृतादिप्रत्यया प्रातिशाख्येषु न क्वापि विधीयन्ते इत्यनेकधैतदुक्तम्। ततश्च इह दीर्घप्रकरणे 'निष्ठायामित्यादौ' इति यदिद 'दति' इति पाणिनिसूत्रस्य प्रतिरूपक दृश्यते—तदप्यस्य पाणिनिपरभवत्व साधयतीति कृत प्रपञ्चेन।

इदमत्र वैचित्र्यमालोक्यते, यद्—ऋक्तन्त्रकार समासे विभक्तिलोपार्थमपि सूत्र प्रणयति—'विभक्तिलोप (६६) चकारेत्यादावभ्यास चापि चकारपाठमनुविधत्ते 'क्व चकारमस्त्यदृष्टे' (पूर्वोक्ते (१९१) सूत्रे) नहि समस्तपदाना तिङन्तादीनां

/

न साधनप्रक्रिया प्रातिशाख्येषु क्वाप्युपलभ्यते । समास-धातु-निष्ठा-सर्वनामादि संज्ञाश्चाप्यस्य सूत्रेषु व्यवहृता दृश्यन्ते—या न विषया प्रातिशाख्यानाम् । नामैकदेशे नामग्रहणमिति परिपाट्यपि बहुधालोक्यते । सूत्ररचनाप्रणाली च बहुत्र पाणिनिमनुसरति बहुत्र चातीव विलक्षणा । तच्च वैलक्षण्यं बुद्धिपूर्वकं सम्पादित मनेन प्रतीयते । तस्मात् पाणिनीयस्य करामलकतामायातमेवेदमिति सम्भवति । इद तु इद प्रमाणमपरं पाणिनिपरभवत्त्वे—यद्ये प्रयोगाः पाणिनिसूत्रैर्न सिद्ध्यन्ति, वार्तिककृता यदर्थं प्रयत्न उपसंख्यानं—तेऽप्यत्र साधिता दृश्यन्ते । यथा— 'स्वैरिणी' 'अक्षौहिणी' इत्येतदर्थं 'भाष या णिन्यो' (९६) इत्यनेन विहितम् । सामग्याचार्या स्वाङ्ग विरचयतो भागानियमिनी चर्चा कियदुपयुक्तेत्यपि चिन्त्या र्थम् । अथवा म्याधामिति ब्राह्मणग्रन्थाभिप्रेता स्यात् । तथैव प्रौढ, प्रैष्य, वत्सतरार्णम्, इत्यादिपाणिनियुक्तेष्वनप्रयोगसिद्ध्यर्थमपि 'उपसर्गात्स्वेभ्यो प्रेष्यार्थे' (९८) 'वत्सरादीनामृणे' (१०६) इति सूत्रयति, 'ऋते च तृतीयासमासे' इति वार्तिकमनुसरंश्च 'मासे ऋते' (१०३) इति सूत्रयति । अत्र समासवाच्यार्थे 'मास' शब्द एव प्रयुक्तः, दातृशब्दार्थे च 'घ' शब्द इत्यपि वैलक्षण्यमालोच्यमेव । 'शुनो दन्तदंष्ट्रा' इत्यादिदीर्घानुवादश्च दीर्घप्रकरणे दर्शित एव । यदि हि सूत्राणी मानि पाणिनिमनुसरन्, तर्हि कथं तदनुसृत्य स्वयमपि 'स्वैरिणी' 'प्रौढ' इत्यादि सिद्ध्यर्थं वृद्धिं न व्यधास्यत् । न ह्येवंविधमनन्वयं सम्भवतीत्यवहृदनोचाम । तस्मात् पाणिनिपरभवत्त्वमेव ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यस्यापि स्वतः सिद्ध्यति । यत्तु शाकटायनप्रणीतत्वमविदुषा पाणिनिसूत्रैः समस्य प्रातिशाख्यस्य साधयन्ति, पर भवत्वसाधकान्युक्तसूत्राणि च प्रक्षिप्तानि पश्चादिति वक्तुमीहन्ते—तदपि न दृढम् । शाकटायनप्रणीतत्वस्यैवासिद्धेः आरम्भ एवात्र 'अथो नाद इति शाकटायन' इत्येव नाम्नोल्लिखितः शाकटायनानुवादो दृश्यते, यदि हि शाकटायन एव ऋक् तन्त्रं प्राणेष्यत्, कथं स्वनामतः स्वयमवक्ष्यत् ? किञ्च अन्येषु प्रातिशाख्येषु शाकटायनमतं यदुद्धृतम्—न तत्सर्वमिह निभाल्यते । तथा हि—प्रथमवर्ण मुदि शाकटायन (का प्रा ३।९) जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायन (३।१२) परिग इति शाकटायन (३।८७) इति कात्यायन आह । शषसेषु परेषु विसर्गं शाकटायनमतं शषसभावमाप्नोति, शाकल्यमते तु विसर्ग एव तिष्ठति । तथा कपयो परयोर्विसर्गस्य जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ भवतः शाकटायनमते, शाकल्यमते तु न भवतः । परि-उपसर्गस्य 'न' इति पदस्य नकारो णत्वमापद्यते शाकटायन मते इति तदभिप्राय । न तादृशं किमपि विधानमत्र सूत्रेष्वालोक्यते । 'प्रथम शाकटायन (४ १ सू १६) इत्यादि च शौनकोक्तम्, अवसाने प्रथममेव व्यञ्जनं शाकटायनमतेन तिष्ठति, न तु तृतीय व्यञ्जनमाचार्यान्तर इति तदभिप्राय । तादृशमपि किञ्चिन्नेहालोक्यते । तस्मान्नेदं ऋक् शाकटायनकृतमित्येव प्रतीयते ।

भवतु वा केनचिच्छाकटायनेन प्रणीतमिदम्, पाणिनिपरिचितस्तु शाकटायनोऽयं नैव सम्भवति 'लङः शाकटायनस्यैव' इत्यादयाना तिङन्तविधीनामत्र प्रसक्तेरेवा भावात्। माधवीयधातुवृत्तावुक्तपूर्वस्य त्रिपुघातोश्चाप्यत्राप्रसङ्गः। तस्मात् पाणिनि परिचित शाकटायनो वैयाकरण एव मन्तुमर्हति, न प्रातिशाख्यकृत्। यत्तु पाणिनिपरभवत्वबाधकानि सूत्राणि प्रक्षिप्तानि, पश्चान्निवेशितानीत्युच्यते, तदपि प्रमाणाभावेऽनवधेयमेव भवति। भवतु वा प्रक्षिप्तरहित किञ्चित्सूत्र पाणिने पुरात नम्, तस्य किं रूपमिति ज्ञातुमद्य दुष्करमेव। अथोवम्यमानन्तु पाणिनिपरभव मेवेति वयं साधयाम।

पुष्पसूत्रादीनि तु एतचतुष्टययोगक्षेमाण्येवेति विस्तरभिया न पृथगालोच्यन्ते।

अथ शौनकीयम् ऋग्वेदप्रातिशाख्यं परं छन्दिह्यते। तस्य पाणिनिपूर्वभवत्वे परभवत्वे चोभयथापि युक्तय सुदृढा सम्भवन्ति। पूर्वभवत्वे तावद्युक्ती प्रदर्शयाम —

१. अस्मिन् प्रातिशाख्ये सूत्रप्रक्रिया सुव्यवस्थिता न दृश्यते। कारिकारूपाणि प्रायेण सूत्राणि, पाणिनिकाले हि सूत्रक्रमस्य सुव्यवस्थितता जाता, तत एव पाणिनिपरभवेषु प्रातिशाख्येष्वपि सरणी पाणिनिसमानैव प्रतीयते। केवल शौनक प्रातिशाख्ये परं कारिकादिरूपेण विलक्षणता दृश्यमाना तस्य पूर्वभवत्व ख्यापयति।

२ सूत्रनिबन्धनशैल्यामपि गौरवं दृश्यते। यथा हि पाणिनिना 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यादि परिभाष्य सप्तमीपञ्चम्यादिविभक्तिभि सङ्क्षेपेण स्वाभिमतोऽर्थो बोधित, कात्यायनादिभि प्रातिशाख्यकृद्भिश्चापि सोऽध्वानुसृत। तथात्र शौनकीये न दृश्यते। तथा हि—'अक सवर्णे दीर्घ' इति पाणिनिसूत्रसमानार्थकं सूत्रं तत्रालोक्यताम्—'समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्' (२५।१५ सू) उभे समानाक्षरे सस्थाने (सवर्णे) एकं दीर्घं स्वर प्राप्नुत इति तदर्थ। सवर्णग्रहणाद् अकरणाद् 'एक पूर्वपरयो' इत्यपरिभाषणात् स्वरसन्ध्यादिप्रकरणविभागाभावाच्च कियद्गौरवमत्र कर्तव्यमूहितं पर्यालोच्यम्। तथैव 'आद्गुण' इत्यस्य स्थाने च 'इकारोदय एकारमकार सोदय' (प २। सू १६) अत्र 'अचि'-इत्यस्य स्थाने 'उदय' शब्द प्रयुक्त। इकार उदय परो यस्मात्, तादृश अकार सोदय —अग्रिमवर्णसहित एकारमापद्यते। अत्रापि तथैव गौरव दृश्यते। 'इको यणचि' इत्यस्य प्रतिरूपकम् 'समानाक्षरमन्तःस्था स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्' (२।२१) इति। स्वरोदयम्—स्वरपरम्, समानाक्षरम्—अष्टौ समानाक्षराण्यादित, इति परिभाषितम् इ-उ वर्णादि, अकण्ठ्यम्—अकारभिन्नम्, स्वाम्—स्वसदृशीम्—अन्त स्थाम्—अन्त स्थवर्णरूपतामापद्यत इति। अत्रापि बाध्य बाधकभावाद्यविचारात् सवर्णदीर्घविषयेऽस्य न निषेध कृत 'न समानाक्षरे स्वे स्वे' (२।२२) इति। पाणिनिप्रक्रिया तु यदि शौनकेन दृष्टाऽभविष्यत्, न तर्हि गौरवप्रतये परिपाटी तस्य सूत्रेष्वदृश्यत। तत पाणिनिपूर्वभवत्वमस्य प्रतीयते'।

३. संज्ञापरिभाषयोरप्यल्पम्, यदपि दृश्यते=तद्विलक्षणमेव, तस्मात्पाणिनेः प्रभावोऽत्र न कश्चिदपि दृश्यते।

४. अनुगमः प्रायेण न दृश्यते, शब्दस्वरूपग्राहमेव तानि तानि कार्याणि विशेषेण विहितानि दृश्यन्ते। यथा—'आविर्हविर्ज्योतिरित्युत्तरश्चेत्ककार' (४।४७) इति विसर्जनीयस्य षत्वं शब्दस्वरूपग्रहणपुरःसरमेव निर्दिष्टम्। पाणिनेस्तु 'इदु-दुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इत्यनुगमो दृश्यते। तथैव पाणिनिः 'षष्ठ्याः पतिपुत्र-पृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' (८।३।५३) इत्यनुगमेन पतिशब्दे पदशब्दे च सर्वत्र विसर्गस्य सत्वमुक्तवान्। शौनकस्तु प्रातिशाख्ये—'अन्तःपाद दिवो दकारपूर्वः पतिशब्दे द्व्यक्षरे पुंस्प्रवादः' (४।४२) इति पतिशब्दे परे सत्वं विधायापि वास्तोरिषेत्पतिशब्द उत्तरे (४।४६) इति पुनः पतिशब्द एव षष्ठता एव सत्वं विदधाति। पदशब्दे च परे पदानि गृहीत्वैव सत्वमनुविधत्ते (४।५९ सूत्रे) एवं प्रयोग सर्वत्रैव, तस्मात् पाणिनिप्रक्रिया नास्य परिचिता, पूर्वभवत्वादित्येव-मनुमातु शक्यते।

५. क्वचिच्छौनकेन सामान्येन विहिते पाणिनिकृतो विशेषनिर्देशोऽपि दृश्यते। यथा 'ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्य' (१।६८) इति सम्बोधन ओकारस्य प्रगृह्यत्वं सामान्येन शौनकेनोक्तम्, प्रवृत्तिनात्रस्तु अग्रे 'प्रकृत्यैनेतिकरणादौ प्रगृह्याः' (२।५१) इति इतिशब्दे पर एवोक्तः। पाणिनिना तु 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येता-वनार्षे' इति प्रगृह्यत्वेन इतिशब्दे पर एव कृता, तत्राप्यवैदिक इतिशब्दे इति सोऽयं विशेषः। तथैव 'सर्वैः प्रथमैरुपधीयमान' शकारः शाकल्यपितुश्छकारम्' (प. ४ सू. ४) इति शौनकेन वर्गप्रथमात्परस्य शकारस्य सर्वत्र छकारो विहितः। पाणिनिना तु 'शश्छोऽटि' इति झयः परस्य शस्य अटि पर एव छकारो विहित इति विशेषः। तस्माद्विशेषनिर्देशात् पाणिनिः परभव एव सम्भाव्यते इति।

अथ पाणिनेः पूर्वभवत्वे शौनकप्रातिशाख्यस्य परभवत्वे च युक्तयः प्रदर्श्यन्ते—

१. शौनकीये प्रातिशाख्ये मङ्गलार्थं पद्यं दृश्यत आदौ। पाणिनिपर्यन्तं सूत्रेषु मङ्गलाचरणपद्धतिर्न दृष्टा, अथशब्देन ओङ्कारेणैव वा सूत्रकृतां मङ्गलपूर्तिः। तस्मात्प्रातिशाख्ये श्रूयमाणं मङ्गलं सूत्राणामेषा पाणिनिपरभवत्वमेव गमयतीति विचार्यं विमर्शकैः।

२. उपधासमासादिसंज्ञा अस्मिन् प्रातिशाख्येऽपि व्यवहृता, 'व्यवपूर्णिय-समासयोगे' (१।९९) 'सहोदयो रिफित एकाणंक्षु' (१।६०) इत्यादिषु सूत्रेषु। न तु क्वाप्यत्र पूर्वं विहितेति पाणिनीयसंस्कारेणैव तत्तत्संज्ञाव्यवहारोऽनु-मीयत इति परभवत्वमस्य सिद्ध्यति।

३. 'उत्तरो न द्वौ स्वरौ' (आकारमापद्येते) अनेन सूत्रेण 'अन्वेत वा उ' इत्यत्र प्रयतन आकार एव विधीयते, पाणिनीये ▯ पूर्वमायादेशं कृत्वा ततो

यकारलोप इति प्रातिशाख्ये लाघव दृश्यते । यकारवकारलोप पाणिनीये विकल्पित, इह तु यत्र यकारादेर्लोपो न दृश्यते, तत्र 'वायवायाहि' इत्यादौ वकारागमो विहित । एवमेव 'विसर्जनीयो अरिफितो दीर्घपूर्व स्वरोदय आकारम्' इत्यादिना 'या ओषधी' इत्यादौ विसर्गस्य स्पष्टमात्वमत्र लघ्वेण विहितम् । 'ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्' (२।२७) 'ओकार ह्रस्वपूर्व' (४।२१) इत्यादिभि विसर्गस्यैवाकाररूपता ओकाररूपता च लाघवेन कृता । पाणिनीये तु विसर्गस्य सत्वम् रुत्वम्, यत्वमुत्व वा, तदनु लोप सन्धिर्वेति गौरव दृश्यते । लाघव चेद् परवर्तिन एव सम्भवति, न हि पूर्ववर्तिनो लाघव दृष्ट्वा परवर्ती गुरुभूतमुपाय मारचयेदिति प्रकृतिसिद्धम् । तस्मात् परमवत्वमेव प्रातिशाख्यस्यानुमीयते ।

४ पाणिनिना 'प्रकृत्यान्त पादम यपरे' (६।१।११५) इति च्छान्दसप्रक्रिया सूत्रे पररूपापवाद प्रकृतिभाव विदधता अकारान्तकारवकारयो परयो प्रकृतिभाव प्रतिपिद्ध, तत्र पररूप भवत्येवेति तदाशय स्पष्ट । परम् 'अते सोक्न्ते अध्वरम्' मित्रमहो अवद्यात्' इत्यादौ वकारपरेऽप्यकारे पररूप न दृश्यते । तदिद पाणिनीयैर्बोहुलकादेव समाधेयम् । प्रातिशाख्ये तु यकारवकारयोर्लघुत्व यत्र, तत्रैव पररूपम् इति विशेष युक्ता 'लघुयकारावक्षर पर चेदिति' (२।३५) सूत्रेण उक्तोदाहरणयोर्वकारस्य सयुक्तत्वेन अयोगपरत्वन च गुरुत्व स्वपरिभाषयाभिप्रेत्य पररूपसमाधान तत्र सम्यक् कृतम् । यदि पूर्वमेव पाणिनिनेद दृष्ट स्यात्, तर्हि न स 'अयपरे' इति सामान्येन ब्रूयात् । प्रत्यक्ष विधान दृष्ट्वा नानवधान सम्भवतीति । तस्मात्परभवत्वमेव प्रातिशाख्यस्यानुमीयते ।

५. पाणिनिना 'शश्छोऽटि' इति सूत्र परस्य शकारस्य अटि पर एव छकारो विहित । पर 'अग्निन् छ्नथिहि' इत्यादावपि शकारस्य छत्वमाम्नायते । सोऽय न सूत्र पर, न वाट्परक । तदर्थं प्रातिशाख्ये शौनकीये 'छकार तथोबदय शकार' (४।१२) इति मकारनकारयो परस्य 'शकारस्य परवर्ण नियमनमनाश्रित्यैव छकारो विहित । यदि हि पाणिने पूर्वमीदृश विधानमद्रक्ष्यत्, तर्हि अवश्य 'छ्नथिहि' इत्यादिप्रयोगसिद्ध्यर्थं स्वयमपि यत्नमकरिष्यत् । तेन परभवमेव प्रातिशाख्यमनुमीयते ।

६. अथेदमेक विसर्गस्य सत्वविधायक सूत्र पाणिने शौनकस्य च यहशो सवदद् दृश्यते—

क करत्करतिकृधिकृतेष्वनदिते (पा० ८।३।५०)

कर कृत कृधि करत्करतिष्वपि परेषु (शौ० प्रा० ४।४२)

अत्र पाणिनीये 'करति' इति पदमधिकम्, न त्वप्रातिशाख्ये दृश्यते । प्रातिशाख्ये च 'करम्' इत्यधिकम्, न तत् पाणिनीये सूत्रे दृश्यते । अदिते

पर्युदासश्च पाणिनिना प्रोक्त, न तु शौनकेन। तत्रास्माकं पूर्वोक्ता युक्तिरत्राप्यालोच्या पाणिनेर्योऽसौ प्रातिशाख्ये त्यक्त, स तु ऋक्शाखायामनुपलम्भादिति शक्यसमाधि। यस्तु प्रातिशाख्यात् पाणिनिना त्यक्त, तत्र समाधानं न वक्तुं शक्यम्। पाणिनीयस्य सर्वशाखासंग्राहकत्वात्। 'सहस्करम्' इत्याद्या प्रयोगा कुत पाणिनिनोपेक्षिता—इति नैतदुच्यते समाधानम्। तस्मात् परत्वेन शौनकेनैव पाणिनीयं सूत्रमनूदितम्, तत्र च योऽसौ स्वशाखायां अनुपयुक्त स परित्यक्त, यश्चाश्च स्वशाखीयोऽपि पाणिनेरनवधानेन त्यक्तोऽभूत् स संगृहीत:—इत्येव कल्पना ज्यायसी। ततश्च परमत्वमेव प्रातिशाख्यस्य स्पष्टं सिद्ध्यति।

७. अथेदमतिदृढं प्रातिशाख्यस्य परमत्वे प्रमाणम्—दूडाश, दूणाश, दूढ्य, इत्यादीनां सिद्धये पाणिनेर्न दृश्यते प्रयत्न। वार्तिककृता तदर्थम्—'दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' इत्युपसंख्यातम्। शौनकीय प्रातिशाख्ये तु दृश्यते तदर्थं सूत्रम् 'दूळभदूणाशदूळभप्रवादा दुर् दूभूतमक्षरं तेषु नन्तु (प. ५।५५) यदि हि सूत्रमिदं पाणिनिना दृष्टं स्यात्, कथं तर्हि तेनेमे प्रयोगा उपेक्षिता स्यु। तस्मादनवधानेनैव विसृष्टा इमे प्रयोगा, वार्तिककारेण प्रातिशाख्यकारेण च पश्चात् संगृहीता इत्येव सम्भवति।

८. तथैव 'ऊष्मोदय प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम्' (प. ६।५४) इति शौनकीयसूत्रम्। तच्चेदं 'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इति वार्तिकस्यैवानुकृति। न हि पाणिनिसूत्रेष्विदं दृश्यते। यदि हि पूर्वस्थितमिदं पाणिनिना दृष्टं स्यात्, तर्हि नैनोपेक्षितं स्यात्। तस्मात्परमत्वमेव प्रातिशाख्यस्य दृढीभवति।

९. ऋकारात्परस्यापि णत्वविधानम् 'न मध्यमै स्पर्शवर्गैर्व्यपेतम्' इति निषिद्धव्यवधानपरिगणनं च कात्यायनीये प्रातिशाख्ये इवात्रापि दृश्यते। ततश्च तत्रोक्तयुक्त्यैवास्यापि परभवत्वमेव सिद्ध्यति।

१०. शौनकीये व्याडेर्नाम दृश्यते। व्याडिश्च पाणिनिसूत्राणां व्याख्यातेति सुप्रसिद्धा किंवदन्ती। ततश्च व्याडेरर्वाचीनः शौनकः कथं न भवेत् पाणिनेरर्वाचीन।

ता एताः पाणिनिपरभवत्वे युक्तय। अत्र परभवत्वे उपात्ता युक्तय एव दृढा प्रतीयन्ते। पूर्वभवत्वयुक्तयस्तु बाहुल्येन प्रातिशाख्यसामान्योपक्रमं एव समाहिता अस्माभि। कारिकाभि सूत्राणां प्रणयनन्तु पाणिनेरुत्तरकाले एव प्रायेण दृश्यते। स्वयं वार्तिककृता कात्यायनेनैव सूत्ररूपाण्यनेकानि वार्तिकानि श्लोकैरेवोक्तानि। सेयं कात्यायनस्य शौनकस्य च समाना शैली न पाणिनिपूर्वभवत्वं साधयितुमीष्टे—इत्यादि समाधेयम्। भाष्यकार उव्वटश्चापि प्रातिशाख्यस्यास्य पाणिनीयशेषत्वमेवाह प्रयोजनकथनावसरे—'तथा व्याकरणे यत्सामान्येन, यथा 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पाणि ६।३।१३३) इत्यादि तद्व्यवस्थापयितुमिद-

मारभ्यते। न स्त्रैतानि पदान्यस्यां शाखायां दीर्घाणि भवन्ति, इति।.. एवं शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैर्यस्यांसु शाखासु सामान्येन लक्षणमुच्यते, तदेवास्यां शाखायामनेन व्यवस्थाप्यते' इत्यादि। आथर्वणप्रातिशाख्ये तु स्वय सूत्रकृतैवार्थोऽय मुपन्यस्त 'एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्येन' (अथ प्रा १।२) इति। सामान्येन लक्षणेन पाणिन्यादिविहितेन यद्विकल्पप्राप्तम्, तदेवमस्यां शाखायां व्यवस्थितं भवतीति तदर्थः।

यदि तु व्याडिरयं पाणिनेः पूर्वभवोऽभिमन्यते, पाणिनिसूत्रव्याख्यातृत्वं तस्य नाद्रियते, अन्यो वा व्याडिः कश्चन पाणिनेः पूर्वभवः स्वीक्रियते। प्रातिशाख्ये चास्मिन् बहवोंऽशा भवोक्ता पर्यायोजिता अनुमीयन्ते, इष्टा अप्यरपल्पप्रयोगाः शब्दा पाणिनिना अत्रेपपलपातेनोपेक्षिता एवेति च स्वीक्रियते, तर्हि स्वीक्रियतां नाम प्रातिशाख्यस्य पूर्वभवत्वमपि। इदानीन्तु यस्मिन् रूपे शौनकीयं प्रातिशाख्यं पश्याम —तदिदं रूपं पाणिनेः परमनमेवेति निर्णीतमस्माभि। भवेयुरन्यद्य पाणिनेः पूर्वमपि प्रातिशाख्यानि कानिचित्, न तानीदानीं दृष्टिविषयतां कस्याप्यायान्ति। यानि त्वधुना उपलभ्यन्ते व्याकरणानि प्रातिशाख्यानि वा तेषु सर्वत पूर्वभवो भगवान् पाणिनिरेवास्यस्माकं बुद्धौ निर्विवादम्। अत एव वैदिका अपि ब्रह्मयज्ञे वेदाङ्गेषु 'वृद्धिरादैच्' इति पाणिनेरादिसूत्रमेवाधीयते, न तु प्रातिशाख्यादीनाम्। तस्मात् पाणिनेरभ्यर्हितत्वं सर्वैः स्वीकृतमिति निर्विवादम्। तत्र च प्राचीनत्वमपि मुख्यो हेतुरस्त्येवेति।

निरुक्तकृतः पौर्वापर्यम्।

अथ निरुक्तकृतो भगवतो यास्काचार्यात् पाणिनिर्भगवान् पूर्वभव परभवो वेत्येतदपि कालनिर्णयप्रसङ्गे विचार्यमेव। अत्र विषयेऽप्युभयथा प्रतिपत्तिरस्ति, उभयत्र च सम्मान्या युक्तय सन्ति। श्रीसत्यव्रतसामश्रमिमहाभाग स्वीये निरुक्तालोचने भगवन्तं पाणिनिं यास्काद् द्विशताब्दीपूर्वभवमङ्गीकरोति। तस्य चैता युक्तय —

१. पाणिने 'परः सन्निकर्षः संहिता' इति सूत्रं निरुक्ते प्रथमेऽध्याये षष्ठे पादे (१७ क) उद्धृतं दृश्यते इति सर्वत प्रधानतमो हेतु। अत्र केचन शङ्कन्ते 'पाणिनिनैव निरुक्तादुद्धृतमिति कुतो न मन्यते? निरुक्तकृता स्वयं तल्लक्षणं संहितायाः कृतं स्यात्, तच्च सम्यग् ज्ञात्वा पाणिनिनैवोद्धृतं स्यादित्यपि समाधातुं इति। परं नेदं ग्रन्थपर्यालोचनया सिद्ध्यति। निरुक्तकारो हि न तत्र संहितां लक्षयितुं प्रवृत्तः। किन्तु परेषां सम्मतिरेव तेन तत्रोद्धृतेति ग्रन्थपर्यालोचनया सिद्ध्यति। निरुक्तव्याकरणप्रयोजनानि तत्र यास्केन वर्ण्यन्ते, तेष्विदमपि तेनोपात्तम् 'अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते' इति। निरुक्तेन तत्तत्पदस्यार्थ

विज्ञाते पदविभागे वेदमन्त्रेषु सम्भवति, अर्थज्ञाने च निरुक्त प्रधान सहायकमिति पदविभागोऽपि निरुक्तशास्त्र इति तदाशय । 'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' इत्यस्मिन् मन्त्रे अवसायेति अवसशब्दस्य चतुर्थ्येकवचनम्, तस्मादत्र पदकारैरवग्रहो न क्रियते । 'अवसाय अश्वान्' इत्यत्र अवपूर्वस्य स्यतेर्ल्यबन्त इति अवेत्युपसर्ग पदेऽवग्रह क्रियते । विनार्थज्ञान कथमिद विज्ञायेत—कुत्र ल्यबन्त कुत्र वा चतुर्थ्यन्तमिति । एवमेव एकरूपमेव 'निर्ऋत्या' इति पद 'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम' इत्यत्र 'निर्ऋत्या' इति षष्ठ्यन्त मन्यते, 'परो निर्ऋत्या आचक्ष्व' इत्यत्र तु 'निर्ऋत्यै' इति चतुर्थ्यन्त क्रियते । तदिद विनार्थज्ञान कथ सम्भवेत्, कुत्र षष्ठ्यन्त कुत्र वा चतुर्थ्यन्तमिति । एव प्रयोजनमुक्त्वा अत्रैव 'पर सन्निकर्ष सहिता' इति 'पदप्रकृति सहिता' इति सूत्रद्वयमुद्धृतम् । तत्र प्रथम पाणिनीये, द्वितीय च क्वचन्येन 'सहिता पदप्रकृति' इति ऋक्प्रातिशाख्ये लभ्यते । अग्रे च निरुक्ते 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणाना पार्षदानि' इत्युक्तम् । अत्र भाष्यकृद् दुर्गाचार्य 'पदविभागप्रसक्तमधुना सहितालक्षणमाह' इति सूत्रद्वयमवतारयामास । 'पदप्रकृति सहिता' इति चैव व्याचष्टे 'अत्र द्वेधा वर्णयन्ति—पदाना या प्रकृति सेय पदप्रकृति सहिता, सहितातो हि पदानि प्रक्रियन्ते, तस्माद्विकार पदानि । अपरे पुन पदानि प्रकृतिर्यस्या सेय पदप्रकृति । पदान्येव हि सतन्यमानानि सहिता भवति । तस्मात्पदान्येव प्रकृति, विकार सहितेति । सर्वेषा चरणाना शाखान्तराणाम्, यानि पार्षदानि—प्रातिशाख्यानि तानि पदप्रकृतीनि, पद तेषु सहिताया प्रकृतित्वेन चिन्त्यते । तेषामप्य एव सनय इत्यभिप्राय' । अग्रे च श्रीदुर्गाचार्येण सहिताया प्रकृतित्व समर्थ्य 'समयमात्रमिदमत्—उभयमनियतमेव' इत्याद्युपसहृतम् । एव सहितालक्षणमप्रसक्त प्रसङ्गोपयुक्तमेवेति व्याख्याकृतो मन्यन्ते । अप्रसक्त च निरुक्त कृत् स्वय लक्षण ब्रूयाद्—इत्यपेक्षया परस्य लक्षणानुवादित्वेन समुचित प्रतिभाति । पाणिने शौनकस्य च सूत्रे निरुक्तकृतोद्धृते इत्येव कल्पना सम्यग् भवति ।

वयमत्र ब्रूम —न केवल प्रसक्तानुप्रसक्तया अप्रकृतकथनमेव यास्कस्य मन्तव्यम्—अपि तु प्रसक्तेन सुसगतमेवैतत् । तथा हि—पदविभागे योऽय निरुक्तस्य प्रयोजनकोपन्यस्त, तत्रेय शङ्का समुत्तिष्ठते—श्रमामूलपदविभाग, किं नश्छिन्नम्, सहिताया ये मन्त्रा यथा पठिता, तेषा तथैव पाठेन वय कृतार्था । पठ्यमानाया सहिताया पदविच्छेदसादकस्यादिति । तत्रेद यास्कस्योत्तरम्—पदानि हि सहिताया प्रकृति, तान्येव मूलभूतानि । पदान्येव हि सतन्यमानानि सहिता भवति । यदि नास्मिन् पदानि—कथमिव सहिता प्रादुर्भवेत् तस्मात् पदानामुच्छेद न कर्तु युज्यते इति । अस्यैव सन्दर्भस्य समर्थनाय तेन पाणिने शौनकस्य च लक्षण उद्धृते । पदानाम् मध्यविदिन च प्रधानमत सहितायन पाणिनिना मन्यते, शौनकेनापि च पदानि प्रकृतिर्यस्या सा सहितेत्युक्ता । सर्वाणि च प्रातिशाख्यानि पदाना

प्रवृत्तिरियं भवत इति । तदित्थं मन्यस्व सुसङ्गतम् । अस्मदीये मतद्वयेनैव वर्ण्योद्धृत-मिति चास्मिन् पक्षे सुसङ्गम् । भाष्यकृद् दुर्गाचार्य पाठनानेगादेरुत्पत्तिवादी आधुनिक इति तेन सहितानां प्रवृत्तिं स्पष्टयन् मतं समर्थितम् । यास्कस्तु अर्थनिर्वचनातीति पदानामेव प्रकृतित्वं स बभीति–इति युक्तं प्रतिभाति । ततश्च पाणिने तस्मादपि परमतस्य शौनकप्रातिशाख्यस्य सूत्रस्य चोद्धरणात् पाणिनिपर-मतत्वं तस्य सुतरां सिद्धम् ।

२. निरुक्ते (अ. ४ ■ २५) अस्या इति अस्य इति च पदे प्रोक्त यास्केन 'अस्या इति चास्येति चोदात्त प्रथमादेश, अनुदात्तमन्वादेशे तीव्रार्थतरमुदा-त्तम् , अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्' । इद च 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' इति पाणिनिसूत्रसदृशं, तदनुकरणमेव सूचयतीति पाणिनिपरमत्वमनास्यानुमीयते ।

३ पाणिनिप्रोक्ता' कृत्तद्धितसमासादिसंज्ञा , उपधादिसंज्ञाश्चापि निरुक्तकृता बहुना पाणिनिपरमत्वमेव तस्य ख्यापयन्तीति ।

४. 'न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके' (अ. १) इति यद्यास्केन सर्वाणि नामान्याख्यातजानि न सन्तीति वैयाकरणमतमुपन्यस्तम्–तत्पाणिनेरेव स्फुटं दृश्यते, तेनैव 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति सूत्रयता स्फुटं व्युत्पन्नाऽव्युत्पन्नद्विविधप्रातिपदिकसत्ता स्वीकृतेति ।

५. 'आपनीपणदिति पणतेश्चर्करीतवृत्तम्' (निरु २।७।६) इति यास्कोक्तिरपि पाणिनिनान्वाख्याता यङ्लुगन्तप्रक्रिया स्मारयन्ती परमतत्वमेव द्योतयति ।

श्रीसत्यव्रतसामश्रमिमहाशयस्तु निरुक्ते बहुत्र यद् व्याकरणपदं वैयाकरणपदं च व्यवह्रियते, तत्सर्वमेव पाणिनिपरमतत्वज्ञापकं यास्कस्येति विस्तरेण प्रतिपादित-वान् । पाणिनेः पूर्वमन्यस्य कस्यापि व्याकरणस्याभावादिति । तस्यैतदसमाभिहंदतया पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तराणां सत्ता समर्थयमानैर्निराकृतमेव विस्तरेण । अत्रापि च प्रथमा युक्तिः विदायान्या शिथिलप्राया एव । अस्या , अस्य, इति पदद्वय वेदेषु उदात्तमनुदात्त च दृश्यते । तदेवनिरुक्तकृता स्पष्टीकृतम्—तदेव च पाणिनिना-नूदितमित्यपि सम्भवति । नह्यत्र निगमकं पश्यामः —पाणिनिना यास्कमतमनूदितं वा यास्केन पाणिनिमतमनूदितमिति । उभयथाप्येतत् सम्भवति । प्रत्युत उदात्तानु दात्तयोर्लक्षणनिर्देशप्रधानं यन्निरुक्तकृतोक्तम्—तत्पाणिनीयेन विरुद्ध्यते, तेन ध्वनिकृतयोरेवोदात्तत्वानुदात्तत्वयोः स्वीकारात् । तथैव कृत्तद्धितादिसंज्ञा. पूर्वेषु व्याकरणेष्वपि भवेयुः । ता एव निरुक्तकृता व्यवहृता स्युरित्यपि सम्भाव्यत एव । पूर्वैरपि वैयाकरणैर्नाम द्वैविध्येन न स्वीकृतमिति को नाम वक्तुमीष्टे, तेषां व्याकरणानां यावत् परिचयो न भवेत् । आपनीपणदिति चर्करीतवृत्तमिति तु प्रत्युत विपरीतम्—चर्करीतमिति नाम प्राचीनेषु व्याकरणेष्वेव प्रसिद्धमासीत्—इति

स्फुटं पूर्वमस्माध्याये । केवलं संहिताव्याकरणस्योदाहरणमिति युक्तिरेवात्र प्रबला । 'दृष्टं वरमदृष्टात्' इति न्यायशास्त्रस्य मीमांसाशास्त्रस्यानुकूलम् । पाणिनीये तु सर्वं स्पष्टं दृश्यते—अन्येषु तु केवलं सम्भवमात्रमुच्यते इति पाणिनिपरमतत्त्वस्वीकारे दृष्टमूला कल्पना स्यादिति ।

अथ यास्कस्य पूर्वभवत्वे युक्तय आलोच्यन्ताम्—

१ महाभारते यास्कस्य तदीयनिरुक्तस्य च नाम दृश्यते, पाणिनेस्तु न दृश्यते । तेन यास्कस्य महाभारतसंहितापेक्षयापि पूर्वभवत्वं स्पष्टं सिद्ध्यति ।

> यास्को मामृषिरव्यग्रोऽनेकयज्ञेषु गीतवान् ।
> शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥
> स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
> मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥
> (महा शा प ३४२ अ ७०, ७१ श्लो)

न च तथाविधप्रसङ्गाभावात् पाणिनेर्नाम तत्र नायातमिति शक्यं वक्तुम् । यथा यास्केन 'शिपिविष्ट' नामनिर्वचनं कृतम्, तथा पाणिनिनापि 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्याद्यनेकधोक्तमेव । तत्र अर्जुनेन सह मा प्रकीर्य पाणिनिरेव छिद्रि लब्धशानित्यादिसन्दर्भप्रसङ्गोऽस्त्येव । भगवतः शङ्करस्य बहुधा माहात्म्यवर्णनं महाभारते, तत्रैव 'पाणिनयेऽभिनव व्याकरणदानम्' इत्यादि—कीर्तनस्यापि प्रसङ्गोऽस्त्येव, तथापि न पाणिनेर्नाम तत्र स्मर्यते । प्रत्युत 'महान्व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु' (पा ६।२।३८) इति सूत्रे पाणिनिनैव महाभारतशब्दे महच्छब्दस्य प्रकृतिस्वरो विहितः । तच्च महाभारतस्य परिचयोऽस्त्येव पाणिनेरिति स्पष्टं सिद्ध्यति । अहो ! या महाभारतसंहिता पतञ्जलिनोऽप्यर्वाचीना निधायविधानि वामकमिनसाधय, सा पाणिनेरपि प्राक्तनी सिद्ध्यति । महाभारतप्रसिद्धानि युधिष्ठिरादिनामानि कुरुवृष्णिप्रभृतीनां व्याख्यानेभ्यो ... पाणिनिना स्वीयेषु सूत्रेषु । तेनापि महाभारतस्यैव ... प्रसिद्ध्यर्थं । अन्यथा काचिदासीत् वा महाभारतं च हेतेनैव तु ... । 'दृष्टं वरमदृष्टात्' इति स्वयमवाप्रेडितोऽनेकधा न्याय इह निरस्यते इति किमन्यदत्र हेत्वादिरिक्तं शक्यं वक्तुं कारणम् । आस्तां नाना प्रकृतम् । पाणिनेर्यास्कादर्वाचीनता त्वेन सुस्पष्टं सिद्ध्यतीत्येव नो वक्तव्यम् ।

२ यास्कस्य अर्थप्रतिपादकत्वमस्ति, पाठमात्रे ... प्रतिपादकत्वं वेत्यस्ति निरुक्ते मीमांसादर्शने च विचारः । तयोरत्यर्थं साम्यं दृश्यते । तथाहि—

निरुक्तस्य प्रथमेऽध्याये पञ्चमे पादे (१५ खण्डे) मन्त्राणामर्थाभाव साधकपूर्वपक्षवाक्यानि—	मीमांसादर्शनस्य प्रथमाध्याये प्रथमपादे मन्त्राणामर्थाभावसाधनाय पूर्वपक्षसूत्राणि निरुक्तसमानार्थानि—
(१) नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ।	(१) वाक्यनियमात् । (मी सू १।२।३२)
(२) अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते उरुप्रथस्वेति प्रथयति, प्रोहाणीति प्रोहति ।	(२) तदर्थशास्त्रात् । (मी सू १।१।३१)
(३) अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति—ओषधे त्रायस्वैनम् । स्वधिते मैनं हिंसी रित्याह हिंसन् ।	(३) अचेतनेऽर्थबन्धनात् । (१।२।३५)
(४) अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति— (१) एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीय, असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् । (२) अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे । शत सेना अजयत् साकमिन्द्र । इति ।	(४) (१।२।३१ एव सङ्गृहीत) अविद्यमानवचनात् (१।२।३४) इति वा
(५) अथापि जानन्त संप्रेष्यति 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इति ।	(५) बुद्धशास्त्रात् (१।२।३३)
(६) अथाप्याह अदिति सर्वमिति । 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति' त दुपरिष्टाद् व्याख्यास्याम' ।	(६) अर्थविप्रतिषेधात् । (१।२।३६)
(७) अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति—'अम्यग् यादृश्मिन् जारयायि काणुका' इति ।	(७) अविज्ञेयात् (१।२।३८)

अथ पूर्वपक्षे जैमिने सूत्रद्वयमधिक दृश्यते—'स्वाध्यायवदवचनात् (१।२।३७) इति, अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् (१।२।३९) इति च । नैतद्द्वयप्रतिरूपक यास्कीये पूर्वपक्षे लभ्यते । यथा कश्चिदध्येता क्वचिद्—'अवघातमन्त्रमध्येष्यति, तत्रैव चोपदिष्टा काचिद् योषिद् मुसलेन व्रीहीन् अवहन्ति । तत्र मन्त्रस्तस्या, योषितोऽवघातस्य प्रकाशक इति न केनापि शक्यते वक्तुम्, तथैव यज्ञकालेऽपि अवघातसमये प्रयुज्यमानो मन्त्रो नावघात प्रकाशयतीति (१।२।३७) पूर्वसूत्रार्थ ॥ यदि मन्त्राणामर्थो मन्येत, तर्हि अनित्यानां देशनगरमनुष्यादिनाम्नां तत्र अवगा

द्वेदानामनादिता भज्येत, तस्मान्नार्थप्रकाशका मन्त्रा इत्येवाभ्युपगन्तव्यमिति (१।२।३९) द्वितीयसूत्रार्थः ।

अथैतदुत्तरमपि पर्यालोच्यतामुभयत्र—निरुक्ते प्रथमाध्याये (पञ्चमपादे) (१६ खण्डे)	मीमांसादर्शने प्रथमाध्याये द्वितीयपादे
(स्वतन्त्रं साधनम्)	(स्वतन्त्र साधनम्)
अर्थवन्तः शब्दसामान्याद्, एतद्वै यज्ञस्य	अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः (४०)
समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् ।	लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् (५१)
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिरिति ।	ऊह. (५२) विधिशब्दाच्च (५३) अविरुद्ध परम् (४४)
पूर्वपक्षस्योत्तराणि	
(१) यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति, लौकिकेष्वप्येतद्—यथेन्द्राग्नी, पितापुत्राविति ।	
(२) यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इति, उदितानुवादः स भवति	गुणार्थेन पुनः श्रुतिः (४१) परिसंख्या (४२) अर्थवादो वा (४३)
(३) यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीति आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत ।	अभिधानेऽर्थवादः (४६)
(४) यथो एतद्विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतत्—यथा—असपत्नोऽयं ब्राह्मण, अनमित्रो राजेति ।	गुणादविप्रतिषेधः स्यात् (४७)
(५) यथो एतद्—जानन्तं संप्रेष्यतीति जानन्तमभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राहेति ।	संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् (४५)
(६) यथो एतद् अदितिः सर्वमिति । लौकिकेष्वप्येतद् यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति ।	गुणादविप्रतिषेधः स्यात् (४७)
(७) यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति । यथा—	

जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। इति।

ततः परमविज्ञानम्। (४९)

उक्तश्चानित्यसंयोगः (५०) परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (१।१।३१) विद्यावचनमसंयोगात् (४८)

अत्रापि विवेचकैर्विद्वद्भिः स्फुटं प्रतीयेत, यद् नेदं सादृश्यं यादृच्छिकम्, अपि तु एकस्य पूर्वोत्तरपक्षावपरेणानुकृतौ। तत्र केन कस्यानुकृतिः—इति विचारे मीमांसादर्शने निरुक्तस्यानुकृतिरित्येव बुद्धावुपारोहति। बहुपूर्वजत्वं च निरुक्तकृतः सिद्ध्यति। तथा हि—निरुक्तकृद्वेदानामृषिप्रणीतत्वमभिप्रैति 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः, उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च' इति प्रथमाध्यायान्ते स्फुटीकृतस्तेन स्वाभिप्रायः। एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति (अ. ७) यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति (अ. ७) 'इयोर्मांशो' समक्ष दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्' (अ. ७) 'त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ' ( ) इत्यादिषु च बहुत्र ऋषिकर्तृत्वमेव मन्त्राणां वर्णितम्। अत एव वेदेषु नास्तीतिहास इत्यपि विचारस्तस्य नोदति स्म, तत एव 'इत्यैतिहासिकाः' 'इति नैरुक्ताः' इत्यैतिहासिकपक्षोऽपि तेन तत्र तत्रानूदितः, 'देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः' (अ. २) इत्यादौ च स्फुटमितिहासपरत्वेनैव मन्त्रव्याख्यानं कृतम्, 'तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति' इत्यत्र च स्फुटमितिहासप्रतिपादकता ब्रह्मणो वदतोक्ता। तत एव चात्र मन्त्राणामनर्थकत्वसाधनपक्षे अनित्यानां देवनगरमनुष्यादीनां वर्णनेन वेदस्यानित्यता प्रसज्येतेति शङ्का तेन नोद्भाविता। जैमिनिस्तु बौद्धादीनां निराकरणाय वेदानामपौरुषेयत्वस्याभ्युपगमादिति वेदेष्वितिहाससत्तायाः स्वीकृतायामनित्यत्वप्रसक्तिं दोषत्वेन पूर्वपक्षेऽगणयत्, उत्तरपक्षे च श्रुतिसामान्यमात्रं प्रब्रुवन् तत्समाधानं चकार। तेन निरुक्तकाले अपौरुषेयत्ववादो न दृढं शिष्टसम्मतोऽभूत्, मीमांसादर्शनकाले तु तस्यैवासीत्प्रचार इति बहुपूर्वजत्वं निरुक्तकृतः सिद्ध्यति। तथैव अल्पबुद्धिचारजनानां प्रत्यवायं गणयित्वा मन्त्रघोषणप्रक्रिया जैमिनिकाले प्रचलितेति 'स्वाध्यायवदवचनाद्' इति पूर्वसूत्रेण सिध्यति, यथा साम्प्रतेऽपि यावदयं डिण्डिमघोषस्तावदहं मन्त्रमिमं भूयो भूयो रटिष्यामीति दृश्यते मन्दबुद्धीनामभिनिवेशः। निरुक्तकाले तु नासीत्प्रचलिता प्रक्रियेयम्, तत एव पूर्वपक्षे नैतदपि संगृहीतं तेनेति शक्यमनुमातुम्। एवमेव 'स्वधिते मैनं हिंसीरित्याह हिंसन्'

इत्युक्त्या केशच्छेदनेऽपि हिंसासंभावना निरुक्तकृत्समये आसीत्, तत एव 'आम्नाय-वचनादहिंसा प्रतीयेत' इति समाधानमपि तेन कृतम्। मीमांसायां तु 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इत्यादौ क्षुरस्य सम्बोधनमेव दोषत्वेन पूर्वपक्षीकृतम्, न तु केश-च्छेदने हिंसायाः संभावना कृता। एवमेव मन्त्राणां नियतानुपूर्वीकत्वम् 'इन्द्राग्नी', पितापुत्रौ' इत्यादिलौकिकप्रयोगसाम्येनैव निरुक्तकृता कृतोत्तरम्, जैमिनिना तु नियतानुपूर्वीकपाठे अदृष्टमपि स्वीकृतम्—इति अदृष्टवादस्य प्रत्यग्रः प्रचारो मीमांसाकाले सिद्ध्यति, न तु निरुक्तकाले। अन्यदप्यालोच्यतां सुधीभिस्तत्र तत्र। तदित्थं निरुक्तकृन्मीमांसादर्शनकर्तुर्बहुपूर्वजः स्फुटं सिद्ध्यति। पाणिनिस्तु उत्तरमीमांसाप्रणेतुरपि परभव इति 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' इति सूत्रदर्शनाद् बहवोऽभिप्रयन्ति, स्वयं सामश्रमिमहाशयोऽपि च उत्तरमीमांसाप्रणेतुः परभवमेव पाणिनिमभ्युपगच्छति, उत्तरमीमांसा चेयं पूर्वमीमांसासमकालिकी परभवा वेति निरुक्तकृतः पाणिन्यपेक्षया बहुपूर्वजत्वमनयान्तरङ्गपरीक्षया सिद्ध्यति। किं च पूर्वमीमांसायाम् 'आख्या प्रवचनात्' इति ऐतरेयतैत्तिरीयशाकल्यबाष्क-लादिसंज्ञाः प्रवचनादेव जाता न तु विरचनात्—इति स्वमतं प्रतिपादितम्—तदेवानुसृत्य पाणिनिनापि 'कृते ग्रन्थे' इत्यधिकारात् पृथक् 'तेन प्रोक्तम्' इति वेदविषयकोऽधिकारः कृत इत्यनुमीयते। भाष्यकृतापि कृतोऽत्र बहुतरो विचार इति तेनापि मीमांसापरभवत्वमेव पाणिनेः सिद्ध्यति। ततश्च निरुक्तस्य मीमांसा-तोऽपि पूर्वभवस्य पाणिनिपूर्वजत्वे न संदेहलेशः।

(३) वैदिकी भाषा स्वसूत्रेषु 'छन्दः' पदेन पाणिनिना व्यवहृता, निरुक्त-कृता तु 'नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्' 'उभयमन्वध्यायम्' (अ. १) इत्यादौ अध्यायपदेन सा भाषा व्यवहृता। तदनेन निरुक्तकाले वैदिकी भाषा अध्येत-व्यभाषाऽऽसीत्, न तु छन्दःपदं तस्मिन् काले भाषाबोधकं प्रचलितम्, पाणिनिकाले तु छन्दोबाहुल्याच्छन्दःपदं वैदिकभाषायां प्रचलितमिति ततोऽपि बहुपूर्वजत्वं यास्कस्यानुमीयते।

(४) पाणिनीयपरिभाषाः प्रायेण निरुक्तकृन्न व्यवहरति। तद्धितशब्दो यत्र तेन कश्चिद्व्यवहृतः, स तद्धितप्रत्ययान्ताभिप्रायेण, प्रत्ययाभिप्रायेण तु 'तद्धित-प्रत्ययस्थाने उपबन्धशब्दो व्यवहृतः, तथा हि—अध्वर्युशब्दनिर्वचने 'अपि वा अधीयाने युरुपबन्धः.' अध्वरशब्दादध्येत्रर्थे युप्रत्यय इत्यर्थे उपबन्धशब्दः। 'सीमतः' इति शब्दव्याख्यायां च 'सीमेत्येनदनर्थकम्, उपबन्धनाददीत पञ्चमी-कर्माणम्, सीम्न—सीमत—सीमातः—मर्यादातः' इत्यत्राप्युपबन्धशब्द एव तद्धित-प्रत्ययं बोधयितुमुपात्तः। तथैव कृत्प्रत्ययं बोधयितुं 'नामकरण' शब्दं स प्रयुङ्क्ते—'कक्षो गाहतेः, क्स इति नामकरणः' 'क्षीरं क्षरतेर्घसेर्वा, ईरो नामकरणः' इत्यादिषु बहुत्र द्रष्टव्यम्। णिजन्तसनन्तयङ्लुगन्तादीन् प्रयोगान् सूचयितु

'कारित' 'चिकीर्षित' 'चर्करीता'दिपदान्येव तेन व्यवहृतानि। सर्वत्र प्रत्यय-व्यवस्थामपि निरुक्तकृन्न स्वीकरोति, बहुश अनेकान् धातूनेव संयोज्य नामानि निर्वक्ति। नैतत्सर्वं पाणिनेरुत्तरभवस्योपपद्यत इति पाणिनिपूर्वभवत्वमेव तस्य सम्भाव्यते। यास्तु पाणिनीये दृष्टा संज्ञास्तेन व्यवहृता, ता व्याकरणान्तरेऽपि पाणिनेः पूर्वभवे भवेयुरित्येव सम्भावयितुमापतति। पाणिनिकृतानि निर्वचनानि च प्रायेण निरुक्ते नानुकृतानि। विलक्षणान्येव तु तत्र निर्वचनानि प्राप्यन्ते। तथा हि—आङ्पूर्वाच्चरतेर्ण्यता आचार्यशब्दं पाणिनिरन्वाह, निरुक्तकृत्तु-'आचार्य-आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिम्' इति निर्वक्ति 'आचारं ग्राहयतीति' वदता आचारशब्देन 'या' धातुं संयोज्य निरुक्तिः प्रदर्शितेति प्रतीयते। तथैव द्युरिति शब्दो दिवुधातोरेव पाणिनीयेऽन्वाख्यायते, निरुक्ते तु 'द्युरित्यह्नो नामधेयम्—द्योतत इति सत' इत्येवं द्युतधातोः स निरुच्यते। एवम् 'अर्थो अर्तेः अरणस्थो वा' इति निरुक्तम्। पाणिनीये तु 'अर्थ उपयाच्ञायाम्' इति प्रसिद्धो धातुः। किमन्यत्—पाणिनिः आस्यदघ्नादिपदानि दघ्नच् प्रत्ययेन साधयति, निरुक्तकृत्तु दघ्नजिति न प्रत्ययं स्वीकरोति, अपितु दघधातोर्दसधातोर्वा दघ्नशब्दं निर्वक्तीति महद्वैषम्यम्। तथैव पाणिनीये अस्वीकृता अपि बहवो धातवस्तत्र मन्यन्ते। तथा हि 'मातिधक्' इति मन्त्रस्य व्याख्याने निरुक्तकृत् 'मास्मानतिदही' मास्मानतिहाय दाः' इत्याह। अतिदही—इति नैवं पाणिनीये दृश्यते। अतिहाय दाः—इति च तदर्थकरणं विलक्षणमेव। तात्पर्यार्थं कृत इति सम्भाव्यते। पाणिनीयापेक्षया अर्थभेदा रूपभेदाश्चापि धातूनां बहुधा निरुक्ते दृश्यन्ते—यथा 'मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः' नहि मार्ष्टिर्गत्यर्थकः पाणिनीये दृष्टः। 'पर्वं पुनः पृणाते' नहि पृणाति पाणिनीये पठितः 'भीमयति शब्दकर्मा, भृङ्ग भृणाते ध्मातेर्वा' ध्माति पाणिनीये क्व? क्व वा भीमयति? एवंविधान्युदाहरणानि शक्यन्ते सुधीभिः पर्यालोचयितुम्, दिङ्मात्रमिदमुदाहृतम्। नैतत्सर्वं पाणिनिपरभवस्य युक्तं प्रतीयत इति पाणिनेः पूर्वभव एव निरुक्तकारो यास्क प्रतीयते।

ता एता यास्कस्य पाणिनिपूर्वभवत्वे दृढतरा युक्तयः। एता पर्यालोच्येदमेव प्रतीयते यत् 'परः सन्निकर्षः संहिता' इति पाणिनिपूर्वभवेऽपि क्वचिद् व्याकरणे पठितं स्यात्, तदेव निरुक्तकृतोद्धृतम्—तदेव पाणिनिनानूदितम्। भवतु यथा कथंचित्। अनिश्चित एवायमर्थः—पाणिनिः पूर्वभवो वा, यास्कः पूर्वभवो वेति

१ व्याक. मतम्। अस्माभिरस्याप्युपेक्षणस्य कारणमप्युपेक्ष्य।

यत्तु कौत्सः पाणिनेः शिष्य इति 'उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्' इति भाष्योक्त्या सिद्ध्यति, कौत्समतं चोद्धरति यास्को मन्त्राणामनर्थकत्वपूर्वपक्ष इति यास्कस्य पाणिन्यवरजत्वं साधयन्ति, तदप्यविमृष्टम्। कौत्स इति हि

गोत्रनाम, एवंविधस्मिंश्च गोत्रे शतशो व्यक्तय सम्भवन्तीति क कौत्स पाणिने शिष्य, को वा यास्केन स्मृत इति निश्चेतुमशक्यमेव। महाराजरघुकालेऽपि कालिदास 'कौत्स प्रपेदे वरतन्तुशिष्य' इति कश्चित् कौत्स प्रतीतोऽति, किं सोऽपि पाणिने शिष्योऽस्तु! यश्च पाणिनिर्निर्दिष्टेषु मन्त्रेषु अर्थपरिचयाय प्रकृति प्रत्ययादिकं विभजते, तस्य शिष्यो मन्त्राणामर्थाभावमभ्युपगच्छति इति नैतत् सम्भावनास्पदम्।

यत्तु सत्यव्रतसामश्रमिमहाशयेन 'अपार्णम्' इति निरुक्तदृष्ट पदमुपादाय यास्कस्य पाणिनिपरत्वे प्रधानोऽय हेतुरिति महता दर्पोल्लासेन कूर्दतेवोक्तम्—पाणिनिकाले ऋणशब्दे परे वृद्धिर्नैवासीत् प्रचलिता, तत एव तेन तादृश विधान न कृतम्। निरुक्तकृत्काले 'अपार्णम्' इत्येको वृद्धियुक्त प्रयोग प्रचलित, वार्तिककृत्समये तु 'प्रार्णम्' 'वत्सतरार्णम्' इत्यादौ बहुत्र वृद्धि प्रचलिता, परम् 'अपार्ण'पद विलुप्त जातम्—अत एव वार्तिककृता कात्यायनेन "प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे" इति बहुत्र वृद्धिरुपसंख्याता, अपात्तु नोप संख्यातेति न ह्यवगतस्तेन सम्यग् विवृत।

अत्र ब्रूम —पाणिनिकाले अप्रचलिता एव शब्दा पाणिनिना नान्वाख्याता, पश्चात् प्रचलितत्वात् पश्चाद्भवेन कात्यायनेन त उपसंख्याता—इति सिद्धान्त एव तावन्नोपपद्यते। तथा हि कुल्टाशब्दे कुल+अटा इत्यत्र पररूप पाणिनिना नान्वाख्यातम्—वार्तिककृता शकन्ध्वादिषु पररूपमुपसंख्यातम्—पर कुल्टाशब्दोऽय स्वय पाणिनिना 'कुल्टाया वा' इति सूत्रे व्यवहृत। ततश्च पाणिने पूर्वं कुल्टाशब्दो न प्रचलित इति क एतदनुन्मत्तो वक्तु शक्नुयात्। 'स्पृहि-गृहि-पति-दयि' इत्यादीन् इका, 'भवतेर' इत्यादौ श्तिपा च पाणिनिर्धातून् निर्दिशति, 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति विधान तु वार्तिक उपलभ्यते इति कथमुक्त सिद्धान्त पद दधात्। पूर्वोक्तेन वार्तिकेनैव साध्यमानो 'दशार्ण' शब्द पाणिनिकाले देशवाचको नासीदित्यपि कश्चन साहसिक एव शक्नोति वक्तुम्, दशार्ण-देशस्य महाभारतादौ सुप्रसिद्धत्वात्। 'स्वैरी' 'स्वैरिणी' पदयोर्वृद्धिर्न पाणिनिनान्वाख्याता, वार्तिककृतोपसंख्याता, इमे च पदे छान्दोग्योपनिषदि स्फुट श्रूयते 'न मे स्तेनो जनपदे ... न स्वैरी स्वैरिणी कुत' इति। तत्किं छान्दोग्योपनिषदपि पाणिनिपरभवा! एव प्रैषशब्द शतपथब्राह्मणे १३।५।२। २३ 'यथा प्रजापतिमिति प्रैष' इति श्रूयते, स चापि प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु इत्यादिवार्तिकेनैव सिद्ध्यति। 'षोडश' शब्दोऽय 'षष उत्व दतृदशधासु' इत्यादिना वार्तिककृतैव साधित, पाणिनेरतदर्थ प्रयत्नो न दृश्यते, पर शब्दोऽयं संहितास्वपि श्रूयते—इति कथमस्य पाणिने पश्चात् प्रचलितत्व वक्तु शक्येत! पाणिनिना पृषोदरादित्वादेवास्य सिद्धिर्मनसि कृतेति चेत् 'द्वादश' 'अष्टादश' 'त्रयस्त्रिंशदादि'शब्दा पृषोदरादित्वेन

नोपेक्षिता, षोडशशब्दे पर तूपेक्षित इत्यपि वैचित्र्यमेवापतति। यत्तु श्रीयुधिष्ठिर-प्रभृतय आधुनिकाः 'नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' इति भाष्यमनुसृत्य एकैकप्रयोगार्थं पाणिनिना सूत्राणि न प्रणीतानीति समादधति, तदपि न विचार-सहम्। एकैकस्योदाहरणस्य साधनार्थमपि पाणिनेर्बहुसूत्रारम्भदर्शनात्। 'नृ च' इत्यस्यैकमेवोदाहरणम्—'नृणाम्' 'न तिसृचतसृ' इत्यस्याप्युभयोः शब्दयोरेकैकमे-वोदाहरणम्। 'पश्चो व' 'क्षायो म' इत्यादीनामेकैकान्येवोदाहरणानि। सर्वस्या-मष्टाध्याय्याः सर्वतो बृहद्भूतम् 'अचतुरविचतुर'त्यादिसूत्रं तदनु 'दाधर्तिदर्धर्ति'-त्यादि महासूत्रं चैकैकान्येवोदाहरणानि संकलय्य रचितम्। 'मित्रे चर्षौ' इति सूत्रस्य चैकमेवोदाहरणम्—विश्वामित्रः। अतश्च सूत्राण्येकैकोदाहरणार्थं रचितानि दृश्यन्त एवम्। भाष्यकारेण तु यत्र यत्र तद्वाक्यं प्रोक्तम्—तत्र एकस्योदाहरण-स्यार्थं सामान्यो योगो न क्रियते—इति तात्पर्यम्। यथा नामि इति सूत्रस्थाने आमीति कृते पूर्वं दीर्घे नुण् न स्यादिति प्रस्तुते विचारे 'ह्रस्वनद्यापः' इति ह्रस्व ग्रहणं व्यर्थं सद्भूतपूर्वगतिमाश्रयिष्यतीति समाधाने 'नृणाम्' इत्यादौ चारितार्थ्यं माशङ्क्य भाष्यकृता तथोक्तम्, एकस्य 'नृणाम्' उदाहरणस्यार्थं सामान्येन ह्रस्वग्रहणं नोचितं भवतीति तदाशयः, एवमन्यत्रान्यत्रापि। नानेकोदाहरणसाधनाय सूत्रमेव न क्रियते—इति तदभिप्रायः सम्भवति। अत एव तथा सति 'नृनद्याप' इत्येव ब्रूयादिति भाष्यकृता शेषे उक्तं। एतेन स्फुटमिदं जातम्—यदेकस्याप्यु-दाहरणस्य कृते सूत्रं तु भवति, सामान्यपदग्रहणं न भवतीति आस्तामप्रकृतम्।

किं च केवलवैदिकप्रयोगसाधनाय 'छन्दसि' इति प्रकृत्य यानि सूत्राणि पाणिनिना प्रणीतानि, तेष्वपि कात्यायनकृतानि बहून्युपसंख्यानानि दृश्यन्ते वार्तिकपाठे च भाष्ये च। तदेतद्भवतां मते कथमुपपद्यताम्? न हि वैदिका शब्दा अपि पाणिनेः पश्चात्प्रचरिताः, यदर्थं कात्यायनस्य प्रयत्नो दृश्येत। तस्मादनवधानव-शादेव पाणिनिना केचन प्रयोगाः परित्यक्ताः, कात्यायनेन तदर्थं वार्तिकान्या रचितानीत्येव कल्पना सम्यगुपपद्यते। यद्यप्यनल्पमतिर्भगवान् पाणिनिः, यच्च तेन कृतम्, तादृशं न कोऽपि कर्तुं शक्तः। सर्वदेशव्यापकसर्वयुक्तलौकिकसर्वप्रयोगबोधकं च कः कर्तुं शक्नुयाद् व्याकरणम्? तथापि मनुष्यसुलभमनवधानं क्वचिद् भवत्येवेति तत्समाधानायैव कात्यायनस्य प्रयत्नः। इदन्तु तत्त्वम्—पाणिनिकाले भाषेयमत्र व्यवस्थिता नासीत्, विविधा विचित्रा प्रयोगा अस्यां भाषायां प्रचलन्ति स्म। अत्र येऽत्यन्तं विरलाः, ते पाणिनिना परित्यक्ताः, ये तु कथञ्चिदपि प्राप्तप्रचाराः, ते विकल्पादिना संगृहीताः। यथा कृधातोरुत्तमपुरुषे 'कुर्मि' इत्यपि वाल्मीकीये रामायणे दृश्यते—तेन 'कुर्मि' कुर्वः, कुर्मः' इति त्रितयमप्यासीत् प्रयुज्यमानम्, तत्र 'कुर्मि' इत्येतदतिविरलप्रचारं मत्वा समुपेक्षितं पाणिनिना, 'कुर्वः, कुर्मः' इति तु संगृहीतम्। एवमेव 'गदा प्रक्षेपयाद्या महाभारतादौ दृश्यमाना, शम्नायाद्याश्च

निरुक्तादिषु दृश्यमाना अतिविरलप्रचारा प्रयोगा उपेक्षिता, प्रचलितास्तु सूत्रै रन्वाख्याता। परं प्रचलितेष्वप्येकप्रयोगार्थं सूत्रं न निर्मितमिति न कथमपि सिद्ध्यति। तस्मात् यान् विरलप्रयोगान् मत्वा पाणिनिरुपेक्षते स्म, मनुष्यसुलभेन अनवधानेन वा विस्मरति स्म, ते कात्यायनेन उपसंख्याता इत्येव युक्तमभ्युपगन्तुम्। एवं च पाणिने पूर्वमपि यास्ककाले 'अपार्णम्' इति प्रचलितं भवेत्– पाणिनिना च विरलप्रयोगतया अनवधानेन वा त्यक्तं भवेदित्यपि सम्भाव्यत एव। किं च 'अपार्णम्' इति सिद्ध्यर्थं वार्तिककृतोऽपि न दृश्यते प्रयत्नः, वार्तिककृतस्य मतेऽपि न प्रचलितोऽयं प्रयोगः, यास्ककाले तु प्रचलित इति कल्पनया वार्त्तिककृदपेक्षयापि यास्कस्यार्वाचीनत्वमापतति, न चैतदिष्टं कस्यापि। न वा सम्भवति, वार्तिककृता १।४ 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते' इति अस्यैव निरुक्तस्योल्लेखात्। तस्मादकिञ्चित्करैवेयमपार्णमाधारीकृत्य प्रवृत्ता कल्पना। सन्दिग्धमेव च यास्कपाणिन्योः पौर्वापर्यम्। तत्राप्याधिक्येन यास्कस्यैव पूर्वभवत्वं सम्भाव्यत इति प्रपश्यामः।

पाणिनिदेशकालौ।

अथास्य पाणिनीयव्याकरणस्य मुख्याचार्याणां पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीनां देशकालादिविषयेऽपि किञ्चिद्विचार्यते। तत्र गुणाढ्यरचितबृहत्कथामाधारीकृत्य विरचिते कथासरित्सागरे पाणिने पाटलिपुत्रेऽध्ययनम्, मन्दबुद्धितयाऽध्ययने साफल्यमनासाद्य तपोऽर्थं गमनम्, महेश्वरादभिनवव्याकरणाप्तिः, ततः कात्यायनेन सह शास्त्रार्थः, महेश्वरहुङ्कारेणैन्द्रव्याकरणस्य नाशः, तत पाणिनीयस्यैव प्रतिष्ठा—ऐन्द्रव्याकरणनाशेन मूर्छीभूतस्य कात्यायनस्यापि तपसा महेश्वरप्रसादनम्, तत्प्रसादात्–पाणिनीयव्याकरणपूर्तिशक्तिलाभ –इत्यादि वर्णितमस्ति, यत्सर्वत्रैव प्रसिद्धम्। नन्दराज्ञ च पाणिने प्रतिष्ठाकरणमपि तत्र वर्णितम्, तेन नन्दसमकालिकत्वं पाणिने सिद्ध्यति। पाणिनिकात्यायनयोश्च समकालिकत्वं सिद्ध्यति। नन्दराज्यकाले परं महती विप्रतिपत्तिः, आधुनिका ऐतिहासिकाः, यीशुतः पूर्वं चतुर्थ्यां शताब्द्यां नन्दराज्यं वदन्ति। पुराणेषु तु—

> आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
> एतद्वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम्॥
>
> (श्रीमाभागवते १२ स्कन्धे २ अ २६ श्लो०। तथैवान्यत्रापि)

इति परीक्षितो जन्मानन्तरम् १११५ वर्षेभ्योऽर्वाङ् नन्दराज्यप्रारम्भः, शतं वर्षाणि च नवानां नन्दानां राज्यमिति लभ्यते। तत्रापि च विप्रतिपत्तिः, पुराणानुशीलिनः कथं प्रारम्भ एव परीक्षितो महाराजस्य जन्म मन्यते कलेश्चाद्यत्वे ५०५५ वर्षाणि व्यतीतानीति ततो १११५ वर्षाणां निःसारणे ३९४० वर्षेभ्यः

पूर्वं (ईशातः पूर्वं विंशतितम्या शताब्द्याम्) नन्दराज्यारम्भकालः प्रतीयते, सप्तशतकोत्तर च (ईशात. पूर्वमूनविंशशताब्द्याम्) नन्दराज्यसमाप्तिकाल । अथ राजतरङ्गिण्यान्तु कले. ६५३ वर्षेष्वतीतेषु कुरुपाण्डवा अभवन्नित्युक्तम्— 'शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले । कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरुपाण्डवाः, (१–५०) महाभारतयुद्धादनन्तर च परीक्षितो जन्मेति कलेरष्टम्या शताब्दया परीक्षितो जन्म लभ्यते । तदनन्तरं पूर्वोक्तरीत्या १११५ वर्षानन्तर नन्दराज्यारम्भ इति कलेरेकोनविंशतितम्या शता ब्द्याम् ईशात पूर्वे द्वादश्या शताब्द्या नन्दराज्यमायाति । केचिच्च पुराणान्तरसवादात् पूर्वोक्ते श्रीभागवतपद्ये 'सैव पञ्चशतोत्तरम्' इति पाठ मन्वाना परीक्षिज्जन्मानन्तर १५०० वर्षेभ्योऽर्वाक् नन्दराज्यप्रवृत्तिरिति राजतरङ्गिणीरीत्या ईशात पूर्वे सप्तमपञ्चमी वा शताब्दी नन्दराज्यकाल इति साधयन्ति । सेय विप्रतिपत्तिरद्याप्यैतिहासिकाना मल्ललीलाप्राङ्गणभूतैवेति नात्र स्वल्पकाये निबन्धे वय तत्र पतितुमिच्छाम । पुराणभूमिकाया विषयमिमं विवेचयिष्याम', एतावदेव तु वक्तव्यमत्रास्माकम्–यत् कथासरित्सागररीत्या नन्दराज्ये पाणिने समय' सिद्धयति । त्रिमुनिकल्पतरुप्रभृतिष्वपि तदेवानूद्यते । आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्पे बौद्धग्रन्थेऽपि पाणिनिना माणवेन सह महापद्मनन्दस्य सौहार्दं बभूवेत्युक्तम् । तेनापि नन्दसमकालिकत्व पाटलिपुत्रनिवासश्च पाणिने सिद्धयति । परं कथासरित्सागरमद्यतना ऐतिहासिका न प्रमाणयन्ति, विनोदमात्रार्थो कथास्तत्र सगृहीता इत्येव ते मन्यन्ते । बौद्धग्रन्थे च योऽयं पाणिनिर्नाम माणव उक्त, सोऽयमेव व्याकरणरचयिता पाणिनिरन्यो वा ! इति न तत. सिद्धयति । माणव इति विशेषण च विपरीतमिव । न हीदृश आचार्य' केनापि माणवपदेन विशेष्येत, तस्मात् स्वातन्त्र्येणैवात्र विचारधारा पाणिनिदेशकालविषये प्रवर्तनीयाः ।

तत्र त्रिकाण्डशेषे कोषे पाणिनिनामसु 'शालातुरीय' इति पठनात्, गणरत्नमहोदधौ च जैनलेखकेन वर्द्धमानेन 'शालातुरो ग्राम , सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिरिति' तद्विवरणात् शालातुरो ग्रामोऽस्य भगवत' पाणिनेर्जन्मस्थानमित्युररीक्रियते । काशिकाव्याख्याया न्यासग्रन्थेऽपि च ४।१।१ सूत्रव्याख्यायाम् 'अत शालातुरीयेण प्राक् टाप्च इति नोक्तम्'–इत्युक्तम् । तेनापि शालातुरीयत्वं पाणिने: सिद्धयति । गुप्तशिलालेखेषु वलभ्यां प्राप्त एकस्मिन् शिलालेखे (३१० सम्वत्सरलिखिते) पाणिनीयशास्त्रकृते 'शालातुरीयतन्त्रम्' इति प्राप्यत इत्यपि श्रीवासुदेवशरणमहोदयेनोक्तम् । ह्यू भान् चु आङ् नामक श्चीनदेशीय' परिभ्रमणशील ईशुख्रिस्तस्य सप्तम्यां शताब्द्यामिहायातः स्वयं शालातुरग्रामे गत., तेन स्वस्मैव तत्रत्याना जनाना किंवदन्तीमाकर्ण्य शालातुरग्रामः पाणिनेर्जन्मस्थानमिति लिखितम् ।

तदित्थमनेकैः प्रमाणैर्निश्चितं पाणिनेर्जन्मस्थानं शालातुरग्राम इत्यैतिहासिका मन्यन्ते। अस्य च ग्रामस्य स्थाननिर्देशोऽपि चीनदेशीयेनैकेन परिभ्रमणशीलेन कृतः, यदयं शालातुरग्रामो गान्धारदेशे उद्भाण्ड इति प्रसिद्धात् स्थानात् प्रायेण क्रोशद्वयान्तरे लहुरग्रामसमीपेऽसीदिति। गान्धारदेश इदानीं कन्धार इत्युच्यते—इति बहूनां विश्वासः। उद्भाण्डपुरं चेदानीम्—ओहिन्दनाम्ना कुभाया (काबुलनद्याः) सिन्धोश्च सङ्गमस्य नेदिष्ठे, तत्रैव पश्चिमोत्तरस्यां दिशि लहुर नामको ग्रामोऽपि नात्यन्तं दूरे प्रसिद्ध इदानीमपि। तत्समयप्रख्यातः शालातुरग्राम इति निर्णीतप्रायम्। तस्मिंश्च काले गान्धारदेशोत्पन्नः कश्चन बालः शिक्षार्थं पाटलिपुत्रं गच्छतीति न सम्भाव्यते, तस्मात् तत्रैव प्रान्ते स्थितं तक्षशिलाविद्यालयं पाणिनेः शिक्षास्थानमित्याधुनिका अनुमिन्वते।

पञ्चनददेशे ये शब्दाः किञ्चिद्वैषम्येणापि प्रवृत्ताः, तेषामप्यन्वाख्यानं पाणिनीये दृश्यते, यथा 'उदक् च विपाशः' ४।२।७४ इति सूत्रेण विपाशो नद्या उत्तरकूले स्थितानां कूपानां वाचकेषु शब्देषु अञ्प्रत्ययो विधीयते, विपाशो दक्षिणभागे स्थितानां तु वाचकेषु अण् प्रत्ययः। अनयोश्च केवलं स्वरभेदः—सोऽयं सूक्ष्मोऽपि भेदस्तेनान्वाख्यात इति पञ्चनदेषु परिभ्रमणं पाणिनेः स्पष्टं सिद्ध्यति। पाटलिपुत्रे वर्षोपाध्यायसमीपेऽध्ययनं तु कल्पनामात्रमिति केचन मन्यन्ते। पाणिनेर्ग्रन्थो किन्तु मगधराजनन्दनिकटे प्रेषितः, तेन च पाणिनिर्बहु सम्मानितः, ग्रन्थस्य प्रचारश्च पारितोषिकप्रदानादिना कृत इति चीनदेशीयास्तत्परिव्राजका लिलिखुः।

राजशेखरेण काव्यमीमांसायां प्रोक्तम्—'श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा, अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः' इत्यादि। तेन च यद्यनेनेत्थं पाणिनेः पाटलिपुत्रे गमनं सम्भाव्यते, तत्रैव तद्ग्रन्थस्य परीक्षा सम्भाव्या भवेत्। तत एव 'उद्दालकपुष्पभञ्जिका' इत्यादि प्राच्यदेशप्रसिद्धक्रीडादिवाचकाः शब्दा अपि पाणिनिनान्वाख्याता दृश्यन्ते। एवंविधानां शब्दानां तत्तद्देशपरिभ्रमणमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वात्।

बौद्धग्रन्थे मञ्जुश्रीमूलकल्पे समुद्धृतानां पाणिनिस्वमाचार्य एव चेत्, तदपि सम्भवति। पाटलिपुत्रे परीक्षानन्तरं तत्रत्येन महाराजनन्देन सह सख्यं सम्पन्नमभूदिति। स्वयं पाणिनिनापि च 'तूदीशलातुर…' (४।३।९४) इति 'प्रन्तुगुक्षशालाद्भ्यो…' (४।३।९३) इति च प्रदर्शितमौ सूत्रौ। तदेव देशनिर्णये प्रायेणैकमत्यमैतिहासिकानाम्।

अथास्य कालनिर्णये तु महती विप्रतिपत्तिः। योरुपवर्त्ताः प्राक् चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा शताब्द्यां पाणिनेः प्रादुर्भाव इत्याधुनिका ऐतिहासिका मन्यन्ते। तत्र चैता युक्तीरुपन्यस्यन्ति—

१ भगवतो बुद्धादयमर्वाचीन, 'कुमार श्रमणादिभि' इति सूत्रप्रणयनात्। श्रमणशब्दो हि बौद्धपरिव्राजकेष्वेव प्रसिद्ध। तत्रापि च श्रमणादिगणे श्रमणाशब्द स्त्रीलिङ्ग पठ्यते। स्त्रीणा सन्यासग्रहणमपि बौद्धैरेव परिचालितम्। बुद्धश्चाय भगवान् यीशुत प्राक् सप्तम्या शताब्द्या जात इति तन्मतप्रचारादर्वाचीनोऽय पञ्चम्या चतुर्थ्या वा शताब्द्या भवेत्।

२ 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' (५।१।६०) इत्यस्ति तद्धिते पाणिनीय सूत्रम्। तेन पञ्चाना वर्ग पञ्चत्, दशाना वर्ग दशत् इति सिद्ध्यति। विकल्पे च पञ्चक, दशक इत्यपि भवति, अय च पञ्चाना दशाना च वर्ग प्रचारार्थ बौद्धपरिव्राजकेष्वेव प्रचलित इति बौद्धाना महावग्गग्रन्थे स्पष्टमुल्लेख, पञ्चत् दशदिति शब्दावपि तत्र निर्दिष्टौ। तयो साधनायैव पाणिने प्रयत्न इति पुनरा बुद्धादर्वाचीनत्वमस्य सिद्ध्यति।

३ पाटलिपुत्रनगरनिर्माणं बुद्धदेवस्य जीवितावस्थायामेवारब्धमिति बौद्धग्रन्थेभ्य प्रतीयते। तस्य नगरत्वप्राप्ति, तत्र राजधानीप्रतिष्ठापनम्, तदुत्तर पाणिनि र्जात। तत एव तद्रचितस्य ग्रन्थस्य नन्दराजधान्या पाटलिपुत्रे परीक्षण सम्भवति, इति बुद्धदेवाद् द्वित्रशताब्दीपरत्वमेवास्य सम्भाव्यते। तस्मात् पञ्चमी चतुर्थी वा शताब्दी सुयुक्तोऽस्य काल।

४ नन्दराज्ये पाणिनीयव्याकरणस्य या परीक्षा उक्ता, बौद्धग्रन्थे च यत् पाणिनेर्नन्दराज्ञेन सख्यमुपवर्णितम्, तदप्येवमुपपद्यते। नन्दराजस्य चतुर्थ्या पञ्चम्या वा ईशात् प्राक् शताब्द्यामेवैतिहासिकैरवधारणात्।

५ कीथप्रभृतय आङ्ग्लास्तु वदन्ति, यद् 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' इति सूत्रे यवनशब्दपाठो दृश्यते। इह यवनशब्देन माहम्मदा परिचेतु शक्यन्ते, यतो ह्यन मतप्रवर्तकस्य श्रीमहम्मदमहाभागस्य जातस्य चतुर्दश्येवेय शताब्दी। पाणिनिस्तु ततो बहुपूर्वज इति। तस्माद् यूनानदेशवास्तव्या एवेह यवनशब्देनोपात्ता इति स्फुटमेव। यूनानदेशीयाना परिचयश्च 'ग्रेट अलैग्जण्डर' सिकन्दरस्य भारताक्रमणकालादेव भारतीयै प्राप्त इति सिकन्दराक्रमणादर्वागेव ईशात् पूर्वं चतुर्थी शताब्द्येव पाणिने कालो भवितु महंति, न तत प्रागिति।

ता एता अर्वाचीनत्ववादिना युक्तय। प्राचीनत्ववादिनस्तु नैता दृढा मन्यन्ते। एवमुत्तरयन्ति च—

(१) श्रमणशब्दोऽय बौद्धोपज्ञम्—शतपथब्राह्मणे १४ काण्डे ७ अध्याये १ ब्राह्मणे २२ कण्डिकायामपि स्पष्ट श्रूयमाणत्वात्, तत्र हि सुषुप्त्यवस्थानिरूपणप्रसङ्गे सर्वोपाधिविनिवृत्तिप्रतिपादने (अत्र पिता अपिता भवति, माता

अमाता, लोका अलोका, देवा अदेवा ……… श्रमणो अश्रमण तापसो अतापस) इत्यादि श्रूयते। इह परिव्राजकाभिप्रायेणैव श्रमणशब्द प्रयुक्त इति स्फुट शाङ्करभाष्यादिषु। सन्यासश्च याज्ञवल्क्यस्य तदुपदेशान्मैत्रेय्याश्चापीहैव काण्डे (बृहदारण्यकोपनिषत्सु) श्रुत इति श्रमणपदेन वा न बुद्धदेवादर्वाचीनत्व शक्य कल्पयितुम्। किं बौद्धमतमपीद न शाक्यसिंहादेव प्रवृत्तम्—अपि तु बहुप्राचीनम्। 'कथमसत सज्जायेत' इत्यादिना उपनिषत्स्वेव बौद्धमतानुवाद-निराकरणयोर्दर्शनात्। वाल्मीकीयरामायणादावपि स्वय रामेण बौद्धमतस्योल्लेख-करणात्। बौद्धग्रन्थेष्वपि शाक्यसिंहोऽयमन्तिमो बुद्ध स्मर्यते, तत पूर्वे प्रादुरभूवन् बहवो बुद्धा इति स्फुटमेव। ततश्च बौद्धमतप्रचारादर्वाचीनत्वे पाणिने सिद्धेऽपि न शाक्यसिंहादर्वाचीनत्व कथमपि सिद्ध्यति। वस्तुतस्तु ब्राह्मणशब्द श्रमणशब्दश्चेति द्वावपि शब्दौ विज्ञानमूलकावतिप्राचीनौ। ब्रह्मशब्दो हि 'ज्ञान' पर्याय, श्रमशब्दश्च क्रियापर्याय। तत्र ब्रह्मैवेद सर्वमिति य आतिष्ठन्ते, ते ब्रह्मैकाद्वयवादिनो ब्राह्मणा, क्रियैव (श्रम एव) सर्वमिदम्, नातोऽन्यद् ब्रह्मास्तीति येऽभ्युपगच्छन्ति, ते श्रमैकाद्वयवादिन श्रमणा। ज्ञानैकाद्वयवाद श्रमैकाद्वयवादश्चानादे कालात् प्रवृत्त इति श्रमणशब्दाधारेण कालनिर्णयोऽय वैदेशिकपरिभाषानभिज्ञानामेव शोभते, न तु विवेचकानाम्।

(२) पञ्चदशादिशब्दा पञ्चानां दशानां च वर्गे शाक्यसिंहात्पूर्वमपि प्रवृत्ता स्यु, पूर्वतनी प्रक्रियामेवानुसृत्याधुनिकैर्वैदेशिकैस्तथा वर्गा विरचिता स्युरित्यपि बहुलं सम्भाव्यते। बहुत्र बौद्धे प्राक्तनी प्रक्रियानुसृता स्फुट प्रतीयते। तस्मान्नेदमपि दृढ प्रमाणम्। यथा च नन्दराजादीनां काले विप्रतिपत्ति, तथा भगवत शाक्यसिंहापरपर्यायस्य बुद्धदेवस्य कालेऽपि पौराणिकानां विप्रति-पत्तिरस्त्येवेति शाक्यसिंहात्परभवत्वेऽपि पाणिनेरविप्रतिपन्न कालो न सिद्ध्यत्येव। श्रीदेवसहायत्रिवेदिप्रभृतय इतिहासविचक्षणा सर्वेषामपि आधुनिकानां युक्तिभि खण्डयन्ति, सहस्राधिकवर्षप्राचीनतां च तदभ्युपगतकालापेक्षया तत्तेषां साधयन्तीति कोऽयं यूरोपानुगामिष्वेवदृढतरो विश्वास ।

(३) यदा कथासरित्सागर इतिहासविषये न प्रमाण मन्यते, बौद्धग्रन्थोक्तश्च पाणिनिर्मागव पाणिनेराचार्याद् भिन्न एवाभ्युपगम्यते, तदा पाटलिपुत्रपरिचयोऽपि पाणिनेर्न सिद्ध्यत्येवेति पाटलिपुत्रनिर्माणकालेन तत्कालावधारणमपि न दृढम्। नन्दराज इव पाटलिपुत्रनिर्माणेऽपि पौराणिकदृशा महती कालविप्रतिपत्तिरस्त्येवेति ततोऽपि न कालनिर्णय सुशक ।

(४) नन्दराज्ये पाणिनिग्रन्थरचनेति राजशेखरादीनां किंवदन्तीमात्रो ल्लेख। नन्दराज्यकालोऽपि च महासन्देहास्पदमितीयमपि युक्ति शिथिलप्राया।

(५) यवनपरिचय आर्याणा सिकन्दराक्रमणानन्तरमेवेति तु महदुपहासास्पदम्। श्रीकृष्णकालेऽपि कालयवनकृतमथुराक्रमणस्मरणात्, महाभारतयुद्धेऽपि च यवनादिसैनिकवर्णनात्, दस्मादतिचिरन्तनोऽयं यवनपरिचयो भारतीयानाम्।

एवमर्वाचीनत्वप्रतिपादिका युक्तय शिथिला एव प्रतीयन्ते।

इदानीन्तनेषु विवेचकेषु श्रीसत्यव्रतसामश्रमिमहाभाग श्रीयुधिष्ठिरमीमासक प्रभृतयः प्राचीनतावादी। एतौ हि 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च', 'वासुदेवार्जुनाभ्या वुन्' 'गविगुधिभ्या स्थिर' 'राजे सत्' (जनमेजय) इत्यादिसूत्रेषु महाभारतनिर्दिष्टाना व्यक्तीना च नामोल्लेखात् तदीदृशतत्व्यक्तिनामसाधनप्रयत्नाच्च महाभारतयुद्धपरमप्राचीनं पाणिनेर्मन्येते, पर किञ्चित्परमसवनेव साधयत। तत्रापि सामश्रमिमहाशय—

शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरुपाण्डवा। (१-५०)

इति राजतरङ्गिणीवचनमपविहत प्रमाण मन्वान कलेरष्टाशताब्दीम्—यीशुखिष्टात् प्राक् चतुर्दिशां च शताब्दी पाणिने प्रादुर्भावमभिमन्यते। श्रीयुधिष्ठिरमीमासकस्तु राजतरङ्गिणीवचनस्य पुराणादौ क्वाप्यननुमोदितत्वा निर्मूलत्वमेव तस्य मन्वान कले प्रारम्भ एव महाभारतयुद्धमभिमन्यमान कलेस्तृतीयस्या शताब्द्याम्, यीशुख्रिष्टात् पूर्वमूनविंशत्या शताब्द्या पाणिनेप्रादुर्भाव मन्यते। सोऽयमवान्तरोऽनयोर्भेदः। प्राचीनत्वसाधने युक्तयोऽपि चानयो विभिन्नप्राय। तत्र सामश्रमिमहाशयस्यैता युक्तय, यत्पाणिनिरेव प्रथमो व्याकरणप्रणेता, तेन यत्र यत्रापि व्याकरणनाम स्मर्यते, तेभ्य सर्वेभ्यो ग्रन्थेभ्योऽ य प्राचीन, निरुक्तकृतो यास्काद्, अन्येभ्यश्च वेदाङ्गग्रन्थनिर्मातृभ्य प्राचीनोऽयम्—तस्मादस्यावरत्वमस्य नैव सम्भवति। प्रधानभूता चेय तस्य युक्ति—यद् व्यासपुत्रस्य शुकस्य वैयासकिरिति नाम श्रीभागवतादौ पठ्यते, न च वैयासकिशब्द पाणिनीये सूत्रे सिद्ध्यति, वार्तिककृता तु 'सुधातुरकङ् च' (४।१।९७) इति पाणिनीये सूत्रे 'व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बाना चेति वक्तव्यम्' इत्युपसंख्याय, वैयासकिशब्द साधित। तेन स्फुटमिद प्रतीयते—यद्व्यासपुत्रस्य शुकस्य यावन्न प्रसिद्धिरभवत्, वैयासकिपद च न प्रचारल्लोके, तावदेव समुत्पन्न पाणिनि, तत एव तेन वैयासकिशब्दसाधनाय न कृत प्रयत्न। वार्तिककृत्काले प्रचलित स शब्द इति तेन प्रयत्न कृत। तदित्य व्यासात् किञ्चित्परमप्रत्न पाणिने—सुस्पष्टमित्यतीति।

ता एता सामश्रमिमहाशयस्य युक्तयोऽपि शिथिलप्राया एव। यतो हि पाणिने पूर्वमपि बहूनि व्याकरणान्यासन्निति इदाभिर्युक्तिभि प्रतिपादितं पुरस्ताद्-

स्मामि । यास्कात्पूर्वमन्तत्वमपि खण्डितं प्राक् । किं च पाणिनिकाले अप्रचलिता एव शब्दा वार्तिककृता अन्वाख्याता इत्यपि पूर्वमेव दृढतरं निराकृतम् । एवमभ्युपगमे तु महती निरङ्कुशता स्यात्, अश्वत्थामन्नश्वत्थामशब्दयोः साधना यमपि न दृश्यते पाणिनेः प्रयत्नः, वार्तिककृतैव तु 'स्थाम्नोऽकारः' 'भवार्थे तु लुग् वाच्यः' इति शब्दौ तावन्वाख्यातौ । ततश्च महाभारतयुद्धे सुप्रतिष्ठितात् द्रौणेः अश्वत्थामतोऽपि पूर्वभवत्वं पाणिनेरभ्युपगन्तव्यं स्यादिति भवदभ्युपगतं महाभारतयुद्धादर्वाचीनत्वमपि न सिद्ध्येत् । 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' इत्यादिसूत्रनिर्माणं च निरालम्बनं भवेत् । पृषोदरादित्वकल्पना तूभयत्रापि समाना । किं च 'बाह्य' 'दैव' दैव्यादिशब्दा अपि 'देवाद्यञञौ' 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' इत्यादिभिर्वार्तिकैरेव सिद्ध्यन्ति, अतिप्राचीनाः, श्रुतिषु श्रूयमाणा अपि । तस्मात्प्राक् प्रसिद्धा अपि बहवः शब्दा अनवधानेन अल्पप्रसिद्ध्या पृषोदरादित्वाभिमानेन वा पाणिनिना त्यक्ताः, वार्तिककृता त्वन्वाख्याता इत्येवानुमानं सम्यग् भवेत् । ततश्च वैयासकिपदाधारेण क्रियमाणा कल्पना अतिशिथिला ।

अथ युधिष्ठिरमीमांसकमहाशयस्तु यास्कशौनकपिङ्गलव्याडिप्रभृतीनां पाणिनिसमकालिकत्वं महत्यारम्भेण प्रतिपादयन्, अस्य प्रातिशाख्यकृतः शौनकस्य नैमिषादौ सूतात् पुराणानां श्रोतुश्च शौनकस्यैक्यमभ्युपगच्छन्, तस्य जनमेजयकालिकत्वं च प्रसाधयन्, वर्षशतपरिमितमायुश्च तस्याभिमन्वानः, शौनकसमकालिकत्वादेव पाणिनिमप्येनावश्यानीन साधयति । ता एता अस्यापि महाशयस्य युक्तयः श्रद्धामात्रसारा नैतिहासिकानां प्रमाणपरतन्त्राणां पुरः स्थातुमुत्सहेरन् । यतो ह्यनेके शौनकाः शौनकप्रणीतेभ्य एव ग्रन्थेभ्यः सिद्ध्यन्तीति प्रातिशाख्यप्रकरणे प्रागस्माभिः सुप्रतिपादितम् । किमन्यत्—शौनकप्रणीतायामेव बृहद्देवतायाम्—

'काक्षीवन् सर्वमिति भगवानाह शौनकः' (बृ. दे. ३।१५२) इति शौनकस्य भगवानिति विशेषणं शामश्रमिमहाशयेन निरुक्तालोचने प्रदर्शितम् । न हि स्वस्यैव विशेषणं भगवानिति कश्चिदनुन्मत्तो वदेत् । मन्त्रद्रष्टाऽप्यस्ति शौनकः, मण्डलद्रष्टापि, वेदाङ्गप्रातिशाख्यकृदपि, यास्कादर्वाचीनो बृहद्देवताप्रणेतापि । नैषां सर्वेषामैक्यं कश्चिदपि प्रतिष्ठितशेमुषीकः समाश्रयेत् । तस्माद्यदा बहवः शौनका अभ्युपगन्तव्या एव, शौनक इति गोत्रनाम अनेकासु अतिविभिन्नकालासु व्यक्तिषु प्रतिष्ठितम्, तदा पुराणानां श्रोतुः प्रातिशाख्यकर्तुश्च शौनकस्यैक्यप्रकल्पनमपि कल्पनामात्रमेव भवेत् । टीकाकृतो विष्णुमित्रस्य—

> शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः ।
> दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके ।

इति शास्त्रावतारोक्तिरपि चैतिहासिकान्धकारकालप्रसूना किंवदन्तीमूलिकैव न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे । पर्वतत्रयाणां प्रकम्पनमपि च कलियुगप्रारम्भे सर्वप्रामाणिकग्रन्थविरुद्धमिति कल्पनाचातुरीमेव ख्यापयन्नैतिहासिकं तथ्यम् । यास्कादीनां समानकालिकत्वमपि न प्रमाणैः सिद्ध्यतीति प्रागेव प्रत्यपीपदाम । 'पाणिनिर्दाक्षीपुत्र इति भगवता भाष्यकारेणाख्यात, व्याडिरपि दाक्षायण इत्युक्त, तस्माद् व्याडिरयं पाणिनेर्मातुल' इत्यादिकल्पना अपि बादरायणसम्बन्धं स्मारयन्तो विनोदायैव प्रभवन्ति न तत्त्वान्वेषणनिष्कर्षाय । गोत्रनाम्नामतिविभिन्नकालेऽप्यैक्यदर्शनात्, तदाधारेण कालकल्पनायाः कथमपि दुरवासम्भवात् । तथैव वायुपुराणादौ पाणिनिगोत्रस्मरणमपि नास्य व्याकरणाचार्यस्य पाणिनेः कालनिर्णयाय सम्प्रयुक्तं भवेत्, गोत्राणामतिविभिन्नकालेष्वनुवृत्तिदर्शनात् । व्याकरणप्रणेता पाणिनिरिति यदि पुराणेषु क्वाप्युक्त स्यात्, तर्हि निर्धेतुं शक्यः स्यात्तदीयः कालः । तादृशं तु किमपि मीमांसकमहाशयेन नोद्धृतमिति सन्देहास्पदमेवाद्यापि पाणिनिसमय ।

ममेदं प्रतिभाति—यत्पाणिनेः कात्यायनस्य च समये चतुःशताब्दी-परिमितेनान्तरालेनावश्यं भाव्यम्, तथैव कात्यायनस्य पतञ्जलेश्चापि समये तावदन्तरालमवश्यमपेक्ष्यते । तत्र सन्ति हेतवः —

१—पाणिनिना 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' इति सूत्रे ब्राह्मणानामपि पुराणप्रोक्तत्व विशेषणं ददता याज्ञवल्क्यदृष्टस्य शतपथब्राह्मणस्य नवीनत्वं व्यञ्जितमिव । अन्यथा विशेषणदानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कात्यायनेन तु तत्र 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः, तुल्यकालत्वात्' इति शतपथस्यापि समानकालिकत्वमेव ब्रुवता नवीनत्वं नीरसीकृतम् । ततश्च स्पष्टमिदं विज्ञायते—यत् पाणिनेः समये याज्ञवल्क्यब्राह्मणं नूतनं प्रोक्तम् । तस्मिन् काले याज्ञवल्क्यस्य नवीनत्वप्रसिद्धिरासीदिति । कात्यायनकाले तु सा नवीनत्वप्रसिद्धिस्तिरोहिता, याज्ञवल्क्यस्यापि अन्यब्राह्मणप्रवक्तॄणामिव प्राक्तनत्वमेव प्रसिद्धं जातम् । नैतावद् वैषम्यमन्तत चतुःपञ्चशताब्दीव्यवधानेन विना सिद्ध्यतीति प्रथमो हेतुः । यत्तु युधिष्ठिरमीमांसकमहोदयेन समानकालिकत्व कथनात् कात्यायनस्य याज्ञवल्क्यसम्बन्धित्वं तत्कुलजत्वं वानुमितम्, तदेतदुपहासास्पदमिव । न हि कस्यचित्कुलजः सम्बन्धी वा नवीनं प्राचीनं ख्यापयितुमनर्हो भवेद्यथार्थवादी । एवंविधानुमानेन तु कात्यायनस्यानाप्तत्वं प्रसज्येतेति । तस्मात् कात्यायनकाले याज्ञवल्क्यस्यापि पुराणत्वप्रसिद्धिरेव जाता—इत्येव वक्तव्यं स्यात् । अतश्च व्यवधानाधिक्यमवश्यमुररीकर्तव्यम् ।

२—पाणिनिः संस्कृतभाषां भाषापदेनैव व्यवहरति । तेन तस्य काले संस्कृतभाषैव भाष्यमाणासीत्, भाषान्तरप्रवृत्तिः न बभूव, अल्पीयसी वा बभूव इति स्फुटमनुमीयते । कात्यायनस्तु 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियम'

इति वदन् भाष्यकारीत्या 'समानायामर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते' अर्थात् साधुशब्दैरेव व्यवहारे धर्मो भवति, नासाधुशब्दैर्व्यवहारे इति संस्कृतभाषाया धर्मजनकत्वमात्रेण उत्कर्षं बोधयति। तेन तस्य काले अपभ्रंशशब्दघटिताया भाषाया बाहुल्येन प्रवृत्तिरासीदिति स्फुटीभवति। अथ भाष्यकारस्तु 'एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः, यथा गोशब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयः' इति वदन् धर्मनियमश्चापि 'याज्ञे कर्मणि स नियमः अन्यत्रानियमः' इति यज्ञकर्ममात्रे व्यवस्थापयन् स्वकाले व्यवहारार्थमपभ्रष्टभाषाणामेव प्रयोगमभिव्यनक्ति। नैतत्सर्वमल्पेन समयेन सम्भवति—इति त्रयाणामेषां सुमहता कालव्यवधानेन भवितव्यम्।

३—पाणिनिर्गान्धारदेशवासीति ऐतिहासिकानामैकमत्यं प्राक् प्रादर्शयाम। कात्यायनपतञ्जली तु प्राग्देशवासिनौ। तेन पाणिनिकाले गान्धारप्रदेशः, तत्सन्निहितः पञ्चनदप्रदेशो वा विद्याकेन्द्रमासीदिति प्रतीयते। विद्याकेन्द्रे एव एतादृशानां ग्रन्थानामुद्भवः सम्भवतीति। कात्यायनपतञ्जलिकाले तु प्राग्देश एव विद्याकेन्द्रतामापेदे इति प्रस्फुटमेव। इयं घटनापि नाल्पकालसाध्या।

४—पाणिनिसूत्राणामुपरि अनेकानि वार्तिकानि प्रागपि विरचितान्यासन्, तदनन्तरं कात्यायनेन स्वीयो वार्तिकपाठो विरचितः। तथैव वार्तिकस्यापि भाष्यान्तरं प्रथममभूत् तदनु पातञ्जलं भाष्यम्, इति युधिष्ठिरमीमांसकमहोदयाः साधयन्ति। एतत्सर्वं यदि दृढं निश्चितं स्यात्, तर्हि इदमपि कालव्यवधानबाहुल्याय पर्याप्तं भवति प्रमाणम्। किञ्च प्रातिशाख्यानि कियन्ति प्रायेण पाणिनिकात्यायनयोरन्तराल एव विरचितानीत्यस्माभिः साधितपूर्वम्, ततोऽपि कालव्यवधानाधिक्यमेव शक्यमनुमातुम्।

एतदित्थं भाष्यकारः पतञ्जलिः शुङ्गेभ्यः पूर्वं द्वितीयस्यां शताब्द्यां जातः, कात्यायनस्तृतीयस्यां चतुर्थ्यां वा पाणिनिश्च चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा इत्याधुनिकानामैतिहासिकानां विनिर्णयो न सम्यग् युक्त्यनुसारीति। कस्यचिदपि ग्रन्थस्य एवं विधं व्याख्यानापेक्षा नाल्पीयसा कालेन शताब्दीमात्रेण सम्भवतीति विचार्यं सहृदयैः। तस्मादस्माकं मते भाष्यकारः पतञ्जलिर्विद ईशुतः प्राक्तन्यां द्वितीयस्यां शताब्द्यां जातः, वार्तिककारः कात्यायनः प्राक्तन्यां सप्तम्यां शताब्द्याम्, पाणिनिश्चान्ततः प्राक्तन्यां द्वादश्यां शताब्द्यां जातो भवेदिति सम्भावयाम। यदि नन्दराजकाल [illegible] ईशवीयसनः [illegible], तदा नन्दस्य पाणिनेश्च सम्बन्धः प्राचीनैर्ग्रन्थकारैरुल्लिखितः सुतरां सिद्ध्यति। यदि तु अर्वाचीनैतिहासिकदृष्ट्या नन्दराजो ईशुतः प्राक् चतुर्थ्यां शताब्द्यामभवदिति सत्यम्, तदा नन्दस्य पाणिनेश्च सम्बन्धकथा केवलं काल्पनिक्येव, पाणिनेस्तथार्वाचीनत्वा

सम्भवात् । व्याख्यानाम, इदमित्थमारेन कालनिर्णयं कस्यापि सुदुष्कर, यैरपि क्रियते, तैरपि साहसमात्रमेवानुष्ठीयते, केवलमेतावदेव वक्तुं शक्यम्, यत्पाणिनिः भगवान् भाष्यकारादन्ततः सहस्राब्दीपूर्वभवोऽनस्य स्वीकार्य इति ।

अथ कात्यायनदेशकालौ ।

अथ कात्यायनस्य देशकालविषये तु न स्फुटं किमपि विज्ञायते । ऐतिहासिकैरपि एतद्विषये स्फुटं निश्चेतुं न पारितम् । कात्यायन, वररुचि इत्यादीनि नामान्यपि बहुतरदेशकालव्यवहितानामनेकासां व्यक्तीनां सम्भाव्यन्ते—इति सोऽयं देशकालनिर्णये महानन्तरायः । कात्यायनो हि शुक्लयजुः श्रौतसूत्रकारः, सोऽतिप्राचीनः सम्भाव्यते । प्रातिशाख्यकर्ताऽपि कश्चित् कात्यायनः, पाणिनेः सूत्रवार्तिककारोऽपि च कात्यायनः, स्वर्गारोहणकाव्यनिर्माताऽपि च कात्यायन उच्यते । तदत्र कस्य कस्यैक्यं को वा भिन्न इति कठिनोऽयं प्रश्नः । तथैव वररुचिरपि एकः कौटिल्येन स्वीयेऽर्थशास्त्रे राजनीतिशास्त्राचार्यत्वेन स्मृतः । एकश्च विक्रमस्य सभायां नवसु रत्नेष्वपि स्मर्यते, वाररुचं काव्यं चापि तत्र तत्रोल्लिख्यते—इति स्वार्थैक्यं भिन्नत्वं वा सुदृढं वक्तुं सुदुष्करम् । अनेतावदेव शक्यते वक्तुम्—यत्कथासरित्सागरे पाणिनिकात्यायनयोः समकालिकत्वं परस्परं विरोधः शास्त्रार्थादिकञ्च यदुपनिबध्यते, तत्तु प्रायेण काल्पनिकमेव प्रतीयते । उक्तरीत्या पाणिनिकात्यायनयोर्बहुकालव्यवधानमेवानुमीयते । यच्च कथासरित्सागरे कौशाम्बीनिवासित्वं कात्यायनस्योक्तम्, कौशाम्बी च प्रयागसन्निहितामेव सम्भावयन्त्यैतिहासिकाः, तदेतदपि असङ्गतमिव । भाष्यकारो हि 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते' इत्यादिना दाक्षिणात्यत्वेन वार्तिककारमुपहसति । तेनानेन दृढेन प्रमाणेन कात्यायनस्य दाक्षिणात्यत्वं स्फुटीभवति । ततश्च प्रयागप्रान्तवासित्वं न तस्य सम्भवति । यदि तु कौशाम्बी दक्षिणप्रान्त एव क्वचित् भवेत्तर्हि सम्भवति कौशाम्बीवासित्वम् । भाष्यकारसमये कुत आरभ्य दक्षिणदेशो गण्यते स्म, इत्यपि निश्चेतुं दुःशकमेव । तत्श्चास्मिन्निश्चयोऽपि कात्यायनस्य न पूर्णतया विधातुं शक्यः । दाक्षिणात्यः स आसीदित्येतावन्मात्रं भाष्यवाक्यात् निश्चितं प्रतीयते ।

अथास्य कालविषये यीशुख्रिस्तात् पूर्वं चतुर्थी शताब्दी तस्य काल इति केश्चित्पाश्चात्यैरैतिहासिकैर्निर्णीतम् । दृढं प्रमाणन्तु तत्र न किमप्युपलभ्यते, केचित्तु 'पाण्ड्योडर्यण्' इति वार्तिकबलात् पाण्ड्यराज्यपरिचयं कात्यायनस्यासीत्, पाणिनेस्तु तदर्थं प्रत्याख्यानात् पाण्ड्यराज्यपरिचयस्तस्य नासीदिति सम्भावयन्ति । परं सर्वमेतददृढानुमानमात्रम् । पाणिनेः परस्तात् एव शताब्द्याः कात्यायनेनोपलब्धतया इति मूलभूतसिद्धान्त एव वार्तिकसम्भवानि खण्डितः । पाण्ड्यराज्यस्य स्थापनकालोऽपि यावदद्यावधि सम्यङ् न निश्चितः । तस्मात् कालस्य सम्यङ् निश्चयो नास्ति ।

अस्मन्मते कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे ये राजनीतेराचार्याः परिगणिताः, तेषूक्तो वररुचिरय मेव स्यादिति विशेषेण सम्भाव्यते। पाणिनिप्रकरणोक्तरीत्या अस्य कात्यायनापर पर्यायस्य वररुचेः कौटिल्यपूर्वभवत्वसम्भवात्। भाष्यकृतः पतञ्जलेः कात्यायनस्य च काले चतुष्पञ्चशताब्दीव्यवधानेनावश्यं भवितव्यमिति प्रोक्तमेतदस्माभिः। सत्यव्रतसामश्रमिमहाशयोऽपि चैतदेव साधयति। तत्रेदमपि प्रमाणं तेनोपन्यस्तम्, यद् वार्तिककृता स्त्रीप्रत्ययसिद्ध्यर्थं सभाशब्दात्क्रियमाणे प्रत्यये यदनुबन्धासञ्जन मुपसंख्यातम्, तद् भाष्यकृता 'कथं स्त्री नाम सभासु साध्वी स्यात्' इत्युक्त्वा प्रत्याख्यातम्। तेनेदं शक्यतेऽनुमातुं यत् कात्यायनकाले सभासु स्त्रीणां साधु त्वम्—अर्थाद् वक्तृत्वादिना भागग्रहणं प्रचलितमासीत्, भाष्यकारकाले तु तन्नि वृत्तमिति। एवंविधं सामाजिकं परिवर्तनं नाल्पेन कालेन सम्भवतीत्यनयोश्चतुष्प ञ्चशताब्दीव्यवधानेनावश्यं भाव्यम्। अस्माभिरपि भाषापरिवर्तनविधया तदेतत्सा धितमेव। तस्मात् यीशुख्रिस्तात् षष्ठ्याः सप्तम्या वा शताब्द्या अर्वाङ् न सम्भवति कात्यायनकाल इत्यनुमिनुमः। कथासरित्सागरे तु नन्दराज्यकाले स्थितः पाणिनि समसामयिकः एवायमुक्त इति लिखितपूर्वमेतत्। तस्य चैतिहासिकदृष्ट्या न प्रामा णिकत्वमित्यपि चोक्तं लिखितपूर्वम्। इदमपि स्मर्तव्यम्—सरूपसूत्रे 'द्रव्याभिधानं व्याडिः' इति व्याडिनाम कात्यायनः स्मरति। तेन व्याडिना पाणिनिसूत्र– व्याख्यारूपः सङ्ग्रहो निर्मित इति यदि सत्यं तर्हि तस्मात्परभाविनैव कात्यायनेन भवितव्यम्। तस्मात्पाणिनेरस्य च विशेषेण कालव्यवधानमावश्यकमेव।

पतञ्जलेर्देशकालौ

अथ भाष्यकारस्य पतञ्जलेस्तु कालनिर्णये अस्ति दृढं साधनम्। पाणिनिना हि भगवता भूतार्थे लकारत्रयं विहितम्—लुङ्, लङ्, लिट् चेति। तत्र भूत सामान्ये लुङ्, अनद्यतनभूते लङ्, परोक्षानद्यतने लिडिति सूत्रोक्ता व्यवस्था। तत्रानद्यतने लङिति सूत्रे 'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' इति वार्तिक कृतोक्तम्। तत्रोदाहरणप्रत्युदाहरणे आह भाष्यकारः—अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्। प्रयोक्तुर्दर्शनविषये इति किम्—'जघान कंसं किल वासुदेवः।' इति। एतद् व्याख्यातवान् कैयटः। 'अननुभूतत्वात् परोक्षोऽपि प्रत्यक्षयोग्यतामात्राश्रयेण दर्शनविषय इति विरोधाभावः'। उद्द्योतकृन्नागेशश्चा प्येवं व्याख्यातवान् 'भाष्ये जघानेति—कंसवधो हि नेदानीन्तनप्रयोक्तुर्दर्शन योग्योऽपीत्यर्थः। अरुणदित्युदाहरणे तु तुल्यकालः प्रवक्तेति बोध्यम्'। सर्वस्या स्येदं तात्पर्यम्, यद् या घटना स्वेन न दृष्टा, परं स्वकाल एव जातत्वेन दर्शन योग्या लोकप्रसिद्धा च, तस्या बोधाय पाणिनीयरीत्या अदृष्टत्वेन परोक्षत्वात् लिड्वत् प्राप्ते, परं तत्र 'लङ्' प्रयोक्तव्य इति वार्तिककृता स्वसम्मतिः प्रदर्शिता।

तत्र च पतञ्जलिना भाष्यकृता 'अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्' इत्युदाहरणद्वयं दत्तम्। तेनेदं स्फुटीभवति—यद्यवनकृतः साकेतावरोधो माध्यमिकावरोधश्च यद्यपि पतञ्जलिना स्वयं न दृष्टः, तथापि पतञ्जलिसमसामयिकत्वाद् दर्शनयोग्यो लोकप्रसिद्धश्चेति तत्र लङ्लकारप्रयोगोदाहरणं तेन दत्तम्। अथायं साकेतावरोधो माध्यमिकावरोधश्च यवनकृतः कदा बभूवेति ऐतिह्यविद्भिः सुस्पष्टमेव निर्णीतम्। ऐतिह्यविद्दृष्ट्या खीष्टाब्दात् ३२७ वर्षेभ्यः पूर्वम् अलक्षेन्द्रस्य (अलैक्जण्डरस्य) आक्रमणम्। तदनन्तरं चन्द्रगुप्तराज्यकाले सिल्यूकसनामा यवनो भारतमाचक्राम। चन्द्रगुप्तेन पराजितश्च स्वकन्यां तस्मै दत्त्वा गत इति सुप्रसिद्धा घटना। तस्यैव सिल्यूकसनाम्नो यवनस्योत्तराधिकारी 'मीनाण्डर' नामाऽन्यो यवनः पुष्यमित्रराज्यकाले पुनर्भारतमाचक्राम। स स्वयं यद्यपि मथुरापर्यन्तमेवायातः, परं तत्सेनानायकैरयोध्यादिषु ततोऽपि पूर्वस्यां दिशि पाटलिपुत्रपर्यन्तमाक्रमणं कृतम्। अनन्तरं तेऽपि तत्रावस्थातुमसमर्थाः परावृत्ताः। सोऽयं साकेतावरोधः। एतत्सहचारिण्येव च सैन्यपङ्क्तिरेका चित्रकूट (चित्तौड़) प्रान्तेऽपि गता। तत्र च चित्तौरसमीपवर्तिनी माध्यमिका नगर्यपि तयाऽऽक्रान्तेति साधितमैतिह्यविद्भिः। अस्याक्रमणस्य वृत्तमस्मदीयायां गर्गसंहितायामपि प्राप्यते। तत्र 'मेनन्द्र' इति 'मीनाण्डरस्य' नाम निर्दिष्टम्। संस्कृतीकरणेनैव तन्नाम भारतीयैः परिचितमिति ऐतिह्यविद्भिः मन्यते। अत एव 'मेनन्द्र' नाम्नैव खरोष्ट्रीलिप्याख्यायां लिप्यां तन्मुद्रा अपि मथुराप्रान्ते समुपलब्धाः। ततश्च सुविदमिदं जातं यत् पुष्यमित्रराज्यकाल एव यवनस्य साकेतावरोधकालो माध्यमिकावरोधकालश्च। स एव च भाष्यकारस्य पतञ्जलेः समयः। महाभाष्ये 'पुष्यमित्रं याजयामः' इत्यप्युदाहरणमुपलभ्यते। तेन पुष्यमित्रपुरोहितोऽयमित्यपि बहवोऽभिप्रयन्ति। राजसभा, चन्द्रगुप्तसभा, इत्युदाहरणदर्शनाच्च गुप्तपरम्परासमयस्य निश्चयः। पुष्यमित्रसमयश्चाधुनिकानामैतिह्यविदां दृष्ट्या खीष्टात् पूर्वं द्वितीया शताब्दी। पौराणिकदृष्ट्या तु खीष्टात् पूर्वं सहस्राब्दीतोऽपि पुरातनः पुष्यमित्र इति सोऽयं मतभेदः सर्वत्रैव जागर्ति, न च वस्तुनिर्णयेऽस्मिन् स विवाद उपस्थापयितुं शक्य इति प्रागेवावेदयाम। तस्मात् पुष्यमित्रराज्यकालो यः कोऽपि वा भवतु, स एव पतञ्जलेः काल इति सुनिर्णीतमस्माकम्।

देशोऽस्य 'गोनर्दः'। स्वयमेव भाष्यकृता स्वग्रामाभिनिवेशेन तत्र तत्रोपन्यस्तया 'गोनर्दीयस्त्वाह' इत्युक्तम्। यद्यपि कश्चिन्महाशयाः परमतमेतदम्, अन्य एव कश्चिद् गोनर्दीय इत्यपि ब्रुवन्ति, परं प्रामाणिकव्याख्याकृतो गोनर्दीयपदेन स्वमतमेवोपन्यस्तमित्येवाभ्युपगच्छन्ति। वयमपि च तत्र तत्र भाष्यकाराशयं दृष्ट्वा व्याख्यातॄणां मतमेवानुमोदामहे। तेन गोनर्दाभिजनो गोनर्दीयो भाष्यकार

इति स्फुटीभवति। गोनर्ददेशश्चाय 'गोंडा' इति प्रसिद्ध प्रान्त इति बहवो मन्यन्ते। पुष्यमित्रस्य यद्यपि प्रधानभूता राजधानी पाटलिपुत्रमासीत्, अथापि अयोध्यायामपि तेनोपराजस्थान स्थापितमिति ऐतिहासिका विवृण्वन्ति। ततश्च 'गोंडा' प्रान्तनामिन पतञ्जलिस्सम्भवतयोध्याया वसता पुष्यमित्रेण सम्बन्ध। पुष्यमित्रेण च अश्वमेधराजसूयाद्यनुष्ठान कृतमिति प्राप्तेभ्योऽभिलेखेभ्यो हरिवशादिभ्यश्चापि प्रसिद्ध्यति। एवविधेषु महत्सु यज्ञेषु पतञ्जलिसदृशो महाविद्वान् सन्निहितो बभूवेति क परन्नानुमन्येत। अन्ये तु 'गोनर्द' स्थानमुज्जयिनीप्रान्ते मध्यदेशेऽभ्युपगच्छन्ति। यस्य प्राकृत नाम गोनद्धमित्यासीत्, व्यापारिणाञ्च तत् केन्द्रस्थान बभूव। पुष्यमित्रादीना शुङ्गवशीयाना च मूलस्थान 'विदिशा' नगरी। येदानी ग्वालियरराज्ये 'भिल्सा' इत्याख्यायते। तदेवमभिजनस्थान सामीप्यात् पुरातन एव पतञ्जलिपुष्यमित्रयो सम्बन्ध इति तेषामभिप्राय। काशिकादिषु व्याकरणग्रन्थेषु तु प्राग्देशेष्वेव गोनर्दस्य गणना कृतेति गोंडाप्रान्तमेव गोनर्दपदेन वयमधिक सम्भावयाम।

इत्थ हढै प्रमाणैर्निश्चितयो पतञ्जलिदेशकाल्यो पुनरपि केचिद्विप्रतिपद्यन्त एव। तत्र सामश्रमिमहाशयो नेदमनुमन्यत, स तु अलक्षेन्द्रागमनात् प्रागेव बुद्धकालाच्च किञ्चिदर्वाक् प्रायेण पञ्चमी शताब्दी (ई. पू.) पतञ्जलिकाल मन्यते। तत्र चेमे हेतवस्तेनोपन्यस्ता —

१ अभिमन्युराज्यकाले चन्द्राचार्यादिभिर्विलुप्तप्रायस्य महाभाष्यस्य पुस्तकमेक सुदुर्लभ कश्मीरेष्वानीत तैरेव च तस्य प्रचारस्तत्र कृत इति राजतरङ्गिण्यामुक्तम्—

> चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देश तस्मात्तदागमम्।
> प्रवर्तित महाभाष्य स्व च व्याकरण कृतम्॥

राजतरङ्गिणीतरङ्ग १ श्लो॰ १७६। हरिणा च वाक्यपदीये, कश्चिद् विशेष उक्त —

> पर्वतादागम लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभि।
> स नीतो बहुशाखत्व चन्द्राचार्यादिभि पुन॥
>
> (वाक्यपदीय–२।४८६)

अभिमन्युराज्यकाले च अस्ति पाश्चात्याना विप्रतिपत्ति। विल्सनमहाशय यीशुख्रिस्त ४२३ वर्षेभ्य पूर्वमभिमन्युराज्यकाल मन्यते। बोयलिङ्गमहाशयश्च यीशुत शताद् वर्षेभ्य पूर्वम्। प्रिंसिपमहोदय यीशुत ७३ वर्षेभ्य पूर्व तद् राज्यावस्थान मन्यते। लासेन-महाशयश्च यीशुत ४० वर्षेभ्य पश्चान्मन्यते। तदत्र बोयलिङ्गप्रिंसिपमहाशययोर्मत प्रायेण सवदतीति तत्रैव विश्वसिति साम श्रमिमहाशय। तथा च यीशुख्रिस्त शताद् वर्षेभ्य पूर्व दूराद दाक्षिणात्यपर्वत

प्रान्ते महाभाष्यपुस्तकं कश्मीरेषु गतम्। ईदृशस्य च महतो ग्रन्थस्य प्राच्य देशे विरचितस्य दाक्षिणात्येषु तस्मिन् काले प्रचारो यदा पाणिनीयव्याकरणादिकं नासीदिदमपि यानवाहनम्, तदनु च तस्य विलोपः, इत्येतदर्थमनल्पतः नितरां दीर्घः समयोऽवश्यमपेक्ष्यते। तस्मात् यीशुख्रिस्तात् पूर्वं पञ्चम्या शताब्द्या अर्वाक् महाभाष्यकारसमयः कदापि न भवितुमर्हतीति।

* 'पक्षाल्यादिभ्यश्च' (४।२।७५) इति सूत्रे पाणिनिना शाकलनगरस्य सत्ता प्रकटीकृता। तच्चेद् नगरं अलचेन्द्रानुगमकाले तेन विनाशितमित्यैतिहासिकी प्रसिद्धिः। महाभाष्यकृता च तत्र सूत्रे तद्विनाशविषये किमपि नोक्तम्। यदि हि महाभाष्यात् पूर्वमेव शाकलनगरविनाशोऽभविष्यत्, तर्हि ईदृशी प्रथमा घटना तेनावश्यं तत्र निरदेक्ष्यत—शाकलनगरमिदानीं ध्वस्तमिति।

१ अलचेन्द्रेण पञ्चनदप्रदेशे क्षुद्रकेति प्रसिद्धा युद्धप्रवणा जातिर्विनाशितेत्यपि स्थापितं यवनदेशीयैरैतिहासिकैः। महाभाष्ये तु 'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमि'त्युदाहरणं दृश्यते। यदि हि अलचेन्द्रागमनादनन्तरं महाभाष्यं विरचितमिति मन्येत, तदा तत्प्रसङ्गेनैव पराजितायाः विनष्टायाश्च तेषां विजयशीलत्वं न कदापि तत्र वर्णितं स्यात्। तस्मादलचेन्द्रागमनात् प्रागेव महाभाष्यस्य निर्माणमिति।

सा एता प्रधानस्तस्य युक्तयः। 'पुष्यमित्रं याजयामहे' 'चन्द्रगुप्तसभा' 'पुष्यमित्रसभा' 'अरुणद्यवनः साकेतम्' इत्यादीन्युदाहरणानि तु स्वकल्पितान्येवेति सामश्रमिमहाशयो वदति। यथा व्याकरणग्रन्थेषु देवदत्तयज्ञदत्तादीनि कल्पितान्येव नामानि तत्र तत्रोदाह्रियन्ते, तथैव पुष्यमित्रचन्द्रगुप्तादिनामान्यपि तदानीं कल्पितान्येव महाभाष्यकृतोदाहृतानि। पश्चात्तु तन्नामका राजानोऽपि बभूवुरित्येव कल्पयितुमुचितम्। पुष्यमित्रो हि यीशुतः प्राक् द्वितीयस्यां शताब्द्यां जात इत्यैतिहासिकानां मतम्। ततश्च एकशताब्दीमात्रे समये महाभाष्यग्रन्थस्य दूरदेशे प्रचारस्तद्विलोपश्चापि नैव सम्भवतीति न युज्यते पुष्यमित्रकाले भाष्यनिर्माणम्। किञ्च महाभाष्ये 'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्' इत्यप्युदाहरणं दृश्यते। कुसुमपुरापरनामधेयं पाटलिपुत्रञ्चेद् बुद्धदेवकाल एव वासयितुमुपक्रान्तम्, बुद्धदेवेन 'महदिदं नगरं भविष्यतीत्याशीरपि दत्ता। तच्चेदं प्राक् शोणतीरे निवासितम्, तदनु च तत् परित्यज्य गङ्गातीरे स्थापितमित्येतदपि बौद्धग्रन्थेभ्य प्रतीयते। इत्थं च यावच्छोणतीरे आसीत्पाटलिपुत्रं तावदेव महाभाष्यं निर्मितमिति ततोऽपि महाभाष्यस्य अर्वाचीनता न सम्भवतीति।

इमा एता सामश्रमिमहाशयस्य युक्तयः उपदर्शितदर्शनयुक्तत्वे नैव स्थातुं प्रभवन्ते। पुष्यमित्रचन्द्रगुप्तयोर्नाम्नी स्फुटं महाभाष्ये दृश्येते। पुष्यमित्रस्य याज्ञकरणमपि तत्र प्रसिद्ध्यति। यवनकृतं साकेतावरोधो माध्यमिकावरोधश्चापि यद्येतिहासेभ्यः प्रमाणीभवति' तदा सर्वमिदं कल्पितमित्युक्तिरुपहासायैव

प्रमाणम् । एवमपलापे तु कस्यापि ग्रन्थस्य कालनिर्णयं कदापि न सम्भवति । सर्वैरेवमुच्छृङ्खलाभिः कल्पनाभिः कालक्रमव्यवस्थाभङ्गात् । तस्मात् सा प्रबलतरा युक्तिः । 'सङ्कलादिभ्यश्च' इति सूत्रे भाष्यमेव न दृश्यते, तदा कथं नगर प्रसङ्गनाम्नैव भाष्यकारस्तत्र व्याचक्षीतेति तदप्युपहासास्पदम् । न हि भाष्यमैतिहासिको ग्रन्थः, यत्रैवंविधा घटना अवश्यमुल्लिख्येरन् । क्षुद्रकजातिविषयेऽपि ऐतिहासिकैरन्यथैव प्रमाणितम् । मालवाः क्षुद्रकाश्चेति जातिद्वयं पञ्चनदप्रान्ते सुप्रसिद्धमासीत् । तयोश्च सर्वं युद्धादिषु साहचर्यमेव बभूव । परमलक्षेन्द्रस्याक्रमणकाले तेन सह युद्धावसरे तयोः साहचर्यं केनचिद्धेतुना न कृतम् । ततश्च मालवैः पृथग् युद्धं कृतम्, क्षुद्रकैश्च पृथक् । ते यदा नष्टाः तदा विनष्टे इत्यपि भारतीयैतिहासिकैः खण्डितम् । अथ तयोर्जात्योर्देशान्तरेषु निवासस्थानं सिद्धयति । क्षुद्रका एकान्ततस्तदा पराजिता इत्यपि कायसत्वासहेतो नानुमतम् । यद्यपि यूनानदेशीया एरियन इतिहासे क्षुद्रकाणां पराजयं वदन्ति, परमिदमप्यैतिहासिकैरुच्यते यद्युद्धान्ते क्षुद्रकेभ्यः ससम्मानं सभासु औपचारिकं यूनानदेशीयैरुपह्रियते स्म । न हि पराजितानामेवंविधः सत्कारः सम्भाव्यते । तस्माद् युद्धे सन्धिरेवाभूत्, तत्र च यवनैतिहासिकैर्यवनानां जयो भारतीयैश्च क्षुद्रकाणां जय उद्घोष्यते स्म इत्यनुमीयते । तत्र भारतीयमतमेवानुसृत्य महाभाष्यकृता 'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्' इत्याद्युदाहृतम् । तादृशेन विश्वविजयिना महावीरेण सन्धिरपि नूनं जय एवेति जितमित्युक्तिर्न विरुद्धा । अत्र 'एकाकिभिः' इति पदं मालवसाहचर्यविरहं व्यञ्जयत् स्फुटमेव अस्मत्प्रबुद्धकल्पनां समर्थयति, तेन अलक्षेन्द्राक्रमणकालानन्तरमेव महाभाष्यनिर्माणं सुस्फुटीभवतितराम् । पाटलिपुत्रं चापि विस्तृततमं नगरम्, गङ्गाशोणसङ्गमसन्निधाने निवासितम् अनुशोणमित्यनुगङ्गमिति च उभयथापि व्यपदेष्टुमर्हाणि दृश्यते । गङ्गाशोणसङ्गमश्च पूर्वं पटनायाः ततोऽथ पश्चिमस्यां दिश्यासीत् इति प्राचीनाभिर्देशनाभिः सिद्धयति । तस्मात् तदानीं अनुशोणमित्युक्तं कथमपि न विरुद्धम् । अभिमन्युराजकाले कश्मीरेषु भाष्यपुस्तकागमनमभिधीयते । परमभिमन्युराजकाल एव यदा न निश्चितस्तदा तदाधारेण कथं पतञ्जलेः कालनिर्णयो दृढः स्यात् । यदि स्टेनमहोदयस्यैव मतं सम्यक् स्यात्, यीशुख्रीष्टादनन्तरं चाभिमन्युराजकालश्चेत् स्यात् तदा पुष्यमित्रादनन्तरमपि द्विशताब्दीव्यवधानं सम्भाव्यत एव । किञ्च नैव राजतरङ्गिण्यां न वा हरिणा प्रचारानन्तरं महाभाष्यविलोप उक्तः । पूर्वं देशान्तरेषु प्रचारः तदनु विलोप इति कल्पनामात्रमिदम् । इदमपि सम्भाव्यते यत् पूर्वं महाभाष्यप्रचारो नैव जातः, कैश्चित्तत्र शिष्यैः गुरोरधीत्य तद् पुस्तकं देशान्तरेषु नीतं तदेव च कथञ्चिच्चन्द्राचार्यादिभिः प्राप्तम् । प्रचारस्तु तैरेव पश्चात् कृत इति । अस्यां च कल्पनायां शताब्दीव्यवधानमात्रमपि पर्याप्त

भवति। तस्माद् दृढतरप्रमाणाऽप्रेऽनुमानबाधकानि प्रमाणानीमानि दुर्बलान्येवेति पुष्यमित्रराज्यकाल एव पतञ्जलिकाल इति मन्यामहे। स तु कालः कीदृश इति विप्रतिपत्तिर्न शक्यतेऽत्र समाधातुमिति निवेदितपूर्वम्।

तदेवं व्याकरणप्रधानाचार्याणां पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीनां देशकालविषये यथोपलब्धि यथाशक्यं च विवेचितम्। एषां चाचार्याणां 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इति भट्टोजिदीक्षितप्रभृतयो वैयाकरणा आहुः। पाणिनिसूत्रविषये यत्र कात्यायनेन काचिद्विप्रतिपत्तिः प्रदर्शिता उपसंख्यानादिकं वा कृतं तत्र कात्यायनस्यैव वचनं ग्राह्यम्। तद्वचनसंस्कृता एव प्रयोगाः साधुत्वेन मन्तव्याः। यत्र च कात्यायनवचनानि खण्डयित्वा भाष्यकारेण कश्चित् प्रयोगः समर्थितः, वार्तिकं वा प्रत्याख्यातं तत्र भाष्यकारवचनमेवानुसृत्य प्रयोगाणां साधुत्वमनुसंधेयमिति तदाशयः। एतेन भाष्यकारस्य प्रामाण्यं सर्वोपरिस्थितमिति सिद्धं भवति। यथा 'न बहुव्रीहौ' इति बहुव्रीहिसमासे सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधं कुर्वतः सूत्रकारस्य मते बहुव्रीह्यवयवानामपि सर्वनामसंज्ञाभावे तत्रान्त्यं भवतीति 'त्वं पिता यस्येत्यादि' विग्रहे स्वार्थिके कप्रत्यये 'त्वत्कपितृकः' इत्येव प्रयोगः साधुतयाऽभ्युपगन्तुं युक्तः प्राप्नोति। परं भाष्यकारेण 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इत्युक्त्वा 'अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयम्—त्वकत्पितृको मकत्पितृक इत्येव भवितव्यम्' इति स्वीकृतम्। अत्र भाष्यकाराभ्युपगता एव प्रयोगाः साधुतया मन्तव्या इत्याधुनिका वैयाकरणा मन्यन्ते। इत्थमेव च 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' इति परिभाषयाऽपि सिद्ध्यति। व्याख्यायास्तस्यैवानया पूर्वसन्देहनिवारकस्वरूपस्य प्राबल्यस्य बोधनात्। श्रीमन्तो दाधिमथाचार्यास्तु 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमि'ति ब्रुवते। पाणिनिरेव भगवान् मुख्यं प्रमाणभूत इति तदाशयः। आचार्याणां दृष्ट्या तदेव युक्तम्। स्वयमेव भाष्यकारादयः पाणिनिवचनं सर्वोत्तमभावेन प्रमाणयन्तीति। आधुनिकैर्व्याकरणदृष्ट्या तु व्याख्यानरीत्यैव व्याख्येयस्य तात्पर्यप्रतिपत्तिसम्भवात् भाष्यरूपव्याख्यानमेव मुख्यं मन्यते—इत्युभयोः सामञ्जस्यम्। मीमांसादर्शनभाष्यकृता श्रीशबरस्वामिनाऽपि दशमेऽध्याये अष्टमे पादे चतुर्थे सूत्रे प्रसङ्गादिदमुक्तम्—'सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वाद् न कात्यायनस्य' इति। नञ्समासेन नित्येन भवितव्यं विकल्पेन वेति तत्र विचारः। पाणिनिविभाषाधिकारकरणात् तद्रीत्या विकल्पः सिद्ध्यति, वार्तिककारेण तु 'वा वचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्' इति विभाषाधिकारखण्डनं कृतम्। तद्रीत्या नञ्समासो नित्यः सिद्ध्यतीति पाणिनिवचनमनुसृत्य विकल्पित एव समासो मन्तव्य इति शबरस्वामिनोऽभिप्रायः। अस्ति विकल्प इति विकल्पस्याभ्युपगमात् पाणिनिः सद्वादीति तेन ख्यापितं, नास्ति विकल्प इति कथनाच्च कात्यायनस्यासद्वादित्वमुक्तम्। वस्तुतस्तु कात्यायनस्य तथायमभिप्रायः, समासविकल्पो

न विधिशास्त्र, अपि तु स्वभावसिद्ध । एकार्थीभावो व्यपेक्षा चेति द्विविधापि शब्दस्य वृत्तिर्वक्तुरिच्छाधीना । यो हि व्यपेक्षया प्रयोक्तुमिच्छति स राज्ञ पुरुष इति पृथक्पदघटित वाक्यमेव प्रयुङ्क्ते, यश्चैकार्थीभावेन प्रयोक्तुमिच्छति स राजपुरुष इत्येकपदतां प्राप्य प्रयुङ्क्त इति व्यर्था, तत्र सुब्लुगादिशास्त्रद्वारादिव कल्पना । स्पष्टीकृतमिद तत्रैव टुप्टीकाया भट्टपादै । ।

इद तु वार्तिकाना भाष्यस्य च पर्यालोचनया स्फुट प्रतीयत एव-यत् वार्तिककार स्वकृत पाणिनेर्न्यूनताप्रदर्शनमेवाभिप्रेत्य वार्तिकरूपव्याख्याकरणे प्रवृत्त । महाभाष्यकारस्य तु पाणिनेर्गौरवस्थापनार्थमेव दृश्यते प्रवृत्ति । अत एव 'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणि शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म, तत्राशक्य वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितु किं पुनरियता सूत्रेण' (अ १ पा १ सू १ भा ३) इत्यादिकमनेकत्र तेनोद्घुष्टम् । अत एव कथासरित्सागरे पाणिनिकात्यायनयोर्विद्वेषपूर्वक परस्परशास्त्रार्थकिंवदन्त्यपि प्रवृत्ता । यद्यपि श्रीवासुदेवशरणप्रभृतय वार्तिककारस्य न्यूनता-प्रदर्शनबुद्धया विद्वेषबुद्धया वा प्रवृत्तिरिति श्रुत्वा विमनायन्ते, अनुकूलबुद्धयैव व्याख्यातरूपाण्येव वार्तिकानि तेन विरचितानीति ते मन्यन्ते । पर किं ब्रूमा वय यदा भाष्यकार एव तथा स्वनयति, तदाऽभ्युपगन्तव्यमेवेद भवति । तथाहि-प्रत्याहाराह्निके 'अ इ उण्' सूत्र एव 'अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थ' इति वार्तिक विवृण्वता भाष्यकृता स्पष्टमुक्तम्'—आहोपुरुषिकामात्र तु भवानाह सवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते इति, वय तु ब्रूम , विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति' । अत्र आहोपुरुषिकेति पद स्फुटमेव वार्तिककृतोऽहकारपूर्विका प्रवृत्तिम् वाचष्टे । तथैव 'ऋलृक्' सूत्रभाष्यान्तेऽपि 'स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेश्च चोद्यमानः सन् प्रत्याख्यायते हैषा महतो वशस्तम्बाल्ल्टवानुकृष्यते' । एव परिहास स्फुटमेव कात्यायनस्य न्यूनतानिराकरणरूपा प्रवृत्तिमभिव्यनक्ति । किमन्यत् , सर्वमपि भाष्य पर्यालोच्यतामाधिक्येन न्यूनताप्रदर्शनरूपाणा वार्तिकाना निराकरणमेव भाष्यकृता कृतम् । सूत्राक्षरैरेव वार्तिकार्थगमाय च यतितम् । अत्यल्पानि वार्तिककृत उपसख्यानानि तेन स्वीकृतानि ।

महाभाष्य चेद वार्तिकानामेव व्याख्यानमिति शक्यते वदितुम् , वार्तिकमेवावलम्ब्य भाष्यस्य सर्वत्र प्रवृत्तिदर्शनात् । स्वातन्त्र्येण सूत्राणि तु क्वचिदेव व्याख्यातानि । येषु सूत्रेषु वार्तिकानि न दृश्यन्ते तत्र भाष्यमपि प्रायेण न दृश्यत एव । इदमपि वैलक्षण्यं व्याकरणेऽनुसन्धेयम्-यदन्यत्र मीमांसा-वेदान्त-न्याय-योग दर्शन-प्रभृतिषु भाष्यस्य व्याख्यानभूत वार्तिकम् , इह तु वार्तिकव्याख्यानरूप भाष्यमिति । अस्यापि इदमेव तात्पर्यं प्रतीयते यत् सूत्रेषु

उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता कात्यायनस्याभीष्टाऽभूत्। अत एव तेन स्वीयस्य ग्रन्थस्य वार्तिकमिति नाम कृतम्। 'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः'—इति वार्तिकलक्षणात्। इदं चाप्यविदुष्करं मानितं यत् कात्यायनकृत स्वतन्त्रो वार्तिकग्रन्थ इदानीं नोपलभ्यते। भाष्यमेव तु दृष्ट्वा कैश्चिद्वार्तिकानि सङ्कलीकृतानि। परं नायं पन्थाः सर्वथाऽसन्दिग्धो गदितुं शक्यते, यतो हि स्ववाक्यमपि यत्र व्याख्यायते तद् भाष्यं भवतीति भाष्यलक्षणं वदन्त्यभियुक्ताः। 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः'। दृश्यते च महाभाष्ये बहुशः तथैव यत् महाभाष्यकृत् पूर्वं ग्राहकवाक्यमुक्त्वा तदनन्तरं विवरणं वितनुते इति। तेन कृतं महाभाष्यं स्वैव तद्ग्राहकं वाक्यं कृतं वा वार्तिककृततया वार्तिकमित्युदितमिति दुष्करो निर्णयः। 'वक्तव्यं न वक्तव्यम्' इत्यादिभाष्यशैल्या कथंचिन्निर्णयः संपाद्यते, परन्तु तथापि बहुत्र विप्रतिपत्तिर्न निवर्तत एव।

स्ववाक्यव्याख्यानरूपभाष्यपरिभाषया बह्वी विप्रतिपत्तिः प्रवृत्ता। यथा 'अथ शब्दानुशासनम्' इति यद्भाष्यकारस्य आदिमं वाक्यं तत्सूत्रमेवेति केचिन्महाशया मन्यन्ते। साधयन्ति च तदेव महतारम्भेण। वयं तु तेषां भ्रान्तत्वमेव मन्महे यतो हि भाष्यकारः स्वतन्त्रं 'वृद्धिरादैच्' सूत्रे वृद्धिपदं मङ्गलार्थमाह। 'अनुवाद्यमनुक्त्वा हि न विधेयमुदीरयेत्' इति नियममनुसृत्य पूर्वमुद्देश्यकथनं तदनु विधेयकथनमिति सर्वस्याचार्यस्य शैली। यथा 'इको यणचि', 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यादि। तथैव संज्ञासूत्रेष्वपि 'अदेङ् गुणः' इत्यादिषु पूर्वमुद्देश्यकथनं तदनु विधेयकथनमित्येव रीतिर्दृश्यते। तथैव च रीत्या सदा–अविनाशी निर्देशन इति भाष्यकृता सिद्धान्तितम्। तत्रेयं शङ्का 'कथं वृद्धिरादैच् इति' अत्र पूर्वं विधेयनिर्देशः कथमिति प्रश्नमुत्थाप्य। तत्रोत्तरयति भाष्यकृत्—'एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्, माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। 'मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति आयुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरि'ति। एतस्य भाष्यस्य तुलनायां यानि 'अथ शब्दानुशासनम्' इति वाक्यस्य सूत्रसाधकानि प्रमाणान्युपन्यस्यन्ते तान्यतिदुर्बलानि। अद्यावधि च शिष्टा आदिमसूत्रत्वेन 'वृद्धिरादैच्' इत्येव परम्परया पठन्ति। तदेतदपि मुख्यं प्रमाणं मन्तव्यम्। तथैव 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति वार्तिके सिद्धशब्दोऽपि मङ्गलार्थतया भाष्यकृता व्याख्यातः। तस्मात् 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इत्येतदादिमं वार्तिकं ये मन्यन्ते तेऽपि भ्रान्ता एव प्रतीयन्ते। किञ्च 'वृद्धिरादैच्' इति वृद्धिपदेन सूत्रकृतो मङ्गलम्, 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति सिद्धशब्देन च वार्तिककृता मङ्गलम् इति व्याख्याता पतञ्जलिः स्वयं महाभाष्यारम्भे मङ्गलं न कुर्यादिति नैतदुपपद्यते। तस्मात्

'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यथशब्देन तेन मङ्गलं कृतम् 'इत्येव सम्यगाभाति। व्याख्यातं च प्रधानव्याख्यात्रा कैयटेन 'भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात् प्रयोजनमाह 'अथ शब्दानुशासनमि'ति। प्रयोजनप्रयोजनानि तु रक्षोहादीनीति पश्चाद् वक्ष्यन्ते' इति। एतेनोभयमपि भाष्यकारवाक्यमिति कैयटमतं स्फुटीभवति। यादृशी च भाष्यकारस्य शैली, यद् वार्तिकमुल्लिख्य तदनु तद्वाक्यानुवादेन 'कर्तव्य' 'वक्तव्यम्' इत्यादि वदति, तथा 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः' इत्यत्र न दृश्यते इत्येतदपि एतस्य वार्तिकत्वाभावे बीजम्। यत्तु–मीमांसकविबुधराजा श्रीयुधिष्ठिरमहाशयेन, संस्कृत–व्याकरणेतिहासे प्रोक्तम्–आदिशब्दो भाष्यकारस्य न सर्वादिबोधकः, अपि तु किञ्चित् परतोऽपि विद्यमाने मध्यगेऽप्यादिशब्दः प्रयुज्यते। एवमेवान्त्यशब्दः मध्यगशब्दश्चापि तस्य व्यभिचारी। तत्र निदर्शनं च 'भूवादयो धातवः' इति सूत्रे 'भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' इति वार्तिकं तद्भाष्यं च। 'भूवादयः' इति सूत्रं हि नाद्यं नान्तिमं न वा मध्यगम्, प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादादौ वर्तमानत्वात्। तथापि च वाशब्दं मङ्गलार्थत्वेनोक्त्वा तत्समर्थनत्वं 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' इत्यादिरीत्यैव कृतम्। तस्मात् तस्यादित्वं मध्यगत्वं वा भाष्यकारेणाभ्युपगतम्। तेनैव सिद्धमिदं यदादिशब्दो मध्यगशब्दो वा सर्वादिभूते सर्वमध्यगे वा प्रयुज्येतेति नैष नियमः। ततश्च 'अथ शब्दानुशासनमि'त्यस्य सूत्रत्वाभ्युपगमेऽपि 'वृद्धिरादैच्' इति वृद्धिशब्दस्य मङ्गलार्थता न विरुध्यते। 'रक्षोहागमे'त्यस्य वार्तिकत्वेऽपि च 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति सिद्धशब्दस्यापि मङ्गलार्थता युज्यते एव। तदिदमितिहासमीमांसकस्य वचनं बालानामप्युपहासाय भवेत्। 'सति हि परस्मिन् यस्मात् पूर्वो नास्ति स आदिः, सति च पूर्वस्मिन् यस्मात् परो नास्ति सोऽन्त्यः' इति स्वयमेव भाष्यकृता आद्यन्तयोर्लक्षणं कृतम्। तच्च स्वकीयं लक्षणं स्वयमेव न मन्यते–इत्यहो तस्याप्तता समर्थिता। 'भूवादय' इत्यत्र यद् वाशब्दस्य मङ्गलार्थत्वमुक्तम्, तत्तु धातुपाठमङ्गलार्थत्वं प्रतीयते। सर्वो हि धातुपाठो 'भूवादयो धातवः' इति सूत्रेण सङ्गृहीतः, ततश्च सम्बद्धके सूत्रे कृतं मङ्गलं धातुपाठस्यैव मङ्गलं स्यादिति तदभिप्रायः। सम्भवेच्च मध्यगशब्दस्य व्यभिचारित्वमपि, आद्यन्तौ विहाय सर्वेऽपि मध्यगा वक्तुं शक्यन्ते। आद्यन्तशब्दौ तु व्यवहारे शास्त्रे च नियतौ न व्यतिक्रममर्हतः। 'वृद्धिरादैजि'ति सूत्रे हि 'एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्, माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इति स्पष्टमादिशब्दो भाष्यकृतोक्तः। नैव 'भूवादयो धातवः' इति सूत्रे आदिशब्दोपादानं दृश्यते। एवमेव सिद्धशब्दविषयेऽपि 'महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इत्यादिशब्दप्रयोगो दृश्यते। तस्मात् 'वृद्धिरादैजि'त्यतः प्राक् सूत्रकल्पना 'सिद्धे

शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यतः प्राग् वार्तिककल्पना च न कथमपि प्रामाणिकी भवितुमर्हति । वैयर्थ्यकृद्भिरत्वयोर्लिङ्गेन तद्ग्रन्थनाप्रमादादेवेत्येव मन्तव्यं स्यात् । भाष्यकृतस्तूल्लेखाभावात् तेषां प्रामाण्याभावात् । अथाऽपि सर्वेषु पुस्तकेषु व्यवह्रियमाणेषु अध्यायाद्यङ्केषु प्रायस्तेनैव 'वृद्धिरादैच्' सूत्रस्य दर्शनं इति 'अथशब्दानुशासनम्' इत्यस्य सूत्रत्वकल्पना सर्वप्रामाणिकविरुद्धेत्यास्तां तावत् । तस्माद् भाष्यकृता किं स्वकीयं वाक्यं किं वा वार्तिककृतो वार्तिकम् इति निर्णयो दुष्कर एवापतित । भाष्यकारस्य शैलीमवधानेन परीक्ष्य कथंचित् निर्णीयत एवाऽभियुक्तैः । सिद्धान्तकौमुद्यादिषु तु बहूनि वार्तिकानि इष्ट्यन्तरनामभिः प्रथितानि दृश्यन्ते । केवलमर्थसरणिरेव दृष्टानुसृता । भवतु नाम, वार्तिकानामस्य प्रामाणिकत्वे द्वारोऽन्वयकाणां कर्तव्येषु मुख्यतया तिष्ठतीति अवधेयम् ।

इदं तु अवधेयमेव, यदधुना पाणिनीयस्य व्याकरणस्य यादृशी प्रतिष्ठा दृश्यते, यथा च शास्त्रेषु व्याकरणस्य मुख्यं स्थानं गण्यते, सोऽयं सर्वोऽपि कात्यायनस्य, भाष्यकृत पतञ्जलेश्च प्रभावः । महाभाष्यं न केवलं व्याकरणनिबन्धः, अपि तु सर्वाण्यपि शास्त्राणि विषयान्तराणि स्थाने स्थानेऽत्र सपरिकरं विवेचितानि । लौकिका व्यवहाराः, प्राचीना इतिहासाः, आचरिता धर्माः, दर्शनानां सिद्धान्ताः, गूढतमानि विज्ञानानि चेति सर्वमेतन्महाभाष्ये कृतपरिश्रमैः सम्यक् परिचेतुं शक्यते । एवंविधया विवेचनयैव स्फुटतरं व्याकरणशास्त्रमिदं प्रतिष्ठां गतम् । न च पतञ्जलेरिव सरलगम्भीरा प्रौढतमा भाषाऽपि दृश्यान्यत्र ग्रन्थकृतो भाष्ये विधिना निर्मिता । तस्मान्महाभाष्यमिदमलौकिकं वस्तु संस्कृतवाङ्मयमन्दिरस्य सुवर्णकलशायमानमित्यत्र न सन्देहः । आश्चर्यं त्विदं यत् समयो भाष्यकारस्य निर्णीयते स आधुनिकस्य भौतिकविज्ञानस्य न तादृशप्रचारसमयः शक्यते निर्धारयितुम् । भारतीयं वैदिकं विज्ञानं तदानीं विलुप्तप्रायमेव समभवत्, तथापि विज्ञानस्यापि गूढतमाः सिद्धान्ता महाभाष्ये तत्र तत्र प्राप्यन्ते । यथा 'स्थानेऽन्तरतमः' इति सूत्रे 'अचेतनेष्वपि—लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति, नोर्ध्वमारोहति, पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः । तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः, स धूम आकाशे निवाते नैव तिर्यग् गच्छति, नार्वागवरोहति, अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः । तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग् गच्छति, नार्वागवरोहति, ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः इति । इह हि सजातीयाकर्षणसिद्धान्तः स्पष्टतया कियद्विदर्शित इति वैज्ञानिका विद्वांस एवात्र प्रमाणम् । यमाकर्षणसिद्धान्तं न्यूटनमहाशयेनाविष्कृतं पाश्चात्त्या मन्यन्ते, स भारते योरुपीयेभ्योऽपि पूर्वं विस्पष्टं प्रचलित आसीदिति नाल्पं गौरवं भारतस्य । अनन्तरं सिद्धान्तोऽयम्—

'आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या ।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे ॥
(सिद्धान्तशिरोमणौ)

इत्यादिना भास्कराचार्यप्रभृतिभिः स्वशब्दैरेव स्पष्टीकृत इत्यन्यदेतत् ।

एवमन्यत्रापि तत्र तत्र द्रष्टव्यम् । शब्दनिधानन्तु पदे पदे महाभाष्ये जागर्त्येव । अनेकत्र तु भाष्यकृता निरूपितं विज्ञानं व्याख्यातृभिरपि न बुद्धम् । तेन च भाष्यकारस्याशय एव तैर्गर्ते पातितः । तत्र निदर्शनं 'स्त्रियाम्' इत्यधिकार-सूत्रस्थं भाष्यम्—

संस्कृतभाषायामचेतनबोधकाः खट्वा-वृक्षादिशब्दा अपि तत्तल्लिङ्गभाजोऽभ्युपगम्यन्ते । तत्र वैज्ञानिकहेतुमुपदर्शयन् महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिः—

संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः ।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान् ॥

इति वार्तिकं व्याचक्षाण आह 'अधिकरणसाधना लोके स्त्री, स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति, कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति । इह पुनरुभयं भावसाधनम्=संस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान्, कस्य पुनः संस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिर्वा पुमान् । गुणानाम् । केषाम्, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धानाम् । सर्वाश्च पुनः मूर्तय एवमात्मिकाः संस्त्यानप्रसवगुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्यः । यत्राल्पीयांसो गुणास्तत्रावरतस्त्रयः शब्दः स्पर्शो रूपमिति, रसगन्धौ न सर्वत्र । प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या, न हीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्त्तमप्यवतिष्ठते, वर्द्धते वा यावदनेन वर्द्धितव्यम्, अपायेन वा युज्यते, तच्चोभयं सर्वत्र, यद्युभयं सर्वत्र, कुतो व्यवस्था, विवक्षातः । संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, उभयविवक्षायां नपुंसकम्' इति । अस्याभिप्रायस्फुट एव—यत् सर्वत्र यज्ञप्रक्रियाविषये आदानप्रदाने प्रवर्तेते । सर्वमपि पदार्थजातं दृश्यमानं न कदाप्येकरूपम्, परिवर्तमानमेव किञ्चिद् सर्वमुपलभ्यते । परिवर्तमानमपि च नैकान्ततः सत्तां जहाति । तदिदं सर्वं यज्ञकृतम् । स्वीयानां भावानाम् यज्ञार्पणम्, अन्यतश्च भावानामादानमितीयमादानप्रक्रिया यज्ञः । यथा प्रदीपः प्रकाशं सर्वत्रार्पयति, तैलावयवांश्चाजस्रमादत्ते, मलं बलं च सर्वत्र प्रयोजयति । तथैव वृक्षा अपि मूलैर्जलमाददते, प्रसूनफलादिकं च ददति वाय्वादिष्वपि च स्वप्रभावमर्पयन्ति । इष्टका-प्रस्तरादिष्वत्यन्तजडेष्वपि प्रक्रियेयं सर्वत्र प्रवर्तते । तत एव नव्यस्य पुराणत्वं सर्वत्रैव जायते इति विभाव्यम् । सोऽयमादानप्रदानपरम्पराशोऽनन्तादभावः । तत्रादानविवक्षायां स्त्रीलिङ्गशब्दस्तत्र प्रवर्तते, प्रदानविवक्षायां पुँल्लिङ्गशब्दः, तादर्थ्यविवक्षया तु नपुंसकलिङ्गशब्द इति । परं कैयटमहाभागो यज्ञप्रक्रियामिमामनभिलक्ष्यैव शब्दस्पर्शादिरूपेण स्वकृतमपि भाष्यं,

कृतो विवरणं गौण मत्वा गुणशब्दस्य शास्त्रप्रसिद्ध सत्त्वाद्यर्थमुपगम्य तदुपचयाप-चयौ च काल्पनिकौ मत्वा सर्वां वैज्ञानिकप्रक्रिया तिरोदधाति । नागेशभट्टाद्याश्च तदेवानुसरन्ति । विज्ञानप्रक्रियाया देशे विलोप एवात्रापराध्यतीति न प्रश्नमतव्यम् । एवमेव 'उच्चैरुदात्त' इति सूत्रेऽपि शब्दोत्पत्तिप्रक्रिया या वैज्ञानिकी महाभाष्य कृतोक्ता, सा व्याख्यातृभिरन्यथैव नीता । उच्चैस्त्व नीचैस्त्व चेदमव्यवस्थितम्, यदेव *एकस्य* *कृते* *उच्चैस्तदेवापरस्य* *कृते नीचैर्भवतीत्याशङ्क्य गात्राणामदाह* *व्यादिना* क्रियमाणामपि व्यवस्थामनवस्थिता निरूप्य 'सिद्धन्तु समानप्रक्रम वचनात्, सिद्धमेतत्, कथम्—समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम् । क पुन प्रक्रम, उर कण्ठ शिर इति' इत्येव मुख्य समाधानमुक्तम् । वर्णानां हि द्विविधानि स्थानानि पाणिनीयशिक्षादौ दर्शितानि, सवनस्थानानि, आस्यान्तर्गतस्थानानि च । बुद्ध्यार्थान् समर्थ्यात्मना प्रेरितेन मनसाऽभिहत कायाग्निर्यदा शारीर मारुतं प्रेरयति, तदा स वायु उरसि, कण्ठे, शिरसि वा मनोऽभिप्रायानुकूल मेव सञ्चिरमथम करोति, तान्येतानि त्रीणि सवनस्थानानि शिक्षायामारम्भ एव स्पष्टीकृतानि—

> मन्द्रस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम् ।
> प्रात. सवनयोग त छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥ ७ ॥
> कण्ठे माध्यन्दिनयुग मध्यम त्रैष्टुभानुगम् ।
> तार तार्तीयसवन शीर्षण्य जागतानुगम् ॥ ८ ॥

एव त्रिषु प्रक्रमेषु क्रमेण मन्द्रमध्यमतारा स्वरा भवन्तीति प्रतिपाद्य अनन्तरम्—

'सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत । वर्णान् जनयते'

इति आस्यस्थानेषु वर्णोत्पत्तिरुक्ता । उरसि कण्ठे शिरसि वा यथेच्छमभि प्रायानुसारेण केन्द्र प्रकल्प्य पुनर्वायुस्तस्मात्केन्द्रादुत्थाय मूर्धपर्यन्त गच्छति, *ततश्चाभिघातमासाद्य मुखे प्राप्तस्तत्तत्स्थानसम्बन्धेन वर्णान् जनयतीति स्फुटोऽभि* प्राय । आस्यगतस्थानेष्वपि 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' इत्यादिना उर कण्ठ-शिरादि स्थानानि शिक्षायामुक्तानि, तान्येतानि सवनस्थानेभ्य पृथग्भूतानि, अत्रैव हि कण्ठान्नीचैस्तनो भाग 'उर' इत्युक्त, दन्तानां मूर्धां च शिर इति । तत्र ह्न, ह्म, इत्यादिषु हकारस्य उर स्थानमुक्तम्—केवलस्य तु हकारस्य कण्ठ्यत्व मित्यादि सर्वं तत्रालोच्यम् । सवनस्थानानां च स्पष्टीकरणमग्रेऽपि शिक्षायाम्—

> प्रात पठेन्नित्यमुर स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।
> मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन ॥
> तारं तु विद्यात् सवन तृतीय शिरोगत तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
> मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिर स्थितेन ॥

प्रत्यागमनुभवसिद्धं चेदम्—स्वसामर्थ्यानुसारं कदाचित्कश्चिदुच्चैर्वदति, कदाचिन्नीचैः, कदाचिच्च समेन स्वरेण इति। सोऽयं भेदः सवनस्थानकृत एव। तान्येतानि सवनस्थानान्येव प्रक्रमशब्देनोक्त्वा भाष्यकारेण उच्चैस्त्वनीचैस्त्वयोरव्यवस्थायाः समाधानं कृतम्, यद्यथाविधो यस्योपक्रमः, तत्र यदुच्चैस्तदुदात्तमिति विज्ञातव्यम्—कामं तदन्यापेक्षया नीचैर्भवतु, न तेनास्माकं प्रयोजनमिति। परं कैयटमहाशयः सवनस्थानानामास्यस्थानानां च भेदमविचार्यैव भाष्ये स्पष्टमुक्तम् 'उरः कण्ठः शिरः' इति स्थानत्रयमष्टानामपि स्थानानामुपलक्षणं मत्वा तत्र च प्रत्येकं स्थानेषु काल्पनिकमनुभवविरुद्धं बिन्दुत्रयमुररीचकारेत्येकदेशिवादप्रपञ्चयति। एवं महाभाष्यस्य गूढा आशया व्याख्याकृता कृपया अन्यथैव नीता इति निदर्शनमात्रमिदम्, सम्यगालोचने बहुनैवं प्रतीयेत।

इदं तु स्मारं महामान्यस्य कैयटमहाभागस्य नैव विस्मर्तव्यम्—यद् बहुत्र महाभाष्यं तद्व्याख्ययैवास्माभिर्बुध्यते, यदि नाभविष्यत् कैयटकृतं व्याख्यानम्, तर्हि दुरवबोधमेव महाभाष्यं बहूनामभविष्यदिति। यद्यप्यन्या अपि व्याख्या महाभाष्यस्य बह्व्यः सन्तीति श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकमहाशयेन संस्कृतव्याकरणशास्त्रस्येतिहासे स्फुटीकृतम्, हरिवृत्तिन्तु कैयटः स्वयमालम्बनत्वेन स्मरति, तथापि ता अनुपलब्धा अप्रचलिता वा, प्रसिद्धं प्रामाणिकं व्याख्यानन्तु कैयटस्यैव भाष्यप्रदीपाख्यमेव। हरिर्वैयाकरणमूर्धन्य इत्यत्र न संदेहः, तदीयाद्वाक्यपदीयग्रन्थात्तथावगतेः, तन्त्रवार्त्तिकेऽपि च तन्मतस्य मान्यताप्रसिद्धेः, परं तद्व्याख्यायाः कियांश्चिदेशो बर्लिनपुस्तकालये प्राप्योऽस्ति। ततश्च तत्प्रतिलिपिः पञ्जाबविश्वविद्यालयेनापि आनाय्य स्वकीये पुस्तकालये रक्षिता ततः कैश्चिद्विद्वद्भिरपि प्रतिलिपिः कृता। प्रचारस्तु तस्या अद्यावधि नास्ति। स्वल्पपरिमाणैव च सा लब्धा इति भाष्यार्थावबोधकृते कैयट एवाद्यावधि शरणम्। अस्य च कालः दशमी एकादशी वा शताब्दी ऐतिहासिकैर्मन्यते।

धर्मशास्त्र-खण्डः

(अत्र खण्डे—१ चातुर्वर्ण्यम्

२ प्रमात्तपतिका धर्मालोचनम्

३ स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था

४ पितृविवेक

एते चत्वार प्रबन्धा निवेशिता । अन्तिम पितृविवेकोऽपूर्ण एवोपलब्धो यद्यपि, पूर्वपक्ष एव विवृतोऽत्र, नतूत्तर पक्ष, तत्रावश्यमुत्तरमाकाङ्क्षेयु पाठका । पर दौर्भाग्याच्छंथिन्यमायातेषु पितृचरणेषु न सजाता पूर्तिरेतदीया । वैदिके खण्डे पितृविवेकाख्योऽपि लेख एतद्विषयक एव । तेनैवात्र विषये सिद्धान्तपक्षोऽवधेय । अयं तु यावानुपलब्धस्तावान् प्रकाश्यते । सभावितै पूर्वपक्षैस्तु परिचय-स्यादेवानेनेति—सपादक)

चातुर्वर्ण्यम्

इह हि वयं इदानीं चातुर्वर्ण्यविषये लौकिकानां शास्त्रविदुषां च विप्रतिपत्तयः श्रूयन्ते—'नासीत्पुरा भारतोन्नतिसमये वर्णविभागप्रथा, अर्वाक् काले तु मतिभ्रष्टा दल्पधैर्जनैः हेया समुत्कल्पिता, एतन्मूलिकैव चेयमालोक्यतेऽतितरामवनतिः—तस्मात्सुदूरमुत्सृज्य तामिमां सम्पादनीया भारतोन्नतिः' इत्याहुः केचन स्वतन्त्रप्रज्ञा ऐतिहासिकम्मन्याः। 'यद्यप्यासीत्पुरा वैदिकेऽपि काले वर्णविभागः, परं सोऽयं कर्मविभागमूलक एव तदात्वे प्रचलितो न तूत्पत्तिमात्रसमनियतमासीद्वर्णानां वर्णत्वम्, जन्मनायं वर्णविभागस्तु श्रुतिस्मृत्यननुमतः कैश्चिदल्पधीराधुनिकैरेव प्रचारित इति समुच्छेद्यार्ह एव' इति वदन्ति बहवो वैदिकमानिनः। 'पुरा कर्मणैवासीद् व्यवस्थितिर्वर्णानाम्, इदानीन्तु जन्मनैवोररीकृता सा समीक्षादक्षैः समाजसंरक्षणै' इत्यभ्युपगच्छन्त्यनेके मध्यस्थाः। 'इदानीमिव आसृष्टेराप्रलयाच्च योनिनैव व्यवस्थिता वर्णाः, सर्गकाल एव भगवत आदिपुरुषस्य मुखबाहूरुपादाद् विभिन्नानामेव ब्राह्मणादीनामुत्पत्त्यभ्युपगमात्' इत्यातिष्ठन्ते सनातनधर्माग्रहिणः।

> ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
>
> [श्रीभगवद्गीता]

इति तु व्यवस्थापयन्ति धर्ममर्मनिष्णाताः। ताभिरेताभिर्विप्रतिपत्तिभिर्व्याकुलीभूत इवेदानीं समाजः, यथा कथमपि वा प्रवर्तन्ते तत्त्वमविद्वांसो नव्यशिक्षिताः— इति भारतीयधर्मप्रधानभूताया वर्णव्यवस्थायास्तत्त्वनिर्धारणमिदानीं सर्वेषामपि विदुषां कर्तव्यं नाम, येन तत्त्वज्ञानान्न वञ्चिता स्युरल्पमतयोऽपि न च वैयाकुलीमुपेयात्समाजबन्ध इति। तद्वयमप्येतदाकलय्य गभीरतरेऽपि विषयेऽस्मिन् यथामति प्रवर्तयामो लेखनीं कर्तव्यमनुरुन्धानाः, आशास्महे च मनुष्यबुद्धिसुलभमत्रोपजायमानं प्रमादं परिशोधयेयुः करुणापरवशा महान्त इति।

तत्र ये तावत् सर्वविद्यानां बीजरूपतया सर्ववाङ्मयादिमत्त्वेन सर्वैरुररीक्रियमाणासु श्रुतिषु वर्णभेदमुपलभमाना अपि तदंशस्य प्रक्षिप्तत्वादिना पुरा वर्णभेदमेवापलपन्तोऽवनतिसाधनतां च तस्मिन्नारोपयन्तो निष्कारणं प्रद्वेषमात्मीयं तत्राविष्कुर्वन्ति, न ते किंचिदपि प्रतिवक्तुं शक्याः। केन वा साधनेन प्रत्युपन्तामेते—वर्णभेदप्रमाणत्वेनोपन्यस्तानां सर्वेषामेव वाक्यानां प्रक्षिप्यमाणत्वात्—शब्दप्रमाणमन्तरा च पुरास्यार्थस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात्। अवनतिसाधनत्वमुन्नतिसाधनत्वं वा सम्भवति वर्णव्यवस्थाया इति तु लौकिकीं दृष्टिमवलम्ब्य

सत्यवसरे विवेचयिष्याम । तदिदानीं वर्णव्यवस्थितिरियं जन्मना कर्मणा वेति कथमासीत्पुरा, कथञ्च सेयमिदानीमभिमता स्मृतिकाराणाम्—इत्यस्मिन्नेव विप्रतिपत्तिविषयीभूते विषये श्रुतिस्मृती अवलम्ब्य किञ्चिद् विविच्यते ।

तत्र सृष्टे प्रभृति जन्मनैव वर्णव्यवस्थितिरिति वदन्ति केचन विद्वांस, प्रमाणयन्ति च तत्र —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

इत्याद्या श्रुती । अत्र हि चतुर्थपादसाहचर्येणादिपुरुषस्य भगवतो मुखाद् ब्राह्मण आसीदित्यादिरेवार्थ, ब्राह्मणो मुखमासीदित्यनुक्तिस्तु कार्यकारणयोर भेदोपचारमूलिकैव । भवन्ति ह्यस्यैवार्थस्यानुगामिन्य स्मृतय, यथा हि—

लोकानान्तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादत ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ।
सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युति ।
मुखबाहूरुपज्जाना पृथक् कर्माण्यकल्पयत् । (मनु) ।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजा
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणा ।
(श्रीमागवतम् स्क० ११ अ० १७)

वक्त्रादस्य ब्राह्मणा सम्प्रसूता
स्तद्वक्षस क्षत्रिया पूर्वभागे ।
वैश्याश्चोर्वोर्यस्य पद्भ्या च शूद्रा
सर्वे वर्णा गात्रत सम्प्रसूता । (वा०पु० अ० ७१)

तत कृष्णो महाभाग पुनरेव युधिष्ठिर ।
ब्राह्मणाना शत श्रेष्ठ मुखादेवासृजत् प्रभु ।
बाहुभ्या क्षत्रियशत वैश्यानामूरुत शतम् ।
पद्भ्या शूद्रशत चैव केशवो भरतर्षभ ।
स एव चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपा ।
अध्यक्ष सर्वभूताना धातारमकरोत् स्वयम् ।
(महाभा० शा० प० २०७ अ०)

इत्यादि सर्वत्रैव पुराणेषु द्रष्टव्यम् । तथा च स्पष्ट सिद्धमेतत्—सृष्ट्यादौ भगवत आदिपुरुषस्य मुखाद्येषामुत्पत्तिस्ते तद्वंशोद्भवाश्च भवन्ति ब्राह्मणपदवाच्या— 'सवर्णेभ्य सवर्णासु जायन्ते हि सजातय' स्मरणात् एवं भगवतो बाहुभ्यां येषामुत्पत्तिस्ते तद्वंशोद्भवाश्च क्षत्रिया, ऊरुभ्यामुत्पन्नास्तद्वंशजाश्च वैश्या,

पादजातास्तद्वंशोद्भवाश्च शूद्रा इति। तदित्थमुत्पत्तिकृतैवेयं वर्णव्यवस्था—विधातृनियोगात्तु ते मुखादिजाताः स्वस्ववर्णोचितानि कर्माणि प्रतिपद्यन्ते—ये तु स्वोचितानि कर्माण्यकुर्वाणा अन्यधर्मान् प्रपद्यन्ते ॥ इमेऽवश्यमीश्वराज्ञाविमुखा दण्डभाजो भवन्ति। श्रुतिस्मृतिभ्या तथार्थस्यावगमादिति शब्दैकप्रमाणाना यथाभूतप्रतिपत्तृणामृजुर्नो पन्थाः।

अत्रापरे तर्कयुक्त्यादप्रमाणान्तराणि समास्थाय प्रत्यवतिष्ठन्ते, नेयं वर्णव्यवस्था योनिकृता भवितुमर्हति, अपि तु गुणकर्मकृतैव, समाजोपनिबद्धा च। यदि हि जन्मकृता स्यात्—अवश्य भारतनिर्विशेषं सर्वेष्वेव (युरोपादि) देशेषु समुपलभ्येत। न खलु भगवतादिपुरुषेण भारतीया एव समुत्पादिता, न त्वन्यदेशीया—इत्ययमर्थः शक्यते केन चिदभिधातुम्—अभिहितो वा रभसात् समीक्षादक्षैः प्रतिपत्तुम्। यदि तु तेऽपि भगवतोत्पादितास्तर्हि स्युरस्य मुखबाह्वाद्यन्यतमजाता इति प्रवेश्या अन्यतमे वर्णे, न तु तत्तथोपलभ्यते—धर्मशास्त्राण्यपि ह्यस्माकमार्यदेश एव वर्णधर्मान् घोषयन्ति न तु सर्वत्र। यत्तु केचिदागमहठपरतन्त्राः प्रतिपादयेयुः—अस्त्येव देशान्तरेष्वपीयं वर्णव्यवस्था, तत्रापि वैज्ञानिकानां सैनिकाना व्यापारिणा सेवकाना च विभागस्य सुप्रथिततरत्वात्—तदेतद्विपरीतम्। यथा हि गुणकर्मानुरोधिनी समाजकृता च सर्वोन्नतिसाधनीभूता प्रचरति तत्र वर्णव्यवस्था—तथैवेयमार्यावर्तेऽप्यस्मदीयेष्वस्माकमभिप्रायः, न त्वियं प्राकृतिकी (ईश्वरकृता) भवितुमर्हति, तथात्वे तथोपलब्धेरेव सर्वत्रावश्यकत्वादिति।

तस्माद्विज्ञानोन्नतिमधिरूढैरस्मत्पूर्वपुरुषैरुत्तरोत्तरमुन्नतिसाधनार्थं विभज्य कार्यं करणाय समाजव्यवस्थारूपेणैवेयं प्रचारिता वर्णव्यवस्थेति सुस्पष्टमधिगम्येत विचारदक्षैः। अभिहितं चैतदेवमेव श्रुतिस्मृतिष्वपि, तथा हि "देवविधः कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्प्यमाना अनु मनुष्यविधः कल्प्यन्ते"। (ऐ. ब्रा. १-२-३) इत्याद्याः श्रुतयो भङ्ग्या कल्पनाप्रसूतां वर्णव्यवस्थितिमाचक्षते। स्मृतिषु तु—

> न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
> ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ (महाभारते)

इत्याद्यासु स्पष्टं कर्ममूलको जातिविभाग इति प्रतिपादितम्। एवं धर्मराजेनापि युधिष्ठिरेण नहुषसंवादादिषु सर्वत्र गुणकर्ममूलक एव जातिविभागोऽभ्युपगतः—(महाभा० व० प० अ० २८०)

युधिष्ठिरः

> सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
> दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतिः।

सर्प (नहुष)

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ! ॥

युधिष्ठिर

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प ! तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ।

सर्प

यदि ते वृत्ततो राजन् ! ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदायुष्मन् ! कृतिर्यावन्न विद्यते ।

युधिष्ठिर

जातिरत्र महासर्प ! मनुष्यत्वे महामते ! ।
सङ्करात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः । इत्यादि ।

एवमेव यक्षयुधिष्ठिरसंवादेऽपि—(म० भा० व० प० ३१३ अ०)।

यक्ष

राजन् ! कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ।

युधिष्ठिर

शृणु यक्ष ! कुलं तात ! न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ।
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ इत्यादि ।

अथाप्येतदर्थं कौशिकधर्मव्याधसंवादेऽपि (म० भा० व० प० अ० २१२)

शूद्रयोनौ प्रजातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते राजन् ! क्षत्रियत्वं तथैव च ।
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते—इत्यादि

स चायं कर्ममूलको वर्णविभागोऽपि नासीत्पुरा कृतयुगे प्रचरित—अपि तु पश्चात् कालान्तरे परिकल्पित इत्यपि स्फुटतरमभिहितं वायवीये महापुराणे (अ० ८)।

अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभपापयोः ।
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन् न संकरः ।
अनिच्छाद्वेषयुक्तास्ते वर्तयन्ति परस्परम् ।
तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमवर्जिताः ।

तदनन्तरं तत्रैव त्रेतायुगप्रस्तावे—

संसिद्धायां तु वार्तायां ततस्तासां स्वयंभुवः ।
मर्यादाः स्थापयामास यथारब्धाः परस्परम् ।
ये वै परिग्रहीतारस्तासामासन् विधात्मकाः ।
इतरेषां कृतत्राणान् स्थापयामास क्षत्रियान् ।
उपतिष्ठन्ति ये तान् वै यावन्तो निर्भयास्तथा ।
सत्यं ब्रह्म यथाभूतं ब्रुवन्तो ब्राह्मणाश्च ते ।
ये चान्येऽप्यबलास्तेषां वैश्यसकर्मसंस्थिताः ।
कीनाशा नाशयन्ति स्म पृथिव्यां प्रागतन्द्रिताः ।
वैश्यानेव तु तानाहुः कीनाशान् वृत्तिसाधकान् ।
शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्यासु ये रताः ।
निस्तेजसोऽल्पवीर्याश्च शूद्रास्तानब्रवीत्तु सः ।इत्यादि ।

एवं श्रीभागवतेऽपि (११ स्क० १७ अ०) ।

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः ।
त्रेतामुखे महाभाग ! प्राणान्मे हृदयात् त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः । इत्यादि ।

ततश्च त्रेतायुगे प्रवृत्तेयं वर्णानां व्यवस्थितिः कथमभ्युपगम्यतां योनिसिद्धा ! युगे युगे पुनः पुनरीश्वरस्य सम्पूर्त्तकल्पनाया अशक्यार्यत्वात् । तस्मादवश्यं गुणकर्ममूलिकैव सेयमिति स्फुटं विद्यति ।

किं च संस्कारजन्यमिदं वर्णानां वर्णत्वमित्येकमुखेनोररीकुर्वते सर्वेऽपि धर्मसूत्रकाराः ।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'

'स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'

इत्याद्युक्तेः । अत एव तु षोडशवर्षाभ्यन्तरेऽनुपनीतस्य ब्राह्मणकुमारस्यापि नैते ब्राह्मण्यमभिमन्यन्ते-प्रतिषेधन्ति च ब्राह्मणानां तेन सह सम्बन्धमपि ।

नैतत्सर्वं योनिकृते वर्णविभागे सुघटम्—अपि तु तत्तद्वर्णोचितकर्मकरणानुकूलसंस्कार-संस्कृतस्यात एव तत्तद्वर्णोचितकर्मयोग्यताभाजस्तत्तद्वर्णत्वमभ्युपगच्छद्भिः स्मृतिकारैर्नूनं स्पष्टमभ्युपगता कर्मकृतैव वर्णव्यवस्थेति निष्पक्षपातमालोचयन्तु सुधियः । अत एव च—

'ब्राह्मणो मदिरां पीत्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते'

इत्यादिवचनैर्विपरीताहारविहारसम्बन्धेनागतायाः कर्मायोग्यताया तत्तद्वर्णाद् भ्रंशप्रतिपादनमपि स्मृतिकाराणां सङ्गच्छते । न चैभिर्वचनजातैः प्रायश्चित्तीभवेत्वाभिप्रेता—न तु जातिभ्रंश इत्याशङ्कनीयम्, कामकृतसुरापानाभ्यासादौ प्रायश्चित्तस्यापि प्रतिषिद्धतया स्पष्टं जातिभ्रंशस्यैव बोधितत्वात् । योनिकृते तु वर्णविभागे योनेराशरीरपातमपगमासम्भवेन जातिभ्रंशव्यवस्थेयं स्मृतिकाराणां स्फुटं व्याकुप्येत । अथ ये प्रमाणजातमुपन्यस्यापि वर्णविभागं योनिकृतमेव स्थापयितुमाग्रहग्रहिलास्त इमे प्रणम्यैव प्रष्टव्याः—इदानीं ख्रिष्टधर्मानुयायित्वं यवनत्वं वा प्रतिपन्नानां ब्राह्मणकुमाराणां ब्राह्मणत्वं प्रतिदिशन्ति भवन्तो न वा । आद्ये क्वापगतं तस्य ब्राह्मणजन्यत्वमिति स्फुटमाख्यान । अन्ते तु कुशलं परिपालयन्ति भवन्तः सनातनार्यधर्मविदां वर्णव्यवस्थामित्येव ब्रूमहे । अस्माकं तु ब्राह्मणोचितकर्माणि प्रतिपद्यमानस्यैव ब्राह्मणत्वेन यवनत्वादिस्वीकारे च ब्राह्मणधर्माणां दूरोज्झितत्वेन नास्त्येव तस्य ब्राह्मणत्वं कथापीति समीचीनतयैव लोकरीतिः सुविदा । तस्माद्यदि सुसूक्ष्मं निरीक्ष्येत—तर्हि आस्तां पौराणिकी कथा, इदानीं लोकरीत्यापि कर्मकृत एव वर्णविभागः सिद्ध्येदिति विचारणीयं मनः प्रणिधाय ।

ननु च भो अस्ति तावदुत्तमस्य वर्णस्यावरवर्णप्रतिपत्तिरापद्धर्मे सुप्रसिद्धा, अवरस्य तु वर्णस्योत्तमवर्णप्रवेशः शास्त्रविरुद्धो लोकविरुद्धश्च । कर्मैकमूलायान्तु वर्णव्यवस्थायामस्याप्युचितत्वमापद्येतेति चेत् सत्यमापद्यत एव । परमिदानीन्तनाग्रहग्रहिललोकविरुद्ध एवायमर्थो[1] न तु पुरातनेतिहासविरुद्धो न वा शास्त्रविरुद्ध इति स्फुटं प्रतिजानीमः । तथा हि—सर्वस्मृतिकृन्मूर्धन्योऽयं भगवान् मनुः स्फुटमवरवर्णस्याप्युत्तमत्वमनुजानाति ।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ इति

इतिहासलिङ्गेन च स्पष्टमवरवर्णस्याप्युत्तमवर्णताप्राप्तिः प्रसिध्यति । ऐतरेयश्रुतौ हि कवषस्यैलूषस्यावरवर्णस्यापि द्विजोत्तमत्वप्राप्तिर्मन्त्रद्रष्टृत्वरूपमृषित्वं चाम्नायते—

"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत । ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति । तं बहिर्धन्वोदवहन्नेन पिपासा

१. अवरवर्णस्योत्तमवर्णप्रवेशरूप ।

इन्तु, सरस्वत्या उदक मा पादिति, स बहिर्धन्वोदूढ पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्"[1]।

इत्यादिना प्रबन्धेन। एवं महर्षेर्भगवतो विश्वामित्रस्यापि बहूना सुतानाम नार्यत्वमाम्नातम्—

"इत्युदन्तया बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा"।

(ऐत० ७-३-६)

तथा च स्पष्ट श्रौतेतिहासम्भ्रेन तुल्यन्यायादुत्तमवर्णस्यावर्णस्यावरत्वप्राप्तिरवरवर्णयोसमस्वप्राप्तिश्चेत्युभावप्यर्थौ प्रतिपद्येते। पौराणिकमप्यनल्पेनाडम्बरेण सर्वत्रोपनिबध्यमान प्रथितमर्ममिद वसिष्ठविश्वामित्रयोरुपाख्यान क्षत्रियकुलोद्भवस्य विश्वामित्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्ति प्रतिपादयत्येव। ये त्वत्र तपोऽतिशयबलेनाघटितघटनामुरीकुर्वाणा ब्राह्मदत्तचरुमात्रेण बीज एव विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्य ब्रुवाणा वा नैतेनेतिहासेनोत्कार्यमभ्युपगच्छन्ति तेषा कृतेऽन्यान्यपि वीतिहोत्रादीनामृषभपुत्रादीनां चाख्यानानि बहुधा पुराणेषु दृश्यन्त एव। किञ्चेदमालोकयता तावत् कृत्स्नैव वर्णपरिवर्तनम्—(भा मा० ९ स्क २ अ)

नृगवंश प्रस्तुत्य—

> उरुश्रवा सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत्।
> ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्नि स्वयमभूत्सुत॥
> कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषि।
> ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायन नृप॥ इति।

तत्रैवऽपि—

> नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्य कर्मणा वैश्यता गत।
> भलन्दन सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात्॥
>
> इत्यादि।

हरिवंशे च प्रथमे पर्वणि (११ अ.)

नाभागारिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणता गतौ। इत्यादि।

बहुत्रैवमुपलभ्यते कृत्स्नस्यापि कुलस्य कर्मणा वर्णपरावर्तनमित्यालोचनीय तत्र तत्र सुधीवरै। ननु च मोक्षपदादिना महापुण्यप्रसादादिना वा विशिष्टेनैव हेतुना ब्राह्मण्याद्येमिष्पलब्ध इत्यादिति चेदास्ता कथमपि। न खलु हेतुसत्तास्माभि प्रतिषिध्यते, योनिकृतमेव नु ब्राह्मणत्वादि न सिद्ध्यतीति निष्पक्षपातमुच्यते। तच्च क्षत्रादियोनिजाना ब्राह्मणत्वाद्यवाप्ते कथमपि सिद्धौ सिद्धमेव। वस्तुतस्तु "कर्मणा वैश्यता गत" इत्यादिस्मरणाद् हेत्वन्तरकल्पनमप्यन्याय्या। यथा हि

---

1 अपोनप्त्रीय नाम वैदिक सूक्तम्।

कर्मवैगुण्यादुत्तमवर्णस्य स्वस्माद्वर्णात्प्रच्युतिस्तथा कर्मसाद्गुण्यादुन्नतिरप्यङ्गीकर्तव्यैवेति न्यायसिद्धोऽयमर्थः ।

किं च योनिकृते वर्णानां परस्परं भेदे गवाश्वादीनामिव ब्राह्मणक्षत्रादीनामपि विशेषः प्रत्यक्षमुपलभ्येत, न तु तत्तथोपलभ्यते । उपलभ्यत एव स्वभावादिभेद इति चेत्तदपि न । तस्यापि नियमितस्य भेदस्य शतशो व्यभिचरितत्वात् । दृश्यन्ते हि बहवः शूद्रा अपि ब्राह्मणोचितशीलबुद्धिविभवाद्युपेताः, बहवश्च ब्राह्मणा अपि नितान्तं बुद्धिहीना अनृतमायादिपराश्च । तत्तादृशप्रकृत्यनुरूपवर्गत्वमेव तेषामेष्टव्यमित्येव तु पक्षोऽस्माकम् । तत्तद्वर्णस्य योग्यतामभजतामपि हि तत्तेषां बलात्तत्तद्वर्णतानियमनादेव वैयाकुल्यमनुभवति समाज इदानीम् । तथा हि पूर्वोपदर्शितनिधौ ब्राह्मणः स्वीकारितोऽपि बलाद् ब्राह्मण्यं न तदुचितकर्मसु काञ्चिदप्युन्नतिं साधयितुमीष्टे, योग्यताविरहात् । शूद्रस्तु तथाविध उत्कृष्टकर्मसु कुशलोऽपि न शास्त्रसमाजे नानुरुध्यते—इति पतितेयमुन्नतावर्गला सर्वतोमुखी । तस्मात्समाजमुन्नमयितुकामैरपि गुणकर्ममूलक एव जातिविभागोऽभ्युपगन्तव्यः, शास्त्रसिद्धश्च स एवेति सुसिद्धम् ।

ननु च भो आस्तां तावदुन्नतिकथा, शास्त्रसिद्धत्वं तु विषयस्यास्य साहसेनैवोद्घोषयसि, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादिपूर्वोपदर्शिताभिर्योनिकृतं वर्णभेदं स्फुटमभ्युपगच्छन्तीभिः श्रुतिस्मृतिभिः स्फुटं विरोधादिति चेद् भ्रान्तिमात्रमेतत् । तासां श्रुतिस्मृतीनां योनिभेदोपदर्शने तात्पर्यानुपलब्धेः ।

अपि तु अस्य विराड्रूपस्य भगवतः परमात्मनो, ब्राह्मणो, मुखमिव मुखम्, सर्वस्मिन् जगति प्रधानभूत इति यावद्, आसीत् (अस्ति) (विद्योपजीवित्वेनाभ्यर्हिततमत्वात्)। तथा राजन्यः, बाहू इव बलप्रयोक्तृत्वात् । एवमेव वैश्य ऊरू इव, कृष्यादिनान्नादिद्रविणसञ्चयेन सर्वथा पोषणकरणात् । तथैव शूद्रः पादाविव, सर्वानुगामित्वाद्—इत्येवमर्थप्रतिपादन एव श्रुतितात्पर्यम् । 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इत्येवमुक्तिस्त्वौपचारिक्येव, मन्त्रगते पूर्वतनपादत्रितयस्योपचरितार्थत्ववदित्यवसेयम् । युक्तश्चायमेवार्थः, अन्यथा को हि नाम वैदिको विद्वान् मुखबाह्वाद्यवयववतो मनुष्यसदृशात्परमात्मनः सृष्टिरियमुपजातेति सर्वथा विज्ञानविरुद्धमर्थं श्रद्दधीत ।

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,'

इत्याद्याभिः श्रुतिभिर्हि परमात्मनोऽखण्डमेव रूपं प्रतिपाद्यते, न तु सावयवम् । किं च परमात्मानमेवानभ्युपयन्तो मीमांसकादयः कथं श्रुतेरस्यास्तात्पर्यमुपवर्णयेयुः । तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थो न्याय्यः ।

दृश्यते चैवंविधानां श्रुतीनां बहुशोपचरितार्थत्वम् । तथा हि—

'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्, न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयद्'

इत्यप्यस्ति ब्राह्मणम् (श्रुतिः)। नैतस्मात्किल गायत्री नामाष्टाक्षरपादच्छन्दसा ब्राह्मणशरीरं समुत्पादितमित्ययमर्थः केनापि प्रेक्षावता अङ्गीक्रियते, अपि त्वग्निदैवतस्य ब्राह्मणस्याग्निच्छन्दो गायत्र्येव मुख्यतया समुपास्येत्याद्यर्थं औपचारिकीयं श्रुतिरिति सुप्रतिपन्नं सर्वैः। एवमेव—

'अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो धैर्यमासीदर्द्धं मालग्यम्। यद् धैर्यं सोमो वै स, ततो ब्राह्मणमसृजत। यन् मालग्यं सुरा वै सा, ततो राजन्यमसृजत,'

इत्यस्या श्रुतेरपि धैर्यप्रधाना सोमपायिनश्च ब्राह्मणाः, क्रोधप्रधानाः सुरापायिनश्च राजन्या इत्येवमर्थं एव तात्पर्यम्, न तु वस्तुतो धैर्यनामकेन केनचिद्वस्तुना प्रजापतिशरीरार्धभागेन ब्राह्मणशरीरनिर्मितिबोधने। तथा च तथैव पूर्वोक्ताया (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्) श्रुतेरप्युक्त एवार्थे तात्पर्यमिति निर्विवादं निष्पक्षपातिनाम्।

इत्थं च तदनुगामिनीनामुपदर्शितमन्वादिस्मृतीनामप्यत्रैव तात्पर्यमवसेयम्। यदि तु स्मृतिषु सर्वत्रोपलभ्यमानतत्प्रसूतादिपदप्रयोगेण तस्य मनुष्यरूपस्य परमात्मनो मुखादिजाता एव ब्राह्मणादय इत्याग्रहेण—तर्हि—

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
　　वक्षःस्थानाद्वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः॥
वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
　　आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥
(श्रीमा० स्क० ११ अ० १०)

इत्यादिप्रामाण्यादाश्रमाणामपि परमात्मनस्तत्तदङ्गजातत्वं सिद्ध्येत्। न चाश्रमाणां योनिजत्वमनुमन्यते केनापि स्मृतिविदा, नापि शक्यते ऽनुमन्तुम्—स्मृतिष्वेकस्यैव पुरुषस्य कालभेदेन चातुराश्रम्योपदेशात्। ततश्चावश्यमस्या उपचरितार्थत्वमेव स्वीकार्यमिति तुल्यन्यायाद्वर्णविषयेऽप्येवंविधस्मृतीनामुपचरितार्थतैव युक्ततामवगाहते।

'कर्मभिर्वर्णतां गतम्'

इत्यादिस्मृत्यन्तरेतिहासाद्यनुरोधाच्च तथैव प्रतिपत्तिः शोभीयसीत्यलमतिविस्तरेण। इत्थं च शमादिगुणानुस्यूतो निषायशादिकर्ममूलक एव चायं जातिविभागः समाम्नातो न तु प्राकृतिक इत्ययमर्थः सुष्ठु ससाधितः, इदानीमपि च तस्य तथैव प्रचारः उन्नतिसाधकः, न चात्र कोऽपि शास्त्रविरोधगन्ध इत्यपि सम्यक् प्रतिपादितमेवेति समीक्षिता समीक्षादक्षैः। सोऽयमध्वा बहुभिरेवेदानीन्तनैर्विविधप्रज्ञैरप्यनुशीलित इति।

अत्रैवमभिदध्महे—न तावदस्य वर्णविभागस्यैकान्ततो गुणकर्ममूलकत्वमभ्युपगन्तुं शक्यम्—इन्द्रादिषु देवेषु, गवाश्वप्रभृतिषु पशुषु, वृक्षगुल्मलतादिषु जडेषु,

गायत्र्यादिषु छन्दःसु चेत्यादिसर्वपदार्थेष्वेवाप्रतिहत वर्णविभागस्य श्रुतिस्मृत्या दिष्वभ्यनुज्ञानात्। तथाहि दिङ्मात्रमुपदर्श्यते—

'ब्रह्म (ब्राह्मण) वै बृहस्पतिः' (ऐतरेय०) 'यान्येतानि देवत्रा (देवेषु) क्षत्राणि इन्द्रो वरुण सोमो रुद्र पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान' 'स विशमसृजत–यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते–वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति (इत्यादि शतपथ०)

पशुषु—ब्रह्म वा अज, क्षत्र वा अश्व', वैश्य च शूद्र चानु रासभ' (श प)

वृक्षादिषु—'ब्रह्म वै पलाश, (श प)
'क्षत्र वा एतदोषधीना यद् दूर्वा' (ऐत)
छन्दःसु—'गायत्रच्छन्दसा ब्राह्मण' (ऐत)

इत्यादि तत्र तत्रान्वेष्यम्। सन्ति चैतदनुगामीनि बहूनि पुराणादिवाक्यानि। तथैव ज्यौतिषे ग्रहनक्षत्रादीना चिकित्सिते सोमाद्योषधीना चापि वर्णविभाग सुविख्यात इति स्पष्ट स्तद्विदाम्। तथा च सर्वपदार्थेषु समन्वितस्य वर्णविभाग व्यवस्था कथं वा प्राकृतिकी न स्यात्। गुणकर्ममूलके हि वर्णविभागेऽभ्युपेते क तावदजस्य पलाशस्य वा शमादिगुणानामध्ययनादिकर्मणा वा सम्बन्ध इति सर्वमद श्रुतिस्मृत्युक्त व्याकुप्येत। तस्मात्सन्ति केचन स्वाभाविका धर्मा ब्राह्मणत्वादिमयो क्ता, येषा सत्तया देवमनुष्याणा पशुवृक्षादीनामपि च स्वाभाविक एव वर्णविभागोऽयमुपपद्यत–इत्यकामेनाप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम्।

किं च कर्मभेदादेव जाति (वर्ण) भेदमभ्युपगच्छता प्रेक्षावता इद प्रष्टव्या —जातिभेदात्पूर्वमेव तत्तद्योग्य कर्मभेद एव कुत कारणात् प्रवृत्त। समाजेन प्रवर्तित कर्मविभाग –इति चेत्, इत्थेद पृच्छाम —कुत समाजेन निष्कारणमेव केचन पुरुषा अध्ययनादिषूत्कृष्टकर्मसु नियोजिता, केचन तु सर्वरक्षणभार समर्प्य भूपतित्वमारोपिता –अपरे तु सेवादावपरकर्मणि प्रव र्तिता। न ह्यत्र कर्मविभाग पूर्वं निर्बीज एव प्रवृत्तो भवेदिति शक्यते केनापि समीचीनपथेन सम्भावयितुम्। तेषा तेषा पुरुषाणामभिरुच्यैव तत्तत्कर्मसु प्रवृत्तिरिति चेन्नु कस्य नामोत्कृष्टकर्माण्यपहाय स्वात्मन्यवरकर्मरुचिर्भवेत्। ये ▮ समाज नेतृत्वभाजो ब्राह्मणानामेव शिरसि कलङ्कभारमिममुन्नयन्त्य दुष्टा भवन्तिते—रेव यथेच्छमत्याचारेणोत्कृष्टकर्माणि स्वायत्तीकृत्य परे पुरुषा अवरकर्मसु निर्नि युक्ता इति, त इमे निमील्य नेत्रे यत्किमपि प्रलपन्त उपेक्ष्या एव विचारदक्षै। वर्णविभागात्पूर्वं ब्राह्मणाना समाजनेतृताया एव तावदसम्भाव्यत्वात्, ब्राह्मणा दिवर्णविभागो हि कर्ममूलक इति य आतिष्ठन्ते त एव प्रथम कर्मविभागे

ब्राह्मणानां हेतुरन कथ ब्रूयु ? कर्मविभागात्पूर्वे ब्राह्मणत्वस्य तन्मतेऽप्रसिद्धत्वात्। तस्माद्योग्यताविशेष परीक्ष्यैव ते ते मनुष्या स्वस्वोचितकर्मसु समाजेन प्रवर्तिता, स्वय वा तादृशयोग्यतया तत्र प्रवृत्ता इत्येवात्र युक्तमुत्तर स्यात्। तथा च योग्यताया स्वभावानतिरेकात् स्वाभाविक (प्राकृतिक) एव वर्णविभागो-ऽपि सुसिद्ध । कर्मविभागस्तु वर्णविभागमूलको न तु कर्मविभाग इति स्फुट सुसिद्धम्। एतदर्थप्रतिपादकमेवेद पूर्वोक्त भगवद्वाक्य न विस्मरणीयम्—

> ब्राह्मणक्षत्रियविशा शूद्राणा च परन्तप।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणै ॥ (गीता)

ननु च भो आस्तामेतदेवम्—किमेतावता ससिद्धमिति चेत्सर्वमपि न सनीहित सिद्धमत। स्वभावानुरूपे हि वर्णविभागेऽभ्युपेते स्वभावस्यानादितयान-पायितया च वर्णविभागोऽप्ययमनादिरविनश्वरश्च तावत्ससिद्ध । किं चेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वनादिना वैदिकधर्मानुयायिनामस्माक तत्तज्जन्तुस्वभावोऽपि नूनमीश्वरकृत इति तन्मूलकस्य वर्णविभागस्येश्वरकृतत्वमपि सुतरा सिद्धिमापन्नम्। तत एव च—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'

'तेषां कर्माणि धर्मांश्च ब्रह्मा तु व्यदधात् प्रभु'।

इत्यादीनि जगदीश्वरस्यैव वर्णविभागकर्तृत्वप्रतिपादकानि सर्वाणि श्रुतिस्मृति वाक्यानि साधु सगतानि। मूलकर्तृत्वेनैव कर्तृत्व यवहारस्यौचित्यात्। एष एव नून कर्मसु धातुकृतो नियोग—यत्तत्तत्कर्मानुकूलप्रकृतिसम्पादनम्। तस्माद्विधात्रैव सर्वे वर्णा स्वस्वकर्मसु नियोजिता इत्येवाभिप्रयन्ति शास्त्राणि। अयं च प्रकृत्यपरपर्यायस्य स्वभावस्य रूढचेन्नादिसर्ववस्तुसाधारण्येन सर्ववस्तुषु वर्णभेद-प्रतिपादनमपि महर्षीणा न कथमपि विरोधमियर्तीति द्रष्टव्यम्। ननु तथापि कोऽ यम-पन्नाह्मणमनुष्यादिसाधारण ईश्वरकृत स्वभावविशेषो येन सदैव तत्र वर्णे विभाग प्रवर्तते इति चेद् बहुविज्ञानसाध्यमेतद्। नैतदज्ञता शक्यमारादुपद र्शयितुम्। अगाधगहनश्चातेरैवैतदवबोध्यम्। अथापि तु दिङ्मात्रमुपदर्श्यते—ब्रह्मशब्देन तावच्छ्रुतावग्नि परिभाष्यते, क्षत्रमिति चेन्द्रादय, विडिति च विश्वेदेवा, शूद्रशब्देन तु पूषा। एत एव च परस्परविलक्षणशक्तिमन्तो देवा: सर्वस्यास्य जगत उपादानानि भवन्तीति स्पष्ट श्रुतिविदाम्। तथा च यत्र यत्र पदार्थेऽस्य ब्रह्मणोऽग्ने प्राधान्येन सबन्ध सोऽयम् ब्राह्मण, अत एव चाय ब्राह्मण आग्नेय । अग्निच्छन्दसा गायत्र्यैव चास्य सबन्ध प्राधान्येन। अग्नेरष्टौ वसव, गायत्र्या अपि प्रतिपादमष्टावक्षराणि—अत एव ब्राह्मणा-नामप्यष्टमे वर्षे उपनयन नियतम्। एवमेवाग्रेऽप्यालोचनीयम्।

अथेन्द्ररुद्रादिदेवानां यत्र यत्र प्राधान्यं त इमे क्षत्रिया । विश्वेषां देवानां च यत्र मुख्यत्वं ते वैश्या । पूष्णः सम्बन्धेन च शूद्रा इति । उक्तोऽयमर्थः शतपथे चतुर्दशे काण्डे (बृहदारण्यके) तत्र हि—

'यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि'

इत्यादिपूर्वोक्त देवेषु वर्णविभागं प्रतिज्ञाय तेषां देवानां सम्बन्धादेव मनुष्ये ष्वपि तद्विभागः स्पष्टमुक्तः —

"तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः"

इत्यादिना । प्रकरणान्तरेऽपि (शतपथ एव) भङ्ग्या ब्राह्मणादीनामपि देवताभिः सम्बन्ध उपदर्शितः, शूद्रस्य तु तत्रादेवत्वमुक्तम्—

"प्रजापतिरकामयत,—प्रजायेयेति । स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत—गायत्री छन्दो, रथन्तरं साम—ब्राह्मणो मनुष्याणाम् अजः पशूनाम्, तस्मात्ते मुख्या—मुखतो ह्यसृज्यन्त । उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत—तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्दः, बृहत्साम, राजन्यो मनुष्याणाम्, अविः पशूनाम्—तस्मात्ते वीर्यावन्तो वीर्याद्ध्यसृज्यन्त । मध्यत सप्तदशं निरमिमीत, तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त, जगती छन्दो, वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनाम्, तस्मात्ते आद्या (भोग्या) अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त, तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यो भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त । पत्त एकविंशं निरमिमीत, तमनुष्टुप् छन्दोऽन्वसृज्यत, वैराजं साम, शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनाम् । तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणा-वश्वश्च शूद्रश्च । तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तो न हि देवता अन्वसृज्यत, तस्मात्पादा-वुपजीवतः, पत्तो ह्यसृज्येताम्"

इह हि शूद्रस्य देवतासम्बन्धाभावादेव यज्ञेऽप्यसम्बन्ध उक्तः । वैश्यानां च बहुदेवतासम्बन्धाद् बाहुल्यमुक्तम् । तत्तदङ्गेभ्य उत्पत्तिश्रवणं चात्रापि—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'

इत्यादिमन्त्रानुरूपमेव । इह च तत्त्वार्थम्—यथा मनुष्यशरीरे चत्वार इमा विशिष्टशक्तय प्राधान्येन चतुर्ष्वङ्गेष्वाश्रयन्ति—शिरो ज्ञानशक्तिः, वक्ष पराक्रम शक्तिः, उदरं संग्रहणशक्तिः, पादौ च परिचर्याशक्तिः । विज्ञानानुमोदितोऽयमर्थः अत एव च शिरसि दुर्बले ज्ञानशक्तिरपि दुर्बला भवति, बहुचिन्तासमये च चेतसि शिर एव श्रान्तं भवतीत्यादि परीक्षन्ते पराक्रमाः मानुषाः, ज्ञानेन्द्रियाण्यपि च प्रायेण शिरोभागमेवाश्रितानि । एवं पराक्रमयोगोऽत्र बाहुभ्यां वक्षसि च श्रान्तिमुत्पादयतीति सुविदितमेव । मध्यभागस्थितमुदरं चेन्द्र् भाह्यमादिक स्पष्ट

यथायोग्यं सर्वशरीरे विभजते । पादावपि च सर्वशरीरस्य परिचर्यामिष्टदेशप्रापणादिरूपां विधत्त इत्यतिरोहितं लौकिकानामपि । तथैव खलु भगवतो विश्व (विराट्) रूपस्येश्वरस्य शरीरभूतेऽस्मिन्नखिले जगत्यपि यत्र विज्ञानशक्तिः प्राधान्येन विद्योतते त इमे ब्राह्मणा भगवतः शिरो (मुख) रूपाः । पराक्रमशक्तिमन्तः क्षत्रिया वक्षःस्थाः । कृष्यादिनान्नादिकं सञ्चित्य सर्वजगत्पोषका वैश्यास्तु मध्य (ऊरु) स्थानीयाः, एवमेव परिचर्याप्रधाना शूद्राः पादा इवेति भावयन्तु भावुका विपश्चितः । अथापि तत्तदवयवेभ्य एवमुत्पत्तिश्रुतेः कोऽभिप्राय इति चेदुच्यते । जगदाधारमीश्वरमभिमन्यमानानां श्रौतधर्मैकशरणानामस्माकं जीवोऽयमीश्वरस्यांश एव, अस्य च सर्वाः शक्तयोऽपीश्वरशक्तिजन्या एव । एवं च मनुष्याणां तत्तदङ्गेषूपलभ्यमाना इमाः (पूर्वोक्ताः) ज्ञानादिशक्तयोऽपि नूनं सर्वसमष्टि (विश्व) रूपस्य भगवतः परिच्छिन्नतत्तदङ्गजन्या एवाभ्युपगन्तव्या — गत्यन्तराभावात् । तथा च तत्तच्छक्तिवैशिष्ट्येन सम्पन्नमिदं ब्राह्मणत्वाद्यपि शक्त्यविनाभावात्तत्तदङ्गजन्यमेवेति युक्तियुक्तमनुशास्ति भगवान् वेदपुरुषः । सुव्यक्तोऽयमर्थः श्रीमागवतेऽपि— (३ स्क० ६ अ०)

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह ।
यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः ॥
बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ।
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥ इति ।

इह हि पूर्वोक्तरीत्या शक्त्यपरपर्यायाणां तत्तद्वृत्तीनां तत्तदङ्गेभ्य उत्पत्तिमुपपाद्य तदनुवर्तनाद्वर्णानां वर्णत्वमुक्तम् । तेन च पूर्वोक्तमेव तात्पर्यं हृदीकृतमिति सुसूक्ष्मं भावनीयमेतद्विपश्चिद्वरैः । ताश्चेमा ज्ञानादिशक्तयो मनुष्येषु तासामग्न्यादिदेवतानां सम्बन्धविशेषादेवाविर्भवन्तीति वैदिकानां दर्शनम् । ब्राह्मणादिशब्दाश्चैतासु शक्तिष्वत्र नियता — आग्नेयत्वादिसम्बन्धनियता एव । अग्न्यादिदेवानां च सर्वेष्वेव पदार्थेषु सम्बन्धमनुसरन्तस्तत्रभवन्तो महर्षयः सर्वत्रैव वर्णविभागं प्रतिजानते—इति भाष्यतां भावुकैः । /

ननु च भो युक्तमेवैतन्निरूपितम्—आस्तां स्वभावभेदाद् ब्राह्मणादिजातिभेदः । स्वभावस्य च तत्तद्दैवतसम्बन्धादेवास्तु भेदः, स च दैवतसम्बन्धवैलक्षण्यविशेष ईश्वरकृत एव तिष्ठतु, तेन च वर्णभेदस्यापीश्वरकृतत्वं वादमुपपाद्यताम् ।

अथापि तत्तत्स्वभावपरीक्षणेन वर्णान् तत्तत्कर्मसु विनियोज्य तेषामाहारविहारादि भेदव्यवस्थापनरूपोऽयं लोकप्रचलितः स्थूलस्तु वर्णविभागो नूनं समाजकृत एवाभ्युपगन्तव्यः । तत एवास्य भारतवर्षमात्रप्रचरितत्वमप्युपपत्स्यते,—समृद्धविज्ञानैस्तत्तत्स्वभावपरीक्षणदक्षैर्हि भारतीयैः स्वकीये देशे स्वस्वोचितानि कर्माणि विभज्य तत्तदनुकूला आहारविहारादयोऽपि परीक्ष्य नियमिता इति बहोः कालात्पुरैवात्र सुदृढतामापन्नो वर्णविभागः । देशान्तरेषु तु पुरा तथाविधविज्ञानविरहान्नैव परीक्षाक्षमत्वमासीदिति सत्यपि स्वाभाविके विभागे स्थूलोऽयमीदृशो विभागो न तत्र प्रचलितः । अत एव च त्रेतारम्भे वर्णविभागप्रतिपादकानां बहु पुराणादिवचनानां

'कर्मभिर्वर्णतां गतम्'

इत्यादिभारतवचनानां चाप्युपपद्यते सङ्गतिः । एवंविधस्य स्थूलस्यास्य विभागस्य त्रेतारम्भे ऽप्यभ्युपगमे दोषाभावात् । अस्य च कर्मविभागोत्तरमेव निष्पन्नत्वात् । मूलविभागस्य स्वभावभेदस्यैवेश्वरकृतत्वेनानादितास्युपगमात् । तथा चान्ततो वर्णव्यवस्थितेः समाजकृतत्वे सिद्धे अधुनापि समाजेन ब्राह्मणाद्युचितस्वभाव एव ब्राह्मणादिरनुमन्यताम्—न तु ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्यां प्रसूतमात्र एवापरस्वभावो ऽपि ब्राह्मणः, शूद्रजस्तूत्कृष्टप्रकृतिरपि शूद्र एवेति प्रतिरोधि साधीयसीत्येवास्माकमभिप्राय इति ये विप्रतिपन्नान् प्रत्येवमाचक्षते ।

आस्तामेतन्मतिपुरातने काल ईश्वरकृतं वर्णविभागमनुसृत्य समाजस्यैव तत्तद्वर्णकर्तव्यताहारविहारादिप्रवर्तनस्याभ्युपगमः, तदभिप्राया च तत्र एव—

'कर्मभिर्वर्णतां गतम्'

इत्यादीनि वचनानि । अथापि तु तदानीमेव किञ्चित्समयानन्तरमेव वा

'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'

इति प्राकृतिकं नियममनुसन्धानैर्महामहिमशालिभिः समाजनेतृभिर्महर्षिभिस्तत्तद्वर्णानां तत्तद्वर्णत्वं सुदृढं नियमितम् । नहि 'पिता क्षत्रियः, पुत्रस्तु शूद्रः, पुत्रस्तु ब्राह्मणः' इति यथाभिरुचि प्रवर्तमाना समाजविप्लवकरी विशृङ्खलैव बहुकाल तैरुपेक्षिता, अपि तु वर्णव्यवस्थितिप्रवृत्तेरनन्तरमेव

'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः'

इति नियमोऽप्यव्यभिचरितः प्रवर्तितः । पश्यन्ति हि ते महानुभावाः—मधुरादाम्रबीजादुत्पादितस्तरुर्मधुराण्येव फलानि समुपजनयति, अम्लात्तु बीजादुत्पादितोऽम्लान्येव, रक्तात्कार्पासाद्रक्तमेव वस्त्रमप्युपजायते—पीतात्तु पीतम्; तथैव खलु शमप्रधानाद्यथाध्ययनादिकर्मप्रवणाद् ब्राह्मणादुत्पन्नः सुतोऽपि तथाविधामेव योग्यतां विन्देत, न तु तद्वेतराम् । यद्यपि तु लक्ष्यतेऽस्य नियमस्यान्यत्र व्यभिचारः, अथापि

तु सोऽयं हेतुविशेषजन्यः कश्चिदेव स्यात्—स च विशिष्टकारणप्रभवः कश्चित्को व्यभिचारः प्राकृतिकं नियमं न भङ्क्तुमीष्टे। तत एव तु समुपेक्ष्य कांश्चित्क्रमिमं व्यतिक्रमं योनिसम्बन्ध एव वर्णविभागे प्रधानो हेतुरङ्गीकृतो विज्ञाननेत्रैरस्मत्पूर्वपुरुषैः। बहून्येतदर्थप्रमापकानि प्रमाणानि, तथा हि—पूर्वमुपदर्शिता कवषोपाख्यानश्रुतिरेव तावदर्थमिमं सुदृढमवबोधयति—शूद्रो हि कवषो दीक्षां प्रविष्ट इति सावेशं महर्षिभिः स बहिष्कृतः, अहो समाजनियमभङ्गकारिणि कवषे महर्षीणां सुतीक्ष्णं दण्डविधानम्—यद्

'अन्नेन पिपासा हन्तु'
'सरस्वत्या उदकं मा पात्'

इति निर्ममे प्रदेशे स निक्षिप्तः। कर्मण एव वर्णविभागहेतुतामभ्युपयन्तो महानुभावाः सुस्पष्टमिदमालोचयन्तु—यदि कर्मानुरोधिन्येवावस्थितिर्वर्णानां तदात्वे महर्षिभिरभ्युपगम्येत तत्तर्हि किमिति दीक्षां प्रविष्टः स वराक एव तिरस्क्रियेत? किमिति तस्य दीक्षाप्रवेशाभिरुच्यैव स सबहुमानं ब्राह्मणवर्णे न प्रवेश्येत? तस्मात्तस्मिन्नपि काले सुदृढतरो योनिकृत एवासीद् वर्णविभागः, तत एव चातुर्वर्ण्योऽयमुत्तमकर्माण्यनुतिष्ठन्नवधीरितो द्विजपुङ्गवैः। अनन्तरं तु समुद्भूतानन्यसाधारणप्रखरतर-विज्ञानशक्तिरपोनप्त्रीयसूक्तद्रष्टा स कवष ऐलूषो महर्षिभिर्ब्राह्मणवदभ्यर्हणीयतामापादित—स्वोत्कृष्टगुणसम्बन्ध एव तत्र कारणम्, न तु तथाभूतस्तेन नियमः शक्यते कल्पयितुम्—यद् ब्राह्मणकर्माण्यनुतिष्ठन्नेव ब्राह्मणः स्यादिति। उत्कृष्टगुणवन्ति हि वस्तूनि सर्वाण्यपि प्राकृतिकं नियममतिक्रम्यैव तिष्ठन्ति—नहि गोमयं पूतत्ममिति सर्वमपि पुरीषं तथाविधं स्यात्, न वा कस्तूरी सर्वत्रोपादेयेति सर्वमपि मांसं सर्वत्रोपादेयं स्यात्, न च कश्चिन्मणिरनर्घ्यमूल्य इति सर्वोऽपि तथैव भवेत्। तस्मात्कुतश्चिद्विशिष्ट-कारणादधिगतोत्कृष्टतमगुणसम्बन्धोऽयमैलूषः कवषोऽपि न सामाजिकं कुलक्रमागतवर्णविभागनियमं भङ्क्तुमर्हति, प्रत्युत तस्मादसाधारणगुणाभिव्यक्तेः पूर्वं तस्य ब्राह्मणत्वानवाप्तिं दर्शयन्नवरथा प्रदर्शयन्त्यस्माकमवबोधयन्तु विद्वांसः। ततश्चोपाख्यानेनानेन सिद्धमेतत्—ऐतरेयश्रुतेः प्रकाशात्पुरैव कुलक्रमागतावस्थितिर्वर्णानां सुदृढतमासीदिति। तथैव खलु भगवतो विश्वामित्रस्याप्युपाख्यानेनायमेवार्थः सिद्ध्येत्—ब्राह्मणत्वमभीप्सन् हि स भगवान् तत्तादृशमनन्यसाधारणं वर्षसहस्राणि तपस्तेपे, न स्वमीप्सामात्रेणैव समवाप ब्राह्मण्यम्। तेन हि ततोऽपि पूर्वतरमेव सुदृढैवासीद् योनिकृता व्यवस्थितिर्वर्णानामिति सुखाधिगम्यमेतत्। यदि हि तदात्वे तत्तद्वर्णोचितकर्मभिरचिरेव तत्तद्वर्णत्वे कारणं स्यात्—तर्हि ब्राह्मणकर्माण्यनुतिष्ठन्नेव स भगवान् ब्राह्मणत्वेनोररीक्रियेत, न स्वेतावत्तपस्तदर्थमपेक्ष्येत। न च ब्राह्मण्ययोग्यतासंपादनार्थमेव तपस्तेन समनुष्ठितमिति भ्रमितव्यम्—आस्तां नाम योग्यता, अनितरसाधारण्या विशिष्टतमायामपि योग्यतायां समुद्भूतायां न तस्य ब्राह्मणत्वं समाजप्रमुखैः

वसिष्ठादिभिरभ्युपगतमिति स्पष्टं तदाख्यानविदाम् । कुमहत्तरतप समनन्तरन्तु तस्य ब्राह्मणत्वप्राप्तिरित्युत्कृष्टतपःसम्बन्धमूलिकैवेति न सा नियममवस्थापयितुमीष्टे, उत्कृष्टगुणसम्बन्धस्य प्रकृतिनियमातिक्रमकारिताया उक्तत्वात् । तच्च विश्वामित्रादपि भगवन्त पुरस्तादेव कुलक्रमागतैवासीद्वर्णव्यवस्थेति सुविदम् । सर्ववाङ्मयादिभूताया भगवत्या ऋक्संहितायाश्च बहुतरसूक्तद्रष्टाऽयं भगवान् विश्वामित्र, यदि तस्यापि काले योनिकृतो वर्णभेद इतिहासेन सुप्रतिपद्यते—तर्हि कुतोऽनादित्वमस्य न व्यवहरेम ? तत प्राक्तनेतिवृत्तानां प्रमापकस्यैवानुपलब्धेः । तस्माद्वर्णभेदशोधिल्यायोपादीयमानान्युपाख्यानानीमानि वर्णभेदस्य पुरातनत्वमेवावबोधयन्तीति सुस्पष्टं भावयन्तु विपश्चित । एतेनेतराण्यपि पौराणिकानि वर्णविनिमयबोधकानीतिवृत्तानि व्याख्यातानि, तत्रापि क्वचित् दम्यर्हणीयतमगुणसंसर्गादेव वर्णपरिवृत्तेरभ्युपगमात् । अत एव त्वनेकयुगसन्धिनि वृत्तमेऽप्याख्यानामितिवृत्तं द्वित्राण्येवास्य वर्णविनिमयस्य निदर्शनानि, यदि तु तत्तत्कर्मभिरचिरेव वर्णभेदे प्रमाणं स्यात्तदा किमेतावतामेव गणनीयानां वर्णपरिवृत्तिश्चर्चा स्यात् ? वयन्तु पश्याम—यदि पुरैव वर्णभेद सुदृढ न नियम्येत तर्हि एवविधानां वर्णविनिमयानां नामनिर्देशायापि पुराणमपर्याप्त स्यात् । तदेव लिखितिवृत्तनिबन्धा निगृह्णाति यत्प्रकृतिविलक्षण नूत्नमिवाभाति, वर्णविनिमयश्चापि कश्चिदस्तत्र तदैतिवृत्तेषूपनिबद्ध इति कादाचित्क एवायमुत्कृष्टगुणसम्बन्धमूलक सम्बन्धोऽयम्—न तु सामाजिकनियमसिद्ध इति बाढमनुमीयेत विचारदक्षैः । तथैव लिखितम्—

'तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्—ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्—श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' ५।१०,

इति पुनर्जन्मविषयिणी छान्दोग्यश्रुतिर्ब्राह्मणादियोनिं प्रदर्शयन्ती योनिकृतं ब्राह्मणत्वादि स्पष्टमभ्युपगच्छति । तस्माद्योनिकृतस्य वर्णभेदस्य समाजनियमितत्वाभ्युपगमेऽप्यतिपुरातनकालिक एव सोऽयं नियमो न त्वर्वाचीन इति स्फुटं समाधितम् ।

अथ योऽस्मत्पुरुत्कृष्टगुणसम्बन्धादपि केषाञ्चिदभ्यर्हितवर्णप्रवेशप्रकार इतिवृत्तेनानुमित सोऽप्यतिपुरातन एव समये शक्यतेऽनुमातुम् ।

तदुत्तरन्तु प्राचीनतमेऽपि रामायणमहाभारतादिकाले नैव कथमप्यासीद्वर्णविनिमय, अत एव समनुष्ठितप्रबलतरक्षत्रियकर्माऽपि भगवान् परशुरामो ब्राह्मण इत्येव परिपूज्यते स्म भगवता रामेण, सकलधनुर्धरगुरुश्च भगवान् द्रोण कृपो वा नैव ब्राह्मण्यं विजहौ । उत्तमवर्णोचितं च तप समनुतिष्ठन् शम्बूक शूद्र इति भगवता रामेण निधनमेव प्रापित —इत्यादीनि बहूनि पुराणेषूपलभ्यन्तेऽस्यार्थस्य प्रमापकानीतिवृत्तानि । अथ चालोच्यतां महाभारतस्यानुशासनिके पर्वणि भीष्मयुधिष्ठिरसंवाद —

युधिष्ठिर (प्रश्न)

नान्यस्तदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप ।
क्षत्रियो यदि वा वैश्य शूद्रो वा राजसत्तम ।।
ब्राह्मण्य प्राप्नुयाद्येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत्तन्मे ब्रूहि पितामह ।

भीष्म (उत्तरम्)

ब्राह्मण्य तात दुष्प्राप्य वर्णे क्षत्रादिभिस्त्रिभि ।
पर हि सर्वभूताना स्थानमेतद्युधिष्ठिर ।।
बह्वीस्तु ससरन् योनीर्जायमान पुन पुन ।
पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते ॥

इति । (अ २७)

इह हि स्पष्टमेव भगवता सर्वधर्मरहस्यनिष्णातेन भीष्मेण जन्मान्तर एवावरवर्णाना ब्राह्मण्यलाभो न तु कथञ्चिदप्येकस्मिन्नेव जन्मनीति स्पष्टमेवोद्घुष्टम् , जन्मान्तरे च ब्राह्मणत्वावाप्तेरुक्तिरपि पूर्वोपदर्शितच्छान्दोग्यश्रुतिमूलिकैव । अनन्तर च तेन भगवता मतङ्गस्य शूद्रस्योपाख्यानमाख्याय दृढीकृतोऽयमर्थ , स हि मतङ्गो ब्राह्मणत्वमभीप्सन् ब्राह्मणोचितसकलगुणगणसवृतो महत्तर तपश्चचार सदुक्त तेनैव सुरराजमिन्द्र प्रति—

इद वर्षसहस्र वै ब्रह्मचारी समाहित ।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्य नाप्नुया कथम् ।
अहिंसादममास्थाय कथ नार्हामि विप्रताम् ।

(आ० प० अ० २६)

स चायमेवविधोऽप्येतदेवमिन्द्रेणोत्तरित —

श्रेष्ठता सर्वभूतेषु तपोऽर्थे नातिवर्तते ।
तदग्रय प्रार्थयानस्त्वमचिराद् विनशिष्यसि । इति ।

तदिस्य मतङ्गेन सुमहत्तपस्यताऽपि नैवाधिगत ब्राह्मण्यमिति । उपाख्यानेनैतेन सुस्पष्टमिद भवति-यद् बहुतरतपोऽनुष्ठानादिनाऽप्यतिपूर्वमेवाभ्यर्हितवर्णस्यावाप्ति प्रतीतासीत्-तदुत्तरन्तवरवर्णस्योत्कृष्टवर्णत्व सर्वथैव प्रतिषिद्धम् । ततश्चाति पुरातन एव रामायण महाभारतादिकाले कुलक्रमागतैयमवस्थितिर्वर्णाना सुदृढत्व मुपगतेति साधु ससाधितम् । यत्तु यक्षयुधिष्ठिरसवादे करतलामलकयितधर्मरहस्ये नापि युधिष्ठिरेण कर्मण एव द्विजत्वहेतुत्वमुक्तम्—तदिद कर्मण प्रशसनमात्रम्' न हि युधिष्ठिरकाले कर्महेतुको वर्णविभाग सम्भावयितुमपि शक्य , द्रोणादीना

ब्राह्मणत्वव्यवहारविरोधापत्ते। पूर्वोक्तभीष्मवाक्येनात्यन्त विरोधाच्च। स्पष्टीकृतश्चो परिष्टात्—'वृत्त यत्नेन संरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेषत' इति वदता तेनैव महात्मना स्वकीयोऽभिप्राय। यत्नतो हि ब्राह्मणेन स्वकर्मपरायणेन भवितव्यम् अन्यथा निन्द्यत्वमस्यापद्येतेत्येष एव तदभिप्राय। एवमेव नहुषेण संवादेऽपि सर्पत्वयोन्यादिनिक्षिप्तस्य ब्राह्मणत्वमाख्याय युधिष्ठिरेण—तथाप्येतैर्लक्षणैस्समो ब्राह्मण परीक्ष्य इत्येव तात्पर्यम्—उच्चैस्तु—

> जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
> सङ्करात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मति ॥

इति वदता तेनैव स्पष्टीकृतम्। आरब्धे हि तदा अन्त्ये युगे बहुशो व्यभिचारादिप्रवृत्त्या वर्णसङ्करबाहुल्यात् जातिमात्रेण ब्राह्मण उत्कृष्ट अस्य परीक्षितुम्—अपि तु सत्यदमादिगुणानवलोक्यैवोत्कृष्ट ब्राह्मण्य निश्चेतव्यमिति तदभिप्राय। एव धर्मव्याधादिसंवादेऽपि सत्त्वादिगुणोत्कर्षपक्ष एव तात्पर्य मवसेयम् इतरथा प्रमाणान्तरानुगुण्यादिति मान्यता मामकै। यदा हि स्वकीय वर्णोचित कर्म परित्यज्य वर्णान्तरोचितकर्मणा जिगीषिषन्तमर्जुन भगवान् वासुदेव —

> 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
> स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह'
> 'तत स्वधर्म कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि'

(भगवद्गीता)

इत्यादिभिर्वचनपाशैर्निवारयामास अनिच्छन्तमपि 'स्वधर्म' इति युद्ध कारयामास च, तस्मिन्नेव महाभारतकाले कर्मणैव वर्णव्यवस्थितिर्युधिष्ठिरादिभिर्धर्ममर्मविद्भिरपगतेति को नाम विचारशील सम्भावयेदपि। वर्णविभागहेतुक एव कर्मविभागो, न तु कर्मविभागहेतुको वर्णविभाग इति सुस्पष्टमतद्भगवद्गीतासु तात्पर्यम्—अतएव अर्जुनस्य ब्राह्मणोऽचितभैक्ष्यादिपरिग्रह पापमिति निषिद्ध। तस्मात्तदात्वेऽतिदृढमूलाया योनिकृतवर्णव्यवस्थाया पुनरत्र प्रसिद्धो पूर्वोक्तवच्च नानासूपदर्शितार्थ एव तात्पर्यम्—न तु गत्यन्तरमिति स्फुट समीक्षादक्षाणाम्। ततश्च पुराणमहाभारतादीना कुलक्रमागतवर्णव्यवस्थितावेव तात्पर्य स्पष्ट सधाधितम्।

स्मृतयस्त्वेकमुखेनैव [illegible]प्रसिद्ध वर्णविभाग स्फुट प्रतिपादयन्ति—

> सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
> आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥

(मनु अ० १०)

सवर्णेभ्य सवर्णासु जायन्ते हि सजातय ।
(याज्ञवल्क्य)

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वर सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ (मनु अ॰ १)
ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव उत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृत ।
(हारीत)

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्व श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च ॥ (अत्रि)

किं च स्वस्ववर्णोचिताध्ययनादिकर्मविरहितस्यापि ब्राह्मणादेर्वैगुण्यमात्रं स्मर्यते, ब्राह्मणत्व तु सामान्यतोऽभ्युपगम्यत एव स्मृतिकृद्भि—तदेतदाह भगवान् मनु —

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृग ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥
यथा षण्ढोऽफल स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफल दान तथा विप्रोऽनृचोऽफल ॥ (अ० २)

अत्र ह्यनधीयानस्यापि विप्रस्य नाममात्रेण विप्रत्व सुस्पष्टमुक्तम्, न चैत ज्जन्मसिद्ध वर्णभेदमन्तरा कथमपि घटेत—कर्मण एव जातिहेतुत्वेऽनधीयानस्य विप्रशब्दवाच्यताया एव दूरापेतत्वात्। किं च ब्राह्मणेषु विदुषा श्रेष्ठ्यमाचक्षाणो (१।९७) भगवान् मनुरविदुषोऽपि ब्राह्मणत्वमभिप्रैत्येव । सर्वैरप्युपेतशासनश्च भगवान् व्याकरणमहाभाष्यकारोऽपि नञ् सूत्रे प्राचङ्कितो स्मृतिमिमामुदाजहार—

तप श्रुत च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मण्यकारकम् ।
तप श्रुताभ्या यो हीनो जातिब्राह्मण एव स । इति ।

इहापि तप श्रुतयोनित्रितयविशिष्टस्य मुख्य ब्राह्मणत्वम्, तप श्रुतविहीनस्यापि केवल ब्राह्मणकुलप्रसूतस्य जातिमात्रेण ब्राह्मणत्वमिति स्पष्टमभ्युपगच्छन्त्या स्मृत्या जातेर्मुख्यता द्योतितैव । भाष्यकृता चात्रैवविधे ब्राह्मणे यद्यब्राह्मणशब्द क्वापि प्रयुज्यते तर्हि स उपचारादेव, शुच्याचारादिविशिष्टेऽपि योनिविरहिते तु ब्राह्मण्याभावनिबन्धनो मुख्य एवाब्राह्मणशब्द इत्यभिदधता स्पष्टमेव योने प्राधान्यमङ्गीकृतम्। एवमुत्तमकर्माण्यनुतिष्ठतामवरवर्णानामुत्कर्षं स्फुट प्रतिषेधति भगवान् मनुरेव—

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।
सम्प्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ (अ १०)

इह क्रियार्थकर्माण्यनुतिष्ठन् शूद्रस्य विगुणार्थसमर्थत्वमपि कथंचित् प्रतिषिध्यते—किं पुनरार्यत्वम्, कथंचित्समर्थत्वं तूभयोरपि निषिद्धाचरणकर्तृत्वादेवाभ्युपेतमिति स्पष्टं टीकासु। भगवान् पराशरोऽपि सुस्पष्टमाह—

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य दुष्टां गां दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥

अवश्यमियं दुःशीलस्य द्विजस्य पूज्यतोक्तिः कैमुतिकन्यायमूलिकैवेति मन्महे तथापि तु योन्युत्कर्ष एव महर्षीणामेषां तात्पर्यमासीदित्येतन्न शक्यं कथमप्यपह्नोतुम्। उक्तश्चायमर्थो भगवता मनुनापि राजधर्मेषु—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
(अ. ९) इति।

अथैव दूरे तिष्ठतु वर्णविनिमयः, स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मं निषेवमाणानां प्रबलपातकसंबन्धं प्रपञ्चयामास भगवान् मनुरेव द्वादशेऽध्याये—

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि॥
पापान् संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु॥ इत्यादिना।

तदेव किमप्युदाहराम—सर्वत्रापि स्मृतिषु जन्मनैव वर्णभेदसिद्धान्तः सुप्रतिष्ठित इति नेदं दुरधिगममेव मेधावताम्। यत्तु स्मृतिषु वर्णानां संस्कारजन्यत्वोक्तत्वात्, संस्काराणां च कर्मयोग्यतासंपत्त्यर्थमेवोपयोगात्, कर्मयोग्यताया एव वर्णभेदमूलत्वं प्रसाधितम्, तदेतन्नास्माकमणुतोऽपि प्रतिकूलम्। यतो हि न वयं कर्मयोग्यताया मुख्यवर्णहेतुतां कथमपि वारयाम—'योनिर्विद्या कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्' इत्युक्तत्वात्, कर्मविरहितानां जातिब्राह्मणादीनां बहुतरनिन्दास्मरणाच्च। तत एव वर्णानां मुख्यवर्णत्वसंपत्तये समपेक्ष्यन्त एव संस्काराः। इमे तु संस्कारा ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नेष्वेव तत्तत्कर्मयोग्यतामाविर्भावयितुं प्रभवन्ति—न तु कांचिदन्यत्रेऽप्यभिनवां तादृशीं योग्यतामाधातुमिति स्फुटं प्रतिजानीमहे। दृष्टा हि लोके संस्कारा मालिन्यमुपगतेषु मणिमौक्तिकसुवर्णादिष्वेव द्युतिमन्तरायामाविर्भावयन्तः, न तु लोष्टप्रस्तरादिष्वपि तादृशीं द्युतिमभिनवामुत्पादयन्तः। तस्माद् ब्राह्मणादिकुलजानामेव मुख्यब्राह्मणत्वादिसिद्धये समपेक्ष्यमाणा अपि संस्कारा न शूद्रेष्वपि ब्राह्मण्यं जनयेयुरिति स्मृतितात्पर्यं शक्यमुपपादयितुम्। अत एवावरजानामुत्तमवर्णोचिताः संस्काराः स्मृतिषु निषिद्धा एव, तत्र तेषां फलाधायकत्वाभावादिति विभाव्यतां भावुकैः। किं च त्रैवर्णिकानुद्दिश्य विहितेष्वप्येषु संस्कारेषु तत्तद्वर्णोचितः प्रतिनियम आश्रीयते स्मृतिकृद्भिः—यथाह मनुर्नामकरणे—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् । इत्यादि ।

अस्मिंश्च जातमात्रस्य शिशोर्दशमेऽहनि नामकरणकाले किं तस्य ब्राह्मणत्वादिसाधकं भवितुमर्हति, ऋते योनेः । न हि गुणकर्मादीनां विज्ञानस्य कथापि तदानीं शक्यसम्भवा । तस्माद् ब्राह्मणादिकुलजानामेव ब्राह्मणाद्युचितं नाम स्मृतिष्वभिप्रेतमिति संस्कारप्रकरणादपि जन्मसिद्धत्वमेव वर्णानां प्रसिद्ध्यति । तथैवोपनयने तत्तद्वर्णानां दण्डमौञ्ज्यादिप्रतिनियमो ऽप्यत्रानुसन्धातव्यः ।

यच्चैतद्विपरीताहारविहारादिसंबन्धादधःपातेन स्मृतिषूपलभ्यमानेन कर्मयोग्यतैव वर्णभेदे मुख्यो हेतुरित्युत्प्रेक्षितम् तदप्युक्तयुक्त्यैव प्रत्युक्तम् । कर्मयोग्यताया मुख्यवर्णाभिव्यञ्जकहेतुतयाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात्—तस्याश्च मदिरापानाद्युत्कटप्रत्यवायसंपातेऽपगमात् तत्तद्वर्णानां ब्राह्मणत्वादेः प्रत्यवस्योपपत्तेः । नाममात्रेण तु कथंचिद् ब्राह्मणत्वादिकमेषामपि नशक्यमपलपितुम् । इतरेषान्तु ब्राह्मणादीनां दोषसम्पर्कभीतानां न ते संव्यवहार्या भवन्तीति पतिता एवाख्यायन्त इत्यास्तां तावत् । यथैतो वर्णानामधःपातादेव दृष्टान्तात् समुन्नतिरप्यवरवर्णानामनुमातुमभिलष्यते तदेतदन्याय्यम् । विनिपातस्येव समुन्नतेः क्वापि स्मृतिष्वनुक्तत्वेनाप्रामाणिकत्वात् । सुलभो हि विनिपातः, सुदुर्लभा तु समुन्नतिरिति प्राकृतिकोऽयमर्थः । तस्मात्कुतश्चिद्विशिष्टहेतोर्विनिपात इव कुतोऽपि हेतोः समुन्नतिरवरवर्णानां स्मृतिषु कुत्रापि नोक्तेति न स्मृतिसिद्धोऽयमर्थः ।

किं च—'योनिर्विद्या कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्' इति स्मृतिमुदाहरता ब्राह्मणादिशब्दानां वृत्तिर्भोग्यकृतैव भगवताऽभ्युपगता । समुदायश्चायमेकविनाशेऽप्यपैतीति युक्त एवायं वर्णानां तत्तद्वर्णत्वापगमः । न त्वेकविरहेऽपि समुदायः शक्यते कथमपि व्यवहर्तुमिति न युक्तोऽभिनववर्णत्वसमुत्पादः । तथा हि—ब्राह्मणकुलप्रसूतत्वेन योनिविशिष्टोऽपि कश्चिद् व्यक्तिविशेषो विद्याकर्मणी यदि जह्यात्, विद्याविशिष्टोऽपि वा कर्मपतितः स्यात्, सुरापानादिभिरुत्कृष्टविद्याकर्मयोग्यतामेव वा समुच्छिन्द्यात्—तर्हि न तस्मिन् योनिविद्याकर्मणां समुदायः प्रतिष्ठित इति सोऽवश्यं ब्राह्मण्यात् पतितः स्यात् । योनिमात्रस्यैकस्य वा सत्त्वेऽपि त्रितयसमुदायस्य वक्तुमशक्यत्वात्—ब्राह्मणशब्दस्य च त्रितयसमुदाये निरूढत्वादित्युपपन्नं ब्राह्मणादियोनिजानामपि पातित्यम् । यस्तु ब्राह्मणकुलेऽनुत्पन्नतया योनिविरहितोऽप्युत्तमां विद्यां संस्कारवशादधिगच्छेत्, यमनियमादिषूत्कृष्टेषु कर्मस्वपि चानुरक्तः स्यात्, सोऽयं द्वितयसत्त्वेऽपि योनिविशिष्टत्रितयसमुदायाभावादेव न ब्राह्मण्यमाप्तुं शक्नुयादिति नोपपन्ना वर्णानामस्मिन् जन्मन्युत्कर्षावाप्तिः । एतेन ब्राह्मणस्य म्लेच्छादिधर्मान् प्रतिपन्नस्य म्लेच्छत्वादिवदेव ब्राह्मण-

धर्मं प्रतिपन्नानां यवनादीनामपि ब्राह्मणत्वादि तुल्यन्यायादुचितमित्याद्युच्छृङ्खलमापादयन्तो निरस्ताः। समुदाये ब्राह्मणादिशब्दानां प्रयोगस्यैवेष्टत्वात् समुदायस्य च योन्याद्यवयवविरहेऽप्युपपादयितुमशक्यत्वादिति भाव्यतां मातु वैमनं प्रणिधाय।

अथ यदेतदुच्यते—योनिकृते वर्णविभागे गवाश्वादीनामिव ब्राह्मणक्षत्रियादीनामपि परस्परं भेदः प्रत्यक्षं समुपलभ्येत, न [illegible] तत्तथोपलभ्यते, सर्वेषामपि वर्णानामैकरूप्यस्यैवोपलब्धेः, ततश्च नास्त्येव वर्णानां योनिकृतो भेद इति तत्तुच्छम्। गवाश्वादीनामिव योनिकृतस्य वर्णानां परस्परं भेदस्यास्माभिरनभ्युपगमात्। प्रकृतिभेद एव हि तेषामादौ विधातृकृतः, तदनुसारेणैव च कर्मभेदादुपपन्नोऽयं जातिभेदः।

'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'।

इति प्राकृतिकेन नियमेन योनिभेदमूलकता नीत इति श्रुतिस्मृतिभिरसकृद्-साधयाम। तथा च मनुष्यत्वजातेरवान्तरा एवैते ब्राह्मणत्वादिभेदाः स्युः, न तु गवाश्वादीनामिवैकान्ततो जातिपार्थक्यमभिधातुं साम्प्रतम्। अवान्तरास्तु भेदाः सर्वास्वपि (मनुष्यतिर्यगादि) जातिषु बहुशः समीक्ष्य समुपलभ्यन्ते न च ते ऽपि परस्परं सङ्कीर्यन्ते भवन्ति च तेऽपि बहुधा योनिसिद्धा इति तद्वदेव वर्णभेदस्याप्यभ्युपगमे क्षत्यभावः। यो ह्यत्र वर्णानां वर्णत्वप्रयोजको नैसर्गिको भेद आख्यातः स किल परीक्षमाणैः सर्वत्रैव समुपलब्धुं सुशकः। न च स्वरूपभेद एव भेदप्रयोजकतयादरणीयो न तु प्रकृतिभेद इति काचिद्राजाज्ञास्ति। तस्मात्प्रकृतिभेदनियतेऽपि वर्णानां भेदे योनिसिद्धत्वं न शक्यमपलपितुम्। अथ सोऽयं प्रकृतिभेदो ऽपि वर्णानां नियतं नोपलभ्यत एव, बहूनां ब्राह्मणानामत्यल्पमतीनां, क्षत्रियाणां कातराणां शूद्राणां च कुशाग्रधिषणानां वीर्यवतां च प्रत्यक्षमुपलभ्यमानत्वात् इति यदि कश्चिदाक्षिपेत्तदेतदप्यविचारात्। इदानीं हि कालदोषाच्छिथिलतामुपगते स्वस्ववर्णाभिमाने परित्यक्तेषु स्वस्ववर्णोचितेषु कर्मसु सुदूरमुत्सारितायां शास्त्रमर्यादायां नाममात्रपरिचेयेषु वर्णेषु विलयमुपगते च क्षीणे यथार्थचारित्रे दुरवस्थेयमुज्जृम्भते, न तु यथाविधि प्रवर्तमानेषु वर्णेषु कदाचिदप्येतदेव स्यात्। अवश्यं हि ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्योचितप्रकृतय एव सुताः समुत्पद्येरन्, मधुरादाम्रबीजादुत्पन्नस्य तरोर्मधुराणि फलानीवेति प्राकृतिक एष नियमः। प्राकृतिकं नियममनुसृत्यैव चार्याणां धर्ममर्यादाः प्रतितिष्ठन्ति। यत्तु स्यात् प्राकृतिकस्य नियमस्य क्वचिदुपलक्ष्येत व्यभिचारः, स किल हेतुविशेषजन्यः कादाचित्क एव स्यात्, न च कादाचित्कस्य तस्यकृते समाने प्रवर्तनीया चिन्ता दुरवस्थेति न्याय्यः पन्थाः। तस्मात्सम्प्रति मुनिनिनीषद्भिर्वर्णानां यथाशास्त्रप्रवृत्तावेव प्रयतनीयम्, येन समूलमुन्मूल्येत दुरवस्थेयम्—ब्राह्मणक्षत्रियादिसुताश्च

ब्राह्मणत्वनियामकचिन्हप्रकृतय एव स्युः। न तु क्वाचित्कस्य व्यतिक्रमस्य कृते सत्यपि समाजस्य सुव्यवस्था समुत्सारणीयेति कश्चित्प्रेक्षावानुमन्येत। ततश्चाद्य त्वे समुपलक्ष्यमाणोऽप्य वर्णानां प्रकृतिविनिमयः कर्मदोषजन्य एवेति नैतस्माद्वर्णानां नियता प्रकृतय एव न सन्तीति शक्यं साधयितुमित्युपपादितम्। अथ इदानीमपि कथञ्चिद् ब्राह्मणानामेव लोके विद्याधिक्यं वैश्यानामेव च धनाधिक्यं सुस्फुटमवगेक्ष्य स्तोऽपि यथास्मद्वाक्येषु समीक्षणैरिति कृतं विस्तरेण।

यत्तु कश्चिदाचष्टे—सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविभागमुपपादयद्भिः सर्वैरपि शास्त्रकारैरेकविधत्वमेव मनुष्यसृष्टेरभ्युपेयते—न तु तिर्यगादिषु नानाभेदा इव मनुष्येष्वपि ब्राह्मणादिभेदास्तत्रोच्यन्ते। तथा च साङ्ख्याचार्य ईश्वरकृष्णः सृष्टिभेदानाह—

> अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
> मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥ इति

इह हि चतुर्दशविधे भूतसर्गे दैवसर्गस्य ब्राह्मप्राजापत्यैन्द्रपैत्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदैरष्टविधत्वमाख्यातम्, तैर्यग्योनस्य च पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणां भेदात्पञ्चविधत्वमुक्तम्, मनुष्यसर्गे तु नैवं ब्राह्मणादयो भेदाः प्रतिपादिताः, अपि त्वेकविधत्वमेव तस्याभ्युपेतम्। तथैव किल भागवतादिषु सर्वेष्वपि पुराणेषु सृष्टिविभागे न कुत्रापि मनुष्यसृष्टेश्चातुरो विभागानुपलभामहे। ततश्च नायं वर्णविभागः सृष्टेरादितः प्रसिद्धो न वा योनिसिद्ध इति प्रतिपद्यामहे इति। तदेतत्सर्वमतिस्थवीयः। मनुष्यसृष्टेर्हि अवान्तरा भेदा ब्राह्मणादय इत्यवोचाम। न च सर्वेऽप्यवान्तराः सृष्टिभेदाः कुत्रापि परिगण्यन्ते, न वा शक्यन्ते परिगणयितुम्। अत्र हि समालोचयतु भवान्—य इमे पञ्चविधास्तिर्यञ्च आख्याताः—किमेषु न सन्ति शतशोऽवान्तरा भेदाः? न वा ते योनिसिद्धाः सृष्टेरादितः प्रसिद्धा वा? ततश्च तेषामेव गोमहिष्यादिभेदानामुपेक्षया तमःप्राधान्यमात्रविवक्षया यथा पशुशब्देनैकेनैव सर्वांस्तानुपसंगृह्य पञ्चविधत्वं तिरश्चामुपपाद्यते—तथैवेदं रजःप्राधान्यमात्रविवक्षयाऽवान्तराणां ब्राह्मणादिभेदानां चोपेक्षया मनुष्याणामप्येकविधत्वमुपपन्नमिति नैतावता योनिसिद्धत्वं वर्णानां हीयेत। रजःप्राधान्यं चापीदमापेक्षिकम्, देवाद्यपेक्षया सत्त्वमात्रायास्तिर्यगपेक्षया च तमोमात्राया मनुष्यसामान्ये न्यूनतया तत्र सर्वत्रैव रजःप्राधान्यव्यवहारात्। सन्ति तु रजःप्राधान्येऽपि सत्त्वादितारतम्यकृता बहवो भेदाः, तन्मूलकत्वमेव चैषां ब्राह्मणादीनामस्माभिराख्यातमिति न विस्मर्तव्यम्। कारिकां चेमां व्याचक्षाणस्तत्र भवान् वाचस्पतिमिश्रो ब्राह्मणादिभेदानामनभिविवक्षायास्तात्पर्यमपि सुस्पष्टमन्वाह—

> 'संस्थानस्य चतुर्ष्वप्येकविधत्वादिति'।

संस्थान ह्यवयवसंनिवेश, न किल सोऽप्यमेषु चतुर्ष्वपि भिद्यते—प्रकृतय एव त्वेषां भिद्यन्ते, संस्थानभेदादेर चेह भेदा विवक्षिता —इति न ब्राह्मणादिभेद परिगणनमिह कृतम्। एवमेव तत्तत्पुराणेष्वपि भेदाविवक्षाऽनुसन्धेया कार्त्स्न्येन भेदानां परिगणनस्य कुत्राप्यशक्यत्वात्। यावन्तो भेदा यत्र परिगणितास्तत्रापि वान्तराणां शतशो भेदानां संभवात्, अवान्तरभेदेष्वेव च ब्राह्मणादीनामपि प्रवेशात्, बहुषु तु पुराणेषु सृष्टिविभागेऽप्युक्ता एवैते भेदा, उपदर्शितानि च तद्वाक्यानि दिङ्मात्रमादावेवेति विरम्यतेऽत्र तदुपदर्शनात्। ततश्चानया सृष्टि विभागेऽनुक्त्यापि न वर्णानां योनिसिद्धत्व व्याहन्तु शक्यमिति विवेचयन्तु विचारदक्षा।

यत्तु योनिसिद्धभेदेषु गवाश्वादिषु नान्यकार्यमन्य शक्नोत्यनुष्ठातुम्, न चैषां भेदविज्ञाने कश्चिदपि सशेते, प्रत्यक्षेणैव भेदस्य सुप्रतिपद्यमानत्वात्, नाप्येतेषु विजातीयैः पुरुषैर्विजातीया स्त्रियः सन्ततिमारब्धुमीशते। योऽपि कश्चिदश्वतरादि सङ्करजातीय उत्पद्यते सोऽप्यय द्वाभ्यामप्यन्तः विजातीयो भवेत्। न त्वेवमेवं ब्राह्मणक्षत्रियादिषु, तत्र हि सुशिक्षितः शूद्रोऽपि ब्राह्मणकार्याणि कर्तुं शक्नुयात्, न च कर्मभेदविज्ञानमन्तरा कश्चिदप्येषां भेद प्रतिपद्येत, भवन्ति च वर्णान्तरेष्वपि वर्णान्तरजन्या सन्तानय सरूपा एव। ततश्च नैव जातिभेदोऽर्हति योनिसिद्धो भवितुमिति चर्चिदाक्षिपन्ति, तदेतदतिरभसादविज्ञानाच्चेति ब्रूमहे। अत्रापि वर्णान्तरकार्याणां यथावद्वर्णान्तरे सम्पादयितुमशक्यत्वात्। ननु च भो दृश्यन्त एव बहवः शूद्रा अपि ब्राह्मणकर्माणि, इति चेदङ्ग किमिदं ब्राह्मणकार्यमवधार्य तत्र भवन्तो वदन्ति—शूद्रा ब्राह्मणकर्माणि इति। आलोक्यतां श्रुतिस्मृतिषु ब्राह्मण कर्माणि—

> "यश्चैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे।" (श्रुति)
> "दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवता।"
> ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवता। (स्मृति)

ततश्च प्रवर्तमानं प्राकृतिकं जगच्चक्रमेतद्यथावद्विज्ञाय यथेच्छमन्यथा प्रवर्तयेत्तदिदं ब्राह्मणकार्यम्, नेदानीं ब्राह्मणा अप्येतदनुष्ठातुं शक्ता इति चेत्ता स्माकमिय वर्णव्यवस्था पतत्प्रमयार्थमेव प्रस्तुता, सार्वकालिकी तावदेवेत्य बोनाम। अहो! यदा हि किं वयं सर्ववर्णानां कानि कर्माणीति मनागप्यालोचयितुमशक्तास्तदा कथंकारमयमस्माकं वर्णपरिवर्तनाग्रह औचित्यं बिभेति। न च यथान्यत्किञ्चिदपि कर्तुं न शक्नोतीति व्यवस्थैव समुत्सारणीया, प्रत्युत यथा कर्मप्रवृत्तये व्यवस्थां सुदृढ नियमयितुं प्रवर्तनीयमिति कृतं विस्तरेण। वर्ण भेदपरिज्ञानं तु कर्मभिरेवेति युक्तमेव, वर्णभेदस्य प्रकृतिभेदमूलकत्वात्—प्रकृतिभेदस्य

च कर्मभेदानुमेयत्वात् । इहापि च विजातीयकन्यासन्ततिरश्वतर इव आत्यन्तरत्वमेव भजत इत्यालोक्यतां स्मृतिषु । वस्तुतस्तु नायं वर्णभेदोऽस्माभिरपि गवाश्वादिभेदवदिष्ट इति व्याख्यातमेव बहुशः पूर्वम् ।

अथ यदेतद् वर्णानां कर्महेतुकत्ववादिनां मूर्द्धाभिषिक्तं प्रमाणम्—

'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'

इत्यादि मनुवचनम्, तत्तु प्रकरणानभिज्ञानां प्रतारणामात्रमित्युपहासायैव प्रेक्षावताम्, वर्णसङ्करप्रकरणे हि—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ।

इति स्वयं पूर्वं मनुना तदभिहितम् । अस्य च पूर्वस्य श्लोकस्यायमर्थः—ब्राह्मणाच्छूद्रकन्यायामुत्पन्नः पारशवाख्यो वर्णः पूर्वमभिहितः, स चायं मातृदोषादश्रेयान् । पितृसम्बन्धादि तस्मिन् ब्राह्मण्यम्—मातृसम्बन्धात्तु शूद्रत्वमिति वर्णान्तरमप्येष कथञ्चिद् ब्राह्मणशब्देन शूद्रशब्देन चेत्युभाभ्यामेव शक्यते व्यपदेष्टुमुपचारात् । स एव श्रेय उपक्रमात्सप्तमे युगे (जन्मनि) श्रेयसीं पितृतुल्यां जातिमापद्यते । तथा हि—तज्जातीया कन्या ब्राह्मणेन चेद् विवाहिता, तत्कन्यापि च पुनर्ब्राह्मणेन, तत्कन्यापि ब्राह्मणेनेत्येवं क्रमेण सप्तमी कन्या ब्राह्मणेन विवाहिता शुद्धं ब्राह्मणमेव जनयति । सप्तमे हि युगे मातृदोषः समूलमपैति, वैजिकं च ब्राह्मण्यं सुस्पष्टमुदेति । अवान्तरीभूतास्तु ताः कन्याः सङ्करमेव जनयन्ति, मातृदोषस्य कथञ्चिदनुवृत्तेरिति । इह च कन्यापरम्परैवाभिप्रेता न तु पुत्रपरम्परेति—

'प्रजायते'

इत्येतस्मात्पदादधिगम्यते । प्रजनने हि स्त्रिया एव समर्थता न पुरुषस्येति । तदेवं श्रेय उपक्रमात्सप्तमे जन्मनि शोणितानुवृत्तस्य शूद्रत्वस्य निवृत्तिरुक्ता । तावतैव च तस्य सङ्करजातीयस्य शूद्रत्वांशोऽपि ब्राह्मणत्वे परिणतः, इत्यभिप्रेत्य—

'शूद्रो ब्राह्मणतामेति'

इत्युत्तरश्लोकपादोऽभिहितः । अथ यदि ब्राह्मणाच्छूद्रायामुत्पन्नस्य तस्य सङ्करस्याश्रेयसैव सम्बन्धः स्यात्, तत्कन्या यदि शूद्रेणैव विवाह्येत, तत्कन्याऽपि च शूद्रेणैवेत्यादि, तदा बहुभिर्जन्मभिस्तस्य पितृसम्बन्धादनुवृत्तं ब्राह्मण्यं समूलं विनश्येत्, मातुरनुवृत्तं शूद्रत्वमेव च तस्य नियतमवतिष्ठेत । तावतैव तस्य ब्राह्मण्यांशोऽपि शूद्रत्वे परिणत इत्यभिप्रेत्य—

'ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'

इति पूर्वोक्तश्लोकस्य द्वितीयः पादोऽभिहितः। अयमेव च न्यायः क्षत्रिय-वैश्यसंकरेष्वप्युत्तरार्द्धेनातिदिश्यते—

'क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च'

इति। क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामुत्पन्नोऽपि सङ्करविशेष एवमेव क्षत्रियैर्भूयो भूयः सम्बन्धमापद्यमानः क्षत्रियत्वमनुविन्देत, शूद्रेस्तु सम्बन्धमाप्नुवन् क्षत्रियत्वं विजह्यादित्यप्यूह्यम्।

एतदेवोक्तं भगवता याज्ञवल्क्येनापि—

'जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा' इति।

तत्र ब्राह्मणात्क्षत्रियायामुत्पन्नस्य वैश्याच्छूद्रायामुत्पन्नस्य वा श्रेय उत्कर्षः पञ्चम एव जन्मनि पितृतुल्यवर्णावाप्तिः, विप्रकृष्टस्य शूद्रायां ब्राह्मणादुत्पन्नस्य तु सप्तमे जन्मन्युत्कर्ष इति व्यवस्थितो विकल्प इत्युक्तं मिताक्षराकृता व्याख्याते। तथा च स्मृत्यन्तरसंवादाद्वर्णसङ्करप्रकरणाच्च मनुप्रोक्तस्य तस्य श्लोकस्योक्त एवार्थः संभवति, न तु प्रकरणविरुद्धः पूर्वापरविरुद्धश्च सामान्येन शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाप्ति-रूपस्तदर्थो न्याय्यः, न च शक्यः प्रकरणमालोचयता निराग्रहेण केनचित्प्रेक्षावता सोऽयं प्रदातुम्। वर्णसङ्करविषये तु यस्तु ब्राह्मण्य तस्मिन्ननुवृत्तमासीत्तदेनेदं महता कालेन श्रेयःसम्बन्धान्मातृदोष निरस्योद्भूतमिति न तत्रामिनवब्राह्मण्यो-त्पत्तिशङ्काऽपि लब्धपदा। बीजसम्बन्धादेव हि स्त्रीष्ववरवर्णास्वपि जातानां बहूनां महर्षीणां समुज्ज्वलित ब्राह्मण्यमासीदिति भगवता मनुनाप्युक्तम्, इतिवृत्तेष्वपि चोपलभ्यते। न ▒ गामन्यतः शूद्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्तौ कोऽपि दृष्टान्त इति प्रागेवा-वोचाम। यथा च प्रकरणान्तरेषु भगवता मनुना योनिसिद्धैव वर्णव्यवस्थाभ्युपेता तथैतदसङ्कुलूर्नमेनावगमयाम। एवं च तदविरुद्ध एवार्थोऽत्र न्याय्यः स्यान्न तु पूर्वापरविरुद्ध इत्यालोच्यम्। तथा च शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिरयं श्लोकः शुक्र-शोणितानुवृत्तस्य ब्राह्मणत्वादेरङ्गीकरणात्कर्महेतुकत्ववादिनां प्रत्युत परं प्रतिकूलः न तु कथमपि वर्णानां योनिसिद्धत्वबाधक इति स्पष्टमेतत्प्रतिभाति। यदि हि कर्म-निमित्तैव व्यवस्था वर्णानामत्राभिप्रेता स्यात् तर्हि ब्राह्मणेनोढमात्रैव शूद्र-कन्या ब्राह्मणी स्यादेवेति तत्पुत्राणां शुद्ध ब्राह्मण्यसंसिद्धौ कोऽयं सप्तमपञ्चमादि-जन्मसु उत्कर्षावाप्तिविचारः?

यदि हि ब्राह्मणसन्ततिरपि केवलं योनदोषात्सप्तमे जन्मनि शुद्धं ब्राह्मणत्वमवा-प्नोति तदा कैव कथान्येषां जात्या शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाप्तेरिति। तस्माच्छूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यस्मादपि वचनाद्योनिसिद्धैव वर्णव्यवस्थितिः सुदृढतामाप्नोतीति निर्वि-वादमेतत्।

यत्तु, केचिदाग्रहपरतन्त्रा शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यस्य यथाश्रुत पूर्वापरविरुद्ध विपरीतमेवार्थं समर्थयितुम्—

'शूद्राया ब्राह्मणाज्जात'

इति तत्पूर्ववर्तिनमपि श्लोकमन्यथैव व्याख्यातुमुद्युञ्जते, तथा हि—'ब्राह्मणाच्छूद्रायामुत्पन्न श्रेयान् कथञ्चिद् ब्राह्मणीसुतानिकृष्टोऽपि यदि श्रेयसा—कल्याणेन—धर्माचरणेन, प्रजायते—युज्यते, तदा सप्तमे युगे—वर्षे, श्रेयसीं—पितृतुल्यां जातिमापद्यते। सप्तमो ह्यय वर्षं उपनयनकालमुपलक्षयति, तत्र स्वकाले कृतोपनयनस्य, वेदाध्यायिनस्तस्य नास्ति द्विजकुमारेभ्यः कोऽपि विशेष इति तात्पर्यम्। उपनयनवशादेव हि शूद्रासुत शूद्रोऽपि वा शक्नोति ब्राह्मणीभावतुम्, अनुपनीतस्तु द्विजकुमारोऽपि शूद्र एव स्यादिति। अयमेव वचनस्यास्य न्याय्योऽर्थः, युगशब्दस्य जन्मार्थकत्वे हि नास्ति किमपि मानम्, वर्षवाचकता तस्योपपन्नैव एव, अयनयुग्मरूपत्वाद्वर्षस्य, वर्षावयवऋतुमासादिरपि मासपक्षादियुग्मरूप। अष्टमेऽब्द उपनयनस्योक्तत्वाच्च सप्तमाद्वर्ष एवात्र युगशब्देन ग्रहीतुमुचित। किं च।

"तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मत।"
'यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीज प्रशस्यते।"

इत्यादिना भगवता मनुनैकस्मिन्नेव जन्मनि साङ्कर्येणोत्पन्नानामुत्कर्षोऽपाकृतो राख्यातो, दृष्टान्तै समर्थितो च। सेय सप्तमे जन्मन्युत्कर्षमभिप्रयद्भिर्भवद्भिर्विरुध्यत विरोधिना स्यात्। तस्माच्छूद्राया ब्राह्मणाज्जात इत्यादेर्मदुक्त एवार्थो न्याय्य,, शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिस्तस्य श्लोक पूर्वेणासम्बद्ध स्वातन्त्र्येणैव शूद्रमात्रस्य कर्महेतुका ब्राह्मण्यावाप्तिमन्वाहेति। तदेतत्सर्वमनर्गलप्रलपितम्। प्रजायतेशब्दस्यार्थानालोचनात्, प्रपूर्वस्य जनेर्गर्भग्रहणार्थ एव प्रसिद्धतया युज्यत इत्यर्थस्य नितान्तमसामञ्जस्यात्। अष्टमस्य वर्षस्योपनयनकालतया स्मृतिप्रसिद्धत्वेऽपि सप्तमस्य तादृशकालोपलक्षकत्वे नानाभावाच्च। इद च भवान् पृष्टो व्यचष्टाम्, गुणकर्ममूलक एव जातिविभागे शूद्रायामुत्पन्नतामात्रेण कथ नाम तस्याश्रेयस्त्व भगवता मनुनाभिहितम्? सप्तमाद्वर्षादर्वाग्श्रेयस्त्वप्रयोजकानि कानि तस्य सम्भवन्ति गुणकर्माणि? सर्वेऽपि च यदा भवदुक्तरीत्योपनयनादूर्ध्वमेव श्रेयस्त्वमाप्नुवन्ते, तदा किमिह तस्यैव विशेषानुकीर्तनात्स्वल्पमभिप्रहितम्? उपनयनाच्चार्वाक् कामचारस्य क्षीरकण्ठस्य तस्य श्रेयस्त्वमश्रेयस्त्व वानुकीर्त्य किं विवक्षितम्? तस्मात्सर्वथैवेदमार्थपरिकल्पन हठादाकृष्टिमात्रमन्याय्य चेति विवेचयन्तु विवेचका। तथैव किल—

'शूद्रो ब्राह्मणतामेति'

इत्यादिवचनस्य पूर्वेणान्वयं विच्छिद्य स्वातन्त्र्येणार्थप्रकल्पनमपीदमनवधेयं प्रेक्षावताम् । स्वातन्त्र्ये ह्यस्य वर्णव्यवस्थितिप्रकरण एव पाठौचित्येन संकरप्रकरणपाठस्यासङ्गतिप्रसङ्गात् ।

किं च शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिकं केवलं प्रतिज्ञावाक्यमिदं हेतुविशेषानुक्तेर्हेत्वंशे साकाङ्क्षं न शक्यमर्थं व्यवस्थापयितुम् । केन हेतुना किल शूद्रो ब्राह्मणतामेति ? कुतो वा ब्राह्मणः शूद्रतामेतीति हेतोरवश्यमपेक्षणात्, तस्य च हेतुविशेषस्य प्रकृतश्लोकेऽनभिहितत्वात् । न च गुणकर्मानुरोधादित्ययं हेतुराक्षेप्तव्यः स्यादिति शक्यं वक्तुम्, तस्य सर्वथा प्राकरणिकत्वाभावेनाक्षेपे प्रमाणाभावात् । ततश्च श्रेयसा चेज्जायते इत्यत्र पूर्वश्लोकोक्त एव हेतुरिहाभिसंबध्यत इति सर्वथास्य श्लोकस्य पूर्वसम्बन्धिताया अनिवार्यत्वात्पूर्वोक्त एवार्थोऽत्र न्याय्यः, न तु पूर्वापरविरुद्धं सर्वेषामपि शूद्राणां ब्राह्मणत्वाभिरूपम् ।

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥
जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥
तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ।
वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥

इत्यादिना तदुत्तरमेव भगवान् मनुर्जन्मन एव वर्णत्वे हेतुतामभिप्रैति, ततश्च कथं पूर्वमेकहेलया शूद्रस्य ब्राह्मणत्वप्राप्तिमभिदधीत । इह चानार्यसंकरजातानां संस्कारस्यैवानुचितत्वाभिधानादुपनयनेन ब्राह्मणत्वमेषां सिद्ध्यतीत्यादि पूर्वश्लोकार्थं कल्पयन्त इतोऽपि निरस्ता वेदितव्याः । यत्तु युगशब्दस्य जन्मार्थत्वे नास्ति मानमित्याक्षिप्तम्, वर्षार्थकत्वेऽपि तन्नूनं तुल्यम् । वर्षार्थकत्वे सर्वथैव मानानुपलब्धेः । अमनुष्यजन्मपरत्वाच्च युगशब्दप्रयोग इति तूपहासास्पदम्, मातादिष्वपि पशुयुग्मादिरूपेषु तत्प्रयोगादर्शनात् । सप्तमे युगे—आर्येण वरेण सम्बन्धे, शूद्रायामुत्पन्न. कन्यारूपो वर्णो ह्यर्द्धं ब्राह्मणत्वमवाप्नोतीति भट्टकार्येऽप्युपपत्तेरेवं शक्यत्वाच्च । प्रजायत इति पदं च भट्टकार्थे तात्पर्यग्राहकमस्तु । मन्वर्थे तु ग्रहणातिरिक्तं नास्ति किमपि तात्पर्यग्राहकं नाम । अथ यदेतन्मते जन्मन्युत्कर्षावाप्ता-भ्युपगताया—

'तपोबीजप्रभावैस्तु'

इत्यादिना दृष्टान्तसमर्थितमेकस्मिन्नेव जन्मन्युत्कर्षापकर्षकथनं भगवतो मनोर्विरुद्धार्थत्वेऽत्यभिहितम्, तदप्यनालोचनविजृम्भितम् । तपःप्रभावेणैव हि भगवतां व्यासादीनामेकस्मिन् जन्मन्युत्कर्षावाप्तिः, तपोविरहितानां तु सामान्येन सप्तम एव

जन्मन्युत्कर्ष इति व्यवस्थाया स्फुटं भासमानत्वात् । अत्रापि च बीजहेतुकत्वस्योक्ततया जन्मन एव वर्णत्वहेतुता सर्वथैवाश्रयते ति न विस्मर्तव्यम् । तथा च मनूक्तस्य वचनद्वयस्य यथाव्यवस्थापित सर्वैरङ्गीकृतत्वमत एवार्थं समुचिततर इति प्रतिपादयाम ।

"धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ"
"अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ"

इतीदमापस्तम्बवचनमपि मनो समानार्थमनुलोमस्यस्यैव कर्मणोत्कर्षापकर्षावपि म आह, जाति परिवृत्तावुत्तमेन वर्णेन भूय भूय सम्बन्धे सतीत तदर्थोऽवित्यात् । जनन जातिरिति जननार्थकजातिशब्दोपादानादिह धर्माचरणेन जन्मान्तर उत्कर्षो वाजिबोधक वास्तु । धर्मेण जन्मान्तर उत्कृष्टवर्णत्वावाप्तेरुपनिषदादिप्रामाण्येन प्राक् समर्थितत्वात् । इह जन्मनि चोत्कर्षापकर्षौ त्वभ्युपगतायां शाखान्तराणि विरुध्येरन्, इह च जातिपरिवृत्ताविति पदसङ्घातमनर्थकमापद्येतेत्यत्यन्तविशदमतेन परवादेन । तथा च सर्वथा जन्मकर्मवर्णविभागमनुपपन्नस्य स्मृतयो न कथमपि गुणकर्ममूलिका वर्णव्यवस्था समर्थयन्ति बहुना प्रबन्धेन स्फुटमेतत्प्रसाधितम् ।

अथ यत्केचिदाचक्षते—सत्यकामस्य जाबालस्य वेश्यापुत्रस्यापि सत्याभयदेन ब्राह्मणत्वदर्शनाद्गुणकर्ममूलक एव जातिविभाग पुरासीदप्रचलित इत्यनुमीयते । तथा हि छान्दोग्योपनिषदि सत्यकामस्यैव श्रवणे—जबालाया पुत्र सत्यकामो नाम कश्चिद् ब्रह्मचर्यं विवत्सन्मातरं गोत्रं पर्यपृच्छत् माता तु तमेवमुत्तरमन्वाह—

"बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद, यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि, स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा ।"

इति । अनेन च यौवने बहुपरिचरणात्पुत्रगोत्राज्ञानबोधकमातृवचनेन जबालाया स्फुटमेव वेश्यात्वं प्रतीयते नाम, कथमन्यथा भर्तृगोत्रं सा न विजानीयात् ? किं वा बह्वहं चरन्ती परिचारिणीत्यनेनात्र विवक्षितं स्यात् ? तथा च वेश्यापुत्रत्वमेवास्य सत्यकामस्य सिद्धम् । स चायमेवंविध सत्यकामो गौतमस्यैव ब्रह्मचर्येण वस्तुमिच्छन् गोत्रं तेन पृष्टो यथावन्मात्रोक्तमेव निवेदयाञ्चकार । गौतमस्तु तेन सत्येन सन्तुष्ट प्रत्युवाच—

'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधं सोम्य आहर, उप त्वा नेष्ये न सत्यादगा'"

इति । तथा च जिज्ञासयापि सत्यकामस्य वेश्यासुतत्व केवल तस्य सत्यरूप विशिष्टगुणाश्रयत्वेनोपनयन भगवता गौतमेन कृतमिति सिद्ध सर्वथा गुणकर्ममूलकेन वर्णविभागेन । एवमेकस्यैव जन्ततो चातुर्वर्ण्यं समुत्पन्नमिति पुराणे बहुधा स्मर्यते—

पुत्रो गृत्समदस्यापि सुनको यस्य शौनकः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च।

(हरिवंशे)

पुत्रो गृत्समदस्य च सुनको यस्य शौनकः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च।
एतस्य वंशे संभूता विचित्राः कर्मभिर्द्विजाः।

(वायुपुराणम्)

एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयम्। तथैव च बहूनां गृत्समदवीतहव्यकाश्यप्रभृतीनां वर्णपरिवर्तनं पुराणेषूपवर्ण्यते, उपदर्शितं च पुरस्तादपि बहुधा इति नेह विस्तरभयात्प्रतन्यते। तथा चैतेन सर्वेण स्फुटं कर्ममूलक एव जातिविभागः श्रुतिपुराणादिकात्तु प्रसिद्ध्यतीति तदपलापः साहसमात्रमिति।

तदेतदपि सर्वं पूर्वमुक्तोत्तरत्वेन पिष्टपेषणमात्रमपि संक्षेपेण किंचिदिहोपपाद्यते। सत्यकामस्य जाबालस्य तावदियं कथा तदात्वे सुदृढां जन्मकृतां वर्णव्यवस्थितिमेवावबोधयति, यदा हि गोत्रज्ञानादिना ब्राह्मणकुलोत्पन्नतां सम्यक् परीक्ष्य गुरवः शिष्यानुपनयन्ति स्म, तदा कैव कथा गुणकर्ममूलकस्य जातिविभागस्य। भवदुपगत एव चेज्जातिविभागस्तदा प्रचरितः स्यात्तदा किमिति गौतमेन सत्यकामो गोत्रं पृच्छ्येत। किमिति तत्स्वेच्छामात्रेणैव ब्राह्मणेषु प्रवेशनं सोऽयं नोपनीयेत। तस्माद्गोत्रप्रश्नोऽयं किल सुनिश्चितं जन्मन एव वर्णत्वहेतुतां तदात्वेऽव बोधयति। जन्मकृत एव वर्णविभागे सुदृढे संभवति किल गोत्रप्रवरव्यवस्था। अन्यथा तु गुणकर्मानुरोधेन यत्किञ्चित्कुलोत्पन्नस्यापि ब्राह्मणत्वादिसंभवेन कथं नाम गोत्रप्रवरेषु सुनियता व्यवस्था प्रचलेत। गोत्रप्रवरव्यवस्था चेयमापस्तम्बाश्वलायनादिश्रौतसूत्रेष्वभिहितेति सर्वत्र तत्र जन्मकृत एव वर्णविभागः प्रसिद्धिमापद्यते। यत्तु पश्चाद् गोत्रमविज्ञायापि सत्यव्यवहारसन्तुष्टेन भगवता गौतमेनोपनीतः सत्यकामः, तदिदमसाधारणेन सत्यभाषणेन तस्य ब्राह्मणवीर्यजन्यत्वमनुमायेति बोद्धव्यम्।

'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति'

इत्यादिना सत्यभाषणेन ब्राह्मणत्वानुमानस्य स्फुटमवबोधनात्। ब्राह्मणत्वानुमानं चेद तत्र ब्राह्मणजन्यत्वानुमानमेव वक्तव्यम्, उपनयनाद्प्राक् तस्मिन् इतो ब्राह्मणत्वासंभवात्। बीजप्रभावेण च केचन विशिष्टगुणभाजस्तत्रैव जन्मनि ब्राह्मणत्वादिना व्यवह्रियन्ते इत्युक्तमेव पूर्वम्। वस्तुतस्तु जबालाया वेश्यात्वप्रकल्पनमपीदं नैकान्ततः प्रामाणिकं भवितुमर्हति स्पष्टं तथोक्तेरभावात्। 'अतिथीन् बहुधा परिचरन्ती (तत्कार्ये एव नियुक्ता) अहं यौवन एव त्वामप्रापम्, (तदुत्तरन्तु त्वत्पितुर्विरहात्) न गोत्रप्रश्नायावकाशो मयाधिगतः' इत्यपि

सर्वालोकेस्तात्पर्यसंभवात्। आस्तां नाम कथमपि, न तूपनिषत्काले योनिकृता वर्णव्यवस्था कथयानया प्रतिबद्धु शक्येति प्रतिपादितमेतत्। यथा चोपनिषत्सु—

'ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वे'

त्यादिना योने प्राधान्यं स्पष्टमुपदर्शितं तथा निदर्शितमेव पुरस्तादिति नेह पुनः पेष्टुमुचितम्। यच्चेदं शौनकस्य कुले चत्वारोऽपि वर्णाः समुत्पन्ना इति पुराणानि प्रमाणयता समर्थितम् तदपि नास्माकं प्रातिकूल्यमावहति। एकस्यैव विभिन्नवर्णासु भार्यासु चतुर्णामपि वर्णानामुत्पत्ते सुतरां सम्भवात्। आसीत्किल पुरा उत्तमस्यापि वर्णस्यावरेषु वर्णेषु विवाह, स्मृतिप्रसिद्धत्वादस्यार्थस्यापलपितुम् अशक्यत्वात्। ते चैते सङ्करजाताः कश्चिद्विशिष्यपितृवर्णाः, सामान्येन तु मातृसदृशवर्णा एवा गण्यन्ते इति प्रसिद्धं स्मृतिषु। सत्यमेवंविधो विवाहः कलौप्रतिषिद्ध इत्यन्यदेतत्। अतिपुरातने च सृष्ट्यादिकाले केषाञ्चिदुत्कृष्टगुणाविभवन्धाद्वर्णपरिवर्तनमप्यासीदित्युपपादितमधस्तात्। श्रुतिमनुसृत्य तदात्व एव किल सर्वे धर्मा विधिप्रभेदैर्महर्षिभिर्व्यवस्थापिता इति सर्वैरप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यमेव, सृष्टे पुरानुष्ठानामेवाभावे धर्मव्यवस्थाया अभित्तिचित्रायमाणत्वात्। व्यवस्थाप्रारम्भे च कियन्तं चिरकालमवस्थैव तत्र विशृङ्खलेति कः प्रज्ञाशीलो नानुमन्येत। ततश्च तदानीन्तनीं कृचिद्वृत्ता निदृष्टामुपादाय वर्तमानेऽपि समये सर्वधर्माणामुपहननमिदमत्यर्थमप्राप्तं नाम। तस्मात्कृतयुगे यथाविधेव वीतहव्यादीनां केनचिद्विशिष्टकारणेन वर्णपरिवर्तने पुराणानुवर्णितेऽपि तदुत्तरं सुदृढव्यवस्थानिबद्धतया नेदानीं तथा कर्तुमुचितं स्यादिति सुसूक्ष्ममालोचयन्तु सुधियः। ये तु महानुभावा बृहद्देवतादिवर्णितानां मन्त्रसूक्तादिद्रष्टृणामृषीणां समयेऽप्यभ्युपगम्य वर्णव्यवस्थां पुनरप्याधुनिकत्वमेव तस्यामारोपयन्ति त इमं आग्रहपरतन्त्राः सर्वथा प्रणम्या। मन्त्रद्रष्टॄणां समयोऽपि चेदधुनातनत्वमर्हतीयस्तदा कोऽयं प्राक्तनः समय इति दुर्विवेचमिदं प्रेक्षावताम्।

यच्चैव स्वमतोपष्टम्भकतया वज्रसूचिकोपनिषत् प्रमाणीक्रियते—तत्र शमदमाद्युपेतस्यात्मतत्त्वविद एव ब्राह्मणत्वस्योपपादितत्वात्। तदिदं परीक्षकम्मन्यानामतिपिष्टपिहितमुपहासास्पदं कार्यम्। प्रसिद्धेषु शतपथादिब्राह्मणेष्वपि पूर्णतया ऽनाश्रद्धेर्वज्रसूचिकोपनिषत्प्रमाणीकरणमिति सत्यं चिन्तितमात्रेण। लोकव्यवहारानुरोधेन किल लोकप्रसिद्धोपन्यासः, स्वयमपि चाभ्युपगम्यते तथैव। ततश्च किं तदुल्लेखेन विवक्षित प्रयोजनमिति जानन्तु त एव। आस्तां वा तस्याः प्रामाण्यम्, अथापि तूपनिषत्सु ज्ञानकाण्डस्यैव मुख्यतया प्रतिपाद्यत्वात् विधितत्वादात्मविज्ञानमुपस्तौत्यात्मविद एव तत्र ब्राह्मणत्वमाख्यातम्। तच्चेदं मुख्यं ब्राह्मणत्वमस्तु तत्रैव, व्यावहारिकं तु ब्राह्मणत्वमितरत्रापि नैवानया प्रति-

पैद्धं शक्यम्—ब्राह्मणोद्देश्येन विहितानां सर्वेषामपि श्रौतस्मार्तादिकर्मणां विरोधापत्ते । तत्रोक्तलक्षणस्य ब्राह्मणस्य प्रयोजनाभावेन कर्मस्वधिकारासिद्धेः तत्रैव च 'इन्द्रार्थतोक्ते' कर्मानधिकारस्य स्फुटं सूचितत्वात् । नाप्यब्राह्मणानां ब्राह्मणत्वावाप्तिप्रत्याशाऽनयोपनिषदा कार्या, अब्राह्मणानामनधिकारेणैव तादृशशमदमादिसंपत्तु आत्मतत्त्वज्ञाने चाप्रवृत्तेरिति नास्ति कोऽपि विरोध । एवं यावद महाभारतस्य पद्यद्वयं पुनः पुनरुदाह्रियते—

> ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु ।
> दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवत् ।
> यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ।
> तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ।

तदपि नूनं विपरीतमेव कल्प्यं उदाहरणम् । पूर्वपद्ये हि पतनीयेष्वपि कर्मसु वर्तमानस्य ब्राह्मणस्य शूद्रसादृश्यमात्रमभिधीयते—न तु स्पष्टं शूद्रत्वमुररीक्रियते न वा ब्राह्मणत्वं प्रतिषिध्यते । कर्ममूलके हि जातिविभागे शूद्र एव स इति किमिदं शूद्रसादृश्याभिधानम् ? उत्तरार्धे च प्रशस्तगुणं शूद्रं ब्राह्मणमहं मन्ये इत्येवोक्तम्, न तु लोकेऽपि स ब्राह्मण एवेति व्यवहारतम् । अहं मन्य इत्युक्त्या च स्फुटमारोप एव बोध्यते—मुखमहं चन्द्रं मन्ये, ज्योत्स्नाधवलितां च रात्रिं दिनं मन्ये इत्यादिवत् । आरोपस्य च सादृश्य एव पर्यवसानम्—इति नैव च पूर्वस्मादतिरिच्यते । तत्र तत्र नीचोच्चसादृश्याभिधानन्तु कर्मणामुपस्तुतये तत्प्राधान्यावबोधनायोचितमेवेति वयमप्युररीकुर्मः । न हि योनिमात्रमाश्रित्यैवौदासीन्यादपि परित्यक्तकर्मानुष्ठानैरेव मान्यमिति मतमस्माकम् । सर्वथापि तु कर्ममूलक एव विभागो जातीनां न सिद्ध्यति, योनेरपि शास्त्रेष्वपेक्षितत्वेनाभिधानादित्येव वयमभिप्रेम । यदि हि कर्ममूलक एव विभागः स्यात्तदा भवदुदाहृतेष्वेषु वाक्येषु विकर्मणो ब्राह्मणः पतनीयेष्वित्येव, ब्राह्मणशब्देन धर्मानुष्ठानपरस्य च शूद्रशब्देनाभिधानमेव कथं स्यादिति दत्तकुशलितैव विचार्यतां शाङ्कुमुच्य पक्षपातम् । यदा हि विकर्मस्वपि ब्राह्मणत्वादिकमभ्युपगम्य केवलं निन्दामात्रं तेषां स्वाभिप्रेयते—तदा किमितः परं तदन्य योनिसिद्धे जातिविभागे प्रमाणं स्यात् । बहूनि चैवंविधानि वाक्यानि पुरस्तादेवोदाहृतानि व्यवस्थापितानि चेत्युपरम्यतेऽत्र विस्तरभिया ।

तदित्थमुपनिषत्स्मृतिपुराणादिषु सर्वथोत्पत्तिमूलक एव जातिविभागोऽभ्युपेत इति बहुधैतत् प्रसाधयाम । अत्र तु ये तावदित्थं प्रत्यवतिष्ठेरन्—न वयं स्मृतिपुराणादीनां, ब्राह्मणानां, तद्भागानामुपनिषदां वा प्रामाण्यमवलम्ब्य प्रवर्तामहे । श्रुतिमूलकान्येव तु तद्वाक्यान्युपपन्नमतयोदाहराम । श्रुतिविरुद्धे चार्थे सत्ये

षामप्रामाण्यमेवापेक्षणीयम्। श्रुतिपदवाच्यासु चासु ऋगादिसंहितासु नैव योनिमूलकं चातुर्वर्ण्यं क्वाप्युपलभामहे इति सत्स्वपि तदन्येषु स्वतः प्रमाणेषु न तदुररीकर्तुं पारयाम, श्रुतिपरतन्त्राणां स्मृत्यादीनां स्वातन्त्र्येण प्रमाणभावासंभवात्। ततश्च श्रुत्यनुगत एवार्थे व्यवस्थापनीया ब्राह्मणस्मृत्यादयो ग्रन्था, स्फुट विरुद्धस्य चांशस्याप्रामाण्यमेवोपगन्तव्यमिति नैतदवलम्बेन योनिसिद्धो जातिविभागो ऽभ्युपगन्तु साम्प्रतम् इति। तान् प्रतीत्थमुत्तरणीयम्। यदि हि संहितावलम्बेनैव प्रवर्तन्ते ऽत्रभवन्तस्तदा नूनं गुणकर्ममूलकोऽयं जातिविभाग क्वोपलब्ध श्रीमद्भि, न हि केनचिदपि मन्त्रेण गुणकर्ममूलको जातिविभाग स्फुटं साधयितुं सुशक। कर्णधारोपि स भवतामिममर्थमुपष्टम्भयितुं बलादाकृष्याकृष्याऽऽर्थे कयमप्यसभव त्यपि ब्राह्मणस्मृतिवाक्यान्येवोदाजहार—

'ब्रह्म हि ब्राह्मण' 'क्षत्रं हीन्द्र' 'क्षत्र राजन्य'।

इत्यादीनि।

व्याचख्यौ च—ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्तमानो विद्यायुत्तमगुणयुक्त पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति। तथैव क्षत्र क्षत्रियकुलम्, य पुरुष इन्द्र परमैश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्पर क्षत्रियो भवितुमर्हति' इत्यादि। एतानि च ब्राह्मणवाक्यानि नाब्राह्मणेऽपि गुणकर्मयोगाद् ब्राह्मणत्वविधायकानि भवितुमर्हन्ति, प्रसिद्धार्थसमर्पकहितशब्दघटितस्या तस्तामेव ब्राह्मणक्षत्रियादिगुणानां व्यापकत्वात्।

'ब्राह्मण एवंविधो भवति'

'क्षत्रिय एवंविधो भवती'

त्यादेव किल वाक्यानामेषा तात्पर्यम्, न तु य कश्चिदेवंविध स एवास्तु ब्राह्मण इत्यर्थे किमपि प्रमाणमुपपश्याम। वस्तुतस्तु य एषां वाक्यानां मुख्य स्वारसिकोऽर्थ स पुरस्तादुपपादित एव—

'ब्रह्मणोऽग्निदेवताया सम्बन्धेन ब्राह्मणत्वम्, बलदैवतस्येन्द्रस्य च सम्बन्धेन क्षत्रियत्वम्'

इत्यादिरूप। इत्थमि चास्मिन्नर्थे यथा कारणगुणा कार्यगुणानारभन्ते इति न्यायेन योनिसिद्धैवावस्थितिर्वर्णानां प्रसिद्ध्यति तथैतत्सर्वं पुरस्तादेवोपपादितमित्यालामेतत्। ऋगादिसंहितासु तु गुणकर्ममूलकस्य वर्णविभागस्य स्फुट प्रतिपादक न किमपि मानमुपपश्याम। प्रत्युत—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'

इत्याद्या श्रुति स्पष्ट योनिसिद्धमेव विभाग वर्णानामभ्युपगच्छत्येव। अर्थान्तरपरत्वमस्या भवेदिति चेत्किं तत्र मानमिति पृच्छाम। स्वत प्रमाणभावा हि

भगवती श्रुति कुत इयमर्थान्तरपरत्वमुपनीयते ? त्वयाऽप्यर्थान्तरपरत्वमेवास्या व्यवस्थापितमिति चेद् ब्राह्मणस्मृत्याद्येकवाक्यतया वयमर्थं व्यवस्थापयाम । भवता तु केवल श्रुतीना प्रामाण्यमभ्युपयताऽर्थान्तरपरता दुरभ्युपगमा । यच्चेदमर्थान्तर मभ्युपगतमृग्भाष्यभूमिकायाम्—

"अस्य पुरुषस्य मुख ये विद्यादयो मुख्यगुणा सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति, बलवीर्यादिलक्षणान्वितो राजन्य क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति, कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम्, पद्भ्या पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादद्गुणेभ्य शूद्र सेवागुणविशिष्ट परा धीनतया प्रवर्तमानोऽजायत जायते इति वेद्यम्' इति । इतोऽर्थात् परमेश्वरस्य विद्यादिगुणेभ्यो ब्रह्मादिषु विद्यादिगुणानामुत्पत्ति प्रसिद्ध्यति । तत्रेदमनुयुज्यते— न खलु भवद्दर्शने जीवोऽयमीश्वरस्यांश ईश्वरादुत्पन्नो वा, जीवप्रकृतीश्वराणां वस्तुत पृथग्भूतानामेव नित्यत्वस्य भवद्भिरुपगतत्वात्, ततश्च कथ वेश्वरस्य विद्यादिगुणेभ्यो जीवस्य विद्यादिगुणानामुत्पत्ति ? कारणगुणानामेव कार्यगुणोत्पादकताया प्रसिद्धत्वात् । उपदेशद्वारेण जीवे समुत्पादिता परमेश्वरेणैते गुणा इति चेत्तथा सति मुख ब्राह्मण इत्याद्युपचाराणमव प्रथमो दोष । उपादानगुणानामुपादेय- गुणैरभेदोपचारस्य दर्शनेऽपीतरत्र तथात्वासम्भवात् । विद्यादीना चोपदेशे कथ चिद्धेतुत्वेऽपि बलव्यापारादीनामुपदेशे हेतुत्वगन्धस्याप्यभावाद् बाहू राजन्य इत्याद्युपचारा सर्वथाऽसङ्गतार्था प्रसजेरन् । क चेमे जडबुद्धित्वादयो गुणा शूद्रस्योपदिष्टा ? इत्यपि प्रदर्शनीयमापतति । सति च समानेऽप्युपदेशे कुत कश्चिदेव केषाञ्चिद् गुणानां वैशेष्याधाप्रादुर्भाव इत्यपि कारणासम्भवाद् दुर्वचम् । स्वभावात्तत्र विभिन्नाना गुणानामुत्पत्तिरिति चेत्स्वभाव एव तर्हि तत्तद्वर्णत्वे हेतुर्नेश्वरोपदेश इतीश्वराद्युत्पादिकमेषामसङ्गत प्रलपनम् । न चेदानीन्तनेभ्यस्तत्त द्वर्णेभ्य ईश्वर साक्षादुपदिशतीति तद्गुणानामीश्वरगुणजन्यत्वासम्भव एव । तस्मा न्मदुक्तपूर्व एवार्थोऽस्य मन्त्रस्य स्वारसिक । ईश्वरांशस्य जीवस्य तद्गुणाना मीश्वरगुणजन्यताया सुतरा स्वारसिकत्वात् । सा चेत्थ जीवगुणानामीश्वरगुणजन्यता सृष्ट्यादौ स्वत एव, तदुत्तरन्तु पित्रादिपरम्परयैव पुत्रादिषु तत्तद्गुणोत्पत्तिरिति योनिसिद्ध एवायमापतितो वर्णविभाग ।

ननु च भो किमेतद् भूयो भूय उद्घुष्यते—पित्रादिगुणजन्या पुत्रादिषु ते ते गुणा इति, अत्रैव विप्रतिपद्यन्ते सर्वेऽपि दार्शनिका । शरीर मात्रनिष्ठो हि पुत्रपित्रादीना कार्यकारणभावो, न ■ कथमपि जीवनिष्ठ । पुत्र जीवस्य पितृजीवजन्यताया केनाप्यनभ्युपेतत्वात् । ततश्च स्थूलशरीरगता केचन गुणा पित्रादीना पुत्रादिषूपसङ्क्राम्यन्तु नाम, विद्यादय शक्तिविशेषास्तु नैव

कस्यापि पुत्राद्युपसंक्रमितुमर्हन्तीति निरुपपत्तिकोऽयं योनिसिद्धो वर्णविभाग इति चेन्मैवं वोचः । नास्ति यद्यपि जीवानां परस्परं कार्यकारणभाव इति सत्यमेतत् गुणा अपि त्विमे वर्णत्वप्रयोजकतया भवद्भिरभ्युपगम्यमाना न हि जीवमात्रनिष्ठा भवितुमर्हन्ति, परमात्मजीवात्मनोरुभयोरपि केवल्योर्निर्गुणत्वस्यैव वेदान्तसिद्धान्तसिद्धत्वात् । ततश्च शरीरत्रयविशिष्टे त्रितयान्यतमविशिष्ट एव वा जीवे ते ते गुणा आस्थेयाः । तत्र यद्यपि स्थूल एव शरीरे मुख्यः पितृपुत्रयोः कारणकार्यभावः, अथापि तु मृगमदवासितवसन इव सौरभं सूक्ष्मादिशरीरशक्तिविशेषा अपि पुत्रादिशरीरमुपसंक्रामन्तीति प्रत्यक्षसिद्धो दुरपह्नवोऽयमर्थः । अत एव च—

'वाचं मे त्वयि दधानि'
'मनो मे त्वयि दधानि'

इत्याद्या श्रुतिरपि संगतार्था भवतीति कृतं बहुना । ततश्च सर्वथोपपत्तिसिद्धो मन्त्रसिद्धश्चायं मे वर्णानां योनिकृतो विभागः । अन्यत्रापि च बहुत्र वर्णानां विभागः श्रूयते मन्त्रेषु, ब्राह्मणादीनां क्रमिक उत्कर्षोऽपि तत्र तत्र श्रूयत एव—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥
(अ. २०. २५)

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥
(अ. ५. १८. ६)

तथा च मन्त्रभागस्य पर्यालोचनादपि जन्मसिद्ध एव वर्णविभागः प्रतिपद्येत,—नतु गुणकर्ममूलके जातिभेदे तत्र किमपि मानमुपदर्शयितुं शक्यम्; सुदृढतामापन्न एव हि विभागे ।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्' ।
'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'
'न ब्राह्मणो हिंसितव्यः'

इत्यादयो व्यपदेशाः प्रवर्तितुमर्हन्ति नेतरथेति स्वयमेवं तावदालोच्यतां दरमुकुलितनेत्रम् ।

शाब्दिकमूर्धन्याः पाणिनिमुनिप्रभृतयोऽपि चेमं ब्राह्मणादिशब्दव्यवहारं जन्मसिद्धमेव द्रढयन्ति । तथाहि—भगवान् पाणिनिस्तावद् ब्राह्मणशब्दसंसिद्धये—

'ब्राह्मोऽजाताविति'

पर्युदस्यन् ब्राह्मणशब्दस्य जातिवाचकत्वं स्फुटमेवाभ्युपैति । कात्यायनोऽपि—

'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः'

रिति वार्तिके शूद्रपदस्य जातिवाचकत्वमभिदधत् पुंयोगाख्यावृत्तये क्रियमाणेन जातिग्रहणेन शूद्रभार्याऽप्यशूद्रजातिर्भवतीति स्फुटमुपदर्शयंश्च जन्मसिद्धमेव वर्णविभाग वार्त्तिकमेनमभ्यनुजानाति ।

> 'शूद्राख्यातनिर्ग्राह्य'
> जातिलक्षण वृषलादिषु समगमयतो
> 'योनिर्विद्या कर्म च'

इत्यादि पूर्वोक्ता स्मृतीरन्यत्रोदाहरतश्च भाष्यकृतस्तु कैव कथा गुणकर्ममूलक वर्णविभागाभ्युपगमे प्रति । अथोच्येत—आरोपिता एवैत आचार्याणामेषा ब्राह्मणादिषु जातिव्यवहारा इति, तत्रेत्थं प्रतिवक्तव्यम्, सन्तु नामारोपिता एव, तस्य समारोप किंहेतुक इति पृच्छामः । न खलु सादृश्यमन्तरारोपः क्वापि दृष्टचरः । तत्तत्कर्मविशिष्टेषु बहुषु ब्राह्मणादिष्वेकबुद्धिप्रयोजकत्वमेव जातिसादृश्यमिति चेत्तदेतदबोधविजृम्भितम् । कर्मणां स्वत एवैकबुद्धिप्रयोजकतयाभ्युपगमात्तत्र जात्यारोपे स्वारस्यानुपलब्धेः । जातिर्गुणः क्रिया यदृच्छा चेति चातुर्विध्यमाहुः स्वमते शाब्दिकाचार्याः, अत एव शब्दानामपि चातुर्विध्यमेवाभ्युपगतं भगवद्भिर्भाष्यकृद्भिः । यदि कर्मैव प्रवृत्तिनिमित्तमवलम्ब्य ब्राह्मणादिशब्दा इमे प्रवर्तेरन्—तर्हि क्रियाशब्दत्वमेषां प्रसज्येत न तु जातिशब्दत्वं कथमपि । न हि पटुषु पाचकेषु समानबुद्धिं प्रयोजयन्त्यपीयं पचिक्रिया जातिरित्यनुमन्यते केनापि सचेतसा । ततश्च जननसिद्धत्वमेव जातिशब्दस्य ब्राह्मणत्वादीनां निर्विशङ्कमुररीकार्यम् । यच्चाप्यत्र कर्मकरेषु लोहकारादिषु जातिव्यवहारः सोऽपि जननसिद्धत्वनिबन्धन एवेति कृतमतिविचारितेन विस्तरेण ।

तदित्थं मन्त्रब्राह्मणोपनिषत्स्मृतिपुराणसूत्रभाष्यादिभिः सर्वैरपि जन्मसिद्ध एव विभागो वर्णानां प्रसिद्ध्यतीति बहुधैतद् विचारितम् ।

अथैवं श्रुतिस्मृत्यादिभिः प्रमाणैः प्रसाधितेऽपि जन्मसिद्धे ब्राह्मणादिजातिविभागे ये तावच्छब्दमात्रेऽप्यविश्वसन्तः केवलाभिरुपपत्तिभिरेव धर्माधर्मविनिर्णये कृतसन्नाहाः सुखसाधनविहेतुतां जातिविभागेऽस्मिन्नारोपयन्तः प्रत्यवतिष्ठन्ते, तान् प्रत्यपि किञ्चिद्वक्तुमिच्छामः । तत्र तावद्वर्णविभागफलमूलमिदं विमृज्य कार्यकारण कथमपि नावनतिसाधकं प्रत्युतोन्नतय एव परमुपयुज्यमानमिति सम्प्रतिपद्येत सर्वैरपि प्रज्ञाचणैः । न हि परस्परमङ्गाङ्गिभावमनुप्राप्तानि विद्याबलव्यापारादिकार्याण्येकेनैव पुरुषेण शक्यानि सर्वाणि प्राधान्येन सम्पादयितुम् । यद्यपि स्वयत सर्वा अपि शक्तयः सर्वत्रैव कार्येषु कथञ्चन समपेक्ष्यन्त इति सत्यम्—व्यापारे बलविद्ययोर्बलेऽपि विद्याया विदुषोऽपि च योगक्षेममात्रकृते बलव्यापारादीनां शुश्रूषायामपि च सर्वेषामपेक्षाया सुस्पष्टमनुभवसिद्धत्वात् । न ह्यन्यासामेकान्ततो

विरह एकैकशक्तिकृतानि कार्याण्यभ्युदयमासादयितुमर्हन्तीति । अथापि स प्राधान्याप्राधान्यकृतः सुमहान् विशेषः सर्वैवानुसन्धेयः । न हि प्राधान्येन सर्वा अपि शक्तयः कस्मिन्नेकस्मिन् विकासमासादयेयुः, न च तदन्यशक्तिसाध्यानि प्रधान-कार्याणि कश्चिदप्येक एव सम्पादयितुं प्रभवेत् । यस्तु कश्चित्कदाचिदालोक्यते सर्वासामपि शक्तीनामेकत्र विकासः सोऽयं महानाश्चर्यभूतः प्रयोजक कश्चिदुपलभ्यमान तयैवाप्रकृत इति प्राकृतव्यवस्थायामपरिगण्य एव । प्राकृतास्तु वैशिष्ट्यभाजोऽपि जना गुणभावेनान्या शक्तीरन्यान्यैकैकशक्तिकार्याण्येव विदधानास्तत एव च पर वैशिष्ट्यमाप्नुवन्त उपलभ्यन्त इति सर्वेषामपि दृग्गोचरोऽयमर्थः । सर्वासामपि चासां प्रधानशक्तीनां प्राधान्येनैव विकासस्तत्तद्देशानानुगतौ प्रयोजक इति तत्तद्देशेऽस्य विभागस्य कार्यंकरत्वमेव समपेक्षितं भवति । अत एव च वर्णव्यवस्थितेरुन्नतासु च देशेषु समालक्ष्यत इव विभिन्नकार्यंकरणपरिपाटी । न हि क्वापि विद्याबल-व्यापारादीन्येकेनैवालम्ब्यन्ते, विभक्तैव समुपलभ्यन्त इति । भिन्नान्यपि च तानि तानि विभिन्नैरेव सर्वैः सर्वत्र समाद्रियन्ते । ततश्च वर्णजातिविभागस्य मुख्या शैलीय तावन्न कथमपि विरुद्धा स्यादुन्नतेरुपपत्तिशीलतया वा । केवलमिदमवशिष्यते विचारयितुम् जन्मनिबद्धत्वमस्य वर्णजातिविभागस्य यद्भारतीयैश्चिरादुपगम्यते, तदिदमुन्नत्यनुगुणं ततो विरुद्धं वेति । तत्र सर्वथोन्नतेर्विरुद्धोऽयं जनननिबद्धो जातिविभाग इति बहूनामाधुनिकानां बुद्धिः । अनुकूल एव त्वयमुन्नतेरिति पुरातनपथपरिशीलिनोऽभ्युपयन्ति । तथा हि उन्नतिविरोधिन्यस्मिन् जननविबद्धे जातिविभागे फलबलाद्वा कल्प्यत उपपत्तिबलाद्वा । यदि ह्यवनतमिदानीं भारतवर्ष लोक्य तत एव एतद्धेतुताऽस्मिन् जातिविभाग आरोप्यते तर्हि तदिदमन्याय्यं विपरीतं च । यदा हि सर्वशक्तिसमृद्धिभाजो भारतस्य सर्वाङ्गपूर्णा समुन्नतिरासीदिति सर्वैरपि समुद्घुष्यते तदापि (पुरातने काले) सुदृढोऽयमासीज्जननिबद्धो जाति विभाग इतीतिहासादिभिः प्रमाणयामः । यदि हि जातिविभाग एवायमुन्नते प्रतिबन्धकोऽभविष्यत्—कथंकारं तर्हि पुराप्यस्य भारतस्योन्नतिं समपत्स्यत । अद्युत यदानीं नियमबलोपयतोऽवनतौ परा काष्ठा सेयं धर्मविभागशैथिल्यमूलिकैवेति शक्यतेऽभिधातुम् । अत एव प्रभृति तत्तद्वर्णोचितेषु कार्येष्वौदासीन्यमालम्बित भारतीयैस्तत एव मुन्दामिलेभिवद्धाः पारम्पर्यमुखमन्वेति क एतन्निषेद्धुं शक्नुयादितिहासतत्त्वान्वेषक । कार्यनौदासीन्ये तु हेतुर्बौद्धादिविविधमतप्रचार इति विज्ञानस्यैव चिन्ता ।

इदं तु तावदाधुनिकानां केषाञ्चिन्महानुभावानां पक्षपातमात्रं यदिमे तत्तत्स्वाभिमतधर्मप्रचारमाहिम्ना जन्मतस्तदभक्तानामेव साम्प्रतिकीमवनतिं भारतस्योद्घोषयन्तीति । अत एव केचन विधर्माणां पुनरुद्धारं कामयमानास्तदभावादेव भारतमवनमन्ति । परे तु प्रतिमा एव प्रतिद्विषन्तस्तदर्चाया एव विरोधं सर्वं

मननविमारोपयन्ति । तथैवान्ये जातिविभागमेवोच्छेत्तुमुत्साहवन्तस्तमिममननतिहेतुं मुनन इति कथमेतदुपचितविनाकृत मन्यीयेत ? वस्तुतो विद्याद्विविधधर्मसायैस्तया यभावस्यैवावनतिप्रयोजकता विज्ञसम्मतेति । तस्मात् पञ्चलान्जानिविभागरनाव नतिहेतुत नैव शक्यते समर्थयितुम् । अथोपपत्तिविकल्पादुच्येत, तदपि नैव विचार सहम् । यदा हि विभज्य कार्यकरणमुन्नतत्वानुगुणं सुसिद्ध तदा तस्य कुलपरम्परा नियतत्वे कोऽयमुन्नतिविरोध इति नैनन्नजातु प्रमाम, प्रत्युत परित्यज्य कुलपरम्परानियतत्व यदीच्छयैव कोऽय विभागो नियम्येत, तर्हि स्वकर्मसु प्राये-च्छया अनुदयादवरकर्मकरा सुदुर्लभा सपद्यरन् । अयोग्यानामपि चोत्कृष्टो चितेष्वेव कर्मस्विच्छया प्रवृत्ति स्यात्, तानि च कर्माणि स्वदक्षभावाद्यथावास पादयितुमनर्हास्ते इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट इति न्यायमेव पदे पदे चरितार्थयेयु ।

प्रवृत्ताया च सर्वतोमुख्या विशृङ्खलतायां कथोन्नते प्रत्याशापि । अथ परीक्ष्यैव तत्तत्कार्योचितास्तत्तत्कार्येषु समाजव्यवस्थया नियम्येरन्निति चेत्तदिद परीक्षाकार्य कीदृश गुरुतर कष्टसाध्य सम्भवितुमपि कथ शक्नोतीति दरमुकुलितनेत्र मवन्त एव विचारयन्तु, किंच तत्त उत्कर्षपुष्टयोपयोगिन सस्कारा आहारविहारा दयश्चाबाल्यमेव तत्तद्वर्णानां भारतीयैर्विभिन्नतया नियम्यन्त इति कथ तदापि योग्यतापरीक्षण प्रसरेत् ? अथ ब्रूयु —विभिन्नाहारविहारादिकथैवयमप्रयोजि काऽवनतिसाधिका च, तदभावेऽपि बहुषु देशेषु प्रचुरतरोन्नतिदर्शनादिति, तदिद मेकान्ततोऽनवधेयमेव धर्मैकजीवितानां भारतीयानाम् । न खलु भारतीया ऐहिकोन्नतिमात्रेण कृतार्थम्मन्या । परलोकेऽपि प्रतिपद सुन्दरतरोऽस्तीति विश्वास । अत एवैते विशुद्धसत्त्वादिसरक्षणाय विरुद्धतत्तद्दोषसक्रमणनिवृत्तये च नाहारा-दिसाकर्यं रोचयन्ते । देशप्रकृतिमनुसरत्य चैषां तत्तदुत्कर्षपुष्टये विभिन्नाना मेवाहारविहारादीनामपेक्षेति नैतदप्रकृतमिह विस्तरभयाद्विवरीतुमिच्छाम । तत्रैव विषयविवेकाक्लिन्यत्र भारते कुलपरम्परानियतेनैव वर्णविभागेन सम्भवति गतिरिति सुदृष्टमनालोच्यता सुधीभि । एकस्मिन्नेव कुले पितृपुत्रादीनां विभिन्नवर्णता यदि स्यात्—कथ तर्हि तत्तदनुकूलाहारविहारादिसामञ्जस्यमुपपद्येत । अभिनवमतकर्ण धारोऽपि स विद्वानाशङ्कितवानिमा विशृङ्खलाम् । "शूद्रत्वमुपगता ब्राह्मणादीनां सुता कथ वा विवादि कार्याणि निर्वाहयेयु, कथ च सत्स्वपि सुतेषु कुलानि न नश्येयुरिति ।" आग्रहवश्यवदस्तु परतो "ब्राह्मणादय समाजव्यवस्थानुरोधे नान्यान् स्वानुरूपान् पुत्रान् प्राप्नुयु" रिति समादधे । अहो स्वीयशुक्र शोणितसम्भूतानां सर्वथा स्वीयानां वर्णान्तरतया परित्यागोऽन्येषां सर्वथाप्य सदृशानां पुत्राणां स्वनिर्वाहायोपग्रहणमिति कियदिय समाजव्यवस्थाया सामञ्जस्य प्रदर्शित द्रष्टव्यमुद्घाट्य चक्षुषी । किं चान्यत्—'कारणगुणा कार्यगुणा नारभन्ते' इति प्राकृतिकनियमानुगृहीत कुलपरम्परायातशक्तीनां वैशिष्ट्यमपि

वर्णविभागेऽस्मिन्मूलभूततया बहुशः प्रागेव समुदस्तमिति तद्विहाय प्रकृतिविरुद्धयादृच्छिकनियमाभ्युपगमे किं निदानमिति चिन्त्यमिदम्। यत्तु वदन्ति—अनेकशोऽनुभूतव्यभिचारोऽयं नियमः, बहूनामेव ब्राह्मणादिकुलजातानां ब्राह्मणादियोग्यतानुपलब्धेः, बहूनामवरवर्णानामप्युच्चतरयोग्यतोपलब्धेः। अत एव परित्याज्योऽयं जन्मसिद्धो जातिविभागः, अयोग्यानां तत्तत्कर्मसु प्रवेशनेन योग्यानां च प्रवेशप्रतिबन्धेन तत्तत्कार्योन्नतेः प्रत्याशाया अपि दूरापेतत्वात्। किञ्च सत्कुलजननमात्रेण कृतार्थमन्यास्तज्जन्ममात्रेण चाभ्युदयमिवाप्यालस्यवशंवदा उच्चवर्णा न स्वोचितेषु कार्येषु कथमप्यवदधतीति सेयमपि दुरवस्था जन्मकृताज्जातिविभागादेव। कर्मकृते विभागे कर्मणामवश्यविधेयत्वेन भवेदादरस्तत्कामुकानामिति नायं दोषः प्रसरेत्। न च योनिमात्रगर्विता उत्तमंमन्या वर्णा अवरवर्णेषु वाङ्मात्रेणाप्यादरं दर्शयितुमुररीकुर्वन्तीति क्व वराकी पारस्परिकप्रेमकथा। परस्परप्रेमवञ्चिताश्चानवरतमनैक्यमनुभवमाना अवनतेरेव भवन्ति भोज्या इति समुत्सारणमेवायमर्हति जन्मसिद्धो जातिविभाग इति।

अत्रेत्थं प्रतिवक्तव्यम्। अवश्यं वर्तमानेऽस्मिन् समये दुर्दैववशादभूता इमे दोषाः, समुत्सारणीयाश्चैतेऽवश्यमुन्नतिकामुकैरिति सर्वेऽप्यभ्युपगच्छन्ति विचारदक्षाः। केवलन्तु दोषमात्रं समुत्सार्य रक्ष्यं रक्षणीयमिति मतिमतां पन्थाः। न तु दोषाः समूला इति क्षयस्यैव समुत्सारणीयाः। अव्यवस्थाया हि दोषाः प्रसरन्तीति दोषानपनेतुकामैर्व्यवस्था सुदृढं नियम्या, न तु कथञ्चनावशिष्टापि सा समूलमुन्मूलयेति केनापि प्रेक्षावतानुमन्तव्यम्। समाजसंस्कारस्तावदिदानीं नव्यानामिव प्राक्तनपरिपाटीप्रणयिनामप्यभीप्सित एव। उभाभ्यामपि च संस्काराय यत्नोऽप्यवश्यमेवास्थेयः। न ह्यन्तरेण यत्नं केनापि प्रकारेण यत्किञ्चिद्विधोऽपि संस्कारः सेत्स्यतीति। तथा च तेनानेन यत्नेन पूर्वसिद्धैव सुव्यवस्था नियम्यताम्, न त्वथापि स्थितायास्तस्याः प्रथमं समुत्सारणे तदुत्तरं चाभिनवायाः प्रवर्तने द्विगुणो यत्नभरः शिरस्यारोप्यतामिति मतिमतां दर्शनम्। पूर्वसिद्धसुव्यवस्थाप्रचारे च सुनियते स्वधर्मावलम्बनेऽवश्यमेव तत्तत्कुलेषु तत्तद्योग्यताभाज एव सुताः समुत्पद्येरन्। उपपत्तिसिद्धस्य प्राकृतिकस्य नियमस्य व्यभिचारस्तावदवश्यं दोषादिजन्य एव वक्तव्यः। न सन्ति ब्राह्मणादिषु सुदृढाः स्वस्वोचितशक्तिसंस्कारा इत्येव ते सुतादिषु नासादयन्ति विकासम्। अस्यामपि तु दुरवस्थायां बहुशः कुलसंस्कारा अनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते इति सुस्पष्टमनुभवदक्षाणाम्—प्रतिपादितं च प्रागपीदम्। कर्मणा च तत्तद्वर्णोचितानामवश्यानुष्ठेयत्वमस्मच्छास्त्रेष्वेव सुदृढं नियमितमिति यथार्थधर्मप्रचारे क्वायं कर्मालस्यदोषोऽनुविन्देत्पदमपि। आस्ता च कर्मनिष्ठानां समाजहृतः परिभव इति तदपि शास्त्रानुकूलमेव। न च यथार्थभूतायां व्यवस्थितौ वर्णानां पारस्परिकविद्वेषकथापि कथंचित्प्रचलेत्। यत्र

वयमीश्वरेणोत्पादितास्तदेव कर्मास्माभिरवश्यम्यमिति यथार्थविश्वासवतानामवर वर्णानामीर्ष्यानुदयात्, प्रत्युतान्यवस्थायामेव प्रसरति विद्वेषकारणी भूता सेयमीर्ष्या। उत्तमवर्णैरप्यवरवर्णेषु दर्शनीय सौहार्दमेव तदधीनबहुतरकार्यभारे। न हि भोजनाद्यैक्य एव सम्भवति सौहार्दम्, न चावरवर्णेषु प्रकटनीया घृणेति कोऽपि वर्णविभागोपयुक्त शास्त्रसिद्धो नियम। आलम्बशता यथार्थधर्मपरायणै सर्वैरपीद प्रतिक्षात्यम्।

यथेमां वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।

सर्वेभ्य एव कल्याणी वाङ् निगद्येत्याज्ञापयति भगवानृषि। तस्मादुपपत्यापि नास्ति कोऽपि विरोधोऽस्मिन् वर्णविभाग इति शिवम्।

तदित्थमुपपत्त्यापि चातुर्वर्ण्यस्य युक्तता।
प्रदर्शितैव दिङ्मात्रमल्प सुविदुषा कृते॥ १॥
वस्तुतो धर्मतत्त्वानामुपपत्त्या विडम्बनम्।
न शास्त्रापेतया न्याय्य मतिमात्रसमुत्थया॥ २॥
सुविचार्य ततो धीरै श्रुतिस्मृत्यनुमोदित।
सम्यगालम्ब्यतामध्वा भगवान् व प्रसीदतु॥ ३॥

प्रमीतपतिकाधर्मालोचनम्

इह खलु लोकान्तरगतपतिकायाः स्त्रियाः को धर्म इति जिज्ञासायाम्—

'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यमन्वारोहणं वा'

इत्यादि वचनजातमनुसन्धाना सनातनार्यधर्मानुयायिनो विद्वांसस्तावद् ब्रह्मचर्यानुष्ठानमेव ताः स्त्रीणां धर्ममुपकल्पयन्ति, तत्र तु विप्रतिपद्यमाना केचिदिदानीन्तना विचक्षणाः पुनरप्युद्वाहं तासामनुमन्यन्ते। आयतते च विषयेऽस्मिन्नव-धियति समाजस्येति बहुभिरपि विद्वत्प्रकाण्डैर्बहुधा विचारितो विचार्यमाणश्चापि विषय एष पुनरपि विचारचक्रमारोपणीय एव। तत्र तावत्केचन धूर्तप्रकल्पितेयमिति समुत्सृज्य शास्त्रमर्यादां समाजान्तरनिदर्शनैस्तर्कावष्टम्भैश्च बहुविधैः पुनरुद्वाहं विधवानां प्रमाणयितुमुद्युञ्जते, तदभावमेव च समाजविप्लवहेतुमङ्गीकुर्वते स्वतन्त्रप्रज्ञाः। अपरे तु धर्मशास्त्राणि कथञ्चित्प्रमाणयन्तोऽपि तत एव तमर्थं साधयितुमनुमन्यन्ते। तत्राद्यानां मते तर्कावष्टम्भैरेव परतो विचार्यम्, धर्मशास्त्राणि तु विषयेऽस्मिन्ननुकूलानि प्रतिकूलानि चेति तावद्विविच्यते। तत्रानुकूल्यवादिनां त्रिधा विभज्यते समुदायः। तथाहि केचित्तावदविशेषात्सर्वासामपि विधवानां पुनरुद्वाहो धर्म्य एवेत्यातिष्ठन्ते। अप्राप्तपुरुषसङ्गानामक्षतानामेव तु पुनरुद्वाहो धर्म्य इत्यपरे प्रतिजानते। अन्ये तु पुनरुद्वाहं प्रतिषेधन्तोऽपि नियोगेन सन्तत्युत्पादनं सर्वदा धर्म इति ब्रुवते, तदेतन्मतं तत्र क्रमेणैवेहालोच्यम्। ये चैषामन्तरा बहुधा भेदास्तेऽपि तद्विवेचन एव स्फुटीभविष्यन्ति।

तत्र सर्वविधानामपि विधवानां पुनरुद्वाहमभ्युपगच्छन्त आद्यास्तावदाहुः प्रमीतपत्नीकानां पुरुषाणामिव प्रमीतभर्तृकाणां योषितामपि पुनरुद्वाहस्तुल्यन्यायेन समुचित एव, उभयोरपि त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) संसाधने परस्परापेक्षत्वात्। ये तु केचिदाधुनिकाः पुरुषाः पुनरुद्वाहमनुजानन्तोऽपि योषितां तं प्रतिषेधन्ति त इमे स्फुटं पक्षपातग्रहग्रहिला न्यायमुत्सृज्य तास्वत्याचरन्तीति कः प्रेक्षावाननुमन्येत। न हि श्रुतयः स्मृतय इतिहासा वा पुनरुद्वाहं स्त्रीणां सर्वथा प्रतिषेधन्ति, अपि तु तत्र तत्रानुमन्यन्त एव। तथा हि श्रुतिस्तावत्—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥

(ऋ॰ सं॰ म॰ १०. २. १८. ८)

मृतस्य पत्युः शरीर उपनिषण्णाया पत्न्या देवरादिभिरुत्थापने विनियुक्त एष मन्त्रः। तथोक्तं गृह्ये—'तामुत्थापयेद्देवरः, पतिस्थानीयोऽन्तेवासी, जरद्दासो वोदीर्ष्व

नार्यभिजीवलोकमिति' (आ॰ गृ॰ सू॰) अस्यार्थस्तु 'हे नारि इतासुम् (मृतम्) एत (पतिमुद्दिश्य किं) शेषे (स्वपिषि) उदीर्ष्व (उत्तिष्ठ) जीवलोकम् भिलक्ष्य उपैहि (पुनरस्मिन् जीवलोके प्रवृत्ता भवेति यावत्)। (इदानीं) त्व हस्तग्राभस्य (पुनस्ते हस्तं ग्रहीष्यत, तवोद्वाहं करिष्यत इति यावत्) दिधिषो (गर्भनिधातुः) पत्युः (भविष्यतस्ते स्वामिन) एतद् जनित्वम् (जायात्वम्) अभिसंबभूथ (प्राप्तासि)।

मृतमिमं पतिमुत्सृज्योत्तिष्ठ, य कश्चित्त्वामभिलष्यति तस्य पत्युस्तस्य सत्व च प्राप्नुहीति स्फुट एवास्यायमाशय । तथा चात्र पुनरुद्वाहः श्रुतौ स्पष्टं विहित एव । अन्यत्र—

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ॥
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
(ऋ॰ १० ४० २)

मन्त्रोऽयं यद्यपि देवताविशेषावश्विनौ विषयीकृत्य प्रवृत्त, अथापि दृष्टान्त विषयाऽत्र द्वितीय उद्वाहो विधवानां सूच्यत एव । तथा च मन्त्रस्यास्यायमर्थः—'हे अश्विनौ युवां रात्रौ क भवथ, दिवा वस्तु क भवथ, क वाभिप्राप्तिं कुरुथ, क वसथ । को यजमान सहस्थाने (यथा) युवां आकृणुते—परिचरणार्थमात्माभिमुखीकरोति । तत्रैव दृष्टान्तद्वयमेतत्—यथा विधवा शयने देवरमभिमुखीकरोति, यथा वा सर्वाऽपि योषा मनुष्यमभिमुखीकरोति तद्वत्' इति । तथा च स्पष्ट मस्मिन्नपि मन्त्रे विधवाया पुरुषान्तरानुवृत्तिरुक्ता । न चात्र देवरस्यैवानुवृत्ति वर्णनान्नियोगपरत्वमस्य घटेत, न तु विवाहपरत्वम्—विवाहस्य येन केनापि पुरुषेण सह जायमानतया तत्र देवरानुवृत्तिनियमाभावादिति भ्रमितव्यम् । देवरशब्दस्यात्र यौगिकत्वेन द्वितीयवरसामान्यबोधकत्वात् । तदाहैतन्मन्त्र एव निरुक्तकारो भगवान् यास्क 'देवर कस्माद्, द्वितीयो वर उच्यते' इति । तस्माद्देवरशब्दस्यात्रद्वितीय पुरुष एवार्थ, तथा चास्य मन्त्रस्यापि विधवोद्वाह बोधकत्व निर्विवादम् । तथैव किल विवाहकालिकेन्द्रप्रार्थनयाऽपि बहुपतित्व स्त्रीणां सूचितम्—

'इमां त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि' ॥
(ऋ॰ १० ८५ ४५)

अत्र ह्येकादशपर्यन्त योषित पतयो भवन्तीति सूच्यते । न चात्र दशभि पुत्रैरेव पत्युरेकादशसंख्यापूरणं न्याय्यम्—उपस्थितत्वात् तयान्वेक एव पतिरिति वक्तीति वाच्यम् । विजातीये पुत्रे पत्युरेकादशत्वग्रामत्र्यविरहात् । सजातीयेनैव

किल सजातीयसख्यापूरणमुन्तिम् न तु विजातीयेन। न ह्येको ब्राह्मण एकश्च प्रस्तर इति सयोःप द्विरप केनचित्प्रकल्प्यते। पुत्राणा चाधिकानामसंभवात् तत्रैकादशनियमाश्रयणात्। तस्मात्पतिगतैवयमेकादश सख्या, ततश्च सिद्ध्यत्येव पुन पुन स्त्रीणामुद्वाह इति निर्विवादमेतत्। अन्यच्च—

> या पूर्वं पतिं हित्वाथान्य विन्दते परम्।
> पञ्चौदन च तावज ददातो न वियोष्वत।
> समानलोको भवति पुनर्भुवा पर पति।
> यो ३ ज पञ्चौदन दक्षिणा ज्योतिष ददाति।
> (अथर्व० २ अनु० २ सू०)

इह पूर्वं पतिं परित्यज्यान्यमाश्रितवतीं पुनर्भूपदपरिभाषिता प्रति बलिप्रदाना दिक विधीयते उक्तते चोत्तरस्मिन् पुनर्भ्वा सालोक्यमपि तस्पते। तेन च सुस्पष्ट प्रसिद्ध्यत्येव श्रुतिकालेऽपि विधवाना पुनरुद्वाह इति विवेच्यता विद्वद्भिरुत्सृज्य पक्षपातम्।

किं च 'तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहव सह पतय' इतीयं ब्राह्मणश्रुतिरपि सह शब्दोपादानाद् युगपदनेकपतिकरव नारीणा प्रतिषेधन्ती पर्याये णानेकपतिकत्वमनुजानातीव, सर्वदापि पत्यन्तरनिषेध इष्यमाणे सहशब्दवैयर्थ्य-प्रसङ्गात्। तस्मादितोऽपि पतिविरहिताना स्त्रीणां पुनरुद्वाह प्रसिद्धो भवति। मन्त्रे च स्वय पत्युरेव स्वस्यासामर्थ्यादिदशाया पत्नीं प्रति पत्यन्तरकरणानुशासन श्रूयते 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' इति। ततश्च श्रुतिसिद्धोऽयं विधवाना पुनरु-द्वाह सर्वथा धर्म्य इति स्पष्टमतत् सिद्धम् इह च 'विधवाविधातृका भवति' इति निरुक्तव्याख्यानानुरोधेन पालनादिकर्तृविरहितैव विधवाभिप्रेयते, तेन च सत्यपि यस्या पतिे प्रव्रजनेन देशान्तरचिरप्रवासन क्लैब्यपातित्यादिना वा न पालनादिषु क्षम स्यात् सापीह विधवेव विवाहान्तराधिकारिणीति विज्ञेयम्। तदेतत्सर्वं स्पष्टमेव निवृत स्मृतिषु, तथा च 'कलौ पाराशरी स्मृति' रिति न्यायेन विशेषत कलियुगे चितानेव धर्मान् विवृण्वन् भगवान् पाराशरस्तावदाह—

> नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
> पञ्चस्वापत्सु नारीणा पतिरन्यो विधीयते॥ इति।

अत्र नष्टश्चिरादपरिज्ञात वृत्तान्त प्रोषित। तद्विषये च प्रतीक्ष्यकालावधिमपि नारद स्पष्टमुपपादयति—

> अज्ञातदोषैर्गोढाया निर्दोषा नान्यमाश्रिता।
> बन्धुभि साभियोक्तव्या निर्बन्धु स्वयमाश्रयेत्॥

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥
अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम् ।
अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत् ॥
क्षत्रिया षट् समास्तिष्ठेदप्रसूता समात्रयम् ।
वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वे वर्षे त्वितरा वसेत् ॥
न शूद्रायाः स्मृतः कालो न च धर्मव्यतिक्रमः ।
विशेषतो प्रसूताया द्विया संवत्सरात् स्थितिः ॥
अप्रवृत्तौ स्मृतः काल एष प्रोषितयोषिताम् ।
जीवति श्रूयमाणे तु स्यादेव द्विगुणो विधिः ॥
अप्रवृत्तौ नारीणां वृत्तिरेषा प्रजापतेः ।
अतोऽन्यगमने स्त्रीणामेव दोषो न विद्यते । (नारदस्मृति)

अप्रवृत्तौ-प्रोषितस्य वार्तायामश्रूयमाणायामेषोऽष्टवर्षादिकः कालो नियमितः, जीवतो वार्तायां श्रूयमाणायान्तु तद् द्विगुणः कालः स्यात् । तदुत्तरं तु सर्वथान्यस्य पत्युराश्रयणं न दोषावहम्, मृत प्रव्रजित क्लीब पतित पत्नीनां च पत्यन्तराश्रयणं धर्म एवेति स्पष्टमनयाऽपि स्मृत्या ख्यापितम् । नारदस्मृतिश्चेयं मनूक्तानामेवार्थानां विवरणमिति तदुपक्रम एव स्पष्टमभिहितम्, तदत्र भगवतो मनोरप्यनुकूल एवाय मर्थः । इह प्रतिपादिता चेयं प्रोषितस्य कालप्रतीक्षा संक्षेपेण भगवता मनुनापि निदर्शिता—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥

इति । तदुत्तरं चान्यः पतिराश्रयणीय इत्यर्थानुगुण्यान् नारदस्मृतिवाक्याच्च प्रसिद्ध्यत्येव । तदश्चैकदेशानुमत्या पञ्चस्वापत्सु पुनरुद्वाहोऽयं भगवतो मनो स्पष्टमभिमत सिद्धः । कात्यायनस्तु भगवाननन्येष्वपि कारणेषु पुनरुद्वाहमाह । यथा च तदीयं वचनम्—

स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा ।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ।
ऊढापि देया सान्यस्मै सप्रावरणभूषणा ।

इह चान्येनोढाप्यन्यस्मै देयेति वचनस्वारस्यात्पित्रादेरेव पुनरपि दातृत्व सिद्धं भवति, तेन च विवाहात्पूर्वमेव क्लीबादीनां प्रतिगृहीतायामपि भार्यात्वं स्वत्वं नैवोत्पद्यते । विवाहादुत्तरन्तु क्लीबपतितमृतादीनां पूर्वपत्युरपि स्वत्वं विनश्यति । तदत्र पूर्वस्य स्वामिनः पित्रादेरेव तत्र स्वत्वमिति तस्यैव कन्यादानेऽधिकार इति

विज्ञायते। एतेन पितु स्वरस्य पूर्वप्रदानेनैव विनाशात्पत्युश्चासत्त्वाद्विधवाया प्रदाने कस्याप्यधिकारो न सिद्ध्यतीत्याद्यनर्गलं प्रजल्पन्तो निरस्ता वेदितव्या । स्मृत्यानुकूल्यात्पितुरेव प्रदानाधिकारसिद्धे । 'परतोऽन्य समाश्रयेत्' इत्यादि नारदस्मृत्यक्षरानुगुण्यात्तु पत्यन्तरकरणे स्त्रिया एव स्वातन्त्र्यमिति सिद्ध्यति । तदेवैतदाह देवलोऽपि—

नष्ट प्रव्रजित क्लीब पतितो राजकिल्विषी ।
लोकान्तरगतो वापि परित्यज्य स्त्रिया पति ॥
मृते भर्तरि जीवे वा स्त्री निर्देतापर पतिम् ।
सन्तरयनाद्यार्थतया न स्वातन्त्र्येण योषित ॥

(शूद्रकमलाकरे)

अत्राप्यपरपतिवदने स्त्रिया एव कर्तृत्वोक्त्या तत्स्वातन्त्र्य श्रूयत इव । ततश्च बालाया पित्रैव पुन प्रदान प्रौढायास्तु स्वातन्त्र्येणैव पुन पत्यन्तरमित्यादि व्यवस्थानुसन्धेया । न च स्त्रीणा विवाहे सर्वथा स्वातन्त्र्य नास्त्येवेति भ्रमितव्यम्—

'गम्य त्वभावे दातृणा कन्या कुर्यात् स्वय वरम् ।' (याज्ञवल्क्य)
'ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात्स्वय वरम् ।' (विष्णु)

इत्यादिभि स्मृतिवचनै प्राप्तवयस्कानां स्त्रीणा स्वात्मप्रदाने स्वातन्त्र्यस्यापि बोधनात् । सर्वथापि तु पुनरुद्वाह पतिविरहितानां स्त्रीणा स्मृतिसिद्ध इति स्पष्टमेतत् प्रतिपादितम् ।

एवमितिहासपुराणादिभिरप्ययं एव शक्यते साधयितुम् । तथा हि महाभारते नलोपाख्याने तावन्नष्टपतिकाया पतिव्रताशिरोमणेरपि दमयन्त्या पुन स्वयवरार्थं पत्रिकाप्रेषणम् , तदवगत्य राजर्षेर्ऋतुपर्णस्य तद्विवाहार्थमागमनं, तेनैव सहायातस्य पूर्वपतेर्नलस्य दमयन्त्या समागमश्चेत्यादि सर्व सुस्पष्टमभिहितम् । तेन च तस्मिन्नपि काले स्त्रीणा पुनरुद्वाह आसीत् प्रचलित इति स्फुट शक्यमनुमातुम् । कथमन्यथा दमयन्ती पत्र तादृश प्रेषयेत् , कथ वा स राजर्षिरश्रुतपूर्वां तादृशीं कथा श्रद्दध्यात् । न च दमयन्त्या नलान्वेषणार्थैव स प्रयत्न आरब्धस्तथा च नातस्तथा प्रचार प्रसिद्ध्यतीति वाच्यम् ।

आस्तां दमयन्त्याः कथमपि स प्रयत्न , ऋतुपर्णस्तु राजर्षि प्रात स्मरणीय. कथ तादृशे धर्मादपेतेऽर्थे बुद्धिपूर्वकं प्रवर्तेत । तस्मादवश्य विधवाना पुनरुद्वाहस्तदात्व धर्मत्वेनैव गृह्यते स्मेति निर्विवादमस्मादाख्यानात् प्रसिद्ध्यति । अत्यन्त धर्मपरायणस्य पाण्डवस्यार्जुनस्य परपूर्वाया नागकन्याया उलूप्या स्वीकरण कथाप्येतद्बोधयत्येव—तदुक्तम्—

अर्जुनस्यात्मज श्रीमानिरावान्नाम वीर्यवान् ।
सुताया नागराजस्य जात पार्थेन धीमता ॥

ऐरावतेन सा दत्ता ह्यनपत्या महात्मना।
पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना ॥
भार्यार्थं तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम्।
एवमेष समुत्पन्नः परक्षेत्रेऽर्जुनात्मजः । इति (म० भा० भीष्म०)

किंच स्त्रीणां पुनर्भूत्वप्रख्यापकस्मृतीनां द्वादशविधपुत्रप्रतिपादकस्मृतीनामपि च पर्यालोचनेन पुनर्विवाहस्य पुराप्रचरितत्वं शक्यमनुमातुम्—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।
इति ह्याह भगवान् याज्ञवल्क्यः। वसिष्ठोऽपि च—

'या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा—सा पुनर्भूर्भवति' इति।

तथा चाधीदेव पुरा योषितां पुनः संस्कार इति क एतत् प्रतिषेद्धुं शक्नुयात्। ननु भो अस्ति पुनर्भूप्रतिपादनं शास्त्रेषु, निन्दापि तु तासां तत्र तत्र स्मर्यत एवेति नैतेन पुनर्विवाहस्य धर्मत्वं प्रसिद्ध्यतीति चेन्मैवं वोचः। कथंचिन्निन्दाभवनेऽपि स्वैरिणीभ्यस्तासां वैलक्षण्यप्रतिपादनस्य तत्र तत्र जागरूकत्वात्। त्रैविध्यं हि पुनर्भूणां चातुर्विध्यं च स्वैरिणीनामन्वाह भगवान्नारदः—

परपूर्वाः स्त्रियस्त्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम्।
पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा ॥
कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता।
पुनर्भूः प्रथमा नाम पुनः संस्कारकर्मणा ॥
देशधर्मानवेक्ष्य स्त्री गुरुभिर्या प्रदीयते।
उत्पन्नसाहसान्यस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते।
सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥
स्त्री प्रसूताऽप्रसूता वा पत्यावेव तु जीवति।
कामात्समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा ॥
कौमारं पतिमुत्सृज्य या त्वन्यं पुरुषं श्रिता।
पुनः पत्युर्गृहं यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
मृते भर्तरि तु प्राप्तान् देवरादीनपास्य या।
उपगच्छेत्परं कामात् सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥
प्राप्ता देशाद्धनक्रीता क्षुत्पिपासातुरा च या।
तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता ॥ इति।

इह हि तावदुत्तरप्रतिपादितचतुर्विधस्वैरिणीभ्य पूर्वप्रतिपादिताना त्रिविधाना पुनर्भूणा वैलक्षण्य स्फुटमेवानुभूयते । तच्चेद वैलक्षण्य सस्कारनिबन्धनमेव वक्तव्यम्, सस्कृता पुनर्भू, असस्कृतास्तु स्वैरिण्य इति । सस्कारस्तस्य शास्त्रैक मूल कथ नाम शास्त्रादत्यन्त विरुद्धे कर्मणि प्रवर्तेत । तस्मान्नास्त्येव पुन रुद्वाहस्यैकान्तेन शास्त्रविरुद्धत्वम् अनुकल्पमात्र त्विद स्यात् । ब्रह्मचर्येणा वस्थान हि विधवाना प्रशस्ततमम् तदभावे ■ विवाहोऽपि शक्य एव विधातुमिति । मुख्यकल्पातिक्रमणमूलिकैव चात्र कथञ्चिल्लघुमानतो निन्दा स्मर्यत इति सर्वं समञ्जसम् । तस्मात्पुनरुद्वाहोऽय नात्यन्त शास्त्रविरुद्ध कर्म, अपि त्वनुकल्पमात्रमित्यलोऽपीद सिद्धमेव । अत एव द्वादशविधेषु पुत्रेषु पौन र्भवोऽपि परिगण्यत एव तत्र तत्र ।

> या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
> उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ इति ॥ (मनु)
> अक्षताया क्षताया वा जात पौनर्भव सुत ।
>
> (याज्ञवल्क्य)

अस्यापि च पौनर्भवस्य व्यभिचारजाभ्या कुण्डगोलकाभ्या भेद सुस्पष्टमेव स्मृतिकृतामभिमत, कुण्डगोलकयोर्दायभागानर्हत्वात् अस्य च दायभागेऽधिकारस्य स्फुट तत्र तत्र प्रतिपादनात् । ततोऽपि हि नास्त्येतत् पौनर्भवसुतोत्पादनमत्यन्त शास्त्रविरुद्धम्, अनुकल्पमात्र त्वेतदित्यपरोक्षमेतत् । सर्वथाऽपि नैवविधाभि स्मृति भिरैतिहासिकदृष्ट्या पुरा प्रचलितस्य विधवोद्वाहस्य नैव शक्य प्रतिषेद्धुम्, तथा सत्येवविधवर्णनस्यैव तत्रासम्भवोऽसम्भवप्रसङ्गात् । स्मृतिकृतामपि च काले यद्यासीत्प्रचरित पुनरुद्वाहस्तदा कुतमिदानीन्तनाना तन्निरोधायासेनेति विचार्यता मनागेतत् ।

अथ चेत्कश्चिदुच्छृङ्खल ह्यैतिहासिकरीत्या पुराणादिषु प्रचारयामस्तदा नैव विधेर्धर्मविरोधसद्भावसद्भावोऽप्यवतिष्ठते नाम । तथाहि—अस्त तावन्महा भारत आदिपर्वणि (१०४ अ०) महर्षेर्दीर्घतमस एकाकथा, सेय सुस्पष्टमवबो धयति तत पूर्वं स्त्रीणां यथेच्छकामचारापरपर्यायमनावृतत्वम् । दीर्घतमसैव ■ महर्षिणा स्वीयभार्याकृतादतिक्रमाद् दु खितेनैकपतिमर्यादेय प्रवर्तितेत्युक्त तत्रैव—

> 'अद्यप्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता ।
> एक एव पतिर्नार्या यावज्जीव परायणम् ॥
> मृते जीवति वा तस्मिन्नापर प्राप्नुयान्नरम् ।
> अभिगम्य पर नारी पतिष्यति न सशय ॥ इति ।

इत्थ चैकनार्तेन पुरुषेण कृतैयमेकपतकत्वव्यवस्थैव तावत्कथ नाम धर्मो भवितुमर्हति, अपौरुषेयश्रुतिवाक्यविहितमेव खिलार्थं धर्मं इत्युपगच्छन्त्यार्या, अत

एव चानादिरयमार्यधर्माणाम् । पुरुषेण तु कनचिद्यवसितोऽर्थो यदि धर्मत्वेनाभि मन्येत तत्तर्हीदानीन्तनैर्बहुभिराप्तैः प्रवर्त्यमानोऽयं विधवोद्वाहोऽपि कुतो न स्वीक्रियते धर्मत्वेनेति विचार्यता यावदस्मदुपस्थितमेतत् । तस्मात्सम्यतामनुरुध्यैव बहुशतिककालात् नारीणां समाने प्रतिषिद्ध न ■ धर्मेण सह कोऽप्यस्य सम्बन्ध इति सिद्धमेतत् । प्रणीतरतिकानान्तु योषितां पुनरुद्वाहोऽयं न तदानीमपि प्रतिषिद्ध पारित सामा जिकैरपि तु कलियुगारम्भपर्यन्तमयं निष्प्रत्यूहं प्रचचाल इत्येतानि बोधयन्ति पुराणेषु दृश्यमानानि कलिवर्ज्यवचनानि—

> ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा ।
> कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम् ॥

इति हेमाद्रिप्रणीतायां चतुर्वर्गचिन्तामणौ परिदृश्यमानं वचनमिदं सामान्येन निर्वृत्तविवाहानां स्त्रीणां पुनरुद्वाहं प्रतिषेधयत् पुरातनेषु युगेषु प्रचरितः तस्य सद्भावमनुमापयति ।

'दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च'

इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुरित्यादिकन्तु वचनजातमक्षतायाः अपि पुनरुद्वाहं प्रतिषेधति—एवमेव—

'देवराच्च सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः'

इत्यादिवचनानि नियोगमपि कलौ प्रतिषेधन्ति । तदिदमत्र रहस्यं स्फुटमवभासते यत्पुरातने काले धर्मत्वेन सामाजिकैरपेक्ष्यमाणाः लोकोपयोगिनोऽपीमेऽर्थाः क्रमेण नैष्ठुर्यमवलम्ब्य कलियुगोत्पन्नैरल्पप्रज्ञैः स्वधर्मात्परायणैर्जनैर्येन केनापि कारणात् स्वार्थविघातमाशङ्कमानैर्वर्णाश्रमकल्पनाप्रधानैः प्रतारणे प्रतिषिद्धा इति ।

इतिहासा अपि ननु निष्पक्षपातमालोच्यमाना द्रढयेयुरिमामनुमितिम् । अस्ति हि महाभारतस्योद्योगपर्वणि गालवस्यैकाख्यायिका, तत्र ययातिदुहितुर्माधव्याः पतिचतुष्टयस्वीकारस्तेभ्यश्चतुर्णां पुत्राणामुत्पत्तिस्तदुत्तरमपि च पित्रा स्वयंवरविधिनोद्वाह्यमानायास्तस्या अनिच्छन्त्या अरण्यप्रस्थानमुपाख्यातम् । यत्तु प्रकृता यास्तस्याः पुनः पुनः कन्यात्वलाभस्तत्र प्रतिपादितः, सोऽयमर्थः सर्वथा प्रकृतिविरुद्ध इति ■ अश्रद्धेयः प्रेक्षावताम् । केवलन्तु पुरुषान्तरपरिग्रहस्तदानीं नासीद्धर्मविरुद्धतया परिगण्यमान इत्येव तात्कालिकी स्थितिराख्यानेनानेनानुमेया । तथैव सत्यवती-कुन्ती-द्रौपदीप्रभृतीनां प्रातःस्मरणीयानामपि सुप्रसिद्धान्युपाख्यानानि पुरुषान्तरपरिग्रहस्यादूषणीयत्वमनुमापयितुमलम् । ननु च भो नैता विधवाः, यदेतासां निदर्शनेन पुनरुद्वाहं विधवानां समर्थयितुमध्यवसितोऽसीति चेन्न वयं निदर्शनैरेभिर्विधवोद्वाहं समर्थयामहे । पुरातने काले नासीत् स्त्रीणां पुरुषान्तरपरिग्रहोऽत्यन्तमधर्म इत्येव तु पूर्वानुमितमर्थं द्रढीकर्तुम् । यथा च समाजः

नुरोधेनैव कस्मिंश्चित् काले प्रवर्तितेयं मर्यादैकान्तिकत्वं न वहतीति समाजानुरोधेनै-वेदानीं परित्यक्तुं वा प्रचारणीय उद्वाहो विधवानामित्युक्तं भवति । यथा तु समाजे इदानीमत्यावश्यकत्वं विधवानां पुनरुद्वाहस्य, तथैतद् युक्तिप्रकरणावसरे निपुणं प्रतिपादयिष्यामः । तदित्थं सर्वविधविधवानां पुनरुद्वाहं समर्थयमानानां मतमुपदर्शितम् ।

अत्रैव केचिदेकदेशिनोऽक्षतयोनीनामेव विधवानां पुनरुद्वाहमभिमन्यन्ते न सर्वासाम् । पूर्वोक्तशब्देष्वेव 'उत्पन्नसाहसान्या' 'प्रजाप्रवृत्तौ नारीणां वृत्तिरेषा प्रजापते' इत्यादिस्मरणादौचित्याच्च । अक्षतास्ता हि स्त्रियोऽनपत्यत्वादिनैव दह्यन्ते यावदायुरिति न तासामत्यावश्यक उद्वाहः । नापि च क्षतानस्ता नार्यस्तथाविधकामवासनाव्याकुला भवन्ति । पुनरुद्वाहप्रकारे च तासां बालापत्या अपि स्त्रियोऽन्येन सहैव पुत्रान्तरमवाप्नुयुरिति पूर्वस्य पत्युः सन्ततिसमुच्छेद प्रसङ्गादिना दोषबाहुल्यमप्यनायासेनापतति । एवमक्षतानां दुरवस्थापि बहुत्र प्रत्यक्षैव विरलाश्च क्षतावस्थानां कामोपद्रवदोषोऽपि भवन्तीति न तासां विवाहेऽत्यन्तं निर्बन्धनीयम् । इच्छया तु तासां दम्पतीप्रसक्तौ कथञ्चिदनुमन्यतां वा न वा पुनरुद्वाहः, अक्षतानां तु सोऽवश्यमेव निर्बन्धात् प्रचलनीयः, तासामनुद्वाह एव बहुविधानर्थप्रसङ्गात्, न क्षतयोनीनां विधवानामुद्वाहस्येष्टतावत्यपि गुरुत्वम् । धार्मिकमन्यैरपि च पितृकर्मादिषु सन्ततिविच्छेदपुरस्क्रियमाणैरस्य सोऽप्यनुमन्तव्य इति दिङ्मात्रमेतन्मतान्तरवादिनाम् । त एतेऽपि प्रथमस्यैव पक्षस्यैक-देशिनोऽवगन्तव्याः ।

अथ द्वितीयस्तु सम्प्रदायः सर्वविधविधवानामुद्वाहप्रचारे उदासीनोऽप्यक्षत-पुरुषसंसर्गानभिज्ञानां पाणिग्रहणमात्रदूषितानां विधवानां पुनरुद्वाहं निर्बन्धात् प्रचारयितुं बद्धपरिकरः । एषां हेतुपक्षवादिनां मतेऽपि च, विधवानां स्त्रीणां धर्मत्रयं तावदुपदिष्टं स्मृतिषु—पुनरुद्वाहो वा, ब्रह्मचर्यं वा, अन्वारोहणं वा । तदेतत्क्रमेण सम्यक् प्रतिपादितं भगवता पराशरेण ।

> नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
> पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ३० ॥
> मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
> सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ ३१ ॥
> तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
> तावत्कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥

(परा० स्मृ० अ० ४)

एषु चैकैकैव क्रमेणोपदिष्टेषु त्रिषु प्रकारेषूत्तरोत्तरस्योत्तमत्वं स्वर्गादिफलविशेषानुकीर्तनाद्भगवत पराशरस्यानुमतं प्रतीयते। तत्र सर्वोत्तमत्वेनानुमतस्याऽन्वारोहणस्येदानीं राजप्रतिषिद्धतयाऽसम्भवेऽपि सम्भवति पूर्वोक्तं प्रकारद्वितयम्। तत्र चेयं व्यवस्था या तावत्स्वर्गादिफलार्थिनी भर्तुरुपकारार्थिनी लौकिककारणान्तरवशात्तदा वा शक्नोत्यनुपालयितुं ब्रह्मचर्यं सा सुखमनुपालयतु। या तु न शक्ता तथा विधातुं सा सत्यावश्यकरस्य आपद्धर्ममनुरुध्य विवाहिता नामान्येन पुरुषेण सह तत्सम्बन्धिभिः। इतरचतुर्विधानर्थापेक्षया विवाहपक्षस्यैवोत्तमत्वात्। इह तावद्विधवाविषये यावत्प्राप्तपुरुषसंसर्गा केवलं पाणिग्रहणदूषिता सा तावद्विधवापदवाच्यैव भवितुं नार्हतीति तस्यास्तु कुमार्या इवावश्यकतमो विवाहः। न हि विवाहमन्त्रप्रयोगमात्रेण कन्यायाः कन्यात्वं निवर्तते, अपि तु मन्त्रप्रयोगपूर्वक पुरुषसंसर्गादेव। तदेतदुक्तमासनमेन तत्रभवता भगवता व्याकरणमहाभाष्यकृता पतञ्जलिमुनिना 'कन्याशब्दोऽयं पुंसाभिसम्बन्धपूर्वके सम्प्रयोगे निवर्तते' इति।

कन्यायाः कनीन च (४। १। ११६) इतिसूत्रभाष्यम्।

अत्र हि पुरुषसम्प्रयोग एव कन्याशब्दनिवृत्तिर्दर्शिता, न तु मन्त्रप्रयोगमात्रेण। "शास्त्रोक्तो विवाहोऽभिसम्बन्धस्तत्पूर्वके पुरुषसंयोगे कन्याशब्दो निवर्तते" इति च स्पष्टं भाष्यं विवृण्वान कैयटोपाध्याय आह। ततश्च शाब्दिकाचार्याणामेषा मतेनाप्राप्तपुरुषसंयोगा कन्यैवेति किं तद्विवाहे प्रतिबन्धकं स्यात्। यौक्तिकोऽनुभवसिद्धश्चाप्ययमेवार्थः, कुतो हि नाम पुरुषसंयोगमन्तरेण कन्यात्वं विनश्यतु! मन्त्रप्रयोगाद्या सर्वा अपि क्रिया प्रधानभूतसंयोगनिर्वृत्त्यर्था इति प्रधानाभावे कथं ता फलवत्यः स्युः! अत एव स्मृतयोऽप्येकमुखेनाक्षतानां पुनरुद्वाहमुद्घोषयन्ति। तथा हि—

> सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
> पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति। (मनु)
> पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
> सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति॥ वसिष्ठ।
> उद्वाहितापि सा कन्या न चेत्सम्प्राप्तमैथुना।
> पुनः संस्कारमर्हेत यथा कन्या तथैव सा॥ नारद।
> यदि सा बालविधवा बलात्त्यक्ताथवा क्वचित्।
> तदा भूयस्तु संस्कार्या गृहीता येन केनचित् (ब्रह्मपुराणे)

यद्यप्यप्राप्तपुरुषसंसर्गा न विधवा, तथापि लौकिकीं रूढिमनुरुध्योपचारिकोऽयं प्रयोगः। विदेशं गतेऽपरिज्ञातवृत्तान्तेऽपि पत्यावस्या विवाह उक्तः—

> वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा।
> ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्यान्यं वरयेद्वरम्।
> (कात्यायन पराशरश्च)

अत्र हि नष्टे मृत इत्यादाविव नाशशब्दार्थो निदेशगमनेनापरिज्ञातवृत्तान्तता, मरणार्थकत्वे तावत्कालप्रतीक्षाया अनुपयोगात्। न चात्र वरितेति श्रवणाद्वाग्दत्तापरमिदम् वाचा स्वीकारस्यैव वरणत्वादिति भ्रमितव्यम्। तावन्मात्रे ऋतुत्रयपर्यन्तमुपासनस्यानर्थरूपत्वात्। आवश्यको हि स्त्रीणामृतुकालात्पूर्वमेव विवाह इति बहुशः स्मृतिकृतां डिण्डिमः। ततश्च वर्षं वाचाभ्युपगमनात्तेन ऋतुत्रयपर्यन्त विवाहः प्रतिबद्धः स्यात्। कन्यास्वातन्त्र्यमपि चेतो वचनात् 'कन्या वरयेदिति' कर्तृत्वनिर्देशेन प्रतीयमान विवाहात्पूर्वमनुपपन्नतरम्। तस्माद्वरयितेत्यस्य विवाहयित्रे वाऽर्थः। एवं न केवल मन्त्रा कन्यात्वनिवृत्तौ कारणमित्यत्रापि स्फुटीभवति—

> वरश्चेत् कुलशीलाभ्यां न युज्येत कथंचन।
> न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत्॥
> समाच्छिद्य तु तां कन्यां बलादक्षतयोनिकाम्।
> पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽब्रवीत्॥
>
> (शातातपः)

अत्र मन्त्रा विवाहमन्त्रा एव, पूर्वं वाग्दानादौ मन्त्रानुपयोगात् विवाहमन्त्रेभ्यः पूर्वं क्षतयोनित्वसंभवाभावेनाक्षतयोनिकामिति पदस्वारस्यभङ्गापत्तेश्च। ततश्च यदा वरस्य वैगुण्येऽप्यक्षतयोनिकायाः कन्यायाः पुरुषान्तराय प्रदानं न विरुद्धं स्मृतिकृतां तदा कैव कथा प्रणाशादाविति विभावयता भावुकैः। पराशरेणाप्युक्तमेतदेव—

> हीनस्य कुलशीलाभ्यां हरन् कन्यां न दोषभाक्।
> न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत्॥
>
> (प० मा० आचार काण्डे)

तदिदार्थं पुरुषसंयोगविरहितस्य मन्त्रप्रयोगमात्रस्य नास्ति कन्यात्वनिवर्तकत्वमिति संसिद्धम्। अत एव मनुस्मृतिव्याख्यातृमूर्धन्य आस्तमः कुल्लूकभट्टमहाशयोऽपि "ता· क्षतयोनयो वैवाहिकमन्त्रैः संस्क्रियमाणा अपि यस्मादपगतधर्मविवाहादिशालिन्यो भवन्ति, नासौ धर्म्यो विवाह इत्यर्थः।"

इत्यादिकं वदन् क्षतयोनिविवाहस्यैवाधर्मत्वं मनोरभिमतमुपदर्शयन्नक्षतयोनीनां पुनरुद्वाहमनुजानातीव। याज्ञवल्क्योऽपि च भगवान् 'अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनरिति' वाक्ये क्षतायाः पृथगक्षतां प्राक् निर्दिशन् तस्याः पुनः संस्कारयोग्यतायां प्राधान्यमभिव्यञ्जयति। नारदोऽपि च त्रिविधासु पुनर्भूषु प्रथमामक्षतामेवोपब्रुवंस्तत्प्राधान्यमुररीकरोति। विष्णुश्च "अक्षता पुनः संस्कृता पुनर्भूः" रित्यक्षतामेव पुनर्भूत्वमन्वाह। पुनर्भूश्च पुनः संस्कारादेव भवतीत्यस्याः

पुन संस्कार सर्वेषां स्मृतिकृतामभिप्रेत प्रतीयते। ननु च भो त्वन्मते तु कन्यात्वमेवाक्षतायामवस्थितमिति पुनर्भूत्व तस्या कुतस्त्यम्? पुनर्भूत्वस्वीकारे त्वया अपि स्मृतिदृष्ट्या निन्दितत्वमेव जातमित्यन्यविधविधवाभ्यो निर्विशेषप्रसक्तिरिति चन्नैवम्। पूर्वमपि संस्कृता पुनरपि संस्क्रियत इति पुन संस्कार मात्रेण पुनर्भूव्यवहारप्रवृत्ते। निन्दापि पुनर्भूणा स्मृतिदृष्ट्या पुन संस्कारमात्रेण कथञ्चिदप्युनुयोज्या। सा च संस्कृतसंस्कृतापक्षया किञ्चिन्न्यूनतायामेव पर्यवस्यतीति न तावन्मात्रेण मुख्यपक्षे विवाहराहित्यरूप ब्रह्मचर्यमात्रमपि विहित शङ्कनीयम्। स्फुटमासां कन्यात्वात् स्मृतिसङ्गादिभिरनुपेतत्वात्, कन्याना विवाह राहित्यस्य शास्त्रनियमविरुद्धत्वाच्च। अस्या च पूर्वोक्तवाक्यादिभिर्नोदित परन्तु पूर्णस्वत्वमिति पित्रादे स्वस्वत्वानपायात्प्रदानमप्यस्या उपपन्नतरम्। यत्तु—

> "पाणिग्रहणका मन्त्रा नियत दारलक्षणम्।
> तेषा निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भि सप्तमे पदे (मनु १२६)

इत्यादिवचनान्यनुरुध्य सप्तपद्यन्तरमेव पूर्णं परन्तु स्वत्व पित्रादे स्वत्वनिवृत्ति, कन्यात्वनिवृत्ति चाभ्युपगच्छन्ति केचित्तदसत्। विवाहसंस्कारोपयुक्तानामेव मन्त्राणा निष्ठापरपर्याया पूर्ति सप्तमपदेऽभिहितत्वात्। निवृत्ताया हि सप्तपद्या विवाहसंस्कार पूर्णो भवति, स चायं संस्कारो कन्याया वोढु स्त्रीत्वसंपादन इत्यस्योतीत्येवास्याक्षरानुगुणे तात्पर्यम्। न तु विवाहमात्रेणैव परन्तु स्वत्वनिवृत्ति कन्यात्वनिवृत्तिर्वा व्यवस्थापयितुम्। पूर्वोक्तवचनजातविरोधापत्ते। किं च सप्त पदीमात्रेण भार्यात्वनिष्पत्ताविमान्यपि वचनानि स्फुट व्याकुप्येरन्—

> कन्यादान शचीयोगो विवाहोऽथ चतुर्थिका।
> विवाहमेतत् कथित नाम कर्मचतुष्टयम्। (अग्निपु०)
> विवाहे चैव निवृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु।
> एकत्वमागता भर्तु पिण्डे गोत्रे च सूतके। (लिखित)
> चतुर्थीहोममन्त्रेण त्वङ्मांसहृदयेन्द्रियै ।
> भर्त्रा संयुज्यते पत्नी तद्गोत्रा तेन सा भवेत्। (बृहस्पति)

एतानि हि वचनजातानि चतुर्थीकर्मानन्तरमेव परन्तु पूर्णं स्वत्वमनुशासति। सप्तमे पद एव तु दारत्वनिष्ठायां तानीमानि स्फुट विरुध्येरन्, अत्यानुगुण्य चैषां वचनानाम्–श्रूयते हि चतुर्थीहोममन्त्रेषु–"प्राणैस्ते प्राणान् संदधामि, अस्थिभिरस्थीनि संदधामि, मांसैस्ते मांसानि सन्दधामि, त्वचा ते त्वच संदधामि" इत्यादि। एतेनेह चतुर्थीकर्मणैव तावदैक्य पत्या पत्न्या संपादनीय भवतीति सुस्फुट प्रतीयते, तेन च सप्तपद्या नास्ति दारत्वनिष्ठेति सुव्याख्यातम्। नन्वास्तां तर्हि चतुर्थीकर्मणि दारत्वनिष्ठा तथापि विधवानामुद्वाहे सर्वाभिप्रेते किमायातमिति

चेच्छ्रूयतामवधीयतां च। चतुर्थीकर्मापि यासां नाभूत्तथाभूतानां बालविधवानां पुनरुद्वाहस्तु निष्प्रत्यूहं प्रसाधितः। अथ चैषां भार्यात्वनिष्ठानुबोधकानां मन्त्राणां परस्परविरोधेनार्थान्तरपरत्वप्रसक्त्या चोपकारकत्वमात्रमेषां कर्मणां भार्यात्वसंपादने, निष्पत्तिस्तु सप्रयोगादेवेत्यपि सुवाचम्। तेन चाक्षतानां विधवाभासानां पुनरुद्वाहो मदभिप्रेतः सिद्धः। युक्तं चैतत्—न हि चतुर्थीकर्मोपयुक्तमन्त्राणां प्रयोगमात्रेणैक्य संसिद्धिरपि तु तद्बोधितप्रक्रियानुष्ठानेनैव। ततश्च परस्परं त्वङ्मांसादियोगेऽपि पुरुष मैत्रक्यं जायते—परन्तु पूर्णं स्वत्वमुत्पद्यते, कन्यात्वं च निवर्तते न तु पुरुषप्रयोग शून्यास्वक्षतासु कन्यात्वं निवृत्तम्, ऐक्यं वा पत्या जातमित्येष एव शास्त्रार्थः।

[उत्तरपक्षः]

तदिदं परस्परोपमर्दाद् विप्रतिपत्तिजर्जरीभूतं जीर्णं वसनखण्डमिव प्राज्ञमन्ये परिणतप्रज्ञाविरहितैरितस्ततः समाकृष्यमाणतया त्रुट्यत्प्रायमुत्तमप्रज्ञानां कृते—'स्वरूप व्याक्रियैव पराक्रियेति' न्यायेन स्वरूपतोऽनूदितमपि शब्दतोऽर्थतश्च व्याहत विधवोद्वाहमतं मा भूत् कोमलप्रज्ञानां प्रज्ञाभ्रान्तिजनकमिति भूयोऽपि क्रमेणा लोचयितुमुपक्रम्यते।

(श्रुतिव्यवस्थाप्रकरणम्)

तत्र या तावदादौ श्रुतिरुपन्यस्ता—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ॥

(ऋ० सं० म० १०–१८–८)

नैषा पुनरुद्वाहं विधवानां साधयितुं कथमप्युत्सहते। विवाहविधेरत्र लेशतोऽप्यदर्शनात्। इह हि "उदीर्ष्व" इति "एहि" इति च विधी, तौ चोत्थानमागमनं च विदधाते न पुनरुद्वाहम्। अत एव च मन्त्रलिङ्गानुसारिणा सूत्रकृताप्युत्थापन एवेयं विनियोजिता। "तामुत्थापयेद्देवरः" (आ० गृ० सू०) इत्यादिना सूत्रेण। आपस्तम्बोऽपि "प्रेतं चितिमारोप्य, इयं नारीति प्रेतपत्नीं प्रेतसमीपं नीत्वा, उदीर्ष्वेति मन्त्रेण प्रेतपत्नीमुत्थाप्य ततः सुवर्णमिति प्रेतहस्ते सुवर्णं समर्प्य" इत्युत्थापन एवास्या विनियोगमाह। मृतस्य पत्युरूपस्थायिनीं शोकाकुलां भार्यां देवरादिरुत्थापयेदित्येव तत्तात्पर्यम्। तथा च विनियोगानुरोधेनाप्युत्थापनमेवेयं श्रुतिर्विदध्यात्, न तूद्वाहकथामपि। अथ प्रकरणमपि परीक्षामहे—तत्र ऋग्वेदसंहितायां तावद्दशमस्य मण्डलस्याष्टादश सूक्तान्तर्भूतोऽष्टमोऽयं मन्त्रः, सूक्तञ्चेदं मृत्युसम्बन्धमेव विषयीकरोति। तथा चानुक्रमणिका—"परं मृत्यो संकुसुक (ऋषिः) चतस्रो मृत्युदेवता—परा धात्री, परा त्वाष्ट्री, परा पितृमेधा" इति। तदित्थं पितृमेधोऽस्य मन्त्रस्य देवतेति पितृमेधसम्बन्धेनैव क्रियाविशेषोऽत्र विधित्सितः स्यात्। न च मृतस्य पत्न्या

पुनरुद्वाहोऽपि पितृमेधस्यैव सम्बन्धी, तदास्त एव वा समुत्सृज्य सङ्कल्पयाँ
पूर्वमेनासौ विधेय इति कोऽपि सचेता एतदनुमन्येत । इतश्च पूर्वेण मन्त्रेण—

> इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु ।
> अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥

इत्यनयासौ सधवाना गृहनारीणां घृताञ्जनेनाऽऽ गृहप्रवेशनमाश्वासनं विहितम् ।
इत उत्तरेण च—

> धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय ।
> अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥

इति मृतस्य हस्ताद्धनुष आदानं विधत्ते, ततश्च मृतसंस्कारेऽनवसिते प्रक्रान्ते
को नाम विवाहस्य प्रसङ्ग इत्यालोचयन्तु मनाक् सुधियः । तस्मात् 'हे नारि !
मृतस्य पत्नि ! उदीर्ष्व उत्तिष्ठ, जीवलोकमभि जीवानां स्थूलशरीरविरहितानां लोकं
यमलोकं प्रति, इतासुं गतप्राणम्, एतं पुरुषं, त्वम्, उपशेषे तस्य समीपे तिष्ठसि,
तन्नोचितमिति भावः । यद्वा जीवलोकं जीवतां पुत्रपौत्रादीनां लोकं स्थानमभिलक्ष्य
उपेहि । गतप्राणमेतं किमुपशेषे इत्येवं भाष्यमनुसृत्य व्याख्येयम् । यतस्त्वं हस्त
गृहीतवत्', दिधिषोर्गर्भस्य निधातुः, तवास्य पत्युः (सम्बन्धि) इदं वर्तमानम्,
जनित्वं जायात्वम्, अभिसम्बभूथ प्राप्तवत्यसि, अनुभूतवत्यसीति वा । पूर्वं
जीवतोऽस्य जायात्वं त्वयाऽनुभूतम्—यदाऽयं गर्भनिधातासीत् । इदानीं तु
मृतस्यास्य समीपोपस्थानं तवाऽकिञ्चित्करं' मित्यर्थकस्यास्य मन्त्रस्य स्फुटमाभाव
कत्वमेव प्रतीतिसिद्धमुचिततमञ्च, न तु विधवोद्वाहवार्तालेशोऽप्यत्र प्रतीयते नाम ।
भाष्यकृतः सायणाचार्यास्तु भर्तुरनुगमनविधायकत्वमस्य व्यञ्जयन्तीव । यतस्तैर्वा
ख्यातमुत्तरार्द्धम् यस्मात्त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतो दिधिषोर्गर्भस्य निधातुस्त
वास्य पत्युः सम्बन्धादागतमिदञ्जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य सम्बभूथ—सम्भूतास्य-
नुमरणनिश्चयमकार्षीस्तस्मादागच्छेति' ।

अथर्वसंहितायाञ्चाम्नातस्य मन्त्रस्यास्यानुमरणविधायकता प्रकरणादपि स्फुट-
मिव प्रतीयते, तथा हि तत्रत्य सन्दर्भे (अथ० १८ का० ३ मनु० आरम्भे)
'पूर्वत एव पितृमेधे प्रक्रान्ते—

> इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
> धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणञ्चेह धेहि ॥ १ ॥
> उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि ।
> हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेद पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ ॥ २ ॥
> अपश्य युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
> अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ ३ ॥

प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसञ्चरन्ती ।
अयन्ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधिरोहयैनम् ॥ ४ ॥

अत्र हि प्रथमं मन्त्रं "आनयत (आनय) चितो भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत्" इति सूत्रानुसारेण भार्याग्निमिति सम्बध्य विनियोज्य व्याचख्युर्माधवाचार्याः—'इयं-पुरोवर्तिनी, नारी-स्त्री, पतिलोकम्-पत्या अनुष्ठितानां यागदानहोमादीनां फलभूतं स्वर्गादिस्थानं, वृणाना-सहधर्मचारिणीत्वेन सम्भजमानां, हेमर्त्य ! मरणधर्मन् मनुष्य ! प्रेतम्—अस्माद् भूलोकाद्विनिर्गतम्, त्वा उपनिपद्यते-समीपे नितरां गच्छति । अनुमरणार्थं प्राप्नोतीत्यर्थः । कस्माद्धेतोः पुराणं पुरातनमनादिशिष्टाचारसिद्धं धर्मं सुकृतमनुपालयन्ती । आनुपूर्व्येण सम्प्रदायाविच्छेदेन पालनमनुपालनम् । स्मर्यते हि—

भर्तारमुद्धरेन्नारी प्रविश्य सह पावकम् ।
व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात् ॥

तस्यै अनुमरणं कृतवत्यै स्त्रियै इहास्मिन् भूलोके जन्मान्तरे लोकान्तरेऽपि प्रजां पुत्रपौत्रादिकां द्रविणं धनं च धेहि प्रयच्छ । अनुमरणप्रभावाज्जन्मान्तरेऽपि स एव तस्याः पतिर्भवतीत्यर्थः' । [माधवीयं भाष्यम्]

तदनन्तरम् उदीर्ष्व नारीति भार्यामुद्दिश्यैव पत्युरनुगमनं विधीयते । ऋग्वेदभाष्यमनुसृत्य मन्त्रार्थं प्रागभिहित एव । तदुत्तरं चापद्यमिति स्फुटं पतिमनुगच्छन्त्याः पतिव्रतायाः वृत्तमुपवर्ण्यते । नीयमाना पत्या सह प्राप्यमाणा, जीवा जीवन्ती, युवतिः, मृतेभ्यः मृतमुद्दिश्य (छन्दसि व्यत्ययेन बहुवचनम्) परिणीयमानाम्-समर्प्यमाणामहमपश्यम् । यदियमन्धेन तमसा शोकाख्येन, प्रावृता-आच्छादितेवासीत्-तत् तस्मात्, एनां प्राक्तः पूर्वस्मात् स्थानात्-अपाचीं-लोकान्तराभिमुखीमनयामिति, तद्देवरपुत्रादिराह । उत्तराऽस्यतो भूयसे निर्वचनायास्यैवार्थस्य-हे अघ्न्ये-निष्पापे-जीवानां लोकं स्वर्गं प्रजानती, देवानां मार्गमनुसञ्चरन्ती (स्वपातिव्रत्यमाहात्म्याद्) त्वं योऽयं ते गोपतिः इन्द्रियाणां वा पतिः स्वामी तं जुषस्व-सेवस्व । स्वर्गं लोकं चैनमभि प्ररोहय, इति भार्यामेवोद्दिश्य वाक्यम् । पतिव्रतामाहात्म्येन तत्पतिरप्यक्षय्यं स्वर्गसुखमुपभुङ्क्ते इति हि स्फुटं स्मृतिपुराणेषु ।

तदाह भगवान् व्यासः कपोतिकाख्याने—

पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।
तत्र चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपद्यत ॥
ततः स्वर्गं गतः पक्षी भार्यया सह सङ्गतः ।
कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे च सह भार्यया ॥

स्मृतिश्च ।

> व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात् ।
> तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते ॥

तदित्थमथर्वसंहितायाः सन्दर्भशुद्धया मन्त्रस्यास्यानुगमनविधायकता स्फुटीभूतेव । ततश्च यदेतत् 'जीवलोकमभिलक्ष्य उपैहि–जीवल्लोके पुनः प्रवृत्ता भव, हस्तग्राभस्य–हस्तं ग्रहीष्यतः दिधिषोस्त्वयीदानीं गर्भं निधातुमिच्छोस्तव पत्युः पुरुषान्तरस्य जनित्वं जायात्वं त्वया प्राप्तमिति यथेच्छं व्याचक्षते, साधयन्ति च पुनरुद्वाहम्–तत् सर्वथाप्यसमञ्जसमनुचितं हेयमेव प्रेक्षावताम् । उपदर्शितप्रकरणविरोधात्, अथर्वसन्दर्भविरोधात्, विनियोगसूत्रविरोधात्, दैवतानुक्रमणीविरोधात्, ब्राह्मणेष्वेवविधविधेरनुपलम्भात्, भाष्यविरोधात्, अक्षरस्वारस्यविरुद्धत्वाच्च । इदं जनित्वमभिसंबभूथेति हि वर्तमानं जायात्वं स्फुटी भवति, तच्च मृतस्य पूर्वस्य पत्युरेव सम्बन्धि, न तु पुरुषान्तरसम्बन्धि, तस्येदानीं यावदनुत्पन्नत्वात् । यदि हि पुरुषान्तरनिरूपितं जायात्वमुत्पन्नमभविष्यत्, कुतस्तर्हीयं मृतस्य उपनिधेऽशयिष्यत् । "त्वमेतदस्युर्जनित्व" मिति तैत्तिरीयाणामध्ययनेऽपि 'एतद् जायात्वमिति पूर्वोक्तार्थो न व्यभिचरितः । किंच "अभि सम्बभूवेति नायं विधिः, लोडाद्यदर्शनात्–अनुवादकत्वम्–भूतकालनिर्देशात् । ततश्च यत्पुरा प्राप्तं जायात्वं तदेवात्रानूद्यते, न त्वभिनवं पुरुषान्तरनिरूपितं तद्विधीयते । नहि पुरुषान्तरस्य जायात्वं साद्य यावत् प्राप्ता, अथ यदि प्राप्ता, नाथ तर्हि विधिप्राप्तप्रापकाभावाद् इति नात्र पुरुषान्तरपरिग्रहकथा कथमपि सामञ्जस्य समश्नुते ।

अत्राहुः—

> पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः ।
> स तु द्विजोऽग्रे दिधिषूः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥
> (अम० को० मनुष्य व० ५=६)

इति कोशाद्दिधिषुपदस्यात्र पतिविशेषणत्वेन श्रुतस्य पुनर्विवाहकर्तृपरत्वमेवाध्यवसीयेत, अस्तु वा छान्दसह्रस्वत्वेन, तवेत्यस्य विशेषणं तत्, पुनर्भूभूतायाः पुनर्विवाहसंस्कारमाप्स्यन्त्यास्तव पत्युरित्यर्थसामञ्जस्यात् । उभयथाऽपि रूढ्यर्थेन पुनर्विवाहोऽत्रार्थतः सिद्धो भवति, इतरथा दिधिषुपदस्य रूढार्थभङ्गापत्तेः । आहुश्च लौकिकाः "रूढिर्योगाद्बलीयसीति' 'रूढिर्योगार्थमपहरतीति' च । मीमांसका अपि च शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणे प्रसिद्ध एव पदानामर्थः कल्पनीयो न व्याकरणादिसहाय्येनाप्रसिद्धः कश्चिदर्थः कल्प्यमिति स्फुटं व्यवस्थापयन्ति । तदाह–'चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन' । (मी० सू० १ । ३ । १०) इति सूत्रं व्याचक्षाणः शबरस्वामी–'अपि च' निगमादिभिरर्थे कल्प्यमाने अव्यवस्थितः

शब्दार्थो भवेदिति'। लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणे च वेदे लोकभिन्नार्थता प्रतिषेधन्ति। तथा च सूत्रम्—

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्' (मी० सू० १।३।३०।) इति निषादस्थपत्यधिकरणे रथकाराधिकरणेऽपि च रूढ्यर्थे लाघवाद् रूढिरेवादर्तव्येति स्फुटो मीमांसकसिद्धान्तः। 'परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी० सू० १।१।३२) इत्यादौ तु व्यक्तिविशेषसंकेतितानां शब्दानामेव श्रुतावर्थान्तरपरता प्रतिपाद्यते, नतु रूढशब्दानामैकान्तिकोऽभावः। ततश्च लौकिककोशसाहाय्येन दिधिषुपदस्यार्थे प्रक्लृप्ते श्रुत्यैव प्रकरणादिभ्योऽपि बलीयस्या पुनर्विवाहः प्रसाधितो भवति। प्रकरणमपि च न न प्रतिकूलम्। 'इय नारीति' मन्त्रस्यापि पुनर्विवाहप्रकाशकत्वात्। इयं हि तस्य समीचीना व्याख्या "हेमर्त्य, हेसजीव पुरुष! पतिलोकं पतिकुलं वृणाना कामयमाना इयं नारी, प्रेत प्रकर्षेण लोकान्तरमितं पतिं (विहायेति शेषः) यद्वा मृतं पतिमनु तदनन्तरं यदि पतिस्थानं वृणाना, त्वा उपनिपद्यते प्राप्नोति पुराणं प्राचीनम् अनादि धर्मं पुनर्विवाहरूपं स्वीकुर्वती, तस्यै अस्मिन् लोके प्रजां सन्ततिं द्रविणं धनं च धेहि देहीति"। द्रविणसन्तत्यादिप्रार्थना च स्फुटमस्या व्याख्यायामेवानुकूला, मृतमुद्दिश्य तथा प्रार्थनाया सर्वथा असामञ्जस्यात्। अथ तैत्तिरीयारण्यके (६ प्र १ अनु) श्रुतस्यास्यैव मन्त्रस्य (उदीर्ष्वेत्यादेः) माधवीयं भाष्यमप्यस्मदनुकूलम्—तत्र हि "इयं नारी' 'उदीर्ष्व नारि' 'सुवर्णं हस्तादाददाना मृतस्य' 'धनुर्हस्तादाददाना मृतस्य' मणिं हस्तादाददाना' इत्येष मन्त्रसन्दर्भः। 'त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहवत', दिधिषो पुनर्विवाहेच्छोः, पत्युः, एतद् जनित्वं जायात्वम्, अभि सम्भूय आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि' इति च माधवीयं भाष्यम्।

यथात्र पुनर्विवाहेच्छोः पत्यन्तरस्य भार्यात्वं स्फुटमत्र स्त्रियमुद्दिश्य भाष्यकृता विहितम्। अभिसम्भूयेति लिङ्श्च व्यत्ययेन लोडर्थकता तेनैवाभ्युपगतेति सोऽयमपि विधिर्नानुवादः। कल्पसूत्रकृतापि चाश्वलायनेन (तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो) वेति देवरस्य पतिस्थानीयतामभिदधतालम्बनकृत्त्वं चास्य मन्त्रस्य विदधता पत्यन्तरकरणमुक्तप्रायमेव। देवर इति हि द्वितीयो वर उच्यते इत्यवोचाम।

ततश्च सुन्दरं सुसिद्धमस्य मन्त्रस्य पुनर्विवाहप्रापकत्वमिति।

तदेतत्सर्वमपि मनोराज्यविजृम्भितमात्रम्। प्रमाणाभाससंदृब्धत्वात्। तथा हि—

(दिधिषूशब्दार्थः)

स्यादप्येतदेवं यदि हि दिधिषूपदस्य शास्त्रेषु पुनर्भूसमानार्थकत्वे इदं प्रमाणं स्यात्। तदेव तु नोपलभामहे। प्रत्युत विपरीतमेव स्मरन्ति स्मृतिकाराः। तथाहि—

भगवान्मनुरतान्श्राद्धप्रकरणे निषिद्धब्राह्मणेषु स्वप्रयुक्त दिधिषूपतिपद स्वय व्याच क्षाण आह—

> "भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामत ।
> धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपति ॥"
>
> (मनु० ३ । १७३ इति ।)

ततश्च धर्म्यनियोगे धर्ममुत्सृज्य कामत प्रवृत्तस्य पुरुषस्य दिधिषूपतित्व ततो स्वयास्वर्थदिधिषूत्वमुपपन्नं भवतीति न प्रकृतमन्त्रे तादृशशब्दार्थग्रहणमेव । तस्यार्थस्य प्रकृतेऽन्वयासम्भवात् । नहि नियुक्तस्य त्यक्तमर्यादस्य मन्त्रेऽस्मिन् ग्रहणे किमपि प्रमाणमस्ति, वैधस्य मुख्यपत्युरेव अतो ग्रहणौचित्यात् । तदर्थमुपगमेऽपि च 'दिधिषोस्त्व'—धर्मेण नियुक्तायास्ततस्त्यक्तमर्यादाया कामेन प्रवृत्तायास्तव, पत्युरित्यर्थ स्यात्—कथ चाय समञ्जस, न हि मर्यादाव्युत्क्रम श्रुतिरेव बोधयेन्नाम । ततश्च नास्ति मनूक्तार्थस्यात्र कथमपि सम्भव । अथ स्मृत्यन्तरेऽन्यथैव दिधिषू शब्दार्थो निरूपित —

> "ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा ।
> सा चाग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषू स्मृता ॥"
>
> (मिताक्षरावीरमित्रोदयादिनिबन्धेषु लौगाक्षिदेवलश्च)

एव च यथा ज्येष्ठे भ्रातर्यनूढे कृतविवाह कनिष्ठ परिवेत्तृशब्देन, स पूर्वेश्च परिवित्तिशब्देन धर्मशास्त्रे परिभाष्यते, तथैव ज्येष्ठाया भगिन्यामनूढाया विवाहिता कनिष्ठा भगिनी अग्रेदिधिषूपदेन सा ज्येष्ठा च दिधिषूपदेनात्र परिभाविता द्रष्टव्या । व्युत्पत्तिरप्यस्मिन्नर्थे प्रदर्शिताऽभियुक्ते, "दिधि धैर्य स्यति"—इति (शब्दकल्पद्रुमे) अधैर्यवत्त्वात् पूर्वमूढेति यावत् । भगवान् गौतमोऽपि 'परिवित्ति-परिवेत्तृ—पर्याहित—पर्याधात्रग्रेदिधिषूपति–दिधिषूपतीना सवत्सर प्राकृत ब्रह्मचर्यम्' इति परिवित्त्यादि प्रकरण एव दिधिषूपतिं निर्दिशस्तत्समानं च प्रायश्चित्त प्रकल्पयन्नुक्तार्थमेव दिधिषूपद स्फुटमभिप्रैति । तथैव च प्रायश्चित्तप्रकरणे वसिष्ठोऽपि । तदित्थ विवाहक्रमवैपरीत्य निमित्तीकृत्य परिभाषितस्यास्य रूढस्य शब्दस्य नैवास्ति प्रकृतमन्त्रे कोऽप्युपयोग इति पांसुलपादोऽप्येतद्विजानीयात् । आस्तानां च तन्मतं स्मृतिकाराणां विरुद्ध कोशेऽमरेणाभिहित पुनर्भूरूपो रूढार्थ कथङ्कार प्रामाण्यकोटिमारोढुमीशीत । शिष्टानां हि शब्दार्थ प्रमाणम्—तदेतदुक्तम्—

"शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्" (मी० सू० १ । ३ । ९)

इति मीमांसासूत्र व्याचक्षाणेन भाष्यकृता शबरस्वामिना "य शास्त्रस्थानां स शब्दार्थ । के शास्त्रस्था शिष्टा । तेषामविच्छिन्ना स्मृति शब्देषु च वेदेषु च । तेन शिष्टा निमित्त श्रुतिस्मृत्यवधारणे, इति । शिष्टाश्च यथा तत्रभवन्तो मनुगौत

मादयो महर्षयस्तथा नावमनर । ततश्च पुनर्भूपर्यायता दिधिषूपदस्य कोशे प्रतिपाद्यमाना सर्वथैवाऽप्रामाणिकी । ननु च भो यथा मनूक्ते देवलयुक्ते चार्थे भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तद्वय तथैव कोशोक्तमपि पुनर्भूत्वमन्यतप्रवृत्तिनिमित्त शब्दस्यास्य प्रकल्प्यताम्—तेन स्यादिदमपि शब्दस्यास्यार्थान्तरमिति चेत्तदयुक्तम् । तथा मूलार्थे प्रमाणाभावात् । शास्त्रे ह्येव परिभाषितोय शब्दो न लौकिक, लोकव्यवहारे प्रयोगानुपलम्भात् । यत्र च परिभाषितलक्ष यथा वित्तस्तदर्थक एवाभ्युपगन्तव्यो न त्वर्थान्तर मनसैव कल्पनीय किमपि । किमन्यत् साक्षाच्छ्रुत्यापि भगवत्या स्मृत्यनुमोदित एव शब्दार्थो ध्वन्यते । तथा हि तैत्तिरीयब्राह्मणे (३ का० ४ प्रपा०) पुरुषमेधमुपक्रम्य "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्, तमसे तस्करम्, नरकाय वीरहणम्, पाप्मने क्लीबम्" इत्याद्युक्त्वा 'मन्यवे नारम्, गेहायापरीतन्, निर्ऋत्यै परिवित्तिम्, आर्त्यै परिविदानम्, आराध्यै दिधिषूपतिम्, पवित्राय भिषजम्' (४ प्र०) इत्यत्र आम्नातम् । एष पञ्चाह पुरुषमेध इत्याहायस्तम्ब । अत्र चतुर्थ्यन्ता देवता द्वितीयान्ता पशव, आलभत इति सर्वत्रानुवर्त्तते । ब्रह्मब्राह्मणजात्यभिमानी देवस्तस्मै कश्चिद् ब्रह्मवर्चसयुक्त ब्राह्मणमालभते । आराध्यै कर्मसिद्धिप्रतिबन्धाभिमानिन्यै दिधिषूपतिमालभते, इत्यादि व्याचचक्षे भट्टभास्कर । अत्र च परिवित्तिपरिवेत्तृभ्या समुपनिबद्धोय दिधिषूपतिशब्दस्तत्साहचर्येण विवाहक्रमव्यत्यासमेव निमित्तीकृत्य प्रवृत्त स्यादिति स्फुट शक्यमभिधातुम् । यत्तु "आराध्यै दिधिषूपतिम्, इत्यत्रैव दिधिषूपदमात्रश्रवणनिपातमुपनिपतन्तोऽनेनैव श्रुतिप्रमाणेन पुनरुद्वाह सिसाधयिषन्ति महात्मानोऽर्थानभिज्ञास्त इम सर्वथा प्रणम्या एव । अभ्युपगतेऽपि दिधिषूपदस्य पुनरूढापरत्वे कथमनया श्रुत्या पुनरुद्वाह आज्ञप्तो भवतीति पृच्छाम । दिधिषूपदप्रयोगेणैव तादृशव्यवहारस्य शिष्टानुगृहीतत्वबोधनादिति चेत्तस्करपदमुपपतिपद क्लीबपद चाप्यत्र प्रकरणे प्रयुक्त किं न पश्यसि ? तत्किं ब्रह्मघातकव्यवहार क्लीबतापि च श्रुत्यनुमोदितो शिष्टानुगृहीतो भवताम् ? आस्तामप्रकृता एवंविधा प्रलापा । प्रकृते तु पुनरूढार्थकत्व दिधिषूपदस्य श्रुत्यापि विरुद्धमसाधयाम । वस्तुतस्तु कोशकृतोऽभिसंहितस्याप्यत्र तात्पर्यान्तरमेव समुन्नेयम् । तथा हि—एवंविधविवाहक्रमवैपरीत्यविषये पुनरुद्वाहो वसिष्ठेन प्रायश्चित्ततया विहित ।

"परिविविदान कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्वा पुनर्निविशेत, तामेवोपयच्छेत, अग्रादिधिषूपति कृच्छ्र द्वादशरात्र चरित्वा निर्विशेत, ता चैवोपयच्छेत । दिधिषूपति कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्वा पुनर्निविशेतेति (वसिष्ठस्मृति) ।

परिविविदान ज्येष्ठे भ्रातर्यकृतदारपरिग्रहे स्वय कृतदार कनिष्ठ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ व्रतविशेषौ विधाय—तस्मै ज्येष्ठाय ता स्वभार्या दत्वा—गुरवे भैक्ष्यमिव

निवेद्य-पुनस्तदनुज्ञया निविशेतविवहेत्, तामेव पूर्वपतिहीना भार्यां ज्येष्ठाय वाङ्मात्रेण निवेदिता पुनर्गृह्णीयात्। इति पूर्वस्यार्थं । उत्तरस्य स्वयमुपनिव बन्ध मित्रमिश्र ।

"अग्रेदिधिषूपतिः कनिष्ठापति कृच्छ्रं कृत्वा ता ज्येष्ठामन्योढा समुद्वहेत्, दिधिषूपतिर्ज्येष्ठापति स्वोढां ज्येष्ठा कनिष्ठापतये दत्त्वा स्वयमन्यामुद्वहेदिति" (वीरमित्रोदये विवाहप्रकरणे)।

अस्तु वात्रापि परिवेनादाविव निवेदनमात्रम्, पुनश्च तयैव स्वयमूढया पुनर्विवाह । सर्वथापि पुन संस्कारोऽत्र प्रायश्चित्ततया विहितो न शक्योऽपलपितुम्। ततश्च या दिधिषू सा द्विवारमूढा भवति, वैधव्येऽपि चास्य विवाहस्य पुन संस्कारमात्रनिमित्तीकृत्य पुनर्भूशब्दोऽप्यवश्यमत्र प्रवर्तेतेति तदभिप्रायेणै वेदमभरसिंहेन "पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्वि" रित्युपनिबद्धम्। तदित्थमुक्तप्रकारेण द्विरूढत्वाद्दिधिषू अर्थोऽपि पुनर्भूर्भवति, पुनर्भूस्तु सर्वा दिधिषूर्न भवति, विवाह क्रमवैपरीत्यमन्तरा पुनर्विवाहेऽपि दिधिषूशब्दाप्रवृत्त । तथा च क्वचित् सामानाधिकरण्य च क्वचिद्वैयधिकरण्यं चानयो शब्दयोर्लभ्यम्। सामानाधिकरण्यमात्र मादायोपपन्ना कोशव्यवहृति । एवमेव मनूक्तमपि नार्थान्तरम्। किन्तु— यथैषोऽग्रे दिधिषूपति र्ज्येष्ठामन्योढा समुद्वहन् परपूर्वाया पतिर्भवति, मर्यादा चातिक्रामति, तथैव नियुक्तोऽपि देवरादिर्यदि परपूर्वाया पतिर्भवे मर्यादा च जह्यात्तर्हि तथाभूते साददृश्येन दिधिषूपतिपद भगवता मनुनाऽऽप्रेपद विशेष प्रयुक्तम्। तदित्थ सर्वत्राप्येकार्थ्येनैव सामञ्जस्येऽनेकार्थकल्पनाऽऽनुगमदोष पराहतेति निपुणमिद विभाव्यता परीक्षकै । एवविधस्य च परिभाषितस्य दिधिषूपदस्य पितृमेधक्रियाया सामान्येन विनियुक्ते मन्त्रमन्त्रे नास्ति सम्बन्धसमव इत्यगत्या स्वार्थमुत्सृज्य भाष्यकाराद्यभिमतो यौगार्थ एव स्वीकरणीय आपतित ।

प्रयुक्त चान्यत्रापि यौगिके धारणार्थं एव दृश्यतश्च दिधिषुपदम्।
'अश्वासो न ये ज्येष्ठास आशवो दिधिषवो न रथ्य सुदानव '
(ऋग्वेद १० म० ७८ सू० ५ म०)

इति हि मारुते सूक्त 'ये मरुतोऽश्वा इव ज्येष्ठा, आशव शीघ्रगमना, दिधिषवो न वसूना धारका इवे' त्येवरीत्या धारणार्थक एव दिधिषुशब्दो व्याख्यायते। "मातुर्दिधिषुमब्रव स्वसुर्जार शृणोतु न । भ्रातेन्द्रस्य सखा मम।' (ऋ० म० ६ म० ५५ सू० ५ म०) इति च पौष्णे मन्त्रे 'मातुर्निर्मात्र्या रात्रेर्दिधिषु—पति, पूषणमब्रवम्, स्वसुरुषसो जारश्च पूषा नोऽस्माक स्तोत्राणि शृणोतु' इत्यादि रीत्या सामान्यत पत्यर्थकमेव दिधिषुपद सर्वैरप्युररीक्रियते व्याख्यातृभि ।

गत्यन्तराभावात्। अन्यत्रापि च श्रीभागवते "ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषु पुरुषादेन भक्षितम्" (९ स्क० ९ अ० ३४ श्लो०) इति कल्माषपादकथाया गर्भाधानेच्छु पतिरेव दिधिषुपदेनाभिहित, परिभाषितस्य तत्र ग्रहणे पूर्वापरसम्बन्धे। तदेव मन्यत्र बहुत्र यौगिकेऽर्थ एव प्रयुक्त पदमिदमिहापि तथैवोपगन्तु साम्प्रतम्। ततश्च दिधिषुपदमात्रावलम्बेन क्रियमाणमिद साहसमितिचित्रायितमेव। इदमपि न विस्मरणीयम्–पुनर्भूपदमिव परिभाषित दिधिषूपदमपि निन्दार्थकत्वेनैव स्मृति कोशादिषूपात्तमिति। ततश्च तथाविधार्थस्य भुताबाग्रहेण ग्रहणेऽपि निन्द्यव्यवहार-स्यान्वयसर्गमात्र श्रुत्या बोध्येत, न त्वय विधि स्यात्। विधिसस्पृष्टेऽर्थे निन्द्यत्वा सम्भवात्। अथ विधिसस्पर्शादेव नास्ति निन्द्यत्वमित्येव ब्रूमह इति चेत्तथाऽपि स्मृतकोशाद्यभिमतरूढार्थता दिधिषुपदस्य परित्यक्ता भवेत्। तैर्निन्द्येऽर्थ एव प्रयुक्तत्वात्–श्राद्धार्हतानिषेधप्रायश्चित्ताद्यभिधानात्।

परित्यक्ते च तदभिमतेऽर्थे स्वकल्पितार्थे न स्यात् किमपि प्रमाणमित्येकमभि सधित्सतोऽपर च्यवते। किं च अथर्वसंहिताया दिधिषोरित्येव पाठ इति तत्र नास्त्येव योगातिरिक्तस्य कस्यापि रूढ्यर्थस्य सम्भव। दिधिषुपदस्य रूढ्यर्थानु पलब्धे। तत्कण्ठैकवाक्यतया चान्यत्रापि योगार्थस्यैवोचितेत्यलमतिमात्र मृदितमर्दनेन।

अथ यदिदमिय नारीति पूर्वतनमन्त्र व्याख्यान्तर स्वसम्प्रदानुकूलमित्युपन्यस्तम्, तदप्यापातरमणीयम्। 'प्रेत त्वा उपनिपद्यते' इति स्फुट प्रतीयमान सामानाधि करण्यमपलप्य प्रेत विहायेत्येवैकशेषकल्पनाया श्रद्धाजडैरेव श्रद्धेयत्वात्। न हि सुन्दर बालकमानयेत्यादौ सुन्दर बहि, बालक चानयेत्येवमर्थं प्रकल्पयन् कश्चिद् दृष्टचर। न वा ग्राम गच्छेत्यादौ ग्राम दह, अरण्य च गच्छेति शेष केनापि कल्पतरूं। सर्वव्यवहारवैयाकुलीप्रसङ्गात्। विहायेति शेष प्रकल्पयस्तत् कर्मणो द्वितीयान्तता ल्यबल्लोप इत्यादानुशासनरिरुद्धामनाकल्पयश्च सुष्ठु खलु वैयाकरणो भवान्। 'प्रेत पतिमनु त्वा उपनिपद्यत'इत्यपि नि सारम्। उत्तरार्द्ध स्थस्यानुपसर्गस्येवमाकृष्यान्यत्र सम्बन्धकल्पनाया वैदिकशैली विरुद्धत्वात्। तस्मात् प्रेत त्वा उपनिपद्यते—इति मृत पुरुषमुद्दिश्योक्तिरेव न्याय्यी। मर्त्येति सम्बोधनमपि मरणधर्मतामावेदयस्तत्रैव समञ्जसम्। न च मृतस्य सम्बोध्यत्वाऽऽ सम्भव, 'पूषात्वेताश्च्यावयतु' 'अत्रैव त्वमिह वय सुवीरा' इत्यादिषु पितृमेध मन्त्रेषु सर्वत्रैव मृतस्य सम्बोध्यत्वावगमात्। पितृमेधप्रक्रमेऽन्यस्य कस्यापि पुरुषस्य सम्बोध्यत्वप्रकल्पना तियमेकान्तत प्रकरणविरुद्धा। उक्त च भगवता यास्केन "न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या", इति न हि कथञ्चिदेकमन्त्रस्याऽऽख्यार्थान्तरप्रदर्शनमात्रेण प्रकरणानुकूल्य प्रदर्शित भवति। पूर्वापरसर्वार्थावधारणाधीनत्वात् प्रकरणस्य। ततश्च पूर्वमुत्तरत्र च

प्रकान्तस्य मृतसंस्कारस्यैव सम्बन्धेनैतस्याथा वक्तव्य । न च पुरुषान्तरकर्तृको निधवाया पुनरुद्वाहो मृतसंस्कारसम्बन्धीत्यवोचाम । किं च 'आयया चितौ भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत्' इत्येवं कौशिकसूत्रानुगतेन विनियोगेनापि माध्यधृतेन क्रियाश्रितसंवेशन मन्त्रस्यास्य विषय इति तदनुकूल एवार्थो वाच्य स्यात् । प्रकरणसूत्राद्यननुरुध्य यस्य कस्यापि यत्किञ्चिदर्थकल्पने तु सर्वेप्यनर्थव्यवहारा अत्यैव प्रसाधिता स्युरित्यन्यत्र विस्तरेणाभिधास्याम । किं चात उत्तरस्मिन्नु दीर्घेति मन्त्र मृतस्य सविधे शयाना पत्नी समाश्वास्यते, (इलानुमेतमुपशेष) इत्यर्थस्य भवद्भिरपि तथार्थकतया पर्योपगमात् । यदि तु सा पूर्वमेव पुरुषान्तर मुपनिपन्ना (प्राप्ता) कुतस्तर्ह्युत्तरमन्त्रे मृतस्योपशयनाभिधानम् समाश्वासनं चेति विचारयता मनाग् दरमुकुलितनेत्रम् । किं चान्यत् पुरुषान्तरपरिग्रहस्यास्य 'विश्वे पुराणमनुपालयन्तीति' सनातनधर्मत्वाभिधानमपि युक्तिविरुद्ध स्वीयोक्तिविरुद्ध च । आपद्धर्मतायामेव विधवोद्वाहस्य त्वदीयैरप्यभ्युपगतत्वात् । मृत मुद्दिश्य द्रविणसन्तत्यादिप्रार्थना तु यथा न प्रतिकूला तथा पुरस्तादुपदर्शित एतन्मन्त्रभाष्य एव सुस्पष्टम् । यद्वा—'प्रजा—सन्तति द्रविणं च पूर्वं वर्तमानमेव चेहि धारय—अनुजानीहीति यावत्' इति धारणार्थकस्य धातो प्रयोगसामञ्जस्येनार्थं उपकल्प्यताम् ।

पूर्वं द्रविणसन्तत्यादौ भर्तुर्मुख्य स्वत्वम्, स्त्रिया भर्तृपारतन्त्र्यात्, इदानीं तु भर्तृसम्बन्धादस्या एव नार्यास्तत्र स्वत्वमुत्पस्यत इति तदनुज्ञा भर्तु प्रार्थ्यते । ततश्चोपपन्ने सूत्राद्यविरुद्धेर्थेऽर्थान्तरकल्पने विडम्बनमात्रमेवैतत् । यदपि माधवीयस्य तैत्तिरीयभाष्यस्य स्वपक्षानुकूलत्वस्थापन तदप्यभिप्रायानवबोधात् । 'पुनर्विवाहेच्छोरेतद् जनित्व जायात्वमाभिमुख्येन प्राप्नुहीति' तावद् भाष्यकृतोक्तम् । तदिदं जायात्वं न पुरुषान्तरसम्बन्धि, तयोस्तत्समानस्यैतच्छब्देन निर्देशायोगात् । नहि पुरुषान्तरस्य जायात्व तस्यामेतन्मन्त्रप्रयोगात् प्रागुत्पन्नं यदेतच्छब्देन वर्तमानतया निर्दिश्येत । निर्दिष्टं च भाष्यकृता तथैव । तेन च स्पष्टमेतत्—न पुरुषान्तरस्य जायात्वविधाने भाष्यकृत्तात्पर्यम्, किं तर्हि, तस्यैव मृतस्य परलोकान्तरे पुनरपि त्वामेव जायामिच्छतो यज्जायात्वमेतत्तदपि वर्तमान तदेव पुनरप्यनुमरणेन प्राप्नुहीति' स्फुटतरोऽयं भाष्यार्थः । अनुमरणप्रभावेण पुनस्तेनैव पत्या सा संयुज्यत इति पूर्वमेवैतदवोचाम । इहापि च भरद्वाजबौधायनकल्पसूत्रानुसारिणा भाष्यकृतैव "अथास्य भार्यामुपसंवेशयन्ति—इय नारीति, तां प्रगिगत सव्ये पाणावभिपाद्योत्थापयति—"उदीर्ष्व नारीति सुवर्णेन हस्तौ समाश्रि" इत्यादिना उत्थापनमात्रे मन्त्रस्यास्य विनियोग उक्तो न तु पुनरुद्वाहकथायामपि । ततश्च कल्पसूत्राननुमत स्वकीयर्ग्वेदाथर्ववेदभाष्यविरुद्ध च पुनरुद्वाहमेत कथमत्र परमास्तत्त्वमनाग् माधवाचार्योऽभिदध्यादिति सुधीभिरेवालोच्यम् । यदपि

अभिसवभूयेति लिङ्गे लोडर्थकत्वेन विध्याश्रयणं तदपि न विचारसहम्,—एव विधेषु मन्त्रेषु विधित्वकल्पनाया मीमांसकैर्दूरतो निरस्तत्वात्। तथा हि—भगवान् जैमिनिस्तावद् मन्त्राभिधायकत्वाधिकरणे—

"विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्"

(मी० सू० २।१।३०) इति सूत्रेण ब्राह्मणानिव मन्त्राणामप्यविशेषेण विधायकत्वं—पूर्वपक्षीकृत्य तदुत्तरेण—

"अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्",

(मी० सू० २।१।३१)

इति सूत्रेण तत्प्रयोगे विनियुक्तानां मन्त्राणामभिधायकत्वमात्रमनुजानन् विधायकत्वं प्रतिषेधति। "तस्मान्न मन्त्रगतो भावशब्द एवंजातीयको विधायकः" इति च तदीयं भाष्यम्। एवंजातीयकस्तत्तत्कर्मसु विनियुक्त इत्यर्थः। विनियुक्तश्च मन्त्रोऽयमपि कल्पसूत्रकाराश्वलायनेन इति न तत्तोऽधिकमर्थं विदध्यात्। इमां च विधिशक्तिप्रतिबन्धकतामनुगमयन्तस्तत्रभवन्तो वार्तिककृतो भट्टपादास्तन्त्रवार्तिके प्रकृतसूत्रव्याख्याया—

"येषामाख्यातशब्दानां यच्छब्दाद्युपबन्धनात्।
विधिशक्तिः प्रशाम्येत्तु ते सर्वेऽभिधायकाः"॥

इति सामान्यतोऽभिधायकयच्छब्दोपहितत्वमामन्त्रणविभक्तिं यदिशब्दादिकं च विधिशक्तिप्रतिबन्धकानाहुः। श्रूयते च प्रकृतेऽपि मन्त्रे "नारि" इत्यामन्त्रणविभक्तिः, यच्छब्दोऽपि। तेन नात्र विधायकत्वमेव। अथैतत्सूत्र-विवृण्वाना शास्त्रदीपिकाकृतः पार्थसारथिमिश्रा अपि 'यानि च निमित्तादिप्रतिपादनेनाकाङ्क्षातानि वैरेकवाक्यतां गतानि तान्युदाहरणम्। आमन्त्रणविभक्तेश्च वक्त्रभिमुखश्रोतृविषयत्वात्, वेदे च वक्तुरभावाद्विशेषाभिमुखानभिमुखपुरुष-साधारणत्वाद्विवक्षितस्वभावेनामन्त्रणेन विधियकत्वस्य' इति प्राहुः। प्रकृते च मन्त्रे 'उदीर्ष्व' 'एहि' इत्यनयोराख्यातयोर्निमित्तमत्र प्रतिपाद्यते "अभि सवभूये, ति। 'यतस्त्वं पूर्वं दिधिषोरस्य जनित्वमभिसम्भूय। न त्विद मृतशरीरं ते पतिस्तो हेतोरुत्तिष्ठेति' इत्यस्येन भाष्यकृदादिभिर्व्याहितत्वात्। 'नारी' ति चामन्त्रणविभक्तिरस्तीति चाभिमुखमनुद्दिश्य प्रतिपादनमिति सर्वस्या अपि विधित्वप्रतिबन्धकसामग्र्या सत्त्वेऽपि विधित्वकल्पना शोभते मीमांसानभिज्ञानामेव वर्णितिकृतमनल्पजल्पनेन। अथैव तदुदीर्ष्वेत्यपि विधिर्न स्यादिति चेन्नास्त्येव स विधिः, कल्पसूत्रोक्तविधेरभिधायक एवैष मन्त्र इति स्फुटोऽस्या मीमांसकपरिशीलिनाम्। तदनवगच्छतां तु कृते 'उदीर्ष्वे' ति विधिं मान्त्रोचाम सामान्येन। तस्मादभि सवभूयेति लिङ्गे लोडर्थकता दूरतरमपास्ता। यदपि 'पतिस्थानीयो देवर' इत्याश्च

त्वायनोक्तया द्वितीयस्य पत्युर्देवरशब्दवाच्यस्य पतिस्थानीयतामुत्प्रेक्ष्य पुनर्विवाह प्रसाधन तदपि कुशकाशावलम्बनम् । पतिकर्तृकपुंसवनादिगृह्योक्तसंस्कारेषु प्रातिनिध्यमात्रेण पतिस्थानीयताया व्याख्यातृभिरुपपादितत्वात् । देवरशब्दस्य च सामान्येन द्वितीयपत्यर्थकतानुपदमेव प्रतिपेत्स्यते । साधित चानुपदमेव रूढ्यार्थ ग्रहणौचित्यं पूर्वपक्षे सोपपत्तिकमिति रूढ्यार्थाभिधायकतैव देवरशब्दस्य सर्वथा समुचिता । पत्युचितरक्षणादिकार्यकारित्वादिनापि च पतिस्थानीयत्व सुपपादम् । न हि पतिस्थानीय इति पत्यु सर्वाणि कार्याण्यपि तेन विधेयानि । 'मातृवत् परदारेष्विति' नहि सर्वे परदारा पितृपत्न्योऽपि भवन्ति । किं च यदि द्वितीयो वर एव देवरस्तर्हि नून स पतिरेव, तस्य किमिति पतिस्थानीयता सूत्रकृता विहिता । तस्मादेवंविधार्थप्रकल्पना नितरां शास्त्रार्थगन्धशून्यानामेव सञ्जृम्भते । तदित्थ कथंचिदापातत संभवति मन्त्रस्यास्य पुनरुद्वाहार्थे सयौक्तिकोपपत्तिभि प्रतिपादिते येष विदुषामुपहासास्पदीभूताऽभिशमन्याना याहच्छिकी हठादाकृष्यार्थप्रकल्पना 'हे (विधवे) नारि एत गतासु गतप्राण मृत विवाहित पतिं (त्यक्त्वा) अभिजीवलोक जीवन्त (देवर द्वितीयवर पतिम्) एहि प्राप्नुहि । उपशेषे—त्वयैवोपशेषे (सन्ता नोत्पादनाय वर्तस्व) (तत्सन्तान) हस्तग्राभस्य विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्यु 'स्यात्' । (यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोग कृतस्तर्हि) दिधिषो तस्यैव सन्तान भवेत् । तवेदम् इदमेव विधवायास्तव, जनित्वे सन्तान भवति । हे विधवे त्वं विगत विवाहपतिकस्य पत्युश्चेतन्नियोगकरणार्थ एत) उदीर्ष्व—(विवाहितपतिमरणानन्तर मिम नियोगमिच्छ) तथा अभि सबभूथ—सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखं संयुक्ता भवेति, । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, नियोगप्रकरणे) सा स्वकपोलकल्पनयैव पराहता । यदृच्छया तत्तदध्याहृत्य यत्किञ्चिदर्थप्रकल्पन नामेद न रुचेरा अनुमन्येत । यथाहि कश्चिद् 'अग्निमीले पुरोहितम्, यज्ञस्य देवमृत्विजम्, होतारं रत्नधातमम्' इति मन्त्रस्यास्य 'अग्नि गृहपु क्षिर, अह स्वामीडे, पुरोहित यज्ञस्य मध्ये देव प्रकाशमानमृत्विज अहि, रत्नधातमम् अतिशयेन धनवन्त होतारमुल्लुण्ठे' इत्यादि यत्किञ्चिदर्थं प्रकल्पयेत्—स एवायमप्यध्वा । स्फुट परस्पर प्रतिभासमानसम्बन्धानि पदानि याहच्छिकाध्येपकल्पनया स्वबुद्ध्यैवान्यथा योज्यन्ते इति कथमसौ वेदार्थं स्वकल्पित किमप्येतद्वेदशिरस्यारोप्यत इति सत्यम् । तदाहुर्भट्टपादास्तन्त्रवार्तिके (१ अ० २ पा० ७ सू० व्याख्यायाम्) "यदि ह्यश्रुतानुपात्तोऽप्यर्थोऽस्मदादि भिरेव कल्प्यते, यस्मादस्य प्रयत्नेन धारयामस्तस्मादस्य पुरुषार्थतेति, तथा सत्या स्वचोदितवशेन प्रामाण्यमभ्युपगत स्यादिति" । इह ह्युक्तेऽर्थे उदीर्ष्वेत्यस्य नियोग मिच्छेति सर्वथा प्रमाणविरुद्धोऽर्थं । त्यक्त्वेति, देवरमिति, सन्तानोत्पादनायेत्यादि, चाप्रामाणिकोऽध्याहार । जनित्वमिति सन्तानार्थेऽवाचकम् । 'यमो ह जातो यमो जनित्व जार कनीना पतिर्जनीनाम्, (ऋ० १ म० ६६।८) इत्यादौ "कन्यकानां

धारो दर्शयिता, यतो विवाहसमयेऽग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्तते । तथा जनीनां जायानां कृतविवाहानां भर्ता पालयिता, यतोऽयमनुतिष्ठति योगे फलं प्रप छती' त्येवमादिना जायार्थकत्वेनैव जनिशब्दस्य व्याख्यातत्वात् । तत्रैव जनित्वनु पत्स्यमानमिति व्याख्यामनुसृत्य सन्तानार्थकता समाश्रयेत सोऽयं भिन्न आद्युदात्तो जनित्रशब्दस्त्र प्रत्ययान्त । प्रकृते च त्वप्रत्ययान्तोऽयम न्तोदात्त इति स्फुटं वैषम्यम् । तथैव च—दशासुपुत्रोपे—इति स्फुटं भावमनस्या न्वयस्य परित्यागः । उपदेपे—इति स्वरसामञ्जस्यादिनाच्युतस्य लिङन्तस्य सुबन्तत्व प्रकल्पनमिति दोषजातं सुधिय एव परामृशन्तु । कृतमतिविस्तरेण । तदित्थं प्रथमो मन्त्रस्तावदनिरुद्धार्थं व्यवस्थापित ।

अथ यदिदं मन्त्रान्तरं विधवोद्वाहे प्रमाणमित्युपन्यस्यते—

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतु ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
(ऋ० १०-४०-२)

तदपि नाभिप्रेतसाधनाय प्रभवति । अनुक्रमणिकायामश्विदैवतत्वेन घोषाया काक्षीवत्या आर्षत्वेन चानुक्रान्ते 'यो वां परिज्मेति त्रीणि त्रिश्चिदं अध' (आ० श्रौ० सूत्र, ४, १५) इति भगवताश्वलायनेन प्रातरनु वाकाश्विनशस्त्रयोर्विनियुक्तेऽस्मिन् मन्त्रे न हि किमपि लिङ्गादिकं श्रूयते—येन पुनरुद्वाहो विधीयेत नापि निषिध्येत सम्भवति, तादृशसामग्र्या अभावात् । अथ 'शयुत्रा विधवेव देवरम्' इत्युपमानेन 'यथा विधवा—मृतभर्तृका शयुना—शयने, देवरमभिमुखीकरोति' त्यर्थकेन तादृशव्यवहारानुवादतया समन्त्रस्यैव निष्पाद्येत, इति चेदत्र कश्चिद्विचिन्त्यतां—अस्तु यथा कथञ्चिद्व्याख्यानं, न त्वयं पुनरुद्वाहविधिः । पुनरुद्वाहे देवरेणैवोद्वाह इति नियमे प्रमाणानुपलब्धेः । विवाहोत्तर तस्य देवरशब्दव्यवहारानुपपत्तेश्च । नियोगे तु 'देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया' इत्यादि स्मृतिप्रामाण्यात् प्रधानतया देवरस्य प्राधान्यम् । तत्रापि च नियोगे क्षेत्रस्वामिन एव सुतमामनन्ति स्मृतिकारा इति देवरशब्दोपपत्तिरपि । तस्मान्नियोग एवास्या उपमाया सामञ्जस्येन तृतीये पदे मनेदस्य मन्त्रस्य कथञ्चित् पक्षपातो न तु प्रथमे । अथोच्येत—देवरशब्दोऽयं प्रकृतमेव मन्त्रं व्याचक्षाणेन भगवता यास्केन 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' इत्येवं निरुक्त (नि० अ० ३ पा० ३) तथा च नहि देवरशब्दोऽयं भर्तृभ्रातरि रूढ श्रुतावत्राभिप्रेयते, अपि तु द्वितीयवराभिधायक—उपदर्शितनिरुक्तप्रामाण्यादिति द्वितीयस्य वरस्य विवाहमन्तरेणासम्भावनया स्फुटमेवायमन्त्रो द्वितीयं विवाहमेव बोधयेदिति । तदेतदप्यर्थानवबोधविजृम्भितं साहसमात्रम् । निरुक्तमर्मानवबोधात् ।

(निरुक्तव्युत्पत्तिरहस्यम्)

नहि निरुक्तकाराः शब्दव्युत्पत्तिं प्रसिद्धप्रवृत्तिनिमित्तं व्याहरन्ति, अपि तु यत्रैव स शब्दः प्राक्तने प्रयुज्यते, तदनुगुणा व्युत्पत्तिस्तत्र शब्दस्य निरुक्तकृतोपदिश्यते। निर्वचनप्रकारस्तु हि 'अर्थं नित्यं परीक्षेत' 'विषमवर्णा हि वृत्तयो भवन्ति' इत्यादि ग्रन्थसन्दर्भे तदनिरुक्ते (२ अ० १ ख०)। इदमाकूतम्—यस्य कस्यापि शब्दस्य येन केनाप्यर्थविशेषेण सुप्रसिद्धः सम्बन्धः भवतीति सहेतुक इति प्रतिजानते तत्र भवन्तो नैरुक्ताः। चिरन्तनसङ्केतितान्यपि शब्दार्थसम्बन्धस्य निर्हेतुकतानुरक्ते। तत्र सर्वत्र तेषु तेष्वर्थेषु कश्चिद्धर्मविशेषो यानि नैचीरूप ते ते शब्दास्तेष्वर्थेषु निरूढाः सङ्केतिताः। त एव धर्मा यत्नेन सम्यक् व्युत्पादयतोऽवसेया इति तदर्थमेव निरुक्तविद्योपयुज्यते नाम। ते तु शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता धर्मा यदर्थेष्वप्रत्युपलभ्यन्ते, कामयुपलभ्यन्तां नाम। नतु तावता स शब्दस्तत्रापि प्रयुज्येत। व्यवहारमूलको हि शब्दप्रयोगः, व्यवहारश्च चिरन्तनप्रसिद्धिसम्भूत एव इति। अत एव प्रथमाध्याये 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति' प्रतिज्ञाय "अथ चेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युः, यः कश्च तत् कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्, अश्वनाम्यानमध्वनीत–अश्व स तर्दनीयं स्यात्, यत् किञ्चित्तृन्द्यात्तृणं तदिति", वैयाकरणानां पूर्वपक्षः, "पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्, नैकेषाम्—यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति" इत्येवं समाहितो भगवता निरुक्तकृता, न त्वभ्युपगमेन। सर्वथा यावदभिधेयानां व्युत्पत्त्यभ्युपगतानां यत्र यत्र व्युत्पत्तिसिद्धधर्मयोगस्तत्र सर्वत्रैव तस्य शब्दस्य प्रवृत्तिरुचिता, तथा च 'अश्नुतेऽध्वानमित्यश्वः' इति व्युत्पत्त्यनुरोधान्मार्गं गच्छति मनुष्यादावप्यश्वशब्दः प्रयुज्येतेति पूर्वपक्षाशयः। उत्तरस्य च पक्षस्यायमाशयः, सन्ति, येऽपि शब्दास्त्विह निरुक्तैर्युक्त्या व्युत्पत्त्यभ्युपगताः, तत्रापि तत्तद्धर्मयोगेन न सर्वत्र प्रयुज्यन्ते–सर्वोऽप्यवहारेषु तत्तन्निमित्तकादिनियतं तद्धे, यथापि न स तथा भवति। सर्वोऽपि च कस्मिन् काले सुहृद्वन्धून् परित्यज्य देशान्तरं व्रजति, नतु तावता परिव्राजकोऽभिधीयते। इत्यादि। तथाच यत्र ते ते शब्दा व्यवहारसिद्धास्तत्रैव वा तानर्थानवबोधयन्तो व्युत्पत्तिमन्तोऽव्युत्पादनीया, नतु तावता सर्वत्रापि तेषां शब्दानां प्रयोगः शक्य आपादयितुम्। 'तद् हि धर्मं परीक्षकाः परीक्षेरन्' नतु वस्तुनियोगं प्रभुता परीक्षकस्य। सत्यपि समाने धर्मसम्बन्धे क्वचिदेव शब्दप्रवृत्तौ तत्र नान्यत्र शब्दशक्तिस्वभाव एव हेतुः स्यात्। येऽपि सङ्केतिता शब्दा स्वभावसिद्धा यदृच्छाविशेषो वा, वैयाकरणैश्चैतद्धर्मयोगे तद्व्यवहारस्तदस्यभ्युपगतम्। इदं तु सिद्धम्—गृहशब्दो हि यत्र क्रियाकारकार्थविशेषे प्रयुज्यते–तत्रैव 'शिरसो निर्गत' नित्यैव व्युत्पाद्यते, नतु यदेव शिरसो निर्गच्छति कपालादि, तदपि गृहं भवति। अवरशब्दश्च यत्रैव सन्ततिरूपार्थे रूढिः प्रयुक्तस्तत्रैव, अवरत भवति' इति व्युत्पा

दनीय, नतु नीचैर्विसर्पद्-इत्यादिकमपि तावतापत्य स्यात्-इत्येव भगवतो यास्कस्य सुस्फुट आशय। अत एव च 'अन्यद्धि शब्दाना व्युत्पत्तिनिमित्तम्' इत्याहुरभियुक्ता। तथा च देवरशब्दोऽपि यथैव भर्तृभ्रातरि व्यवहारसिद्ध, श्रुतिस्मृत्यनुमोदितश्च, तत्रैव 'द्वितीयो वर, इत्येव व्युत्पाद्य स्यात्, नतु द्वितीये वरे यत्र कुत्रापि देवरशब्दप्रयोगो युज्येत व्यवहारविसंवादादिति निपुण भाव्यतां भावुकै। भर्तृभ्रातरि द्वितीयवरत्व तु 'पुसवनादिकर्मसु पतिप्रातिनिध्यात्-इष्षित क्रीडालापादिषु भर्तुरपरस्य तस्यैव प्राथम्यादित्यादि, पूर्वस्मिन् मन्त्र एव व्याख्यातम्।

उपपादितोपि च भवतैत्थ देवरशब्दप्रयोगे पुन परिणीताया विधवाशब्द प्रयोगानुपपत्तिर्मन्त्रे, नहि 'विधवनात्' विधावनाद्वेत्यादियास्कोक्ता धर्मा परिण योत्तर स्त्रिया सम्भवन्ति। भूतपूर्वताश्रयण त्वगतिकगति। अथ चान्यत् 'देवर कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते', इत्येष न साम्प्रदायिको निरुक्तपाठ, अपि तु कैश्चि दिदानीतनै प्रक्षिप्त इति स्फुटमुपगत तैस्तैर्विवेचकै। अत एव च 'देवरो दीव्यति, कर्मेति व्युत्पत्त्यन्तरमत्रैव निरुक्ते देवरशब्दस्योपलभ्यते। पूर्वमेका व्युत्पत्तिमभि धायानन्तर द्वितीयापि व्युत्पत्तिरभिहिता स्यान्निरुक्तकृतेति चेन्नतु नाभिजानासि निरुक्तशैलीम्। बह्व्योऽपि व्युत्पत्तय एकस्य शब्दस्यैकत्रैव 'एव वा, एव चेति, रीत्या निरुक्तकृताभिधीयन्ते। नतु मध्ये शब्दान्तर व्युत्पाद्य पुनः सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वतनशब्दव्युत्पादन निरुक्ते क्वचन क्वापि। इह तु देवर कस्मादित्यादिपाठोत्तर विधवाशब्दनिरुक्तिस्तदनन्तर च पुनर्देवरो दीव्यतिकर्मेत्या द्युक्तिरिति स्फुट पूर्वतनस्य प्रक्षिप्तत्वम्। अत एव च प्राचीनेषु बहुषु पुस्तकेषु तादृशपाठानुपलब्धे, देवरो दीव्यतिकर्मेति तु सर्वत्रोपलब्धम्। किं च सर्वत्रैव मन्त्रेषु म न्त्रपाठक्रमश्रलब्ध्यैव शब्दा निरुक्तकृता व्युत्पादिता, इह तु 'विधवव देवरम्', इति पूर्वश्रुत विधवाशब्द परित्यज्य पूर्वं देवरशब्दव्युत्पत्त्यभिधानमति समासमञ्जसम्। विधवाशब्दव्युत्पादनानन्तर 'दीव्यतिकर्मेति' व्युत्पादनमेव स्वाचार्यशैलीसिद्ध सर्वानुमोदित चेति निर्विवादमेतत्। ततश्च क्रीडालापाद्युपयुक्ते, भर्तृभ्रातरि देवनादेव देवरशब्दप्रवृत्तिरिति व्युत्पत्तिमवलम्ब्यापि साहसमिदमभिस्ति चित्रायितमेव। तस्मान्नियोगेऽस्य मन्त्रस्य कथंचित् प्रामाण्यसम्भवेऽपि पुनरुद्वाहे न सम्भवत्येव प्रामाण्यमित्याहु।

(दृष्टान्तेन विधिप्रकल्पनानौचित्यम्)

वस्तुतस्तु नियोगेऽपि न सम्भवत्यस्य मन्त्रस्य प्रामाण्यम्, विध्यभावात्। उपमा तु लोकसिद्धव्यवहारानुवादिकैव भवेन्न तु विधायिका। सर्वत्र हि सिद्धेन वस्तुना सिद्ध वा साध्य वोपमीयते न तु साध्येन। तस्मादभिस्तुतावेव मन्त्रता

स्पर्श्यम्, 'विधवेव देवरं' मित्युपमा तु लोकव्यवहारमेवानुवदति, न तु किमपि विधत्ते। अथ तथापि तादृशो व्यवहारः श्रुतिसिद्ध इत्यभ्युपगतः भवतीति चेन्नैतन्निपुणं पश्यति, श्रुत्या विहितमेव भवेच्छ्रुतिसिद्धम् न तु श्रुत्यानूदितमपि श्रुतिसिद्धम्। अत एव 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति भगवता जैमिनिना विधिवाक्यप्रकाशितस्यैवार्थस्य धर्मत्वमाख्यातम्। न चोपमादीनां सर्वत्र विधायकत्वमभिप्रयन्ति मीमांसकाः। ननु यावता श्रुत्या तादृशस्य व्यवहारस्य सिद्धत्वमनूदितम्, तावतैव धर्म्यत्वं तस्य सिद्धमायातम्। न ह्यधर्म्यो व्यवहारः श्रुत्यानूद्येत, श्रुत्या चानूदितस्यापि व्यवहारस्य धर्म्यत्वमभ्युपगन्तव्यमेव भवेत्। किं च शिष्टाचारस्यापि धर्मे प्रामाण्यमनुमन्यन्ते धर्मसूत्रकाराः, तथा च श्रुत्यानूदितस्य व्यवहारस्यातिपुरातनत्वं सिद्धौ शिष्टाचरितत्वादपि व्यक्तिनियोगस्य प्रामाण्यमिति चेत्सर्वमेतदनर्थकम्। यत्र कुत्रचित् प्रसिद्धेनापि व्यवहारेणोपमानिर्देशे तस्य सार्वत्रिकत्वकल्पने, शिष्टाचरितत्वप्रकल्पने वा प्रमाणाभावात्। यथाहि विधावुद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वयः कल्प्यते, न तथानुवादे तत्कल्पने किमपि प्रमाणं पश्यामः। तथा च योऽयं द्विजेतरेषु शूद्रारण्यकादिषु प्रसिद्ध्यति नियोगव्यवहारः, यो वा प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामन्त्या द्विजस्त्रिया अपि कदाचन सम्भवेत्, स एव श्रुतौ दृष्टान्तत्वयानूदितः न तु तावता तस्य भवेद्धर्म्यत्वम्। विधिस्पर्शाभावेन धर्मत्वासिद्धेः। चिरन्तना एव व्यवहाराः श्रुत्यानूद्यन्त इत्यपि निःसारम्, भूत भवद् भविष्यतां त्रिविधानामपि व्यवहाराणां श्रुत्या प्रतिपाद्यत्वात्। अवश्यं हि वेदनित्यत्ववादिभिरिदमित्थमेवाभ्युपगन्तव्यम्—अन्यथा वेदस्यानादित्वभङ्गापत्तेः। इयमेव च वेदप्रतिपाद्येषु यज्ञ-राज्यसमाज-व्यवहारादिषु गतिरित्यास्तामेतदप्रकृतम्। किं च नायमपि नियमो धर्म्या एव व्यवहाराः श्रुत्यानूद्यन्ते, श्रुत्यनुक्तमात्राणां व्यवहाराणां वा भवेद्धर्म्यत्वमिति। पश्यामस्तु सर्वथा धर्मविरुद्धतया सर्वैरीहितानामपि व्यवहाराणां श्रुत्यानुवादम्। तथा हि—

'उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥'

(ऋ० ७ ६।१०।१), (अथ० १८ का० १ अ० ३ सू०)

इति वाक्प्रार्थनापरे मन्त्रे 'जार आ भगम्' इत्युपमया जारव्यवहारस्तावदनूद्यत। एतदधिकृत्य व्याचख्यौ तत्रभवान् यास्काचार्यः—

'आ इत्याकार उपमार्थे, "जार आ भगम्" जार इव भगम्। 'स्वमुद्गीतः शृणोतु न'' उपसमस्य स्वसारमाह। अपि त्वय मनुष्यजार एवाभिप्रेत स्यात्, स्त्रीभगस्तथा स्याद्—भजते।

(निरु० ३ अ० १६ ख०)

तेन च जारो—ज्रयिता आदित्य, भग—भजनीय, भौममान्तरिक्ष वा रस यथा प्रेरयति तथेति, प्रसिद्धो जार स्त्रिया भग यथा प्रेरयति म्लानरूपा करोति तथेति चार्थद्वयमत्र पठितम्। तत्र द्वितीये यास्काभिमतेऽर्थे सुस्पष्टो जार व्यवहार। तथैव च—

'प्रमिनती मनुष्या युगानि दोषा जारस्य च्क्षमा विभाति,

(ऋ० १ म० ९२ सू० औषसे सूक्ते)

इत्यादावपि स्पष्टानूद्यमान उपलभ्यते जारव्यवहार। यथा च व्यवहारा नुवादमात्रेण विधिप्रकल्पकाना 'योषाभि प्रियो जारोऽनुगन्तव्य' इत्यपि विधि प्रकल्पनीय स्यात्। श्रुत्यनूदितानां च व्यवहाराणा धर्म्यत्वमेवाभिमन्य मानैर्जारव्यवहारोऽपि धर्म्य इत्यभ्युपगम्येत। ननु 'जरयतीति जार' इति व्युत्पत्तिम नुरुध्य यौवनादिजारके मुख्ये पत्यावेव प्रयुक्तोऽय जारशब्द इति नासद्व्यवहार श्रुत्यानया सिध्येदिति चेत्—तर्हि 'विधवेव देवरम्' इत्यादावपि 'दीव्यति—रमते' इति व्युत्पत्तिमनुरुध्य मुख्य पतिरेव वाच्योऽस्तु, विशिष्ट प्रेमातिशयेन पुरस्कर्ता यस्य यस्या सैव च सौभाग्यवती भवतु विधवाशब्दप्रतिपाद्येति नैवात्र कोऽपि नियोगादिकल्पनावसर सभवेत्। 'मर्यं न योषे'ति पुनरुक्तमेव सति स्यात् न इति चेदस्तु मर्यं देवर विधवा योषा इवेति सामानाधिकरण्येनैवान्वय, उपमार्थकनकारद्वयप्रयोगस्तु स्वाद्रस्यदाढर्याय भवतु। भवतु वा 'मर्य—मरणधर्मा गर्दभ कुक्कुर वा यथा योषा वडवा शुनी वाऽभिमुखीकरोतीति' द्वितीयेयमुपमा छन्दाना रूढिरेव सति विरोधिता स्यादिति चेन्नु तथापि जारशब्दस्य रूढि विरोध शिरसि पतित एव अभियुक्तव्याख्यातृवचोविरोधश्चाप्युभयोस्तुल्य एवेति। अथ च—

'यमो ह जातो यमो जनित्व जार कनीनां पतिर्जनीनाम्'

(ऋ० १।६६।८)

इति याम्ये मन्त्रे 'कनीना—कन्यकाना जार—इति विशेषणबलात् कन्यका जारत्वमपि धर्म्यमित्यभिमन्येत।

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्व चैते॥

(निरु—२ अ)

इति मन्त्रे च 'मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वा' इत्येव यास्काचार्येण व्याख्यातामुपमामनुसृत्य कन्यापरिष्वङ्गस्यापि धर्मत्वमापद्येत।

'विभिद्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसत'

(ऋ० ८।२२।८)

इति चाश्विदैवत्येन मन्त्रेण द्वावश्विनौ निमिरश्वैश्वरत, एकया च सह वसत, प्रवासे यथे' ति माधवाचार्यैं कृतभाष्येण प्रवासे द्वयो पुरुषयोरेकया स्त्रिया सह सवासो धर्म ' इति प्रकल्पनीय स्यात्।

'एश्वगमन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्व कनिक्रदद्यथा भगेनाह समागमम्।

(अथ० का० २ अनु० ५)

इति चोक्तिमङ्गीमनुसृत्य पतिकामाया स्त्रिया, जायाकामस्य पुरुषस्य च वडवी कामयमानस्याश्वस्येव तत्र इत आहिण्डन, प्रवास्य धर्म्यमित्यवधार्येत। किं च—

धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त रहसूरिवाग '

(ऋ० २।२९।१)

इति मन्त्रे 'रहसि—अन्यैरज्ञाते प्रदेशे सूयत इति रहसू—व्यभिचारिणी, सा यथा गर्भं पातयित्वा दूरदेशे, परित्यजति, तद्वत्—हे आदित्या आग, मदारे-मत्तो कृतं कुरुत' इति भाष्यकृता माधवाचार्येण व्याख्यातमनुसृत्य पुरुषान्तरव्यभिचारस्य तज्जनितगर्भपरित्यागस्यापि च धर्म्यत्व दुर्निवारमेव इति स्यात्।

यस्मा ऋण यस्य जायामुपैमि य याचमानो अभ्यैमि देवा ।
ते वाच वादिषुर्मोत्तरा मद्देवपत्नी अप्सरसावधीत ॥

(अथ० ६, १०, ११८, ३)

इत्यस्मिश्च मन्त्रेऽप्सरसा प्रार्थको वक्ता स्वस्मिन्नन्येषामृणधारण परेषा स्त्रीषु गमन च व्यवहरतीति तावता तदुभयस्य धर्मत्व केन वार्येत।

किमन्यत्—"अत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्" (निरु० ४ अ० उद्धृतो मन्त्रा भाग)।

"प्रजापति स्वा दुहितरमभ्यध्यायत्" (ऐतरेयब्राह्मणे)—

इत्यादिक रूपकोपनिबद्ध व्यवहारमापाततोऽवलोक्य वचसाऽप्यनुच्चारणीयस्य कस्यापि दुष्कृतस्य धर्म्यत्व कश्चिदल्पधीरवधारयेत्। अन्यच्च—

युवा मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषावस्तोर्हविषा निह्वयामहे।

(ऋ० १०।४०।४)

'मृगण्यवो हिंसा, मृगानिव वय युवामाह्वयाम' इत्यश्विस्तुतिपरे मन्त्रे 'मृगण्यवो मृगानेव' इत्युपमयाऽनूदितो मृगयाव्यवहार कथ न धर्म्यं स्यात्।

अश्रव हि भूरिदावत्तरा वा विजामातुरुत वा घा स्यालात् ।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् ॥
(ऋ० १।१०९।२)

इति च मन्त्रे विजामातेति शब्दं दाक्षिणात्या क्रीतापतिमाचक्षते, असुसमाप्त एव वरोऽभिप्रेत' इति तत्रभवतो यास्कस्योक्तिमनुसृत्य 'यस्मै कन्या दित्सिता' स कन्यादानात् प्राक् तदर्थं द्रविणं ददाति, स्याले वा यावद् ददाति, ततोऽपि शयनेऽभिमुखीकरोति तत्लालनमात्रपरायणा भवति, न तु भर्तारमनुगच्छती'ति "बालसवर्धनं मुक्त्वा बालापत्या न गच्छती" त्यादिस्मृत्यनुकूल प्रथमोऽर्थः । दीव्यति—रमते, इति देवर पूर्वं पतिरिव, ते यथा विधवा शयनेऽभिप्रायपूर्व मनुगच्छति अनुम्रियते, इत्यनुमरणविधायकस्मृतीनां तथाभूतसदाचाराणां चाबवो धको द्वितीय उत्तमार्थः । यद्वा 'दिविरैश्वर्यवचन' इति पङ्क्तिविंशतीतिसूत्रभाष्य प्रामाण्येन भरणसमर्थं पिता भ्राता पुत्रः प्रत्यनुजो वा देवर, त यथा विधवाभि मुखीकरोतीति—

पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रूश्वशुरमातुलै ।
हीना न स्याद् विना भर्त्रा गर्हणीयाऽन्यथा भवेत्'
(याज्ञवल्क्य)

इति स्मृत्यनुकूलोय तृतीयोऽर्थः । 'दीव्यति—इष्टे इति देवर साक्षादीश्वर एव, ते यथाऽभिमुखी करोति विधवा, केवलमीश्वरमाराधयतीति तद्धर्मबोधक श्चतुर्थोऽयमर्थः । "विजामातेत्यसमाप्त एव वरोऽभिप्रेत" (नि० ६।९।१) इति यास्कोक्तमेव द्विविद्व्याख्यानमनुसृत्य त्रि – असुसमाप्त पाणिग्रहणेन पूर्णं पतिभावमप्राप्त, धवो यस्या सा त्रिधवेति व्याख्यया वाग्दत्तानियोगबोधको मन्वाद्यनुकूल पञ्चमोऽर्थः । तदित्थं सम ति स्मृत्याचाराद्यनुकूलेऽर्थपञ्चके केवल्याऽनयैवोपमया विधवासु यथेच्छमाचरितुमभीप्सन्त कथं न साहसिकाः । रुद्यादिमङ्गापत्याऽनभिमता इमेऽर्था इति चेन्नु पूर्वोदाहृतमन्त्रेषु यथेच्छ व्याख्यास्यतस्तत्रापि दुर्निवार एव रुढ्यादिमङ्ग । पूर्वोदाहृतमन्त्रेष्वपि रुढ्याद्यानु कूल्येन व्याख्याने ॥ तत्र तत्रोक्ता जारचौरादिव्यवहारा अपि धर्मा प्रसज्यन्ते । अनुवादमात्रेण न तेषां धर्मत्वं विधिभावादिति चेत्सम प्रकृते विधवोद्वाहेऽपि नैव धर्मत्वम् । तस्मात्सर्वथाप्यसामञ्जस्येन नेयमुपमा विधवोद्वाह नियोग वा कथमपि धर्मत्वेन बोधयितु प्रभवतीति सम्यगेतत् प्रत्यपीपदाम् ।

अस्यापि मन्त्रस्य यदिदं निरङ्कुशानामुन्मत्तप्रलपितमिवोत्कल्पनायितमिव वा स्वतन्त्रं व्याख्यान्तरं तदपि परिशनप्रक्रमेभ्यस्तत्पाण्डित्यपरिचायनाय तत्सम्प्रक्रियैव पराक्रियेति न्यायेनानुवदितव्यं तद्यथा—"हे (अश्विनौ) विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ युवा (कुह) कस्मिन् स्थाने 'दोषा' रात्रौ 'वस्तो' वसथ, (कुह०) अश्विना दिवसे क्व

वासं कुरुथ (क्वाभि०) कुत्राभिमिरिव प्राप्तिं करत कुरुत (कुहोषतु) क युवयो निंवसथान वासो (।) स्ति । (को वां शयुत्रा) शयनस्थाने युवयो क्वास्ति । इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति, तथैकस्या स्त्रिया एक एव पुरुषश्च, द्वयो परस्पर सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद् वियोगव्यभिचारौ भवतामिति बोध्यते । (विधवेव देवरम्) क केव, यथा देवरं द्वितीय वरं नियोगेन प्राप्ता विधवा इव । अत्र प्रमाणम् देवर कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते (निरु० अ० ३ ख० १५) विधवाया द्वितीय पुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह । विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोग कुर्यान्न कुमारेण सह तथा कुमारस्य विधवया सह (।) च । अर्थात् कुमारयो स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाह स्यात्, पुनरेव नियोगश्च । नैव द्विजेषु द्वितीयवार विवाहो विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्णे एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात् । नियोगिनौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह (मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्य (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते । तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्पर नियोग कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम्" इति (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-नियोगविषये पृ० २२२) तदस्मिन् विद्वच्चेतश्चमत्कारावहे स्वैरव्याख्याने अश्विपदस्य विवाहितस्त्रीपुरुषार्थकत्वे किंवा प्रमाणम् किंवा स्त्रीपुरुषयो शयन स्थानजिज्ञासया वेदप्रवक्तुरीश्वरस्याऽस्य यत्किमपि प्रयोजनम्, किं च विधवेव देवरम्, मर्यं न योषेत्युपमाद्वयाऽप्युपमेयम्, कथं च विधवेव देवरमिति साक्षाद्गृ चोपमानभावस्य स्वयमपि चोपक्रमे उपमानतयैव व्याख्यातस्य शेषे मर्यं न योषे त्येतदुपमेयत्वमकल्पनम्, का च मध्येमध्ये समुद्भूतानां शब्दानां यान्दी गति रित्यादि सर्वमिदमलौकिकप्रज्ञो व्याख्यातानुप्रष्टव्य, कथं च तदाशावैरीयन विधवोद्वाहाय यावद्बलेनैव विचेष्टन्त इति च तदीया अनुप्रष्टव्या । मन्त्रस्य प्रामाणिकमर्थं निरुक्तकृतोऽभिसन्धि च प्रागेव व्यख्यापयाम इत्युपरम्यते विस्तरात् ।

अथेदं प्रमाणान्तरं विधवोद्वाहसमर्थकत्वेनावतारयन्ति—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दते परम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोषत ॥

(अथ० ९ का० २० । ३ । २७)

तदग्रे च—

समानलोको भवति पुनर्भुवा पर पति ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति ॥

अत्राशीदमेव प्रतिवक्तव्यम्—न श्रूयतेऽत्र पुनरुद्वाहविधिर्लेशतोऽपि । पञ्चौदन-प्रशंसाप्रकरणे समाम्नातयोस्तत्रैव मुख्यतात्पर्यवतोरनयोः पूर्वस्मिन् मन्त्रे पूर्वं पतिं परित्यज्यान्यं विन्दन्तीं स्त्रियं तत्पतिं चोद्दिश्य पञ्चौदनमिश्रिताजदानं विधीयते, अवियोगश्च तत्फलत्वेनानुवर्ण्यते। उत्तरस्मिन्नपि पञ्चौदनमिश्रिताजदानं सदक्षिणमनुष्ठितवतः पुनर्भूपतेः पुनर्भूसालोक्यरूपफलसम्बन्धो विधीयते । सालोक्यं चात्र समानस्थानत्वम्, समानभुवनत्वं समानोपभोगकत्वं वा । शुभे स्थाने उपभोगादौ च लोकशब्दप्रयोगस्य बहुशः श्रुताद्युपलभ्यमानत्वात् । तदित्थं पत्यन्तरानुसरणं वैमत्यमत्रानूदितम्, न तु प्राधान्येन तद्विहितम् । एवं च यथा 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादौ यद्यभिचार-मिच्छेत्तदा श्येनेन यजेतेत्यर्थके विधिसंस्पर्शमन्तराऽभिचारस्य नास्ति कथमपि धर्मत्वमिति सुस्फुटं निर्णीतं पूर्वतन्त्रे (मीमांसायाम्) ।

कार्यकारणभावमात्रं तु तत्र श्रुत्यावबोध्यते श्येनयागः शत्रुमारणसाधनमिति । तथैव खलु श्येनाधिकरणन्यायेन प्रकृतेऽपि विधिसंस्पर्शमन्तरा नास्ति पत्यन्तरवेदनस्य धर्मत्वम्, कार्यकारणभावमात्रं तु श्रुत्या बोध्यते पत्यन्तरमनुगता पञ्चौदनेनावियुक्ता भवतीति । यदेव खलु श्रुत्या विधीयते तदेव धर्मः स्यात्, न तु श्रुत्यानूद्यमानमपि धर्मः स्यादित्यसकृदवोचाम । विधीयमानस्य चापूर्वबोध्यत्वमेव, न च प्रकृते मन्त्रे पत्यन्तरवेदनमपूर्वं बोध्यते 'या परं विन्दते' इति यच्छब्दादिना केवलमनूद्यत एवेति न परोक्षमिदं पण्डितानाम् । तस्मान्न सम्भवति विधवोद्वाहविधानेऽनयोरपि मन्त्रयोः प्रामाण्यम् ।

ननु च भो यदि न स्यात्पत्यन्तरानुसरणं धर्म्यं तर्हि मन्त्रे श्रूयमाणोऽयं पञ्चौदनविधिः कावकाशं विन्देत् । न ह्यधिकारसम्पत्तिमन्तरा कश्चिद्विधौ प्रवर्तते, अधिकारिविशेषणतया चात्र पत्यन्तरवेदनं पुनर्भूपतित्वं चानुश्रूयते, तच्चेदुभयमपि धर्ममार्गादपेतमिति प्रतीयेत, तथा च श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यवादिनामास्तिकानां धार्मिकाणां विध्यधिकारसम्पत्तिरेवासम्भविनीति प्राप्तं विधिवैयर्थ्यम् । सोऽयं विधिरेवानुपपद्यमानः पुरुषान्तरवेदनं स्त्रियाः पुनर्भूपतित्वं च पुरुषस्य स्वाधिकारितासम्पत्तये रथकाराधिकरणन्यायेन प्रकल्पयेत् । 'वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीत' इति हि विधी रथकारेषु विद्यासम्बन्धमन्तरानुपपद्यमानो विद्यां तत्र प्रकल्पयतीति नैव तिरोहितो मीमांसकानां सम्प्रघोषः, तथैवाधिकारितासम्पादनं केनात्र विधेर्वार्यम् इति चेन्नैतत्सम्यगनुपश्यन्ति भवन्तः । यथा हि श्येनयागादौ 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानी'ति प्रतिषेधं तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्ततयातिक्रान्त एव भवत्यधिकारी, स च यागविशेषमनुतिष्ठंस्तत्फलमुपभुञ्जानोऽप्यथानुत्तरकालेऽवश्यमनर्थेन युज्यत एव, धर्मातिक्रमणात् । अत एव च श्येनयागादेर्धर्मत्वं वारयितुं 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इत्यर्थपदं लक्षणे निवेशयन्तो जैमिनीयाः, अनर्थं च श्येनं ब्रुवते । तथैव तुल्यन्यायात् प्रबलकामवशंवदीकृता पुनरुद्वाहप्रतिषेधशास्त्रं विगणय्य चातिक्रान्तैव पुनर्भूस्तथैव

प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रान्तवन्तौ तौ भवतोऽनधिकारिणौ । इत्थमेव सामर्थ्येऽधिकारिताउपपत्तये पुनरुद्वाहविधिप्रकल्पनस्यातिगौरवग्रस्तत्वात् प्रदर्शयिष्यमाणपुनरुद्वाहनिषेधवाक्यविरोधापत्तेश्च । यथा च पञ्चौदनानुष्ठानेन तत्सम्भूतावियोगसिद्धावपि भवदेवोत्तरकाले प्रतिषेधातिक्रमस्तु हेतुकोऽनर्थ इति सुसूक्ष्मं विभाव्यताम् । रथकाराधिकरणे हि न विधिमन्तरा सत्यपि वेदाध्ययने प्रवृत्तिरित्यगत्याऽऽधानं कल्प्यते । इह तु रागत एव पुरुषान्तरानुसरणादौ सिद्धा प्रवृत्तिरिति न तदर्थमपि वचनस्यावकाश उपकल्प्य । ननु स रागतोऽतिक्रान्तप्रतिषेधा पुनर्भूः पातित्येन युज्येतेति कुतस्तस्यास्तत्पतेर्वा शास्त्रविहितकर्मस्वधिकारः, पतितानां शास्त्राधिकारबहिर्भूतत्वात् । तथा चाधिकारिणोऽभावात् पुनरपि विधिवैयर्थ्यं प्रसक्तमिति चेन्नैतदेवम् । सत्यपि पातित्ये निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेन कर्मविशेषे विधिनैवाधिकारस्य कल्पनीयत्वात् । यथा हि 'निषादस्थपतिं याजयेद्' इति विधिरनुपपद्यमानतया वर्णत्रयबहिर्भूतस्यापि निषादस्य कर्मविशेषेऽधिकारितां प्रकल्पयति तद्वदेवायमपि विधिः कर्मविशेषे पुनर्भूस्तत्पतेरप्यधिकारितां प्रकल्पयिष्यतीति सामञ्जस्यात् । न चैवमप्यपूर्वकल्पना शिरसि पतितैवेति पथ्यन्तरानुसरणमेव धर्मत्वेन कल्प्यतामिति भ्रमितव्यम् । अपूर्वविधिप्रकल्पनापेक्षयाऽधिकारितामात्रप्रकल्पने लाघवस्य सुस्फुटत्वात् । वचनान्तरविरोधस्य चात्र कस्यऽनवतारात् । अन्यत्र च प्रायश्चित्तादिविधिष्वपि पतितादेरेवाधिकारित्वं श्रुतिस्मृत्याचारसिद्धमिति तद्वदेवात्रापि कर्मणि पतितस्यैव पुनर्भूस्तत्पतेरधिकारिताऽस्तु । तथा हि—स प्रसङ्गमनुसृत्य प्रायश्चित्त एव भगवता कौशिकेन विनियुक्ते—

> यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः ।
> ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् ॥
> (अथ० ६, १२, ११८, ३)

इति प्रागुदाहृते मन्त्रे पारदारिकादेरेवाधिकारित्वं सिद्ध्यति, रमावेषु च द्वादशवार्षिकादिव्रतेषु ब्रह्महादेः सुरापादेश्च चाधिकारित्वं सुसिद्धम् । ननु प्रायश्चित्तस्य पापापनोदकत्वाद्भवतु तत्र पापिनामेवाधिकारिता, तत्कर्मविधिमन्तरा पापापनोदनस्याशक्यत्वात् । कर्मान्तरेषु तु पतिताः किमिति शास्त्रेणाधिक्रियन्ते । एवं हि शिष्टैकसमाश्रयणीयता शास्त्रस्य भज्यते, विपरीतेऽपि च कर्मसु लोकाः प्रोत्साहिता भवन्ति इति चेद्विपरीतमिदं दर्शनम् । येऽत्र खलु मनुष्या तमोद्रेकात् कामक्रोधलोभादिनाऽनभिभवनीये वशीकृता व्यभिचारजारादिषु कर्मसु सर्वथा प्रवर्तितवन्तः स्वेच्छया, ये वा देहात्मवाद एव परं निविष्टाः परलोकसम्बन्धमात्मनोऽनभ्युपगच्छन्त एव परलोकैकफलेषु कर्मसु न प्रवर्तन्ते तेऽपि परमकारुणिकेन शास्त्रेण स्वस्वाभिलषितानुकूलेषु स्वल्पफलेषु तामसादिष्वपि कर्मसु कार्यकारणभावविशेषमनुबोध्य प्रवर्तिताः कथञ्चित्स्वमर्यादायां चेत्नुप्रवेश्यन्ते । एवं हि स्वल्पप्रत्ययेन शास्त्रं विश्वसन्तः क्रमशः

इष्टस्तेऽदपि कर्मसु प्रवर्त्स्यन्ति, शास्त्रविधिमाश्रिताश्च प्राकृतिकं तमोबाहुल्यं शनैः शनैरपहास्यन्तीति। तस्मादेतादृशतमोबहुललोकानुग्रहाय प्रवृत्तं तदर्थमेवोपयुज्यते एवंविधं शास्त्रम्। स्वप्रकृत्या विधिप्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामतश्चापि तानेव पुनः पुनरनुग्रहबुद्ध्या स्वविहितकर्मसु अधिकारमत्रत्योऽप्यावबोध्य प्रवर्तयति, गुडजिह्विकयेव हि बालान् कटुकौषधपाने प्रवर्तयन्ति भिषग्वराः कारुणिकाः। शिष्टानान्तु प्रकृत्यैव शास्त्रेषु विश्वसतां प्रतिषेधशास्त्रातिक्रमणभीतानां पारदार्यं पुनर्भूपतित्वादिषु प्रवृत्तिरेव न जायते इत्यधिकारसम्पत्तिविरहान्नैवंविधानि कर्माणि तेषूपयुज्यन्ते। अधिकारिविशेषगत्वेऽपि न पारदार्यादीनां धर्मत्वमिति व्यवस्थापितमेव किञ्च प्राक्। न च शिष्टानामधार्मिकी प्रवृत्तिरिति नात्र किमप्यसमञ्जसमापद्यते नाम। अत एव च तामसानपि लोकाननुग्रहीतुं शास्त्रविधौ च कथंचित्तान् प्रवर्तयितुं मारण मोहन-वशीकरणादीनां द्यूतविजयादीनामपि चाभ्युपायभूताः प्रयोगविशेषास्तत्र तत्र विधीयन्ते तथा हि।

> इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
> यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्।
>
> (अथर्व० ३।४।१८।१)

इति मन्त्रे सपत्नीबाधनस्य तद्वशगस्य पत्युः पुनः प्राप्तेश्चाभ्युपायः श्रूयते। कृत्स्नमपि सूक्तमिदं पूर्वापरपर्यालोचनया सपत्नीबाधन एव व्यवतिष्ठते। मन्त्रलिङ्गमनुसृत्य च कल्पसूत्रकृता तत्रभवता कौशिकेनापि सपत्नीबाधनाभ्युपाय एवेदं विनियुक्तम्—'इमां खनामीति बाणापर्णीं लोहिता जाया द्रप्सेन खनीय शयनमनु परिकिरति'' (कौशिकसूत्र ४।१२) इत्यादिना। 'इमां खनामीति तृतीयसूक्तेन सपत्नीक्षयकर्मणि बाणापर्णीतृणचूर्णं लोहितवर्णा जाया दध्युदकेन सम्मिश्र्य अभिमन्त्र्य सपत्नीशयने परिकिरेत्' इति व्याख्यातमिदं भाष्यकृता माधवाचार्येण। न च सपत्नीबाधनं भवेद्धर्म्यम् अथापि तत्र प्रवृत्तायास्तदभ्युपायो विधीयत एव।

> उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
> इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥
> आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्।
> तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥
>
> (अथर्व ३।५।२५।१–२)

इदं च सूक्तं मन्त्रलिङ्गेनानुसृत्य स्त्रीवशीकरणे कल्पसूत्रकृता कौशिकेनर्षिणा विनियुक्तम्—"उत्तुदस्त्वेत्यङ्गुल्योत्तुदति, एकविंशतिं प्राचीनकण्टकानलङ्कृताननूक्तानादधाति। सितानकाण्डया हृदये विध्यति" (कौशि० सू० ४।११) इत्यादिना।

यथा वृक्ष लिबुज, समन्त परिषस्वजे ।
एवा परिष्वजस्व मा यथा मा कामि यन्ते यथा मन्नापगा असः ।
(अथ० ६ । १ । ८ ।१)

इदमपि सूक्तमर्थानुसारेण स्त्रीवशीकरणबोधकम्, तत्रैव श्रौते विनियुक्त च ।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु ॥
(अथ० ६ । १३ । १३० । ४)

"देवा प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु" ।

इतीदमपि सूक्त स्त्रिया उन्मादन स्त्रविषये देवान् प्रति प्रार्थयते । कौशिकेन (कौ० सू० ४ । १२) तत्रैव विनियुक्त च ।

स्वपतु माता स्वपतु पिता स्वपतु श्वा स्वपतु विश्पति ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातय स्वपत्वयमभितो जन ॥
(अथ० ४ । १ । ५ सू०)

एष खलु प्रस्वापनप्रयोग । इद सूक्तमवतारयति भाष्यकृन्माधवाचार्य — 'सहस्रशृङ्ग' इति सूक्तेन स्त्र्यभिगमने तस्य तत्परिसरवर्तिना च स्वापनार्थमुदपात्र सपात्य अभिमन्त्र्य तेन शयनशाला प्रोक्ष्य शेषमन्यन्तरद्वारेभिनयेत् । सूत्रित हि– 'सहस्रशृङ्ग इति स्वापनम्, उदपात्रेण सपातवता शाला सप्रोक्ष्यापरस्मिन् द्वारपक्ष न्युब्जति' (कौ० सू० ४।१२) इति । इद च स्वापनमुन्मादन च परदारासक्त स्यैवोपयुज्यते–इति नैतद्विद्विष्य प्रतिपादनार्हम् । न हि परदाराभिगमन धर्म, अथापि तदासक्तस्य तदस्मुपायो विधीयत एव ।

उद्भिदन्तीं सञ्जयन्तीमप्सरा साधु देविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरा तामिह हुवे ॥
(अथ० ४ । ३८ । ३८ । १)

सा न कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा न पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिद धनम् ॥
(पूर्वोक्ते सूक्ते ३)

अत्र द्यूते विजयप्राप्त्यर्थमप्सरसामाह्वान मन्त्रार्थ प्रतीयते । कल्पसूत्रकारश्च भगवान् कौशिकस्तत्रैवास्य सूक्तस्य विनियोगमाचष्टे । "पूर्वास्वाषाढासु गर्त खनति" इति प्रकम्य 'उद्भिदन्ती सञ्जयन्तीं, यथा वृक्षमशनि, इदमुग्राय,— इति वासितानक्षान् निर्वपति, (कौ० सू० ५ । ५) इत्यादिना ।

यो न शपादशपत शपतो यश्च न शपात् ।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षाम तं प्रयस्यामि मृत्यवे ॥
(अथ० ६ । ४ । ३७ । ३)

केनचित्कृतस्य मारणाद्यभिचारस्य प्रत्यभिचारोऽयम्। "यो न शपात्—इत्यनया अभिचारकर्मणि विद्युद्धतवृक्षजा एकादश समिध आदध्यात्" (कौ॰ सू॰ ६।२) इति तद्विनियोगमाह कल्पसूत्रम्। न हि मारणं प्रतिमारणं वा धर्मः, अथापि प्रतिषेधमतिक्रम्य तत्र प्रवृत्तानां तदभ्युपायो विधीयत एव।

"क्लीबं क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्"
(अथ॰ ६। १०। १३८। ३)

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।
ते ते भिनद्मि शम्ययाऽमुष्या अधि मुष्कयोः ॥
(पूर्वोक्त सू॰ ४)

सूक्तकृताऽभिचार एव विनियुक्तयोरनयोः परस्य क्लीबतासम्पादनमर्थः प्रतीयत एव। न हि चैवंविधानि कार्याणि धर्म्याणीति शक्यते केनाप्यभ्युपगन्तुम्।

तथा सत्यधर्मशब्दार्थस्यैव विलोपापत्तेः। तस्मात् क्रोधलोभादिना यः स्वयमेव कर्मसन्निधिषु प्रवर्तते न शक्यते प्रतिषेधशास्त्रेण निवारयितुम्, सम्प्रति तत्तदभीप्सितसिद्ध्युपायमात्रं शास्त्रेण विधीयते, पातकन्तु तत्तदनुचितकार्यकरणप्रयुक्तं नियतमेव। तत्तत्कार्याणां शास्त्रेणाविधानात्। उपायमात्रस्य विधानात्। यदि शास्त्रेण नापि कश्चिदुपायो बोध्येत, अथापि स कथमपि स्वाभीप्सितं साधयेदेव, तीव्ररागाविष्टत्वात्। शास्त्रविधिबहिर्भूतं सर्वथाऽऽत्मानं मन्यमानस्तु स चिराय पतेदेव, स्वमनीषामात्रेणोपायान्तराण्याचरन्नर्थानर्थान्तराण्यप्युत्पादयेत्। शास्त्रीयैरेवोपायैर्व्यवहरंस्तु क्रमेण शास्त्रेषूपचीयमानविश्वासो विधिप्रतिषेधशास्त्राणि सर्वाण्यपि विश्वस्य प्रायश्चित्तादिना वीतकल्मषः सदाचारोऽपि स्यादित्येवाभिसन्धिः कारुणिकस्य शास्त्रस्यात्र प्रसक्तानुप्रसक्त्या।

तथा च वशीकरणदेवनाद्युपायवत् पुनर्भर्तुस्तत्पतेश्चाविप्रयोगसाधनं कर्ममात्रमत्र विहितं प्रतिपत्तव्यम्, न तु पुनर्विवाहस्य धर्मत्वं दोषासंस्पृष्टत्वं वाऽत्र सिद्ध्यति तस्य शास्त्रेणाविहितत्वादिति चिरमिदं दरमुकुलितनेत्रमनुसन्धेयम्। यदि तु धर्मत्वं तन्मात्रेणाभ्युपगम्येत, तर्हि पूर्वोपदर्शितवशीकरणदेवनमारणक्लीबकरणादिष्वपि धर्मत्वं दुर्निवारमेव प्रसज्येतेति।

केचित्तु कस्मैचिद् वाचा दत्तायास्तस्य वरस्य कस्याञ्चिद् विपत्तौ पुनः पुरुषान्तरेण धर्ममनुसृत्य विवाहितायाः एवायं पत्यौदनविधिः। पतिं विन्दा लब्ध्वा, पुनः अपरं पतिं विन्दते इति पूर्वपतिलाभमात्रानुकीर्तनात्। लाभश्च वाचा दत्ताया वाप्यभिमानमात्रेणोपपद्यत एव। अस्तु वा 'विचारणार्थकस्य विदेरिदं रूपम्। तथा च पूर्वं पतित्वेन विचार्यानन्तरं परं विन्दते लभते इति वाग्दत्ताविषयतैव सुस्फुटमुपपद्यते। व्याख्यातव्या च शास्त्रीयं नियममनुसृत्य पुनर्भूः स्मार्ते प्रकरणे।

तद्विषयतयैव मन्त्रद्वयमिदमुपपादनीयम् । यस्य कस्यापि विध्यधिकारितालाभे सर्वंथ तत्प्रकल्पनस्यानावश्यकत्वात् । ततश्च सामञ्जस्येनैव मन्त्रद्वयमिदं श्रुतिस्मृत्यविरोधेन व्यवस्थापयन्तीति, *अथार्थान्तरं वा व्याख्यास्याम* । या पूर्वं पूर्वकाले, *अपूर्वमिति* छित्वा विलक्षणं स्वाभिमतमिति पतिविशेषणं वा, पतिं वित्वा लब्ध्वा अथ पतिवेदनानन्तरम्, अन्यं तदतिरिक्तं पुरुषं, परं विन्दते यत्नेन लभते परमेव ज्ञानातीत्यर्थः । अस्तु वा 'विचारणार्थकस्य विदेर्विकरणव्यत्ययेन च्छान्दसेन विन्दत इति रूपम् । तेनान्यं परमेव विचारयति स्वपरत्वेन सम्यगनुरक्ता मन्तव्यत्वेन पतिव्रतैव पूर्वोक्तेन लब्धा । तथा च पत्युर्वियोगमसहिष्णु तामुद्दिश्य 'पञ्चौदन न ताक्षम्' इति पञ्चौदनविधानम्, अवियोगस्य च सत्फलत्वेनानुवर्णनं समञ्जसमेवोपपन्नम् । द्वितीयेऽपि मन्त्रे 'पुनर्भुवा पुनर्भवति जायत इति तथाभूतया द्वितीयपत्न्या इति यावत्, परं उत्कृष्टं धर्मशील, पतिं, समानलोको भवति, न कदापि वियुज्यते' इत्येवमर्थके पुरुषस्यैव द्वितीयो विवाह कथमपि सिद्ध्यति न तु स्त्रियाः । न चैन पुनर्भूशब्दस्य रूढिर्विरुध्येत, अतो तस्य रूढत्वे प्रमाणाभावात् ।

सनादेव परिभूता विरूपे पुनर्भूता युवती स्वमिरेवै । (ऋ१।९२।८) इत्यादौ हि सर्वत्रैव पुन पुनर्जायमाने युवती राज्युषसी इति पुनर्भूशब्दार्थो यौगिक एवाख्यायते । तथैवात्रापि, नन्वस्तु यौगिक एव द्वितीया स्त्रीति पुनर्भूशब्दार्थ । तेन स्त्रिया पुनर्विवाह सर्वथैव न विषयीकरोति मन्त्रद्वयमिदमिति । अन्येऽपि स्वयमूह्याः सुधीभिरर्थभेदा, युक्तायुक्तता च तयोर्विवेच्येति तृतीयमपि सम्यक् परीक्षितप्रमाणम् ।

तदित्थमापातत कथचिद्विधवोद्वाहपरत्वेन समाभ्यमानेषु मन्त्रेषु विस्तरेण स्फुटवास्तविकार्थबोधनेन तद्विषयकतया व्याख्यातेषु या काश्चन श्रुतय केवलं मन्दमतीन् प्रतारयितुमुपन्यस्यन्ते तत्पक्षपातिभिस्ता अपि सङ्क्षेपतो याथार्थ्ये व्यवस्थाप्यन्ते । तत्रैव विवाहकालिकी वरकर्तृकमन्त्रप्रार्थना—

> इमा त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रां सुभगां कृणु
> दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ।
>
> (ऋ १०, ८५, ४५)

अस्यार्थ —मीढ्व—सेचनकर्त । इन्द्र त्वमिमां स्त्रियं सुपुत्रां सुभगां च कृणु कुरु । अस्यां दश पुत्रानाधेहि—उत्पादय, एकादश च पतिं कृधि कुरु, रक्षेति यावत् । देवा एव मनुष्याणां रक्षितारस्तत्तच्छक्तिप्रदातारश्चेति वैदिकं दर्शनम् । 'देवानामिदवो महत् तदावृणीमहे वयम्' (ऋ ८।८४।१) 'देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवान आयु प्रातरन्तुजीवसे' (ऋ १।८९।२) इत्यादिभिर्भूयोभिर्मन्त्रैर्वहुधो देवकर्तृकस्य रक्षणस्य प्रार्थ्यमानत्वात् । देवनामेवचाध्यात्ममपि तत्त

चतुष्टिप्रयोजकत्वात् । तथैवात्रापि निजगदमीश्वरादिन्द्रात्तत्यौ दशपुत्रोत्पादन योग्या प्रजननशक्ति, स्त्रिया गर्भधारणशक्ति पत्युश्चिरजीविता च समाप्यंते इति नात्र किमप्यधिकं वक्तव्यं पश्याम । न ह्यस्मिन् मन्त्रे पुनर्विवाहस्य नियोगस्य वा गन्धमात्रमपि प्रतीयते–इति स्फुटमक्षरमुत्तानामपि । यत्तु पत्यौ श्रूयमाणेयमेकाद शसंख्या सजातीयै पतिभिरेव पूरणीया, न तु विजातीयै पुत्रैरिति पत्युरेकादशत्व सिद्धये पुनरुद्वाहो नियोगो वावश्यमुररीकार्य इति, तदेतदत्यन्तमुपहासाय प्रेक्षाव ताम् । 'अयो वय गृहे निवसाम', एकोऽहम् द्वितीया माता, तृतीयश्च पितेत्यादा पामर प्रसिद्ध व्यवहारे पितृस्तृतीयस्त्वेक्त्या न हि कश्चिदपि त्रीन् पुत्रान् प्रतिपद्यते । न वा 'एते मे द्वे महिष्यौ, तृतीया च गौ' इत्युक्ते तिस्रो गाव एव लोकैऽवबुध्यन्ते केनचिदपि । शास्त्रेऽपि 'ऋग्वेद भगवोऽध्येमीत्याद्युपक्रम्य 'इतिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेदम् (छान्दोग्योपनिषत् ७ प्रपा १ ख) 'वेदानध्यापयामास महाभारत पञ्चमान्' इत्यादौ विजातीयरेव सख्या पूर्यते, अवबुध्यते च सम्यक् तथैव सर्वैरपि । तस्मात् सजातीयैरेव सख्यापूरणमिति कुतस्त्योय नियम । तस्माद् 'दशास्या पुत्रानाधेहि' इत्युपक्रम्य पुत्रसंख्या परिगणय्य श्रूयमाणानामनुपस्थितानां दशाना पतीनां प्रकल्पन सर्वथैवाप्रामाणिकम् । न चात्रैकादशपतय श्रूयन्ते, किन्त्वेका दश पति । पूरणप्रत्ययान्तशब्दोपादानात् । ततश्चैकादशस्य पत्युरेव कथ मनेन विधानेन द्वितीयादीना दशमान्तानां पतीना कि विधायकमस्तु ? कश्चेद विवाहे प्रार्थयते वर आचार्यो, ब्रह्मा, वधू, अन्यो वा तत्सम्बन्धी । न तावद् वधू, तस्या 'अस्या पुत्रानाधेहि' इति प्रथमपुरुषत्वेन श्रूयमाणत्वात् । नापि वरस्य युज्यत इय वक्ता एकादशपतिप्रातिप्रार्थनामुखेन स्वस्याविलम्बित यमसदनगमनप्रार्थना । आचार्यब्रह्मादयोऽन्ये वा वरसम्बन्धिन कथमेतत् प्रार्थयन्ताम् । भूयो भूयो विवाहे दक्षिणाधिक्यलोभेन प्रार्थयन्ते चेद् ब्रह्मादय क एषां हताशानामविदा प्रार्थनामनुमन्येत । अहो ! यत्र विवाहे आयुष्मानस्तु मे पति रेधन्ता ज्ञातयो मम' 'मया पत्या प्रजावती सं जीव शरद शतम्' 'जीवेम शरद शतम्' 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' 'वीरसूर्पती पतिलोक विराज' इत्यादिभि, प्रतिपदमनुप्राप्यन मङ्गल वरवध्वोश्चिरजीविता च 'अस्मेव त्व स्थिरा भव' 'एना पत्या तन्वं ससृजस्व' 'सुमङ्गली प्रतरणी कुल इयम्' 'शा नामनुमना भव' 'यदिद हृदय तव' इत्यादिभिश्च शतशोऽप्यागामिता प्रार्थ्यते सदा, तत्रैवनामेकादशपति-प्रार्थनानुपपन्नतया सम्यगुपदर्शित बुद्धवैभवम्, परा तु शास्त्रमर्यादेत्यत्यन्तविघट्टितेन ।

यत्तु ज्ञापनपरत्वे ईश्वर आज्ञापयति । हे इन्द्र विवाहितपते ! मीढ्व– हे वीर्यदानकर्त ! त्वमिमा विवाहितास्त्रियं (वीर्यदानेन) सुपुत्रां कुरु । तां)

सुपुत्रा श्रेष्ठपुत्रवतीं सुभगां अनुत्तमसुखयुक्तां कृणु कुरु । अस्यां विवाहितस्त्रियां दश पुत्रानाधेहि उत्पादय । (नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादन स्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा) पतिमेकादशं कृधि (हे स्त्रि त्वं विवाहितपति गृहीत्वैकादशपतिपर्यन्तं नियोगं) कुरु । (अर्थात् कस्या चिदा पत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्या अभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्यन्तं नियोगं कुर्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रिया मृताया सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशभ्यो विधवया सह नियोग करोत्विति । इच्छा नास्ति चेमा कुरुताम्)" इति । सेयं व्याख्या मन्त्रानुक्तस्वकपोलकल्पितार्थसहस्रा सुखमस्तीति वक्तव्यम् । इति न्यायमालम्ब्य प्रवृत्ता कुमाराणामपि यद्यप्युपहासायैव तथापि कौतुकायैव मनाक् परीक्ष्यते कश्चिद्विशेषमर्थमभिधातुम् ।

(वेदमन्त्रार्थशैली)

भवति खलु वेद ईश्वरेणैव सर्वशक्ति सर्वेश्वरवादि वैशिष्ट्येनोपदिष्ट इत्यास्तिकानां दृढतमो विश्वासस्तथापि तपस्यता तत्तेषामृषीणां बुद्धितत्वेऽयमाविर्भूतस्तन्मन्त्रादि-नि दृष्टवन्तोऽपि तत्तन्मन्त्रार्थानुसन्धानकाले स ऋषिरेव वक्तृत्वेनानुसन्धेयो भवति । अत एव मन्त्राणां स्वाध्याये कर्मणि वा विनियोगे तत्तदृषिदैवतच्छन्दस्मरणमावश्य कमामनन्ति "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा, स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते, प्रमीयते वा पापीयान् भवति, तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्" इत्यादिश्रुतिषु ।

> अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
> योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः ॥

इत्यादिस्मृतिषु, 'एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते, जपति, जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयाम भवतीत्यादि शुक्लयजुर्वेदीयानुक्रमणिकादिषु च । तत्र ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, येषां मनसीश्वरप्रेरणया मन्त्रार्थो मन्त्रा वा आविर्भूताः । तदाह ब्राह्मणप्रमाणेन निरुक्तकृद् भगवान् यास्कः 'ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः । तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते (ब्राह्मणम्) (निरु अ २ ख. १२) अन्यत्रापि च ।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायस्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् इति ।

(ऋ. १०।७१।३)

'मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि' इति च । (मुण्डकोपनिषत्) ।

"तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे, य उ तर्हि ऋषय आसु" (शतपथे २।२।१।१४) 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' (निरुक्त १ अ.) इत्यादिषु च तत्तदर्थपरोक्षद्रष्टृत्वमुक्तमृषीणाम्। एते मन्त्रादिद्रष्टारोऽनुक्रमणिकादिषूपनिबद्धाः।

देवता च मन्त्रप्रतिपाद्योऽर्थः। तदुक्तं निरुक्ते 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' इति (निरु.अ.७ख.१) आर्थपत्यं स्वप्रयोजनाभिसम्बन्धमित्यर्थः। ततश्च यथा लौकिकेषु वाक्येषु सम्यगर्थविज्ञानाय वक्तुर्वक्तव्यस्य च ज्ञानमावश्यकं भवति तथैव मन्त्रेष्वपि सम्यगर्थविज्ञानाय वक्तुर्ऋषेर्वक्तव्यस्य दैवतस्य च विज्ञानमावश्यकमित्येव मन्त्रार्थनिर्वचकानां दृष्टिः। तथा च तत्तन्मन्त्रदर्शकस्य ऋषेरेव वक्तृत्वमभिसन्धाय मन्त्रार्थं प्रवर्तितव्यमिति सुस्फुट एवायमर्थः। कर्मसु विनियुज्यमानानां तु मन्त्राणां प्रयोक्तुः स्वस्यैव वक्तृत्वमनुसन्धातव्यं स्यात्, तत एव तत्तत्कर्मफलानां स्वस्मिन्ननुसन्धानमुपपद्येत। मन्त्रदर्शकेन तेन तेन ऋषिणाऽप्यनुष्ठितान्येव तानि कर्माणि, स खलु येन येन विधानेन यथा यथानुसन्धानेन यथा वा स्तुत्या स्वस्य कर्मणः फलेनाभिसम्बद्धस्तथैव सर्वमप्यस्मदादिभ्योऽप्युपदिदेशेति तद्दिदृक्षयाऽस्मदादिभिरपि स्वस्य वक्तृत्वमभिमन्यमानैस्तथैव स्तोतव्यम्, तथैव भावयितव्यम्, तथैव चानुसन्धातव्यम्, येन फलेनाभिसंबध्नीयाम। ईश्वरोक्तत्वानुसन्धाने तु नेश्वरस्य फललिप्सा, न वा तेन तानि कर्माण्यनुष्ठितानि इति तत्तन्मन्त्रार्थवैयाकुल्यं प्रसज्येत। वेदार्थनिर्वचनमेव हि लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्तेन भगवता यास्केनापि वेदप्रतिपाद्यान् विषयान् सङ्क्षेपतः समुपदर्शयता 'अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः' 'अथाप्याशीरेव न स्तुतिः' 'अथापि शपथाभिशापौ' 'अथापि निन्दाप्रशंसे' इत्याद्यभिधायान्ते 'एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' इत्युपसंहृतम् (निरु. दैव. का. १ अ.- ३ ख.)। तेन मन्त्रदर्शकानामृषीणामभिप्राया एव वेदार्थनिर्वचने सहकारिणः, तन्मुखादेव मन्त्राणां विनिसृतत्वादिति स्फुट एव तस्य सिद्धान्तः।

ब्राह्मणेष्वपि चैतरेयादिषु मन्त्रार्थमवतारयितुं 'तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनूवाच' इत्यसकृदभिहितम्। तेन मन्त्रार्थनिर्वचनकाले ऋषीणामेव वक्तृत्वमनुसन्धातव्यमिति ननु स्थापितमेव। युक्ततरं चैतत्। धन-पुत्र-पश्वाद्यादियाचनापराणां, पूर्वापरकालसम्बन्धबोधकानां, वक्तृषु क्रोधद्वेषादिविकारबोधकानां, वक्तृषु दुरितादिसम्बन्धं पितृपुत्रादिसम्बन्धं च स्थापयतां, स्वस्मिन्नज्ञानादिसम्बन्धं विविधधर्मसम्बन्धं च प्रकाशयतां, नामग्राहं प्रत्यक्षस्तुतियाचनाद्यभिदधतां, पारस्परिकं संवादमाचक्षाणां, शपथाद्यर्थकानां च मन्त्राणां नहीश्वरस्य वक्तृत्वमभिसन्धाय सामञ्जस्येनार्थ उपपद्येत। एवमर्थका एव प्रायेण वेदचतुष्टय्यां मन्त्राः, दिङ्मात्रं तूदाहरिष्यामः।

'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां सुवर्चा मुखेन सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' (निरुक्तोद्धृतो मन्त्रभागः)

या वः शर्म शशमानाय सन्ति, त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि ।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम् ॥
(ऋ० मं० १ सू० ८५ मन्त्र १२)

मा नो वधीरिन्द्र मा परा दा मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः ।
आण्डा मा नो मघवञ्छक्र निर्भेन्मा नः पात्रा भेत्सहजानुषाणि ॥
(ऋ० सं० १। १०४। ८)

इत्याद्या प्रार्थना । यद्युत्पेतारस्त एव, क एतत्सर्वं प्रार्थयते ईश्वर स्तुति, इदानीन्तन (धर्मेषु) मन्त्रोच्चारयिता वा । [illegible] श्रुतिरिदानीन्तनो मन्त्रोच्चारयिता चेत्येव युक्तमिति सुगमः पन्था । प्रार्थयितुरेव चास्मच्छब्दवाच्यता, तदैव च वक्त्रानुसन्धानेन सामञ्जस्यमर्थस्य ।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम् ।
(ऋ० १। १। १)

इत्याद्या स्तुतय, सर्व एव मन्त्रा भावेन स्तुतिघटिता । स्तोतुरेवास्मच्छब्दवाच्यता वक्त्रनुसन्धानं च युक्तिमत् ।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । (ऋ० १। १। २)

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् । यं ते पूर्वं पिता हुवे ।
(ऋ० १। ३०। ९)

आभोगयं प्र यदिच्छन्त ऐतनापाकाः प्राञ्चो मम केचिदापयः ।
सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम् ॥
(ऋ० १। ११०। २)

विश्पला यस्थमवाथ ... या भूत्र्वाथ मूर्तं श्रुत्र्यान् ।
(ऋ० १।११२।१०)

निष्टौग्र्य पारयथ समुद्रात्पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम् ।
(ऋ० १।११७।१६)

इत्यादिषु वक्त्रपेक्षया पूर्वकालोऽप्यर्थं स्फुटमवभासते । स च सृष्ट्यादावृषीणां मध्ये सर्वेषां पूर्वं संभवेत्तु कर्तुर्जगदीश्वरस्यापेक्षया ।

ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका [illegible] ।
तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥
(अथ ४।३६।७)

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्याययस्व ।
आ वयं प्यासिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥
(अथ ७का ८१।५)

न किर्देवा मिनीमसि न किरा योपयामसि ।

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि (ऋ० १० । १३४ । ७)

एवमेषु बहुषु स्थलेषु मन्त्राणां [illegible] कर्मकाण्डे च प्रदृश्यते । [illegible] ।

[illegible] ।

[illegible] ।

[illegible] । ऋ० ७।११३ । १

[illegible] प्रदृश्यते,—[illegible] ।

(अथ० ८।१।१७)

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन ।

यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥

(ऋ० १।३६।१)

कण्वासो वां ब्रह्म कृण्वन्त्यध्वरे तेषां सु शृणुतं हवम् ।

(ऋ० १।४७।२)

[illegible] ।

(ऋ० १।४८।५)

अकारि त इन्द्र गोतमेभिर्ब्रह्माण्योक्ता नमसा हरिभ्याम् ।

सुपेशसं वाजमा भरा नः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ।

(ऋ० १।६३।९)

एवमेषु मन्त्रेषु ऋषीणां नामग्रहणपूर्वकं स्तुति—प्रार्थना-उपासना-दिकमुपलभ्यते । [illegible] ।

[illegible] । (ऋ० १।२२।८)

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।

सखायः स्तोमवाहसः । (ऋ० १।५।१)

[illegible] ।

[illegible] आ नय (ऋ० १।४५।४)

एवमेषु [illegible] ।

(यजमानं प्रति ऋत्विजः)

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया यो मामोघं यातुधानेत्याह ।

(ऋ० ७।१०४।१५)

इत्यादौ च शपथ उल्लिख्यते । कुत श्रुतिसमुद्रावगाहनेऽस्मादृशा शक्ति, स्वयमालोच्यतामधिक जिज्ञासुभि । सर्वमप्येत मन्त्रद्रष्टृणामृषीणा कर्मसु दीक्षिताना वा वक्तृत्वमनुसन्धाय मन्त्रार्थकरण समुपपद्येत, न तु जगदीश्वरस्य वक्तृत्वमनुसन्धाय कोऽप्येषामर्थ स्यात् । ननु जगदीश्वर एवास्मदादीनेव स्तोतुमेव प्रार्थयितुमेवमुल्ल लितु च शिक्षयतीति न तस्य वक्तृत्व हीयत इति चेन्ननु को ब्रूते नेश्वर शिक्षयतीति । सर्वथैवाशक्तोऽल्पज्ञश्चाय जीव ईश्वरपरतन्त्रो न स्पन्दितुमप्यल तदनुग्रहमन्तरा किं पुनर्विज्ञाननिधिमेवविध वेद द्रष्टु कर्तुं वा । ततश्चेश्वरप्रेरणयैवाधिगतो वेदो महर्षिभिरिति निरस्तसन्देहमनुरुध्य इदतम विश्वसिम । येषान्तु मुखादीश्वरेण प्रकटिता मन्त्रास्त एव तद्वक्तार ऋषय, तेषामेव चोक्तिरियमित्यनुसन्धाय तत्तन्मन्त्रार्थ उपपद्यत इत्येव केवल प्रतिपादयाम । अस्मच्छन्दादिना च तत्तन्मन्त्रसम्बन्धेनानुक्रमणिकादिपूक्ताना तेषामृषीणामेव ग्रहणम्, कर्मणि मन्त्रप्रयोक्तुर्वा प्रार्थनादिषु वक्तृत्वमनुसन्धीयत, स्वसम्बन्धेनैव तत्त वस्तुन प्रार्थ्यमानत्वात् । ततश्च य इदानीन्तना 'ईश्वर आज्ञापयती' त्याद्यसार्य मन्त्रार्थे प्रवर्तन्ते ते नितान्त भ्रान्ता । लौकिकेष्वपि वाक्येषु वाक्य प्रयोक्तुस्तदभिप्रेतस्य (कविनिबद्धवक्तु) र्वा कस्यचिद्वक्तृत्वानुसन्धानमर्थबोध काले दृश्यते, न तु प्रेरयितु कस्यचित्सत्त्वेऽपि तदुक्तित्व केनाप्यवधार्यते । अस्मच्छब्दादिना च तयोरेवोभयोरन्यतरस्य ग्रहणं भवति, 'मदीय पुत्र आगत' तेनोक्तम्–'मम शिरसि पीडा' इत्यादौ । यस्माज्जगन्नियन्तु प्रेरकत्वेऽपि न तस्य वक्तृत्व मन्त्रार्थेऽनुसन्धेयम्–अपि तु ऋष्यादीनामेव । सर्वेषा मन्त्राणामेकया शैल्यार्थ निर्वचनसम्भवे क्वचिज्जीवोक्ति क्वचिदीश्वरोक्ति क्वचिदन्यस्य कस्यचिदुक्तिरिति निष्प्रमाणकस्य वैरूप्यस्य नितरा कल्पयितुमयुक्तत्वात् । न ह्युपदर्शितमन्त्राणामीश्वरोक्तित्वेऽभ्युपगते सम्भवति कथमप्यर्थ इति प्रत्यपादयाम । अत एवेश्वरोक्तित्वमभिसन्धायार्थे प्रयतमानाना क्वचिदीश्वर आज्ञापयति, क्वचिच्चेश्वरप्रेरिता वयम्–इति स्वेच्छापरिकल्पित प्रमाणरहितमर्द्धजरतीय पदे पदे शिरसि पतितम् । किमन्यत् एकस्मिन्नेव सूक्ते क्वचित्कस्यचिद्वक्तृत्वमाश्रितम्, क्वचिच्च कस्यचिदिति तद्भाष्य पर्यालोचयतामपरोक्षमिद विलक्षण चरितम् । अस्माक तु ईश्वरस्य प्रेरकत्वम्, वक्तृत्व [illegible] ऋषीणामवेत्यभिसन्धाय प्रवर्तमानाना न क्वचिदपि शैलीभङ्ग । येऽपि खलु 'सगच्छध्व सवदध्व' समानी व आकूति समाना हृदयानि व ' इत्यादय उपदेशा ईश्वरप्रवक्तृकत्वेन परैरभिसहितास्तेऽपि ऋषीणामीश्वरप्रेरणयोपदेशकत्वमाश्रित्य सर्वेऽपि सम्यगुपपद्यन्ते । व्याख्याताश्च तत्रभवन्तो माधव

महीधरप्रभृतयो वेदभाष्यकृतः सर्वत्रैव ऋष्यादीनां वक्तृत्वमनुसन्धाय मन्त्रार्थे प्रवृत्ता इत्यलमनया प्रसङ्गपतितया बहुतरं निन्द्यमानया कथया।

ततश्च प्रकृतेऽपि (इमा त्वमिन्द्रमीढ्वः) इति मन्त्रे ईश्वर एतदनुशास्ती त्याद्युपक्रम्योपन्यस्तं व्याख्यानं सर्वथा न श्रद्धेयमेव प्रेक्षावताम्। अपि तु कर्मण्यस्य विनियुक्तत्वान्मन्त्रस्यास्य प्रयोक्ता विवाहकर्ता वर एव ऋषिणा वक्तृत्वानभिमतोऽत्र प्रार्थकत्वेनानुसन्धेय.। न च स त्वातिरिक्तमेकादशं पतिं स्त्रियाः प्रार्थयेतेति पूर्वमुपपादितमेव विस्तरेण। एवम् 'इन्द्र' 'मीढ्व' इति पदाभ्यां विवाहितपते संबोधनमपि निरर्थकं प्रलपितमश्रद्धेयं प्रेक्षावताम्। इन्द्रवरुणाग्न्यादीनां विलक्षणानामेव देवानां मन्त्रेषु स्तुतिर्न मनुष्याणामेव स्तवनमात्रमिदमर्थस्य सर्वसमत्वात्। स हीन्द्र इव दुष्टघ्नो यो 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' (ऋ० १।३२।१)

इत्युपक्रम्य श्रुत्यैव भगवत्या वृत्रहन्तृत्व–स्थावरजङ्गमाधिपतित्वादिना संकीर्तित। यश्च 'नेन्द्रादृते पवते धाम किंचन' इति सर्वत्र व्यापकत्वेन मन्त्रे स्तुतः 'स जना स इन्द्र.' (ऋ० २।१२ सू०) इति च बहुभिर्लक्षणैरुपपादित.। 'वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान' (निरु० अ० ७) इति भगवता यास्केन वान्तरिक्षस्थो य आख्यात.।

> सप्तस्य ऋद्धिरवयगन्मज्योतिरमृता अभूम।
> दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्ज्योति.।

'चित्रं देवानामुदगादनीकम्'

इत्यादिषु बहुषु मन्त्रेषु स्फुटं देवानामिन्द्रादीनां दिवि वान्तरिक्षे वा स्थितिराख्यातेति मनुष्याणामेव देवत्वकल्पनं किमन्यत् स्यात्प्रमादात्। वेदव्याख्यानादिताभङ्गभयादितिहासान् वेदेषु नाभ्युपगच्छसि, विवाहकर्तृमनुष्यादीनां संबोधनं त्वभ्युपगच्छसि मन्त्र इत्यहो ते बुद्धिकौशलम्। मनुष्या' किमु श्रुतेः पूर्वमेव जाताः? विवाहाश्च किं पूर्वमेव प्रवृत्ता.? अथ भविष्यन्तोऽपि श्रुत्या लक्ष्यीकृतास्तर्हि कुतो न मनुष्यविशेषाणामितिहासा अपि लक्ष्यीकृताः? अन्यथा किमु भूतिर्न तान् विजानातीत्यहो श्रुतौ भक्तिः। अथ 'इमां त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि' इति पादद्वयमीश्वरेण पुरुषं प्रत्याख्यातम्, 'पतिमेकादशं कृधि' इति चतुर्थस्तु पाद' स्त्रियं प्रत्याख्यात इति केन स्वप्ने संदृष्टस्तव मन्त्रानुपदिष्ट? यदि चेश्वरस्य सामान्येनेयमाज्ञा, तर्हि कुतोऽस्यापद्धर्मत्वम्? कुतो वा नैकादशमपि पतिमव्यभिचरन्ती सुशीला वराकी निःसुखेयमीश्वराज्ञया इति पतितेति न विगीयते? आस्तामिदमुपकुट्टनम्। नायमपि मन्त्रः कथमपि प्रमाणं विधवोद्वाहे इति प्रसाधितम्।

अथ नद्या प्रवाहपतिता कुशकाशमवलम्ब्य जिजीविषव इव परे विधवोद्वाह समर्थयितुकामा इद मन्त्रखण्डमवलम्बन्ते ।

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' ।

व्याध्यादिना क्लीबत्वादिना वा अशक्तनामुपगत पति स्त्रिय रिरंसमाना मिदमाह 'सुभगे सौभाग्याभिलाषिणि, मत् मत्त, अन्यमपर, पतिमिच्छस्व, अह मिदानीमशक्तस्तव मनोरथाना प्रपूरणे' इति तदीया व्याख्या । नैतत्कृतबुद्धि भिर्दृष्टिपथमप्युपनेतुमर्हं प्रमाणम् केवल पूर्णो मन्त्र प्रकरण चैतदीयमालोच्यम् ।

ऋक् सहितायां किल दशमे मण्डले दशममिद सूक्तम् 'ओचित्सखाय सख्या ववृत्या' मित्यादि । यत्प्रकृत्याशयतेऽनुक्रमणिकायाम् 'ओचित् चतुर्दश (विशति) (चतुर्दश मन्त्रा इह सूक्त इति भाव) वैवस्वतयोर्यमयम्यो सवाद । पञ्चयुग्मि (पञ्चम्या ऋचा, अयुग्मिश्च प्रथमातृतीयादिऋग्भिरित्यर्थः) यमी मिथुनार्थे यम प्रोवाच स ता नवमीयुग्भि (नवम्या युग्भिश्च) प्रत्युवाच प्रत्याचष्टे' इति । तथा च भ्रातृभगिन्योर्यमयम्योरुक्तिरूपमिद सूक्तम् । पूर्वैकर्चा यमी बालिशतया भ्रातर यम स्वोपयमार्थं प्रार्थयते अथ परया अभिज्ञो यमो भ्रातृभगिन्यो परस्पर विवाहे दोषमुपदर्श्य तदुक्तिं निराकरोति । अयमेव तावदनुक्रमणिकायामुक्तोऽर्थो—

> किं भ्राता सद्यदनाथ भवाति किमु स्वसा यन्निऋृतिर्निगच्छात् ।
> काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्व ■ पिपृग्धि ॥ ११ ॥

(यस्मिन् भ्रातरि सति भगिन्यादिकमनाथ भवति, तेन किम्, यस्या च भगिन्या सत्यां भ्रातर निऋृतिर्दुःख निगच्छति तया भगिन्यापि किम् । कामेन मूता मूर्च्छिताहमेतद्बहु रपामि प्रल्पामि, मे तन्वा तन्व स्वशरीर सपिपृग्धि सयोजयेति यमी) ।

> न वा उ ते तन्वा तन्व सपृच्या पापमाहुर्य स्वसार निगच्छात् ।
> अन्येन मत् प्रमुद कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १२ ॥
> (यम)
>
> बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदय चाविदाम ।
> अन्या किल त्वा कक्ष्येव युक्त परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥ १३ ॥
> (यमी)
>
> अन्यमू षु त्व यम्यन्य उ त्वा परिष्वजात लिबुजेव वृक्षम् ।
> तस्य वा त्व मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व सविद सुभद्राम् ॥१४॥
> (यम)

इत्येवमादिभिरेतत्सूक्तघटिताभिर्ऋग्भिरपि सुस्पष्टं प्रतीयते । भ्रातृभगिन्योरेवेमे उक्तिप्रत्युक्ती तत्र चानौचित्यादेव प्रत्याख्यानं न स्वप्राकृतनयेति नैव दुरवबोधश्च सुगमतामर्थः । निरुक्तकारोऽपि च भगवान् यास्क एतत्सूक्तसम्बन्धिनम्, अन्यमूषु इत्यादिमन्त्रं व्याचक्षाण आह "यमी यमं चकमे, तां प्रत्याचचक्षे इत्याख्यानम्" इति । (निरु० दै० का० ५)

अथ काविमौ यमीयमाविति चेत्स्वर्गवासिनौ सूर्यपुत्रौ शरीरविशेषौ चेतनौ देवाविर्येतिहासिका मन्यु । अहर्यमः, रात्रिर्यमी न तयोः कदापि समागमो भवतीत्यत्र सूक्ते दर्शितमिति रूपकरसिका । सहजातौ भ्रातृभगिन्यावेव ताभ्यां शब्दाभ्यामुच्येते, न हि तयोर्विवाहः शिष्टानुमोदित इत्येतल्लोकमात्रनिष्ठा । बृहदारण्यके हि प्राणविशेषाणामेव देवत्वमाख्यातमिति प्राणविशेषावेव यमीयमौ, न च तयोः कदापि एकत्रावस्थितिर्भवतीति सोऽयमेवार्थो रूपकविधया भ्रातृभगिन्योर्विवाहः प्रतिषेधमनाख्यात् इति विज्ञानकुशला । अतिगभीरं देवविज्ञानमिदं नात्रान्यपरे लघुनिबन्धे प्रपञ्चयितुमर्हम्, भ्रातृभगिन्योः संवादरूपेणैवात्रोक्तिप्रत्युक्ती इति तु मन्त्रार्थपर्यालोचकैर्नापलपितुमर्हं कथमपि । तदित्थं सर्वथा भ्रातृभगिन्योः संवादरूपतया सिद्धेऽस्मिन् सूक्ते दशमीयमृक्—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

'यत्र येषु कालेषु, जामयो भगिन्यो, अजाम्यभ्रातरं पतिं कृणवन् करिष्यन्ति, तान्युत्तराणि युगानि कालविशेषा, आगच्छान् आगमिष्यन्ति (इतो भाविनि समये स्त्रिय पतिवरणं करिष्यन्तीति भाव) (देवसृष्टिकाले मैथुनजन्याया प्रजाया अभावादिव भविष्यत्कालोक्ति सम्भवेत) यस्मादेवं तस्मात्त्वं सुभगे त्वमिदानीं मत्तोऽन्यं भर्तारमिच्छस्व कामयस्व तदनन्तरं वृषभाय तव योनौ रेत सेक्त्रे पुरुषायात्मीय बाहुमुपबर्बृहि शयनकाले उपबर्हणं कुरु'—इत्येतदीया भाष्यकृन्माधवोक्ता समीचीना व्याख्या । निरुक्तकृतापि च व्याख्यात एष मन्त्र —'आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामय करिष्यन्त्यजामि कर्माणि । (जाम्यतिरेकनाम, बालिशस्य वा, असमानजातीयस्य वोपजन) उपधेहि वृषभाय बाहुम्, अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम् । (निरु० अ० ४)

जामिशब्दार्थं विनिश्चेतुं प्रवृत्त एष निरुक्तग्रन्थ । तथाभिभाषितेषु त्रिष्वर्थेषु असमानजातिबोधकोऽत्र जामिशब्द इति भगिनीमाह, भ्रातुरसमानजातीया स्त्री स्वाद्भगिनी भवति इति व्याचष्टे भाष्यकृद् दुर्गाचार्य । येषु जामय —भगिन्य, भ्रातृणाम् 'अजामि' योग्यानि मैथुनसम्बन्धीनि 'कर्माणि' करिष्यन्ति । कलियुगान्ते हि तादृश सङ्करो भवति, न चेद् कलियुग एवं त इत्यभिप्राय –इत्येतदीया

दुर्गाचार्यकृता व्याख्या । अस्तुभयोर्व्याख्ययोरजानिशब्दार्थे मतभेदः, अथाप्युभे यथापि भ्रातृभगिन्योरेवायं संवाद इति प्रकरणानुक्रमणिकानिरुक्तादिसिद्धोऽयमर्थो न शक्यते कथमप्यन्यथा कर्तुम् । आह हि निरुक्तकृत् 'न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः' । इति ।

ततश्च यथा 'आलभन्त पुरुषं पशुम्' (पुरुषसूक्ते) इति मन्त्रखण्डमात्रमुपादाय कश्चित्पुरुषाणां पशुत्वेन बन्धनं धर्ममाकलयेत्—न तु पूर्वापरप्रकरणार्थमनुसन्दध्यात्—तथैव मन्त्रखण्डमात्रमुपादाय नियोगादिसाधनाक्रमोऽस्मान्मन्त्रात् । न तु कथमपि विधवाविवाहे नियोगे वा लेशतोऽपि मन्त्रस्यास्य सामञ्जस्यमिति कृतं कुट्टकुट्टनेन ।

अथैतदपरमपि प्रमाणं कैश्चिदवलम्ब्यते—

> उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ।
> ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥
>
> (अथर्व० ५।४।१७।८)

स्पष्टार्थस्यास्य मन्त्रस्य न हि यद्यपि विधवोद्वाहः साक्षात् प्रतिपाद्यः, अथापि तु अनेकैः पतिभिर्विवाह इति प्रतिपद्यत इति विषयमपि मनागालोच्यते ।

अथर्वसंहितायां खलु पञ्चमे काण्डे (चतुर्थेऽनुवाके) 'तेऽवदन् प्रथमे'त्यादिकमस्ति सप्तदशं सूक्तम् । यद्गोहरणेऽभिचारकर्मणि विनियुक्तं भगवता कौशिकेन—'तेऽवदन्निति नेतृणां (गवापहर्तॄणां) पदं वृश्चति, अन्वाह' (कौ० श्रौ० सू० ६।२) इत्यादिसूत्रेण । अस्मिन्नेव सूक्ते ब्रह्मजायाविषये बहूक्त्वा ब्राह्मणप्राधान्यप्रदर्शनायेदमुपक्रान्तम्—

> उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ।
> ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥
> ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः ।
> तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥
> पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।
> राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

इत्यादि । तदत्र विनियोगबोधकसौत्रपर्यालोचनया पूर्वापरमन्त्रपर्यालोचनया च पूर्वोक्ते मन्त्रे स्त्रीशब्देन प्रकरणप्राप्तगोत्वविशिष्टा स्त्री (स्त्रीगवी) प्रतिपाद्यत इति प्रतिभाति । 'यदि स्त्रियाः स्त्रीत्वविशिष्टाया गोः (धेन्वाः) पूर्वे अब्राह्मणा दशापि पतयो भवेयुः, अथापि चेद् ब्रह्मा—ब्राह्मणः, हस्तमग्रहीत्—(हस्तग्रहणमात्रं स्वीकारमात्रं निश्चितम्—कृतवान्) तदा स एव तस्याः पतिः—स्वामी मन्तव्यः (८) । राजन्यवैश्यादिसत्त्वेऽपि गवादेर्धनस्य ब्राह्मण एव मुख्यः

पतिर्भवति इति सूर्य एव भगवान् सर्वेभ्यो मानवेभ्यो बोधयति (९) अत एव ये ब्राह्मणद्रव्यं गवादिकं गृह्णन्ति देवमनुष्यावातः पुर्वरेव प्रत्यर्पयन्ति राजानश्चापि गृहीतं ब्राह्मणद्रव्यं सत्यं परीक्ष्य पुनर्ददति दापयन्ति च (१०) इत्युपपद्यतेऽत्र मन्त्रार्थः । अत एव च सूक्तस्योपान्त्ये मन्त्रे—

नास्मै पृश्निं विदुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाऽचित्त्या ॥ १७ ॥

इति दोहनं गोलिङ्गभूतमेव स्पष्टं श्रूयते । ये जना, अस्याः ब्राह्मणस्य गौः, दोहमुपासते, यत्र च राष्ट्रे ब्रह्मजाया ब्राह्मणस्य गौः, निरुध्यते, अस्मै पृश्निं न विदुहन्ति, पृश्निरादित्यो भवतीति भगवान् यास्कः, तेनादित्य न विदुहन्ति वृष्टिस्तत्र न भवति तेन पापेनेति तात्पर्यम् । अन्ते च—

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान् सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

इति गोविरहितो ब्राह्मणो यत्र वसति, तत्र कल्याणी धेनुः, धुर्वहोऽनड्वांश्च न भवति तस्माद् ब्राह्मणाय गौः प्रदेयैव, इति तात्पर्यमुपपद्यते । इदित्थमत्र सूक्ते स्त्री जायादिशब्दैर्धेनुबोधने सर्वं समञ्जसम् ।

सर्वं स्वं ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च (मनु)
राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ।
विद्वानशेषमादद्यात् स सर्वस्य प्रभुर्यतः । (याज्ञवल्क्य)

'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यम्'

इत्याद्यासु स्मृतिषु यद् ब्राह्मणस्योत्कृष्टं स्वत्वं, तद्द्रव्यस्यानपहार्यता च प्रतिपाद्यते-तत्सर्वमेतदादिश्रुतिमूलकमेवेति । स्त्री जायादिशब्दानां पत्नीवाचकत्वे तु गोऽपहारप्रकरणेऽप्रकान्तार्थता प्रथमो दोषः । 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' इति च क्षत्रियवैश्यादीनां सर्वथाप्य सवाह एव प्रसज्येत, तेषां पतित्वस्य श्रुत्या प्रतिषिध्यमानत्वात् । 'राजानः पुनर्ददुः' रिति चाप्यनुपपन्नम्, परस्त्रीग्रहणस्यैव राज्ञा सर्वथा अप्राप्ततया पुनर्दानविधेरसाम्प्रतत्वात् । शासितये स चौरादिभ्यो राजस्तदग्रहणमुपपद्यत एव । 'येऽस्या दोहमुपासते' (म० १०) इति च सर्वथाऽनुपपद्यमानार्थकमेव भवेत् । 'विजानिर्यत्र ब्राह्मणः' (म० १७) इत्याद्यपि विपरीतार्थकम्, यत्र यत्र ब्राह्मणो वसेत्तत्र तस्मै जाया प्रदेयेति कल्पनापातप्रसङ्गात् । तस्मात्सूक्ष्मबुद्धिमनुसृत्य गोऽपहारविनियुक्ते सूक्ते स्त्रीजायादिशब्दैर्धेनुरेव बोध्येति नास्य मन्त्रस्य प्रकृते कोऽपि सबन्ध ।

अथापि कथंचित् प्रसङ्गात् जायास्त्रीविषयकत्वमेवास्य व्याख्यातृप्रदेण, तथापि किं भवता मन्त्रेणानेन साधनीयम् । 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे',

अथापि यदि ब्राह्मणस्ता गृह्णाति तर्हि स एव मुख्य पतिर्भवति, तथा च सर्वेषा दारापहारे ब्राह्मणानामधिकार सिद्धयेत्, न चैतदिष्ट स्यात्कस्यापि। पूर्वपूर्व पतिमरणे क्रमेणैकादशपतिकरणन्तु न क्यमपि मन्त्रादस्माल्लभ्यम्, अस्य मन्त्रस्य केवल ब्रह्मणोत्कर्षख्यापकत्वेन विवाहविधायकदशपतिविधायकत्वानुपपत्ते। तथाभूतेऽर्थे कल्प्यमाने ब्राह्मणपदस्यानुपयोगात्। सर्वोऽपि हि भवन्मते पर पर पतिरेव मुख्यो भवतीति किं ब्राह्मणग्रहणेन। उत्तरस्य च मन्त्रस्य न किमपि तात्पर्यमुपपद्येत। तस्माद् 'यदि पूर्वे दशभ्योऽपि पतिभ्यो (भविष्यद्वृत्त्या पतिशब्दप्रयोग) अब्राह्मणेभ्यो वाग्दान भवेत् अथापि यदि ब्राह्मणो हस्त गृह्णीयात् तर्हि स एव पतिमन्तव्य' इति ब्राह्मणाय कन्यादानस्य प्राशस्त्यमय मन्त्रो बोधयेदन्या कापि कल्पना सामञ्जस्येनोपपद्येत। उत्तरार्द्धे 'हस्तमग्रहीत्' इत्युक्त्या च पूर्वेषा पतीना हस्तग्रहणपर्यन्तसंस्कारामावो गम्यत इति वाग्दानस प्रदानान्येव ते भवेयु।

तथा च—'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्'

इत्यादिना याज्ञवल्क्यादिभिरुत्कृष्टस्य वरस्य लाभे वाग्दत्ताया पूर्वस्मा द्वरादपहारस्तस्मा अप्रदानरूप उक्त, तत्पर्यायान्तु जाताया निष्ठा विवाहस्योक्ता, तदेव मन्त्रादस्मात्लभ्यम्। ब्राह्मणपदस्योत्कृष्टब्राह्मणपरत्वात्। क्षत्रियकन्यादीना वा ब्राह्मणवरलाभस्योत्कृष्टता पूर्वेतिहाससहिता मन्त्रतात्पर्यविषयास्तु, विधवोद्वाहस्य तु नास्त्येव कोऽप्यत्र सबन्ध इति स्वयमेव विचार्यम्।

केचित् पूर्वे दश पतयोऽब्राह्मणा, ब्राह्मणपदस्योपलक्षणत्वादमनुष्या अर्थो देवा भवन्ति, अनन्तर च ब्रह्मा-ब्राह्मणादि कश्चित्पुरुषो हस्त यो गृह्णाति, स एव मुख्य यावज्जीवन पतित्वकार्यनिर्वाहको भवति—इति मन्त्रार्थं व्याचक्षते दश देवाश्च—

> इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा।
> भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम
> इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु (अथर्व १४ १ ५४)

इति मन्त्रोक्तान् स्त्रिया पतीनाहु। एते च दशदेवा 'सोम प्रथमो विविदे' इति व्याख्यास्यमानमन्त्रोक्ताना त्रयाणां देवानामवाङ्गभूता विस्तरेण निर्दिष्टा इति न कश्चिद्विरोध। 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्य' इत्युत्तरमन्त्रोक्त्या च ब्राह्मणस्यैव पतित्व मुख्यम्—क्षत्रियादिषु तु गौणम्—तेन क्षत्रियादिभि कदाचित्प्रयोगादिकमापद्यनुष्ठितमपि, ब्राह्मणानां तु न क्वाप्यय दृष्टो धर्म इत्यादिरीत्या प्रकरणमनपेक्ष्यापि व्यवस्थापयन्ति। अस्तु यथाकथञ्चित्, विधवो द्वाहेन तु न कोऽपि मन्त्रस्यास्य सबन्ध इति सुस्थिरीभूतमिदम्।

अथ ये—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः ।
सुयमा सुवर्चाः । प्रजावती वीरसूर्देवृकामा ॥
स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य । (१०, ८५, ४४)

इति विवाहविधौ विनियुक्ते मन्त्रे 'देवृकामे'ति पदं दृष्ट्वा देवरेण विवाहं नियोगं वा धर्म्यमाकलयन्ति, ते तु 'पुत्रकामे'ति दृष्ट्वा पुत्रेणापि सहवासात्मकं कर्म कारयिष्यन्तीति दूरत एव ते प्रणम्याः । इयं भार्या देवरमपीच्छतु, देवरा मे भवन्त्विति वाऽऽशास्तु, देवरेषु स्निग्धा भवतु, मा देवरविद्रोहिणी भूदित्येव मन्त्रेण प्रार्थनीयमिति तु स्थूलधियामपि सुखनावबोधोऽयम् । प्रवृत्ते विवाहकर्मणि देवरमपीयं नियोगार्थं कामयतामिति तु वरकर्तृकैषा प्रार्थना कियदिष्टदेति सामञ्जस्यमिति विचारं सहृदयेष्वेव निक्षिप्य तूष्णीमास्महे । तदित्थं विधवोद्वाहपक्षे स्वामीश्वरानन्देन समाश्रिता श्रुत्यो याथार्थ्येन व्याख्याता ।

अथाग्रहग्रहिलतया वेगाङ्कुशीभूता इव ये खलु ग्रन्थं खनन्त इव केचिद्विपरीतप्रज्ञा विरुद्धार्थाभिधायीन्यपि कानिचिच्छ्रुतिवाक्यानि स्वपक्षसमर्थकत्वेनाददते । तान्यपि मनाक् कौतुकाय पर्यालोच्यन्ते । तत्र कश्चित्—

'नैकस्यै बहवः सह पतयः' (ऐ० ब्रा० १२ अ० ११ ख०) इत्यैतरेयश्रुतौ सहशब्दं साहचर्याभिधायकत्वेन तुल्यकालार्थं व्याख्याय 'तुल्यकाले नैकस्याः स्त्रिया बहवः पतयो न भवन्ति' 'तेन भिन्ने तु काले बहवो भवन्त्येव' इत्याशयम् उद्गायन्तो विधवोद्वाहं समर्थयन्ते । अहो नु भावुकाः ! 'तस्माद् दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्' (ऐ० ब्रा० १ अ० ६ ख०) इति श्रुतेरुच्चारणाभावकाले यज्ञकर्मणोऽन्यत्र मिथ्यावादविधाने तात्पर्यं किमु भवन्तोऽवधारयेयुः ? 'ब्राह्मणो न पीडनीयः' इति चौरदेवमाकर्ण्यान्योऽन्यत्र पीडनीय एवेत्येव किमु भवतां बुद्धिरध्यवस्यति ? सुवर्णस्तेयं महापातकमभिमन्यमानाः स्मृतिकाराः किमु सुवर्णातिरिक्तं द्रव्यमपहर्तुमनुजानन्ति ? वयन्तु परामृशामः दीक्षितस्य सत्यवदनविधिः सत्यवदनं यज्ञकालतया प्राप्नुवन्ति, न त्वन्यकालमसत्याभ्यनुज्ञायां तात्पर्यम्, अन्यदापि यदि कश्चिदसत्यं वदेत्, अवश्यं स प्रत्यवेयात् । ब्राह्मणस्य पीडने सुवर्णस्तेये च पापबहुत्वं ख्याप्यते, अन्यत्रापि पीडनेऽन्यद्रव्यस्तेयेऽपि पापस्यैवाधानं —तथैव 'नैकस्यै बहवः सह पतयः' इत्यनुवादेनापि सम्भाव्यमानैकस्यास्तुल्यकालं बहुपतिपरिग्रहस्यात्यन्तमनिषिद्धता पापबहुत्वं वा च ख्याप्येत, भिन्नेऽपि तु काले सत्यधर्म एव स इति कल्पनाया नेदं वचनं प्रतिकूलम्, दूरे स्वनेन वचनेन विधवोद्वाहस्य धर्म्यत्वकल्पना । ननु वचनान्तरैरन्यदाप्यसत्यभाषणादीनां पापकत्वं निरूप्यते, न तूद्वाहे प्रमाणैरिति चेत्—इहापि यथा वचनान्तराण्यभ्युपजानन्ति तथैव व्यवस्थाप्यताम्, व्यर्थमस्य वचनस्य ग्रहणम् ।

वस्तुतस्तु वचनमिदं सर्वदा बहुपतित्वं प्रतिषेधतीति विधवोद्वाहसाधकानां परं प्रतिकूलम्। यथा हि प्रकरणमेतदीयम्—

'ऋक् च वा इदमग्ने साम चास्ताम्, सा—एव नाम ऋगासीद्, अमो नाम साम। सा वा ऋक् सामोपावदद्—मिथुनं सम्भवाव प्रजात्यै—इति। नेत्यब्रवीत् साम—'ज्यायान् वा अतो मम महिमेति'। ते द्वे भूत्वोपावदताम्, ते न प्रति चन समवदत। तास्तिस्रो भूत्वोपावदन्, तत्तिसृभिः समभवत्। यत्तिसृभिः समभवन्—तस्मात्तिसृभिः स्तुवन्ति, तिसृभिरुद्गायन्ति, तिसृभिर्हि साम सम्मितम्। तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सह पतयः। यद्वै तत् सा चामश्च समभवत्तां तत्सामाभवत्। तत् साम्नः सामत्वम्।' इतीयमाख्यायिका श्रूयते ऐतरेयब्राह्मणे (१२ अ० ११ ख०)।

अयमत्राभिप्रायः—बह्व्य ऋच एकेन साम्ना सम्बध्यन्ते। साम्नो हि गेयतया महांस्तस्य कालपरिच्छेदः, ऋचः पाठे स्वल्प एव तदपेक्षयापेक्ष्यते कालः। अस्यास्य साम्नः पुरुषत्वमृचां च स्त्रीत्वं परिकल्प्य तद्दृष्टान्तेन बह्व्य स्त्रिय एकस्य पुरुषस्य समर्थिताः, एकस्य साम्न इव सम्मितास्तिस्र ऋचः, बहवस्तु पुरुषा नैकस्याः स्त्रियाः सम्भवन्ति, एकस्या ऋच इव बहूनि सामानीति स्थापितं श्रुत्या। तत्र दृष्टान्ते न कदाचिदपि कालभेदेन कालैक्ये वा ऋच एकस्या बहूनि सामानि भवन्तीति तुल्यन्यायात् स्त्रिया अप्येकस्या न कदाचिदपि पुरुषैर्बहुभिर्मिथुनम्। 'नैकस्यै बहवः सहपतयः' इति सहशब्दश्रवणं सहत्ववचनोऽर्थानुरोधात्। तेन सदृशा एकविधा बहवः पतय एकस्या न भवन्ति, वक्ष्यमाणाः सोमगन्धर्वादयस्तु न मनुष्येण सदृशा देवत्वात्, तेषां च पतित्वस्यौपचारिकत्वात्, तेन तेषां बहूनामपि सत्त्वे न क्षतिः। ये वा पालकत्वेन पतय उच्यन्ते, पितृभ्रातृतनयादयस्तेऽपि न पाणिग्रहीत्रा समानाः, तेषां पतित्वस्यान्यविधत्वात्, प्रजोत्पादकः पुरुषस्तु पतिर्दाम्पत्यजीवनैक एव स्त्रिया धर्म्य इत्येव तात्पर्यं श्रुतेः।

अतएव तैत्तिरीयसंहितायां सहशब्दमन्तरेणैव श्रूयते यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति, तस्मादेको द्वे जाये विन्दते यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते, इति।

(तैत्ति० सं० ६ का० ६ प्रपा० ४ अनु० ख३)

इह हि यूपरशनादृष्टान्तेनोक्त एवार्थः समर्थितः। यथैकस्मिन् यूपे द्वे रशने बध्येते, एका तु रशना न कदापि द्वयोर्यूपयोर्बध्यते। तथैव पुरुषस्यैकस्यानेका अपि स्त्रियो भवन्ति, स्त्रियास्त्वेकस्या न पुरुषैर्बहुभिः कदापि योगः सम्भवति। इह नैव सहशब्द उक्त इति सर्वदैव सर्वथैव बहुपतित्वप्रतिषेधोऽस्मादुन्नीयेत।

दृष्टान्तेऽपि च नैकस्मिन् काले नाग वा भिन्नयोः काल्पोरेका रशना यज्ञे कदापि यूपयोर्द्वयोर्बध्यते । तस्मादेक काल कालभेदेन वा नैव स्त्रिया एकस्याः पतिद्वयमपि श्रुतिरनुमन्यत इति का कथैकादशानाम् । एतस्मादेकवाक्यतया च पूर्वोक्ताया मैत्रेयब्राह्मणश्रुतावपि नहि सहशब्दस्तुल्यकालवचन, इतरथा ह्येका सर्वापि पतिद्वय प्रतिषेधति अपरा चैकस्मिन्नेव काले प्रतिषेधतीति श्रुत्योर्विसंवाद प्रसज्येत । तस्मादेकवाक्यत्वस्य दृष्टान्तानुरोधाय च सर्वकालसम्बन्धेनैव पतिद्वय प्रतिषेधः प्रत्यक्षमस्या श्रुतेर्बोध्य इत्येवद्दिष्टा सर्वापि कल्पना श्रुतिविरोधादेवा प्रामाण्यगर्ते निखननीयेत्यलं पल्लवितेन ।

अथैतानपि विवाहविधौ वरकर्तृकेऽवसरे विनियुक्तान् सुरस्य पुनर्विवाहप्रतिषेधकरानपि मन्त्रान् केचन साधकत्वे नोपस्थापयन्ति

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥
(ऋ० १०।८५।४०)

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥
सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये ।
(अथ० १४।२ अनु २ सू०)

रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ।
(ऋ० १०।८५।४१)

इत्यमत्र व्याचक्षते—ईश्वरः स्त्रियं प्रतिबोधयति । 'हे स्त्रि ! ते प्रथमं पतियों विविदे-प्राप्त, स सुकुमारत्वादिगुणयोगात्सोमसादृश्यात्सोमपदाभिधेय । उत्तर, द्वितीयश्च यो नियोगेन विवाहान्तरेण वा प्राप्त, स एकया स्त्रिया पूर्वं सयुक्तत्वा त्कामकलाप्रावीण्येन गन्धर्वपदेनाभिधेय । अथ यस्त्वेव तृतीय प्राप्त, सोऽस्तु ज्वालायोगादग्निपदेन वाच्य । अथ तुरीय इत्युपलक्षणम्, चतुर्थमारभ्यैकादश पर्यन्ता ये पतयस्ते मनुष्यजा भवन्ति, मनुष्यपदेनैव साधारणेनाभिधातव्या' । एष एवार्थ उत्तरयोरपि मन्त्रयो शब्दान्तरैरभिहित । तथा च प्रथमस्य पत्यु सोमसंज्ञा, द्वितीयस्य गन्धर्वसंज्ञा, तृतीयस्याग्निसंज्ञा, तुरीयप्रभृतीनां च सामान्या मनुष्यसंज्ञैवेति स्फुटमभिप्राय मन्त्रस्योपवर्ण्य पुरुषबहुत्वमेकस्या स्त्रिया साधयितु सन्नह्यन्ति ।

इत्यनत्र समालोच्यम्—उक्तार्थपर्यालोचने क्रमेण स्त्रियैकया सयुज्यमानान् पुरुषानुद्दिश्य सोमगन्धर्वादिसंज्ञा श्रुत्यानया विहिता स्यु । किमर्थं तदिद संज्ञा

विधानमिति पृच्छाम । संज्ञा हि सर्ववस्तूनां व्यवहाराय विधीयन्ते बहुन तत्त द्विधिसौकर्याय वा शास्त्रकाराः स्वशास्त्रे काश्चित्संज्ञाः परिभाषन्ते—पाणिनिरिव गुणवृद्ध्यादिसंज्ञाः ।

न चात्र लोकेऽन्यत्र शास्त्रेषु वा तादृशपुरुषविषये सोमगन्धर्वाग्न्यादीन् व्यवहारान् पश्याम । न हि क्वचिदपि कश्चिदपि विवाहित प्रथमं पतिं सोमपदेन संबोधयन् दृष्ट, नियुक्तं वा गन्धर्वाग्निपदाभ्याम्, नापि शास्त्रे दृष्टस्तथा व्यवहारः क्वापि । न च श्रुतावपि तथाविधान् सोमादीनुद्दिश्य क्वचिद्धर्मान्तरं विधीयमानं दृष्टं येन पाणिन्यादीनामिव परिभाषाप्रकल्पनं संभाव्येत । ततश्च व्यर्थमिदं संज्ञाविधानं कथं श्रुतिसंदर्भगोचरं स्यात् ? कथं वा व्यर्थप्रायैवंविधप्रलापशतसंदृब्धा श्रुतिरीश्वरप्रणीतेति गौरवास्पदं स्यात् ? किं च नामान्येव केवलं श्रुत्याऽनया विधीयन्ते, उत पत्यन्तराभिगमनमपि तदाक्षिप्तम् ? अन्त्ये पत्यन्तरमनभिगच्छन्ती यावज्जीवमेव पतिपरायणा श्रुतिविरुद्धकारिणीति पतिता भवेत्, न चैतदिष्टं भवदीयानामपि । इच्छन्त्या नियोगं श्रुतिर्विधत्त इति चेन्नैतन्मन्त्रे श्रुतम्, तत्र हि स्फुटं सर्वविषयिणी भवेदियमाज्ञा । तथा च सन्ध्यामनुपासितैव ब्राह्मणादि नियोगमकुर्वाणा योषिदवश्यं पतेदिति साधुधार्मिकोऽप्यनुसृतः स्यात् । नाममात्रविधानपक्षे तु पत्यन्तरविधाने न श्रुतेर्व्यापार इति कथं विधवोद्वाहो वा नियोगो वा सिद्धिमनेन मन्त्रेण विन्देत । अथवति पत्यन्तरे कस्य भवेन्नामेति तदर्थं पत्यन्तरमाक्षेप्तव्यमित्येव विधा तु कल्पना 'कुहस्विद्दोषेति' 'यापूर्वं पति'मिति च मन्त्रव्यवस्थाया सुदूरमुत्क्षिप्ता पूर्वम् । या शास्त्रमतिक्रामन्ती व्यभिचरति, तत्रापि नामविधिसंभवात् । दृश्यन्ते हि चौरजारादीन्यपि नामानि शास्त्रेषु न हि तावता तत्कार्याणो धर्मत्वं भवतीति । तथा च विधिविवेकशून्यतया मन्त्रोऽयमनर्थकप्रलाप एव प्रसज्येत । तदित्थं श्रुतिवचनानां स्वारस्यं कुत्रेति कुशलप्रज्ञा विचारयन्तु ।[1]

---

१ अपूर्ण एव अप्राप्तोय निबन्धः ।—सम्पादकः ।

स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था

इह खल्विदानीमस्पृश्यतया शिष्टसम्प्रदाये गृहीतानां केषाञ्चित् चर्मकारादीनां प्रतिलोमसङ्करजातीयानां विधर्मिभिः समाजसंशोधकमानिभिश्च कथञ्चित् बुद्धिभेदं प्रापितानां, यवनक्लेशादिभिः सम व्यवहरतामपि केषाञ्चित् वर्णाश्रमानुयायिनां स्वेच्छसंव्यवहार्यतामालोक्य हिन्दूसमाजान्तर्गतत्वे स्वेषामप मानमिव विभावयतां हिन्दूसमाज परित्यज्य मतान्तरं प्रविविक्षूणां परितोष व्यवस्थाप्य तेषां हिन्दूसमाजान्तर्गतत्वरक्षणेन गौरवकतां सुस्थिरीकर्तुमस्ति कश्चिच्छास्त्रानुमत पन्था नवेति बहुशो हिन्दूसमाजहितैषिभिः मेधितान्तरैर्विचार्यते। तत्र च किमिदमसंव्यवहार्यत्वमस्पृश्यत्व वा शास्त्रानुमतमास्ते न वा? सत्येऽपि चैव विधारत्वापत्तु सापवाद नित्य वा? अपवादाश्चेत् कीदृशा? केषु च स्थानेषु कथं विधा संव्यवहार्यता कथञ्चिच्छास्त्रेणानुमन्यते? कथं विधानि च संव्यवहारे प्रायश्चित्तानि स्मर्यन्त इत्याद्या बहूना जिज्ञासा समुत्तिष्ठन्ते लोकानाम्। तत्र तावदाहु केचिदिदानीन्तना यत् सर्वेषामपि मनुष्याणां समानाधिकारतायां औचित्येन कस्याश्चिज्जातिविशेषस्य सर्वथाऽसंव्यवहार्यताया प्रकल्पनं नितरां न युक्तिसहम् प्रत्युत तज्जात्युपमर्दनं द्वेषमूलकोऽयमत्याचार। नाप्यय श्रौतो धर्म, तत्र—

'सङ्गच्छध्वं संवदध्वं स वो मनांसि जानताम्'।
'समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः'॥

'समानो मया सह वोऽस्त्वमाग'

इत्यादिभिर्वचनजातैः समानस्यैवाधिकारस्य प्रतिपादनत्वात् परस्पर सह भाव सहभोजनोपदेशाच्च। स्मृतिषु तु क्वचित्तथाविधवचनान्युपलभ्यमानानि श्रुतिविरुद्धतया न प्रमाणकोटिमारोढुमीशते, अपितु द्वेषपक्षपातादिवशीभूतैरर्वाचीनैः प्रकल्पितानि परित्यागार्हाण्येव। तस्मात् समानमेव सहासन सहभोजनादिभि सर्वै सह यथेच्छ संव्यवहर्तव्यम्, येन पारस्परिकप्रेमवृद्ध्या समुन्नतिरस्मत्समाजस्य सम्पद्येदिति।

तदिदं श्रुतिस्मृत्यनुयायिनो धार्मिका न सम्मन्यन्ते। आहार निद्रा भय कोपकामादिषु केषुचित् कर्मसु सर्वमनुष्यसाधारण्येन स्थितेष्वपि कर्माधिकारभेदप्रयोजकस्य योनिहेतुकस्य योग्यताभेदस्य प्रत्यक्ष परिदृष्टत्वात्। स्पर्शादिसंव्यवहारे परस्परप्रभावसङ्क्रमस्य विज्ञानानुमोदितत्वाच्च। न ह्ययमसंव्यवहारो

नाम कथञ्चिदपि परेष्कृत्याचारः, अपितूच्चवर्णानां स्वप्रभावयशस्त्वादिरक्षा फलक आत्मसंयमः, एतच्चेद् शक्तिसंरक्षण वर्णव्यवस्थोपयोगितया समाजहितायैवेति न कथञ्चिदपि पक्षपाते द्वेषे वा पर्यवस्यति। अत एवोच्चवर्णानां प्रतिलोमसंकरैः सव्यवहारेण न प्रतिलोमसंकराणां कोऽपि दण्डः कल्प्यते, अपितूच्चवर्णानामेव प्रायश्चित्तमिति कथमिदमसदाचारतया परिगण्यताम्। तत एव च नेयमसव्यवहार्यता पारस्परिकधर्मसंरक्षणोद्देश्येनानुष्ठीयमाना पारस्परिके प्रेम्णि कथमपि प्रतिबन्धकतामाप्नुयात्, कर्तव्यपालनस्य विरोधजनकताया दूरापास्तत्वात्, भोजनस्पर्शादिसव्यवहारस्य प्रीतिप्रयोजकताया व्यभिचारित्वाच्च। द्वेषादिबुद्धिभेदस्तु शास्त्राननुमते परित्याज्य एव। न चेदमसव्यवहार्यत्व मयाऽत्रोक्तमिति शङ्कितव्यम्।

न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥

(वर्णसंकरप्रकरणे मनु-१०।५३)

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च।
आसनाशनात् पतितेन सहाध्वनः पतति,
सह यानासनाभ्याम्, योनिश्रौतसम्बन्धात् सद्य एवेति॥

(वि० पु०)

न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह समाषेत।

(गौतम अ० ९।१)

एकशय्यासनं भाण्डं पङ्क्त्यन्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापने योनिस्तथा च सह भोजनम्॥
नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह।

(बृहस्पति)

संलापस्पर्शनिःश्वासात् सह शय्यासनाशनात्।
याजनाध्यापनाद्यौनात् पापं संक्रमते नृणाम्॥

(देवल)

चण्डालस्पर्शने तच्छायायां दर्शने च दोषः।

(आपस्तम्ब)

इत्यादिभिः शतशः स्मृतिवचनैः असव्यवहारस्य स्फुटं प्रतिपादितत्वात्।

'निरोधे स्वनपेक्षः स्यादिति हनुमानम्।'

इति [illegible] सूना [illegible] [illegible] [illegible] विच [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिपादयति [illegible] च । [illegible] [illegible] '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]' ।

(शतपथ ब्रा० [illegible]।१।१८, ९)

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिपादनात् । [illegible]—
[illegible] [illegible] प्रतिपद [illegible] ।

(शतपथ ३।१।२)

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विदधाति, न तु [illegible] ।

'[illegible] वै [illegible] [illegible]', [illegible] हृदयानि वा' [illegible] [illegible] ।

'[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।'

(अथर्व० ३।६।१०)

[illegible] [illegible]—

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]'

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न तु [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] प्रतिपद्यते, कथ [illegible], [illegible], कथं च [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] च [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible]—

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एव च ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥

([illegible], अत्रि)

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] चैव [illegible] ॥

(याज्ञव)

तत्रान्त्यावसायिनामपेक्षयान्त्यजानां संव्यवहारे प्रायेण प्रायश्चित्तं तत्र-तत्र स्मर्यते। चाण्डालस्याज्ञातस्य गृहनिवासे ज्ञाते द्वादशदिनं व्रतं गृहदाहादिश्च, कामतश्चान्द्रायणं पराको वा अन्त्यजानां तु तथा निवासे तद् न च गृहदाहं, चाण्डालानामन्त्यजानां चोच्छिष्टभक्षणे चान्द्रायणम्, चाण्डालस्त्रीषु कामतो गमने गुरुतल्पसम, सकृद्गमने कामतः कृच्छ्राब्दम्, अकामतस्तु चान्द्रायणद्वयम्, अन्त्यजासु तु कामतश्चान्द्रायणद्वयम्, अकामतस्तु चान्द्रायणम्, चाण्डालान्न भोजने चान्द्रायणद्वयम्, अन्त्यजान्नभोजने तु चान्द्रायणम्, चाण्डालोदकपाने षड्रात्रव्रतम्, अन्त्यजे तदर्धम्। चाण्डालभाण्डस्थोदकपाने बुद्धिपूर्वके स्नानं विप्रस्य अन्त्यजभाण्डोदकपाने तु ब्रह्मकूर्चोपवासः। उच्छिष्टस्य चाण्डालस्पर्शे कामतः प्राजापत्यं, अकामतस्त्रिरात्रव्रतम्, गायत्र्यष्टसहस्रजपोऽपदाद्युतजप पञ्चगव्यं च, अन्त्यजोच्छिष्टेन स्पर्शे उपवासस्त्रिरात्रं च, तैरुच्छिष्टैरुच्छिष्टस्य स्पर्शे षड्रात्रम्, इत्यादि प्रायश्चित्तविशेषस्य तत्र-तत्र स्मर्यमाणत्वात्। किं च प्रायश्चित्तमयूखे प्रायश्चित्तविवेके च शूलपाणिकृते चाण्डालाद्यपेक्षयान्त्यजानां संव्यवहारेऽर्द्धं प्रायश्चित्तमिति स्फुटमेव मुखेन व्यवस्थापितम्। स्पर्शविषयेऽपि चाण्डालस्य साक्षात् स्पर्शे सचेलं स्नानमिति सर्वेषामेव स्मृतिकाराणामुपदेशः —

> दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
> शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥
>
> (मनुः)
>
> चाण्डालपुल्कसम्लेच्छभिल्लपारसिकादिकान्।
> महापातकिनश्चैव स्पृष्ट्वा स्नायात् सचेलकः ॥
>
> (मयूखधृतयाज्ञवल्क्यवचनम्)
>
> चाण्डालस्पर्शने चैव सचेलं स्नानमाचरेत्।
>
> (पराशरः)

इत्यादि। कामतस्तु चाण्डालस्पर्शे—

> पतितं सूतिकामन्त्यं शवं स्पृष्ट्वा च कामतः।
> स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

इति विशेषोऽपि बृहस्पतिना दर्शितः। अग्निस्पर्शो महाव्याहृतिहोम इति मयूखकारादयः। वचनेऽस्मिन्नन्त्यपदं चाण्डालाभिप्रायकमिति सर्वेषामपि निबन्धकाराणामभिमतम्। अथ शास्त्रमनादृत्य कामतोऽभिनिवेशेन स्पर्शे—अकामतोऽभ्यासे वा कैश्चिद् सचैलमम्भोऽवगाह्योत्तीर्याग्निमुपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेत्, घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिराचमेत्।

(च्यवनः)

रजस्वला सूतिका वा चाण्डाल पतित तथा।
पाषण्डिन विकर्मस्थ शैव स्पृष्ट्वाप्यकामत॥
गोमयेनानुलिप्ताङ्ग सवासा जलमाविशेत्।
गायत्र्यष्टशतं जप्त्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति।

(वृद्धहारीत)

इत्यादिर्विशेषोऽप्यभिहित अयं तु विशेष वर्णाश्रमोत्तमादर्शाग्नि साग्नी नामत्यन्तपवित्राणा व्रतस्थादीनां वा सम्भाव्यते, सचैलस्नानमात्रस्यैवेदानीं शिष्टसमाचारतादर्शनात्, मन्वादिभिस्तथैव प्रतिपादितत्वाच्च। सर्वाङ्गीणे चण्डालस्पर्शे शिरासमपि पूर्वोक्तगुणवतां व्रतस्थादिस्थानामेव च सम्भाव्यते इति कृत प्रपञ्चेन। चाण्डालस्पृष्टेन चेतनभिन्नेन वस्त्रादिना स्पर्शे आच मनाच्छुद्धि, एककाल एवैकस्तरारोहणे तु साक्षात्स्पर्शेऽपि स्नानमेव।

एकशाखां समारूढश्चाण्डालादिर्यदा भवेत्।
ब्राह्मणस्तत्र निवसन् स्नानेन शुचितामियात्॥

(आपस्तम्ब)

वृद्ध संस्तरे वाऽवसृष्टयन्नपि तान् प्रयतो मन्यते।

(आपस्तम्बसूत्र शूलपाणिधृतम्)

इत्यादि वचनात्। अथ चाण्डालस्पृष्टेन मनुष्यादिना चेतनेन स्पर्शे तु मत भेद, आचमनमात्रमिति केचित्—

'संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्'

(याज्ञवल्क्य)

इत्यादिवचनात्। अशक्तविषयमेतद् वचनम्, अशक्त्यभावे तु तत्रापि स्नानमेव, तृतीयेऽपि स्नानम्, चतुर्थेस्वाचमनमिति बहवो निबन्धकृत। इद सर्वम् श्वपचादिस्पर्शे, रजकचर्मकाराद्यन्त्यजस्पर्शे तु—

चर्मार रजक वेण धीवर नटमेव च।
एतान् स्पृष्ट्वा द्विजो मोहादाचमेत् प्रयतोऽपि सन्॥ (संवर्त)
रजकश्चर्मकृच्चैव व्याधजाल्योपजीविनौ।
निर्णेजक सौनिकश्च ठक शैलूषकस्तथा॥
मुखे भगस्तथा श्वा च वनिता सर्ववर्णगा।
चक्री ध्वजी वध्यघाती ग्राम्यशूकरकुक्कुटौ॥
एभिर्यदङ्ग संस्पृष्ट शिरोवर्ज द्विजातिषु।
तोयेन क्षालनं कृत्वा आचान्त शुचितामियात्॥ (शातातप)

इत्यादि वचनान्यवलम्ब्य अकामतः स्पर्शे आचमनमात्रम्, कामतः स्पर्शे स्पृष्टाङ्गक्षालनपूर्वकमाचमनम्, चिर स्पर्शे तु स्नानमिति शूलपाणिः प्रायश्चित्त-विवेके व्यवस्थापयति मयूखेऽप्येवमेव। मिताक्षराकृदादयस्त्वन्त्यजस्पर्शं विचार यन्त्येव। इत्थं च—

> चण्डालं पतितं व्यङ्गमुन्मत्त शवमन्त्यजम्।
> सूतिका सूतिका नारीरजसा च परिप्लुताम्॥
>
> श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यान् संस्पृश्य मानवः।
> सचैलं सशिरः स्नात्वा तदानीमेव शुद्ध्यति॥

(मयूखे शातातप.)

इत्यादिषु यत्क्वचित् अन्त्यजस्पर्शे स्नानमुक्तम्, तच्चिर स्पर्शविषयतयैवोप-संहर्तव्यम् कर्मकालपरतया याज्ञवल्क्यविधिब्राह्मणपरतया वा नेयम्, पूर्वोक्त-वचनैकवाक्यत्वात्। तथैव च व्यवस्थापित शूलपाणिमयूखकृदादिभिः। क्वचित्त्व-न्त्यपदमन्त्यजपदं वा चाण्डालबोधनायापि प्रयुक्तमुपलभामहे—

तथाहि—

> पतितं सूतिकामन्त्यं शव स्पृष्ट्वा च कामतः।
> स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति॥

(बृहस्पतिः)

इति वचने, चण्डालपरमेवान्त्यपदं मयूखादिषु निबन्धेषु व्यवस्थापितम्।

> अन्त्यजानां तु गमने भोजने संप्रमापणे।
> पराकेण विशुद्धिः स्याद् भगवानङ्गिराब्रवीत्॥

इति पराशरमाध्यधृते च वचनेऽन्त्यजपदं चण्डालपदतयैव विद्वांसो नयन्तीति। तदित्थं अन्त्यजस्यापि स्पृष्टे स्नानम्, चण्डालेन तु यथाकथं-चित्स्पर्शेऽपि स्नानमेव व्यवस्थाप्यते। अतएव नैमित्तिकस्नानप्रकरणे प्रायेण-निबन्धकृद्भिश्चण्डालादिस्पर्शएव स्नाननिमित्तकोपात्त, न तु सर्वान्त्यजस्पर्शं इति। यत्तु व्यासेन—

> चर्मकारो भटो भिल्लो रजकः पुष्करो नटः।
> वरटो मेदचाण्डालौ दासश्वपचकोलिकाः॥
>
> एतेऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः।
> एषां सम्भाषणात् स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम्॥

इति बहूनन्त्यजानुक्त्वा सर्वेषां सम्भाषणेऽपि स्नानमुक्तम्, यद्वा तत्रैव पाठभेदेन—

वर्द्धकी नापितो गोप आशापः कुम्भकारकः ।
वणिक्किरातकायस्थ मालाकार कुटुम्बिनः ॥
वरटो मेद-चाण्डाल-दास श्वपच कोलकाः ।
एतेऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः ।
एषां सम्भाषणात् स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम् ॥

इति वर्द्धकिनापितगोपकुम्भकारमालाकारादीनप्यन्त्यजेषु गणयित्वा सर्वेषां सम्भाषणमात्रेऽपि स्नानमुक्तम्, तत्र सम्भाषणे सङ्कोचो मा यात्विति निवृत्यानन्त हरिद्वाराङ्गयोरन्यवधानस्थानितयुक्तो परस्परं कर्णे यत्नानुभाषया इदेव स्नानं निमित्ततया व्यवस्थापनीयम् । सामान्यतस्तु परस्परं व्यवहरणमात्रेऽन्यत्र प्रायश्चित्तस्य बहुभिः स्मृतिकृद्भिरुपदिष्टत्वात् । तथाहि—

श्वपाकं वारि चाण्डालं विप्रः सम्भाषते यदि ।
द्विजसम्भाषणं कुर्यात् सावित्रीं ■ सकृज्जपेत् ॥

(इति पराशरः)

द्विजसम्भाषणाभावे गायत्रीजप इति विकल्पः प्रयत्नो ध्यात इति । हारीतश्चापि—'गायत्रीं वा जपेत्' इति सुस्पष्टं द्विजसम्भाषण-गायत्रीजपनयो विकल्पमाह ।

'चाण्डालस्पर्शने सम्भाषायां दर्शने च दोषः । तत्र प्रायश्चित्तमवगाहनमप्सु स्पर्शनम्, सम्भाषायां ब्राह्मणसम्भाषा, दर्शने ज्योतिषां दर्शनमिति ।

(आपस्तम्ब, धर्मसूत्र)

स्मृत्यन्तरेष्वप्येवं द्रष्टव्यम् । तथा च चाण्डालसम्भाषणेऽपि यदा सम्भाषणमात्रे प्रायश्चित्तमेव स्मृतिकाराणामभिमतम् तर्हि अन्त्यजसम्भाषणमात्रे स्नानं कथं युक्तिसहं स्यात्, अन्त्यजानां चाण्डालापेक्षया द्वैगुण्येनोत्कर्षस्य दर्शितत्वात् । किञ्च—यदान्त्यजस्पर्शेऽप्यक्षाल्यपूर्वं स्नानाचमनमात्रमुपदर्शितम्, स्मृतिकृद्भिस्तत्—तदा सम्भाषणमात्रे स्नानकथा दूरापास्ता भवतु प्रायश्चित्त गौरवानिमित्तगौरवमुन्नेयमिति न्यायेन यथोक्तसम्भाषणप्रायश्चित्तमर्थं उन्नेय । तत्र च युक्तमेव स्नानमिति । इह च स्मृत्यन्तरेषु अन्त्यजत्वेन निर्दिष्टानां गोप नापित-वणिक् कायस्थमालाकारादीनामन्त्यजेषु गणनाद्यत्तदन्तरादिप्रायेण स्यात्, प्रसिद्धयन्ति हि बहुनैकनाम्नैवानेका जात्य, कायस्थ इति हि प्रसिद्धा क्षत्रिय स्म तत्सूता जातिरप्यभिधीयते, कर्णकायोधका, नरावरणकारकाश्च प्रतिलोम सङ्करविशेषाणि कायस्थ इत्यभिधीयन्ते, नापिता अपि सन्ति केचिदुच्चा, सन्ति कश्चित् नीचकर्मरता प्रतिलोमजन्मानोऽपि । तथैव गोपवणिङ् मालाकारादयोऽन्य कश्चिदन्त्यजा अविज्ञाय यस्यो विलक्षणा एव कल्पद्रव्येषु तथा प्रसिद्धा भवतु ।

व्यासवाक्येऽनवधारयन्—'अन्त्यजो ऽन्त्य, अन्त्यावसायिनोऽन्यच' इति व्युत्पत्त्या शूद्रसामान्यबोधकं वा स्यादिति कृतमतिप्रपञ्चेन ।

अथ यत् सामान्येन शूद्रस्पर्शस्यापि मिताक्षरा-स्मृत्यादिषु निषेध उक्तस्तत्र च स्नानमभिहितम्, तत्तु सन्ध्याग्निहोत्रपूजादिकर्मकाले, व्रतस्थस्योच्छिष्टादिदशाविशेष एव विहितम्, न तु पञ्चमहायज्ञाद्यधिकारित्वेन मौलान्तरत्वेनाद्वैतनिरूपणविशिष्टयोः सम्बन्धस्य च स्मृतिभिः स्वीकृतानां पाकाद-धिष्ठितानां सर्वेषामपि शूद्राणां सामान्येनास्पृश्यत्वे सम्भवति, तथा सति सर्वव्यवस्थावैशृङ्खल्यप्रसङ्गात् । अत एव मदनपारिजात-प्रायश्चित्तविवेक-स्मृतितत्त्वादिषु गौडमहानिबन्धेषु न क्वचिदपि सामान्येन शूद्राणामस्पृश्यत्वं व्यवस्थापितं, न वा तत्स्पर्शे स्नानं प्रायश्चित्तमुक्तम् । यच्च मिताक्षराकृता शूद्रस्य स्पर्शनिषेधे—

'अस्पृश्यां ह्याहुतिं वा स्याच्छूद्रस्पर्शे दिवा ।'

इति मानवीयं लिङ्गमुक्तम्—तदपि ब्रह्मयज्ञस्य शूद्रस्पर्शे प्रतिषेधदशाविशेष एव प्रागुक्ते स्पर्शनिषेधं स्थापयति, न तु सर्वत्र ।

अनुच्छिष्टेन शूद्रेण स्पर्शे स्नानं विधीयते ।
तेनोच्छिष्टेन संस्पृष्टः प्राजापत्यं समाचरेत् ॥

इति पराशरवचने चोच्छिष्टेन शूद्रेणोच्छिष्टस्य द्विजस्य वा स्पर्शे प्रायश्चित्तम् वदतीति स्फुटमेव माधवाचार्यैर्व्याख्यातम्—

"यद्यप्यनुच्छिष्टोच्छिष्टयोर्द्वौ शूद्रविशेषावत्र श्रुतौ, तथापि विधीयमानस्नानप्राजापत्यानुसारेण विशेषणे तौ योजनीयौ" इत्यादि वचनात् ।

तथा चोच्छिष्टस्पर्शेनैव तद्वचनं प्रतिषेधति, न तु शूद्रस्पर्शमात्रम् । तथैव च शुद्धावप्याह—

चैत्यान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् ।
विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेत् ॥
उच्छिष्टः संस्पृशेद् विप्रो मद्यं शूद्रं शुनोऽशुचीन् ।
अहोरात्रोषितः स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥

इति शातातपवचनेऽपि चोच्छिष्टस्यैव स्पर्शे प्रतिषेधो न तु सार्वकालिकम् ।

शूद्रं स्पृष्ट्वा निषादं च मुहूर्तेनाचमनाद् द्विजः ।
न तद्दीनस्पर्शनादस्य [illegible] ॥

इति प्रायश्चित्तमयूखधृतं गार्ग्यवचनं च—

षण्ढं कुक्कुटं काकं श्वशूद्रौ ग्रामशायिनः ।
दृष्ट्वैतानाचमेद् कर्मे स्पृष्ट्वा तान् स्नानमाचरेत् ॥ इति—

मयूखधृतेनैव वचनेन कर्मकालविषयतयोपसंहरणीयम् । 'कर्मे इति कर्मकाले' इति मयूखेनैव व्याख्यातत्वात् । अन्त्यावसायिप्रभृतीनां तु स्पर्शप्रतिषेधो न कर्मकालविषयतयोपसंहर्तुं शक्यः बहुस्मृतिवचनव्याकोपप्रसङ्गात् । असच्छूद्रपरमेव वा वचनयोरनयोः शूद्रपदमस्तु—अन्त्यजादीनामपि शूद्रवर्णेऽन्तर्भावस्य सर्वसम्मतत्वात् । अत एव शूद्रकमलाकराध्यायेऽपि स्पष्टमुक्तम् । यत्तु याज्ञवल्क्यः—

'विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेत्' ।

इति शूद्रस्पर्शे स्नानमाह—

तद्दासादिभिन्नशूद्रपरम्, निवृत्तपरं वा । (शूद्रास्पर्शनिवृत्तिविधिरिष्टाङ्गपर वेदार्थं) अन्यथा—

'मूल्यकर्मकरा शूद्रा दासी दासस्तथैव च ।
स्नाने शरीरसंस्कारे गृहकर्मण्यदूषिता ॥
सद्यः स्पर्शे गर्भदासो भक्तदासस्त्र्यहाच्छुचिः ।

इत्यादि विरोधापत्तेः । शूलपाणिना चान्त्यजापेक्षया शूद्राणां वैगुण्येनोत्कर्ष उक्तः, तथा चान्त्यजस्पर्शेऽपि स्पृष्टाङ्गक्षालनपूर्वकमाचमनमेव, तदा दूरे शूद्रस्पर्शे स्नानं कार्यम् । तथा च यज्ञादिकाल एव सामान्येन शूद्रस्पर्शनिषेधो न तु सार्वकालिक इति सुनिष्पन्नमिदमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तनेन । तदित्थम्—सामान्येन साक्षादन्त्यजस्पर्शे अकामकृते आचमनमात्रम्, कामकृते तदङ्गक्षालनपूर्वकमाचमनम्, चिरस्पर्शे स्नानम्, परम्परासम्बन्धे त्वन्त्यजानां न कश्चिद्दोष उक्तः । चाण्डालस्य तु यथा कथंचिदपि साक्षात् स्पर्शे सचेलस्नानम्, कामकृते व्याहृतिहोमाद्यपि, अचेतनपरम्परास्पर्शे आचमनमात्रम्, चेतनपरम्परास्पर्शे स्पर्शकस्याचमनमिति, शवकस्य तृतीयपर्यन्त स्नानमिति प्रामाणिकनिबन्धव्यवस्था सप्रपञ्च निदर्शिता ।

अथैतस्य स्पर्शदोषस्यापवादः स्मर्यते—

ग्रामे तु यत्र संस्पृष्टिर्यात्रायां कलहादिषु ।
ग्रामसन्दूषणे चैव स्पृष्टिदोषो न विद्यते ॥

(शातातपः)

ग्रामे—राजमार्गादाविति तद्व्याख्यानं मदनपारिजाते—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञेषु प्रकृतेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति ॥

(मदनपारिजाते षट्त्रिंशत्)

परिहितस्य कार्पासतन्तु वस्त्रस्य च स्पर्शो साक्षात् स्पर्श इवेति ।

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टि न विद्यते ॥

(अत्रि)

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति ॥
आपद्यपि च कष्टायां सामये पीडिते तथा ।
मातापित्रोर्गुरोश्चैव निदेशे दर्शनात्तथा ॥

(बृहस्पति)

कूपकुण्डे शिलाखण्डे नौकायां गजमस्तके ।
विवाहे तीर्थयात्रायां स्पर्शदोषो न विद्यते ॥

(व्याघ्रपात्)

सलग्नेषु तु काष्ठेषु सलग्नेषु तृणेषु च ।
सलग्नेषु च पर्णेषु स्पर्शदोषो न विद्यते ॥

(स्मृतिसारसमुच्चये)

आसनं शयनं पानं नावं पथि तृणानि च ।
चाण्डालपतितस्पृष्टं मारुतेनैव शुद्ध्यति ॥

(बौधायन)

अत्रासनं वस्त्रभिन्न काष्ठकटादिशयनं च वस्त्रविरहितं शय्यामात्रमिति युक्तं प्रतिभाति । चाण्डालादिस्पृष्टपूर्वासनादेरनन्तरं स्पर्शे न दोषः, एकासनोपवेशने तु दोष उक्त एव प्रागिति । यत्तु वचनान्येतान्येवं विविधेष्ववसरेष्वपि न साक्षात्स्पर्शापवादकानि, अपि तु 'य आसनं अनेन स्पृष्टं इति प्रत्यक्षज्ञानं नास्ति तद्विषयकाणि' इति मतम्, तन्न रोचयामहे । 'स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति', 'स्पर्शदोषो न विद्यते' इति स्फुटमुक्तस्य स्पर्शदोषप्रतिषेधस्यैव मानाभावात् ।

'चाक्षरातमस्पृष्टमुनिर्णिक्तमज्ञातं च सदा शुचि' इति सामान्येनैव वचनेनाज्ञाते स्पर्शे दोषप्राप्तेरेवाभावात्तत्रापवादवचनवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च तावन्मात्रापवादत्वे हि बहूनीमानि वचनान्यज्ञातदशानुवादानि प्रसज्येरन्निति, अनुवादकत्वे लक्षणाप्रामाण्यमेषु समारोपितं स्यात् । न च सम्भावनयागतावनुवादकत्वमनुमन्यन्ते

मीमांसादक्षाः । किं चैवं देवयात्राविवाहादिषु नास्त्यज्ञातस्य स्पर्शस्य दोष इत्यन्यत्राज्ञातस्यापि दोषत्वं प्रसज्जेत, कथं च सर्वथा ज्ञातस्य प्रायश्चित्तमनुष्ठीयता शिष्टैः, सर्वदा दोषसम्भावनया सततप्रायश्चित्तपरैर्वा भाव्यमिति सर्वकार्यान्तरोच्छेदप्रसङ्गः । किं च सर्वेष्ववसरेष्वज्ञानं न सम्भवति, नौकायां, संगमे, पीडितादौ च तथाविधस्याज्ञानस्याप्रसक्तेः । न च रोगाक्रान्तः कश्चिच्चाण्डालत्वादिना विशेषणाज्ञान एव रक्षणीयो न तु ज्ञात इति, कश्चिदपि धर्मामिज्ञो धर्माभिमानी वाऽभ्युपगच्छेत् । सततमेवापन्नरक्षणस्य धर्मशास्त्रैर्मुख्यकर्त्तव्यतयोद्घुष्टत्वात् । ततश्चैकस्मिन्नेव वचने कश्चिदंशोऽज्ञातदोषाभावानुवादकः, कश्चित्तु सर्वस्पर्शापवादक इति वाक्यभेदप्रसङ्गो दुरुद्धरो दोषः स्यात् । अत एव श्रीरघुनन्दनभट्टाचार्यस्मार्त्तप्रामाणिकमूर्धन्या अविशेषेण स्पर्शदोषापवादकता वचनानामेषामिच्छन्ति । ततश्च स्पर्शदोषापवादकत्वमेव वचनानामेषां सुव्यवस्थित मन्यामह इति सुधीभिरेव विचार्यतामवधानेन । तदेषां वचनानामवलम्बेन राजनीतिसम्बन्धिनीनां सामाजिकीनां धार्मिकीणां वा समानानामुत्सवेषु न प्राप्नोत्येव स्पर्शदोषः, 'उत्सवेषु च सर्वेषु' इत्यविशेषेणाश्रिणा स्पर्शदोषस्यादोषितत्वात्, यत्रैवंविधबहुसमुदायसम्भवस्तत्र सर्वत्र स्पर्शदोषापवादे सिद्धे तुल्यन्यायेन सभास्वप्यपवादप्रसरस्य वारयितुमशक्यत्वात् । तथा च सामाजिककर्त्तव्यधर्मोपदेशार्थं यत्रावश्यकता, तत्रावश्यमस्पृश्यानामप्यधिकारः सभाप्रवेशस्य देयः, एकासनपरिहारस्यावश्यकत्वेऽपि विभिन्न एकतमे प्रदेशे तेषामवस्थितौ धर्मकोपशंकानवतारात्, तत्र गच्छता यथा कथञ्चित् वनागते साक्षात् परम्परया वा तत्स्पर्शेऽप्यपवादवचनाश्रयेण तत्र दोषानुत्पत्तेः सिद्धत्वाच्च । ये तूत्तमवर्णाश्रममर्यादादार्ढ्यरक्षिणस्तादृशसभाभ्यो विनिर्गता स्नानाचमनादिकं प्रायश्चित्तमन्तरेण चान्तरपरितुष्टास्तथा विधातुमिच्छन्ति, ते विदधतु यथेच्छं प्रायश्चित्तम्, दोषाभावस्य वाक्येन सुदृढबुध्या लोकार्थमनुशास्त्वेऽपि प्रायश्चित्तमनुतिष्ठता दोषस्याबोधितत्वात् । अनुशावाक्यानामतिक्रमणे हि न पातकोत्पत्तिशङ्का, प्रत्युत यथाप्युत्तमादर्शरक्षणप्रयुक्तं गौरवमेवेति न कस्याप्यत्र विवादः । येषां त्वपवादवाक्येषु विश्वसतां चेतसि न मनागपि शंकातंकलेशः, तेषां न तत्र प्रायश्चित्तयोग्यता, अधिकारदानं तु स्वबुद्धिभेदं निराकृत्य तेषां स्वधर्मे रक्षणाय सर्वेषामप्यावश्यकमिति सर्वं चतुरस्रम् । यत्र तु कर्मकारादिषु विशेषेण दोषः स्मर्यते, तत्र सर्वेषामपि स्पर्शपरिहारः, जाते वा स्पर्शे प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तमेवेति । तथैवाधुनिकेष्वाङ्गलभाषादिविद्यालयेषु, यत्र विद्यादाने नास्ति वर्णाश्रमव्यवस्थाप्रयुक्तः कोऽपि नियमः, सुमुक्षवश्च यथाध्येतुं प्रभवन्ति । विधर्मिणां कुमारा अपि, तत्रैषामन्त्यजजातीनां कुमारा अपि भृत्याद्यतिरिक्तं किमप्यधीयीरंश्चेद् न तत्र दोषं पश्यामः । विधर्मिणामपेक्षयैषां कथमप्यवरत्वाभावात्, प्रत्युत गोरक्षकत्वेन श्रेयस्त्वादिति ।

किञ्च द्विजकुमाराणां तादृशविद्यालयेषु प्रवेशः केवलमापद्धर्ममनुसृत्यैव वाच्यः, इतरथा वेदमनधीतवतां विधर्माभाषाज्ञानरूपकलाशिक्षायां प्रतिषेधात्—

> योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
> स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

इत्यादिस्मृत्यनुसारेण—

> 'न पठेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।'

इत्यादिशिष्टप्रसिद्धवचनानुसारेण च पातित्यप्रसङ्गात्। आपदि चापोदित एव स्पर्शदोष इति तेषां धर्मरक्षाबुद्ध्या तत्र विद्यालयेष्वनुज्ञाप्रदाने नावतरति दोषपङ्कः। अत्रापि येषामुक्तधर्मदार्ढ्याभिलाषिणां ग्लानिर्मनसि भवेत्, तैरधीत्य गृहमावृत्ताः कुमाराः स्नानाचमनादिना शोधनीया इत्यास्तां तावत्।

अपारवृष्ट्यग्निनाशिभिरनाथव्याधिप्रभृतिरागभूतानां रक्षामिच्छता सदा पद निवार्य परिरक्षणन्तु सर्वैरप्यवश्यकर्त्तव्यमेव। तस्य मुख्यधर्मत्वात्—

> श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्या सुरार्चनम्।
> पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत्॥

इति भगवता याज्ञवल्क्येन निर्विशेषं रोगिपरिचर्यादेवरकर्षप्रख्यापनात्—

> नाभिरक्षन्ति ये शक्ता दीनं चातुरमाश्रितम्।
> आर्तं न चानुकम्पन्ते ते वै निरयगामिनः॥
>
> (पराशरमाधवधृतं स्कन्दपुराणवचनम्)

इत्यरक्षितुः पातकश्रवणात्—

> चाण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः।
> अन्नेन पूजनीयश्च परत्र हितमिच्छता॥
> चण्डालोऽथवा पापः शत्रुर्वा पितृघातकः।
> देशकालाभ्युपगतो भरणीयो मतो मम॥
>
> (अपरार्के विष्णुधर्मोत्तरे)

इत्यादिषु स्पष्टं चाण्डालादीनां हितकरणभरणत्वादीनामाख्यातत्वात्। तस्मादापदि मनुष्यमात्रस्य यथाशक्ति रक्षार्थं प्रयतनमावश्यको धर्म इति निर्विवादम्।

अथ—

> 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः।
> विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः॥
>
> (स्कान्दे)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(भगवद्गीतासु)

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(श्रीमागवते)

इत्यादिभिर्भूयोभिर्वचनैर्भगवद्भक्तौ मनुष्यमात्रस्याधिकारः सुस्पष्टं सिद्ध्यति, यच्चेत्थं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवद्भक्त्या तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥

इति नवाङ्गानि स्मर्यन्ते—इति स्मरणोपयोगिविष्णुप्रतिमादर्शनादावपि मनुष्यमात्रस्याधिकारः सिद्ध्येदेव ।

चतुर्वर्णैस्तथा विष्णुः प्रतिष्ठाप्यः सुखार्थिभिः ।

इति च देवीपुराणे सर्वेषां वर्णानां विष्णुप्रतिष्ठापनेऽप्यधिकार उक्तः, किंपुनर्दर्शने । ब्राह्मणादीनां पूज्या प्रतिमा नान्येन स्प्रष्टव्या इत्यादिनियमास्तथापि विशिष्टप्रतिमान्तः दूरतो दर्शनेऽधिकारो न केनापि निवारयितुं शक्यते । तथा च विशिष्टेषु मन्दिरेषु दूरे छायापातशङ्काविरहिते स्थाने स्थितिं प्रकल्प्य न्त्यजानां देवदर्शनाधिकारः प्रदेयो येन भक्त्युदयेन सुसंस्कारसिद्धौ धर्मान्तरसिद्धौ धर्मान्तरप्रवेशबाधका तेषां समूलमुन्मूल्येत भगवाननुगामिभिश्च तेषां भवेदिति । तथैव तेषां स्वधर्मोपदेशोऽपि धार्मिकैरवश्यमवधेयमेव, धर्मज्ञानमन्तरेण धर्मपालनस्याशक्यत्वात्तत एव च धर्मान्तर ग्रहणशङ्कोदयात् । विधर्माणो हि जना प्रकारशः सर्वानपि मनुष्यान् स्वीयं धर्मं बोधयन्ति च्यत्तदाधीना इत्येव धर्मान्तरेऽस्मदीयानां प्रवेश आपतति । न चायं धर्मोपदेशः सर्वकल्याणसाधकः कथमपि शास्त्रविरुद्धः —

'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' ।

इत्यविशेषेण ब्राह्मणात् सर्वमानवानां धर्माचारशिक्षाग्रहणस्योपदिष्टत्वात् । धर्मश्रवणप्रतिषेधस्तु श्रौतोपनयनादिविषयतयैव नेय इति ।

अथ कूपसम्बन्धे तु स्मृतिषु निबन्धकृतामपि च मतद्वैधमित्थमास्ति, तथाहि द्रव्यशुद्धिप्रकरणे—

> अन्त्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा।
> तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥

इति शातातपवचनमुद्धृत्य 'चाण्डालादिकृते तडागादौ तु न दोषः' इति मिताक्षराकृद् व्यवस्थापयति। कूपशब्दस्य मिताक्षरायामनुपादानेऽपि वचने तस्य तदभावात्र वचनावलम्बिन्यां व्यवस्थायामादिपदेन कूपग्रहणस्य नाप्राप्तत्वात्। तेन च चाण्डाल कृते कूपादावपि यदि न दोषस्तर्हि चाण्डालस्पृष्टे तस्मिन् दोषवृत्या दण्डापूपिकान्यायेनैव दूरापास्ता।

> खलक्षेत्रेषु यद्धान्यं कूपवापीषु यज्जलम्।
> निभोज्यादपि तद् भाज्यं यच्च गोष्ठगतं पयः ॥

इति बौधायनवचने, स्वल्पमात्रार्थके—

> खलक्षेत्रगतं धान्यं वापीकूपगतं जलम्।
> अभोज्यादपि तद्ग्राह्यं यच्च गोष्ठगतं पयः ॥
> प्रपास्वरण्ये कुम्भे च द्रोण्यां जलकोशविनिःसृतं वा।
> श्वपाकचण्डालपरिग्रहेषु पीत्वा जलं पञ्चगव्येन शुद्ध्येत् ॥
>
> (आपस्तम्ब)
>
> चण्डालपरिगृहीतं यद्यज्ञानादुदकं पिबेत्।
> तस्य शुद्धिं विजानीयात् प्राजापत्येन निश्चयः ॥
>
> (अंगिरा)

इत्यादिषु स्वीकृतपरिग्रह-परिगृहीतादि शब्दस्मरणमुपरच्यते। यथा शब्दानां तत्तत्स्वामिकत्व एव प्रयोगसामञ्जस्यात्। सर्वार्थमुत्सृष्टे च कस्यापि स्वामित्वाभावात् देवारण्यकेषु कूपेष्वदोषः स्मर्यते—तत्र प्रायेण हुण्नामेव तद्भावाभिमतात्।

अत एव च—

> कूपैकपानदुष्टा ये तथा संसर्गदूषिताः।
> सर्वेनैवोपवासेन पञ्चगव्येन शोधयेत् ॥

इति संवर्तापस्तम्बयोर्वचनं मयूखकृता द्वहनिवाससांकर्यप्रकरणे व्याख्याय एहकूपादिपरतामेव नीतम्।

> अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागा वाप्य एव च।
> एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥

इत्यापस्तम्बवचनमपि च पराशरस्मृतिभाष्ये माधवेनान्त्यजस्वामिके कूपे स्नानाद्यभ्यासे प्रायश्चित्तबोधकत्वेन व्याख्यातम्। 'चण्डालपरिगृहीतं यद्यज्ञानादुदकं

पिबेदिति' प्रागुक्त च वचन चाण्डालेन भाण्ड गृहीत्वा स्वीकृतस्य जलस्य पाने प्रायश्चित्तबोधकमिति माधवेनैव व्यवस्थापितम्। 'चाण्डालखातवापीषु' इत्यादिक चापि पूर्वोक्त वचन चाण्डालस्वामिकवाप्यादिविषयकमेवेति माधवेनैवोक्तम्।

चाण्डालकूपभाण्डस्थ नर कामजल पिबेत्।
प्रायश्चित्त कथ तत्र वर्णे वर्णे विनिर्दिशेत्॥
चरेत्सातपन विप्रःप्राजापत्य तु भूमिप।
तदर्धन्तु चरेत वैश्य पादम् शूद्रस्य विनिर्दिशेत्॥

इत्यापस्तम्बवचनमपि कूपस्थचाण्डालभाण्डस्थादिष पाने प्रायश्चित्तबोधकमिति माधवोऽभिमैति। तत एव च—

चाण्डालघटसस्थ तु यत्तोय पिबति द्विज।
तत्क्षणात् क्षिपते यस्तु प्राजापत्य समाचरेत्॥
यदि न क्षिपते तोय शरीर यस्य जीर्यति।
प्राजापत्य न दातव्य कृच्छ्र सातपन चरेत्॥
चरेत् सान्तपन विप्र प्राजापत्यमनन्तर।
तदर्द्धन्तु चरेद्वैश्य पाद शूद्रस्तथा चरेत्॥

इति पराशरवचनैरेकवाक्यतापस्तम्बवचनानामुपपद्यते। उभयत्र समप्रायश्चित्तस्मरणात्—पराशरेण च स्पष्ट घटपदस्य गृहीतत्वात्।[१]

---

[१] अपूर्ण एवायमपि सम्प्राप्तो निबन्धः।—सम्पादक।

पितृविवेकः

इह खलु पञ्चयज्ञानुष्ठानमार्याणां धर्मैकजीवितानां प्रधानो धर्मः, तदन्तःपाती चैष प्रात्यहिकमासिकवार्षिकादिविविधभेदभिन्नः श्राद्धापरपर्यायः पितृयज्ञ इति नैतत्परोक्षं विदुषाम् । तेन यज्ञेन तर्पणीयाः क इमे पितरः । केषां प्रीत्यर्थमिदं श्राद्धमितीदानीं विवेचयितुमावश्यकम् । बहुधा विप्रतिपत्तेस्तत्र संशयदर्शनात् । तथा हि–य इमे पितृपितामहादिशब्दा जनकादिवाचकत्वेन लोके निरूढास्त एव यथाक्रमं श्राद्धप्रक्रियायां स्मर्यन्त इति कृत्वा तत्रापि तेषां जनकादिवाचकत्वं तावत्प्राप्तम् , तत्र च तेषां जीवतामेव पितृशब्दादिवाच्यत्वसामञ्जस्यादिहैव श्रद्धा (भक्ति) पूर्वकं पित्राद्यभ्यर्हणं श्राद्धमिति केचिदर्वाचीना अभिप्रयन्ति । लोकान्तरगतान् पित्रादीनुद्दिश्य यद्दीयते तच्छ्राद्धमिति तु स्मार्तप्रक्रियानुसारिणां प्राचां सरणिः । ततश्च विप्रतिपत्तेः संशय्यते–क इमे पितरः, केषां च प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (१)

अथ केचिदिदानीन्तना रूढिमप्यसहमानाः 'पान्तीति पितरः' इति व्युत्पत्तिमेवानुरुन्धाना रक्षकसामान्ये एव पितृशब्दप्रयोगमाचक्षते–अत एव–

> अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ।
> मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥
>
> (ऋग्वेद ९. ८३. ३.)

इतिमन्त्रं व्याचक्षाणो वेदभाष्यकार सायणाचार्योऽपि पितरः पालका देवाः पितरो जगद्रक्षका रश्मय.' इति पालकत्वसामान्येनैव सूर्यरश्मीनां पितृत्वमुपपादयामास । बहुत्र च मन्त्रेषु पालकत्वसामान्येन पितृशब्दः प्रवृत्तः । युक्तं च रक्षकाणामन्नादिभिरभ्यर्हणमिति य इमे चौराद्युपद्रवेभ्यः प्रजाः परित्रायन्ते तदुद्देश्यक एव पितृयज्ञस्तत्र तत्र विहितो न तु लोकान्तरगतपित्राद्युद्देश्यक इति तेषां विप्रतिपत्तिः । ततश्च जायतेऽत्र संशयः–क इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (२)

मृतकश्राद्धवादिनोऽपि च केचन 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'त्याद्यनुरोधात् पितृलोकस्थितानामेव पितृपितामहादीनां श्राद्धेन तृप्तिमाचक्षते । अपरे तु स्वस्वकर्मानुरोधेन तास्ता योनीर्गतानामेव तेषां तृप्तिमभिप्रयन्ति । तदाह देवलः—

> देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ।
> तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥
> गान्धर्वे भोग्यरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।
> श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति ॥ इति ।

तथानयाऽत्रान्तरविप्रतिपत्त्या विचार्यते संशय, के इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (३)

सर्वत्र च शास्त्रेषु सर्वेष्वपि पितरो देवा इत्यपि स्पष्टमेव श्रूयते स्मर्यते च, तथा हि—

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥

(अथर्व ११. ९. २७)

सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे॥
उत्ससर्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः।
सा चोत्सृष्टाभवत्सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थिता॥

विष्णुपुराणे। (१. ५)

वायुपुराणादिषु तु कल्पादावादेव पितॄणामुत्पत्तिः संख्या च देवरूपताभिहिता।

सहस्राणि चतुर्दशभिर्मिश्रकाणां प्रकीर्तिताः।
एकोद्दिष्टाशिनां यथा कर्हिचिद् द्विजाः॥

इत्यादिना मनुस्मृतावपि प्रसङ्गतः पितॄणामुत्पत्तिमाह—

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान्॥

इति। (१. ३७)

यदि स्वर्गलोकस्था एव पितरोऽभिमतास्तर्हि नैव देवा सर्वांशे इत्युपपत्ति-सम्भवापत्तेः। अभिहिता तु सर्वत्र तत्तल्लोकदेवैरभेदेनेति तदपवदते के इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (४)

पितृशब्दस्य चान्द्रमसादौ च वृद्धाभ्युदयादौ विनियोगः, तत्र तावन्मनुरेव पितॄन् मरीच्यादिपुत्रानाह—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः॥
विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः॥
सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः॥

इत्यादिना (मनु० ३ अ०)

अपरत्र तु वस्वादिरूपत्वमेषामाचख्यौ—

वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ।
(३. २८४)

वस्वादयश्चेमे प्रसिद्धा देवाः । न तु मृतानां पितॄणां मरीच्यादिपुत्रत्वं वस्वादिरूपत्वं वा कथमपि संभवतीत्युत्पद्यते संशयः क इमे पितरः, केषां प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति । (५)

तथैव पितॄणामेषामृतुरूपत्वमपि दृष्टम्—"ऋतव पितरः" (शतप० ब्रा०)

'ऋतवः पितरो देवा इत्येषा वैदिकी श्रुतिः' ।
(वायुपुराणे)

मासाश्च पितरो ज्ञेया ऋतवश्च पितामहाः ॥
संवत्सरः प्रजाना च सुद्रेकः प्रपितामहः ।
(आदित्यपुराणे)

भगवान् मनुरपि च श्राद्धप्रक्रियायाम्—

'षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितृनेव च धर्मवित्' ।
(३. २१७)

इत्यभिदधत् पितॄणामृतुत्वं व्यञ्जयतीव । महीधरोऽपि—

'नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय ।
यजुः सं (२. ३२)

इति मन्त्रभाष्ये पितॄणामृतुत्वं व्याचख्यौ । कथन्तु मृतानां पितॄणामृतुरूपत्वं सम्भवेदिति संदिह्यते क इमे पितरः, केषां प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (६)

ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देवमानवाः ।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥
(३. २०१)

इत्याचक्षाणो भगवान् मनुः पितृषु देवानामपि जनकत्वमभिप्रैति, देवानां च मनुष्यादिसकलजगत्कारणत्वमन्वाह । ततश्च कथमितः प्रेतानां मनुष्याणां पितृत्वं संभवेत् मनुष्यत्वादपि पूर्वं तत्कारणानां देवानां ततोऽपि च पूर्वं तत्कारणानां पितॄणां प्रसिद्धेः । तस्मात् सुदृढोऽयं संशयः—क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (७)

अथेयमितरथैव पितॄणामुत्पत्तिः श्रूयते शतपथश्रुतौ—"महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः, ते नो एव व्यजायन्त—येयमेषां विजितिस्ताम् । अथ यानेवैषां तस्मिन् संग्रामेऽघ्नंस्तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त—पितरो वै त आसंस्तस्मात् पितृयज्ञो नाम ।

तद्वन्तो ग्रीष्मो वर्षा -एते ते ये व्यवायन्त । शरद्धेम त शिशिरस्त उ ते यान् पुन समैरयन्त" (२ का० ६ अ० १ ब्रा०) इति । इह हि पूर्वं वृत्रेण हताना देवविशेषाणामेव विशेषैर्दैवै पितृयज्ञाख्येन कर्मणा पुन समागतानां पितृत्व व्याहृतम्, तदुत्तर चैषामृतुरूपत्वमेव प्रागुक्तमुपसंहृतम्-न तु कथमपीत प्रेतानां मनुष्याणा पितृत्वं श्रुतमिति समुदेति सशय -क इमे पितर केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (८)

अथ तत्रैवाग्रे पितृविशेषाणां नामनिरुक्त्यर्थमेवेद प्रतीयते-"तद्ये सोमेने जानास्ते पितर सोमवन्त , अथ ये दत्तेन पक्वेन लोक जयन्ति ते पितरो बर्हिषद , अथ ये ततो न्यतरश्चन यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ता एत उ ते ये पितर" इति । इह हि सोमयज्ञदानाग्निहोत्रादिकारिणां मनुष्या णामेव पितृत्वमाख्यातम् । "अग्निरेव दहन् दहन् स्वदयती" त्युक्त्याग्नि दग्धाना मृतपुरुषाणामेवेह पितृत्वं युक्तमुक्तमिति तु न भ्रमितव्यम् । तथा सति सर्वेषामेव पितृणा मन्यतेऽग्निदग्धत्वाविशेषाद्विभागत्रयस्यासङ्गतत्वापत्ते । तस्मा त्सोमयागदानादिविरहिते केवलाग्निहोत्रिणि गौण एवंविध प्रयोग इत्यवश्यमुप गन्तव्यम् । ततश्च तथाविधानां मनुष्याणामेव पितृत्वमत्र ख्यापितं भवतीति विप्रतिपत्ते सशय्यत एव-क इमे पितर , केषा वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (९)

हरिवंशे तु पितृणामुत्पत्तिरियं विलक्षणैवाख्यायते-(अ० १७)

देवानसृजत ब्रह्मा मा यक्ष्यन्तीति भार्गव ।
समुत्सृज्य तथात्मानमयजस्ते फलार्थिन ॥ २२ ॥
ते शप्ता ब्रह्मणा मूढा नष्टसंज्ञा दिवौकस ।
न स्म किंचिद्विजानन्ति ततो लोकोऽप्यमुह्यत ॥ २३ ॥
ते भूय प्रणता सर्वा प्रायाचन्त पितामहम् ।
अनुग्रहाय लोकानां ततस्तानब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥
प्रायश्चित्त चरध्वं वै व्यभिचारो हि व कृत ।
पुत्राश्च परिपृच्छध्व ततो ज्ञानमवाप्स्यथ ॥ २५ ॥
प्रायश्चित्तक्रियार्थं ते पुत्रान् पप्रच्छुरार्चवत् ।
तेभ्यस्ते प्रयतात्मान शशसुस्तनयास्तदा ॥ २६ ॥
प्रायश्चित्तानि धर्मज्ञा वाङ्मन कर्मजानि वै ।
शसन्ति कुशला नित्य चक्षुर्ष्मामपि निश्चय ॥ २७ ॥
प्रायश्चित्तार्थतत्त्वज्ञा लब्धसंज्ञा दिवौकस ।
गम्यता पुत्रकास्त्वेति पुत्रैरुक्तास्त्व ते तदा ॥ २८ ॥
अभिशप्तास्तु ते देवा पुत्रवाक्येन निन्दिता ।
पितामहमुपागच्छन् सशयच्छेदनाय वै ॥ २९ ॥

ततस्तानब्रवीद्देवो यूयं वै ब्रह्मवादिनः ।
तस्माद्यदुक्तं युष्माकं तत्तथा न तदन्यथा ॥ ३० ॥
यूयं शरीरकर्तारस्तेषां देवा भविष्यथ ।
ते तु ज्ञानप्रदातारः पितरो वो न संशयः ॥ ३१ ॥
अन्योन्यं पितरो यूयं ते चैवेति न संशयः ।
देवाश्च पितरश्चैव तद्बुध्यध्वं दिवौकसः ॥ ३२ ॥
ततस्ते पुनरागम्य पुत्रानूचुर्दिवौकसः ।
ब्रह्मणा छिन्नसंदेहा प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ ३३ ॥
यूयं वै पितरोऽस्माकं यैर्वयं प्रतिबोधिताः ।
धर्मश्च कश्च वः कामः को वरो वः प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥
यदुक्तं चैव युष्माभिस्तत्तथा न तदन्यथा ।
उक्ताश्च यस्माद्युष्माभिः पुत्रका इति वै वयम् ॥ ३५ ॥
तस्माद्भवन्तः पितरो भविष्यन्ति न संशयः ।
यानिष्ट्वा तु पितॄन् श्राद्धे क्रियाः काश्चित्करिष्यति ॥ ३६ ॥
राक्षसा दानवा नागाः फलं प्राप्स्यन्ति तस्य तत् । इत्यादि ।

अनेन च प्रकरणेन देवानां पुत्रा देवविशेषा एव स्वपितृभ्यो विद्याप्रदानेन पितृत्वमापुरिति स्फुटमेव प्रतीयते । भगवता मनुनापि संक्षेपतः सूचितोऽयमर्थः —

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥
(म. स्मृ अ. २)

इत्यादिना । ततश्च विशिष्टविद्यावाप्त्यै मन्त्रार्थानुपदिशतामेव केषाञ्चिद्देव विशेषाणामितरेषां वा पितृत्वमिति प्रसिद्धमेव तु सामान्यतो मृतपुरुषाणामिति समुदेति संदेहः—क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति । (१०)

अथापि च पिण्डपितृयज्ञप्रक्रियायां श्रुतौ—"आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः" (य० स०)

"उशन्तस्त्वा आवह पितॄन् हविषे अत्तवे" (अथ० स०)

इत्यादिषु मन्त्रेष्वावाहनलिङ्गदर्शनात्पितॄणां यजमानसंनिधौ प्राप्तिः प्रतीयते— तेनच देवा इव भवन्तु केचन पितरोऽपि विलक्षणशक्तिमन्तश्चेतनविशेषाः, मीमांसक प्रक्रियामनुसृत्य मन्त्रमयादिविग्रहा वा–इति प्राप्नोति । पूर्वोक्ते "तस्यासममुन

भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति" इत्यादिभिः स्मृतिवचनैस्तु यजमानदत्तस्यान्नस्यैव, पितॄणां संनिधौ प्राप्तिः प्रतीयते–इति पूर्वजन्मनि यजमानपित्रादीनां तत्तद्योनिगता-नामेव पितृत्वं भवेदिति प्राप्नोति। ततश्च बहुविधाभिराभिर्विरुद्धाभिर्विप्रतिपत्तिभिः सुदृढोऽयं संशयः क इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति। (११)

यदित्थं श्रुतिस्मृतिप्रामाण्येन पितृपदार्थनिर्वचनस्यावश्यकत्वे प्रसक्ते केचिदि-दानीन्तनास्तावदित्थमाविश्चन्ते–मृतान् प्रपित्रादीनुद्दिश्य प्रतिमासं प्रतिवत्सरं वा पिण्डादिप्रदानं ब्राह्मणादिभोजनं चेति सर्वथा प्रमाणशून्यत्वादुपपत्तिविरुद्धत्वा-च्चाज्ञानकल्पित एवायं केषाञ्चिदाधुनिकस्मार्तानां पन्थाः। तथा हि—स्वकृतमेव कर्म स्वेनैवोपभुज्यत इत्यस्ति तावदीश्वराज्ञासिद्धः सर्वथाऽव्यभिचरितः प्राकृतिको नियमः सर्वैश्च तैर्थिकैरभ्युपेतः। प्रतिपादितं हि यजमानस्यैव कर्मफलभोक्तृत्वं महताऽऽदरेण पूर्वमीमांसायाम्, उररीकृतं चैतदेव सर्वैरपि दार्शनिकैः। इह तु पुत्रादयः कर्मकृतः, पित्रादयश्च तत्फलभाज–इति सुस्पष्टं नियमस्यास्य व्यतिक्रमः प्रथमो दोषः। इतश्च प्रेतोऽयं जन्तुः स्वकृतकर्मानुरूपामितरासां योनीनामुपसर्प्य-स्तदात्व एव शरीरान्तरमुपसर्पतीत्युक्तं श्रुतिस्मृतिषु 'तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽ-विद्यां गमयित्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति, (बृहदारण्यकोपनिषदि ७.४.३) इति श्रुतिः।

'अङ्घ्रिस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः॥ (श्री भाग० १०, १)

इति तदनुगामिनी स्मृतिश्च तृणजलूकानिदर्शनेन जीवस्य पूर्वदेहपरि-त्यागत एव देहान्तरसम्बन्धं बोधयन्ती देहान्तरप्राप्तौ कालविलम्बं वारयति।

जीर्णानि वासांसि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
एवं शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (भ. गी)

इत्यादावपि वासोदृष्टान्तेन झटित्येव देहान्तरपरिग्रहः स्मर्यते। देहान्तरमुप-गतस्य च देहिनो यथाकर्मैवाशनपानादयस्तत्र तथैव विधात्रोपपाद्यन्त इति प्रत्यक्ष-मेतदनुभवामः। न हि कानि केऽपि जन्तवोऽस्माभिर्लक्ष्यमाणाः पौर्वजन्मीयपुत्रादि-कृतं श्राद्धमपेक्षमाणा अस्माभिरनुभूयन्ते। भवेयुश्च केचिदस्मदादीनामपि पूर्वजन्म-सम्बन्धिनः पुत्रादय इति तत्कृतं श्राद्धं वयमपि कदाचिल्लभेमहि, 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादिभिर्मन्त्रैराहूताश्च तदन्तिकमुपसरेम नत्वेतदेवं कदाप्यनुभवाम इति नान्येऽपि जीवास्तथानुभवन्तीति स्वदृष्टान्तेनैवाध्यवस्यामः। तथा च देहान्तर-सम्बन्धमुपगतान् जीवान् प्रति श्राद्धमिदमप्रयोजकं सिद्धमेव। यदपि मनुष्य-शरीरेष्वाविश्य केचन पिशाचाः शुद्धिमभ्यर्थयमाना भ्रमन्त इति तदर्थमेव भवे-

च्छ्राद्धमिति केऽपि तस्मादधस्तदप्येतदबुधजनवञ्चनामात्रम्। पित्रादीनां तदा वेधानामपि च पित्रादिविहीनजाम्यजनमात्रभेदकत्वात्। लोकवञ्चनामेव परमं पुरुषार्थ मभिमन्यमानानामन्यजीवनोपायविरहितानां केषाञ्चिदल्पधूर्तानां मायामात्रमिय पित्रादिलीलेति क एतदुक्तिं प्रमाणकोटौ प्रवेशयेत् प्रज्ञावान्। अभ्युपगमवादेऽपि च येषामेव पितरः पित्रादिवत्पुनरागतास्त एव श्राद्धं कुर्वन्तु, अन्ययोनिगतपितृ काणां तु श्राद्धमिदं सर्वथा व्यर्थमिति नैव नित्यकर्मतयावस्थापयितुं शक्येत। न हि सर्वेषामेव पितरः पित्रादिवत्पुनरायान्तीति वक्तुं शक्यम्, इतरथैवंविधसृष्टि विलोपप्रसङ्गात्। न च पित्रादित्वमनुभूयैव तत्तासु योनिषूत्पत्तिर्वाच्यम्, मानाभावात्, स्मृतिषु देहान्तरस्य सद्योऽधिकपूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिविरोधापत्तेश्च, कर्मानु सारिणी जीवगतिरित्यस्य कति विरोधिता स्यादिति यत्किञ्चिदेतत्। तथा च क्षया होत्तरं दशदिनपर्यन्तं प्रेतदेहपरिकल्पनार्थं दशगात्राभिधेयं पिण्डादिप्रदानम्, मृतस्य पित्रादेः पितामहादिभिः संयोजनाय सपिण्डीकरणं नित्याद्यनुवर्तितान्या सर्वा अपीमा श्रुतिस्मृतिसिद्धाः कुकल्पना निरस्ता वेदितव्याः। जन्मान्तरेषु गात्राणां पुत्राणां पौत्रादिभिरेवोत्पादनीयत्वात्, स्वकर्मानुगतत्वात् यत्र कुत्राप्य वस्थितैः पितामहादिभिः पित्रादीनां संयोजनस्य श्राद्धत्वेनाप्यसम्भवत्वाच्च। न च क्वापि श्रुतौ मन्वादिस्मृतिष्वपि वा मातापित्रादीनामपि विद्याभिर्दिवौकसत्वप्रामाणिक प्रकल्पनासम्भवनायातेन। अभ्युपगतेऽपि च सर्वेषां जीवानां कियत्कालपरिमिते प्रेतत्वे नेदं श्राद्धं नाम कर्म नित्यं सिध्येत्, तत्तद्योनिप्राप्तेरनन्तरमस्याप्रयो जकताया अनिवार्यत्वात्। नित्यमेव तु श्राद्धमभिवदन्ति स्मृतयो न तु नियतका लमिति नेदं मृतपित्रर्थं स्यात्। ननु के नित्यपितर इमे वस्वादयो देवास्तत्त द्योनीरुपगतानपि मृतान् पित्रादीनुपतर्पयन्तीति वयमभिप्रेम—तदेतदुक्तं भगवता याज्ञवल्क्येन—

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄञ्छ्राद्धेन तर्पिताः॥ इति।

प्रत्यक्षमिदं चेन्न, देवा एव सन्त्येतेऽस्मदादिभ्य अन्नाद्युपहरन्ति सर्वत्र। सूर्यादिदेवानामेव जगत्प्रवर्तकत्वोपगमात्। न खल्वग्निवाय्वादित्यादिदेवेष्व ननुकूलेषु कश्चिदपि कृष्यादिजन्यमन्नमीषदपि लब्धुम्, देवाश्चैतेऽस्मदादिभि र्यज्ञैराराधिता एवास्माकमनुकूला इति सविस्तरं समर्थित एषोऽर्थो भगवद्गीतासु—

'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'॥
'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः'॥

'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति' ॥

इत्यादिना-अन्यत्रापि च स्मृतिषु 'आहुत्याप्यायते सूर्यः' इत्यादिना।
वसून् वदन्ति तु पितॄनित्यादिना च भगवता मनुना देवानामेवा श्राद्धेऽपि सम्प्रदा
नत्वं नन्वभ्युपगतमेव। तथा च श्राद्धयज्ञेनास्मदादिभिराराधिता इम आदित्या
दयो देवा एव पर्जन्यादिद्वाराऽन्नाद्युत्पाद्यास्माकं पित्रादींस्तत्र तत्रावस्थितानप्यु
पतर्पयन्त्येवेति किमनुपपन्नमिति चेदहो भ्राम्यन्ति भवन्तः। अवश्यं वस्वादित्यादि
देवानामेषां जगच्चक्रप्रवर्तकत्वं सोऽस्त वक्तुम्, न तु तत्र प्रवर्तनायां किमपि वैषम्य
मुपपादयितुं शक्यम्, वैषम्यमन्तरा च व्यर्थमेवेदं श्राद्धं नाम कर्म। सूर्यादयो
देवा हि सामान्येनैव जगदिदमुपकुर्वन्ति न तु श्राद्धकर्तुरधिकं तदकर्तुरल्पं वा फलं
प्रदातुमीशते, जडत्वात्, सर्वसाधारण्येनैवैषां प्रवृत्तेरनुभवसिद्धत्वाच्च। इतश्च श्राद्ध
विधाता तदविधातापि च तुल्यमेव फलं यदि लभेयाताम्—हन्त तर्हि शरीरशो-
षणं नाममात्रेण निष्फलप्रयासेन श्राद्धेन नामानेन कर्मणा। न चेदपि वयं श्राद्धं
कुर्याम, अवश्यं तदपीमे सूर्यादयोऽस्मत्पित्राद्यर्थमन्नाद्युपहरेयुरेव निर्वाहणायैव किल
जगच्चक्रस्य परमेश्वरेणेमे उत्पादिता इति, ततश्च किमस्माकं श्राद्धविधानेन फलमिति
कृतधिय एवैतद्विचिन्वन्तु। न चायं नियमस्तत्रावश्यात् शक्यो वक्तुं देऽस्मद्दत्त-
मन्नपानाद्यस्मत्पितर एवोपभोक्ष्यन्तीति चेतनस्य हि कस्यचित्प्रापकस्य सत्त्वे तदपि
भवेदपि। अचेतनास्तु सूर्यादय इत्यसकृदवोचाम। ततश्च जगदुपकारबुद्ध्यैव
हवनादिषु प्रवृत्तिः कथञ्चिच्छ्रेयसे स्यात्, पित्राद्युपभोगमुद्दिश्य प्रदानं त्विदमात्मन
परेषां च प्रतारणमात्रमेवेति निश्चायको विदे।

अथापि केचन ब्रूयुः मन्त्रसामर्थ्येनैवास्मद्दत्तमन्नपानाद्यस्मत्पित्रादीनुपस्थातु
मर्हतीति, त एतेऽपि ननु स्वीयमज्ञानं मन्त्रेष्वारोपयन्तीत्युपेक्ष्या एव। न हि
मृतेभ्यः पित्रादिभ्योऽन्नपानाद्यनुप्रापयामीति कस्यापि मन्त्रस्यार्थः शक्यते सद्रूप
दर्शयितुम्। यदि च भवेदेवंविधं मन्त्रेषु वस्तुप्रापणसामर्थ्यं तर्हि जीवद्भ्योऽपि
विदेशावस्थितेभ्य इष्टेभ्यः किमपि वस्तु मन्त्रेण सम्प्रेष्य परीक्षणीयं तदेतत्।
सोऽयमत्र कर्मणि प्रत्यवतिष्ठमानानां चिरन्तनः प्रवादः।

मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
प्रस्थितानां हि जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम्॥ इति–

किञ्च मृतेभ्योऽनुप्रदीयमानमिदं पिण्डाद्यन्नं यथापूर्वमवस्थितं पश्याम इति
किं कुत्र मन्त्रेण नीतम्? गोब्राह्मणादीनामुदरशालस्थमेव त्विदमन्नादि पितॄन्
समुपेयादिति नात्र कल्पनामात्रे किमपि बीजमनुप्रपश्यामोऽन्यत्राज्ञानात्। एतेन
चाग्निहोत्रादिहोम्यमप्यत्रापादयन्तो निरस्ता वेदितव्याः। अग्नौ प्रक्षिप्ता हि

हविषा सम्भीभूयान्तरिक्षादिगमन विज्ञानानुमोदितमपि स्यात्, ब्राह्मणादिभुक्तान्नानां तु कान्दश गमन सम्भवतीति विविच्यतां किञ्चित्। तस्मादुपपत्तिविरोधसत्त्वादेव मन्त्रेषु तथाविध सामर्थ्यम्, न च कार्याप मन्त्रो मृतश्राद्धे कथञ्चिदप्यनुकूल इति यत्किञ्चिदेतन्मन्त्रसामर्थ्यस्थापन नाम। किञ्च नेदं मृतश्राद्धं नाम कर्म वेदसिद्धमनादीति स्फुटं ख्यापयति पुराणेषूपलभ्यमानाख्यायिका। तथा हि महाभारतस्यानुशासनिके पर्वणि—

> "केन सङ्कल्पितं श्राद्धं कस्मिन् काले किमात्मकम्।
> भृग्वङ्गिरसके काले मुनिना कतरेण वा" ॥
>
> (अ० ९१)

इत्येवं युधिष्ठिरेण पृष्टः पितामहो भीष्म आह स्मेतिहासं पुरातनम्। स्वायम्भुवस्यात्रेर्वंशे दत्तात्रेयसुतो निमिर्नाम तपस्वी स्वपुत्रे श्रीमति निधनमुपयाते भृशं शोकातुरमानसोऽमावास्यायां ब्राह्मणानाहूय पुत्रस्येष्टमन्नपानादिमभोजयत्। ततश्च दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु नामगोत्राद्युदाहरन् पिण्डस्यासनमप्यनुविदधे, कृत्वा तु सर्वमेतत्कर्म पश्चादनुतताप चिन्तयामास च—

> अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम्।
> कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति ॥ इत्यादि।

तदनु तु समागतस्तत्रभवान् भगवान् वंशप्रवर्तकोऽत्रिः सर्वमप्येतद् ब्रह्मणैव पुरा दृष्टम्, तदेतत्कर्म भवताद्य प्रवर्तितमिति मा भैषीर्द्य मतान्तियादिना परितोष्य गत इति। वराहपुराणेऽपि समुपलभ्यते सपरिकरा सेयमाख्यायिका, उक्तञ्च तत्रास्येतदेव नुतप्तेन निमिना नारदं प्रति—

> शोकस्नेहप्रभावेण एतत्कर्म मया कृतम्।
> न च श्रुतं मया पूर्वं न देवैऋषिभिः कृतम् ॥
> अद्य तीव्रं प्रविशामि मुनिशापात्सुदारुणात्। इति।

तयानयाख्यायिकया, स्फुटमेव प्रसिद्ध्यति, यत्पुराऽस्य कर्मणो नासीच्चर्चापि क्वचित्। शोकानुतप्तेन तु निमिना पुत्रस्नेहाच्चक्षिण्मन्नपानादि तत्प्राप्तिबुद्ध्या ब्राह्मणेभ्यः प्रदत्तम्। सेयमज्ञानान्यस्नेहवशवदानां नैसर्गिकी प्रवृत्तिर्न त्वेव धर्मो भवितुमर्हति, गतानुगतिकतया तु लोके सेयमेव प्रमाणीकृतेति मोहविलसितमेतत्। यदि स्वनादिसिद्धा भवेच्छ्रुतिः कर्मैतदभिप्रैष्यत् तर्हि मुनिः स निमिर्न च श्रुतं मया पूर्वं न देवैऋषिभिः कृतमिति न व्यधारयत्। अत एवावगम्यते नेदं श्रुतिसिद्धं कर्मेति।

अनन्तरं तु यदिदं 'ब्रह्मणैव पुरायं निर्दिष्टः' इति ख्यापितं, सेयं शैली पुराणानाम्। अर्वाक्प्रवर्तितमपि हि कर्म पुरातनतममेवात्र ख्याप्यते। ब्रह्मणा

तु यद्ययं विधिर्दृष्टः स्यात्, कथं न तर्हि तत् पुरातनैर्ऋषिभिरप्यागतं स्यात्। अस्याश्चाख्यायिकायाः सत्ययुगीयत्वाख्यानमपि पुराणशैलीप्रसिद्धमेव। वस्तुतस्त्वर्वाक्तनैरज्ञानवशंवदैरेव कर्मेदमनुप्रवर्तितम्, केवलं तु कर्मणोऽस्य श्रौतत्वाभाव एवाऽऽख्यायिकयाऽनया साधनीयः। श्रौतत्वाभावे च सिद्धे सर्वथानुपादेयमिदमुपपत्तिविरुद्धं मृतश्राद्धं नाम कर्मेति सिद्धमेव। अभ्युपगते चास्मिन् कर्मणि पापपरायणा अपि जनाः पुत्रादिकृतेन श्राद्धेन सुखं स्वर्गं लप्स्यामहे इति निःशङ्काः स्युः। स्वधर्मानुरता अप्यन्ततः पुत्रादिषु दक्षिणाभावादिनाऽसम्भवत्यपि वा श्राद्धे नरकभीरुतामापद्येरन्निति महतीयं समाजदुरवस्था प्रसज्येत। तस्मान्नैव खलु श्राद्धसम्प्रदानभूता मृताः पित्रादयः, न वा तथा प्रीत्यर्थमिदं श्राद्धं नाम कर्म। के तर्हि पितरः श्राद्धसम्प्रदानभूता इति चेत्तत्रैवमाहुः। अनेकधाऽयं पितृशब्दः प्रसिद्ध्यति, सन्ति ननु पितृपितामहादिशब्दा जनकादिषु निरूढाः, अपि च 'पान्तीति पितरः' इति नैरुक्तानां व्युत्पत्तिमुपजीव्य पालकत्वसामान्येन पितृशब्दः प्रयुक्तः। सोऽयं तस्करादिविविधभीतिभ्यः प्रजाः परित्रातुमर्हत्सु वक्ष्यान्तिषु विविधाविष्कारादिभिर्जगदुपकुर्वत्सु विविधविद्याचणेषु च पितृशब्दः स्थाने प्रवृत्तः। त इमे मनुष्यपितरः। कश्चित्तु पालकत्वसामान्यविवक्षयैव जडेष्वप्यग्निवाय्वादिषु वसन्तादिषु सूर्यकिरणादिषु चान्यत्रापि यत्रापि वा भवेदयं पितृशब्दः प्रयुक्तः। न त्वयं पितृशब्दः सर्वत्रापि निरूढशब्दः, पालकत्वसामान्येनैवास्य प्रवृत्तत्वात्। जातिशब्दत्वं त्वस्याचक्षाणाः सर्वथा भ्रान्ताः, पितृनामिकायाः कस्याश्चनापूर्वजातेरुपगमे मानाभावात्, पान्तीति पितरः इत्यादिनिरुक्तिविरोधाच्च। तदेवम् इमे उभयविधा मनुष्यपितर आख्यातास्त एवास्माकं पितृयज्ञे (श्राद्धे) सम्प्रदानभूतास्तेषामेव च प्रीत्यर्थमिदं श्राद्धं नाम कर्म। युक्तं ह्येतत्—वार्द्धक्यमुपगतानां जनकादीनामुपकारकाणां रक्षकादीनां चाभ्यर्हणस्य सर्वथा समुचितत्वात्। तत्र यदिमे गृहाश्रमस्थिता एव पितृपितामहादयः स्वयमुपार्जयितुमशक्ताः पुत्रादिभिरन्नपानादिना श्रद्धापूर्वकमभ्यर्च्यन्ते स प्रात्यहिकं श्राद्धम्। उक्तोऽयमपि स्मृतिविद्भिः—

'कुर्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमक्षयाम्'।

'अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम्'॥ इत्यादिना।

ये च वानप्रस्थाश्रमगताः पितृपितामहादयो वने निवसन्ति, ये वा द्वितीयास्तस्कराद्दितः परिरक्षितारः पितरस्तेषां श्रद्धयाऽभ्यर्चनस्यान्वहमशक्यतयाऽमावास्याया मपराह्णे विशिष्य तदर्थं श्राद्धमुक्तम्। तस्मिन् हि कालेऽवश्यं ते सर्वेऽपि समानाय्य श्रद्धयाऽभ्यर्चनीया भोजनीयाश्चेति। अनेन हि पुत्रादेः सुहृदा भक्तिस्तया च सुपुत्रता ख्यापिता स्यात्। ज्ञानोपदेशादिना च ते पितरोऽस्याप्युपकुर्युः। स्वकारं तु पितरः प्रतिपदमेवोपकुर्वन्तीति युक्तैव प्रत्युपचिकीर्षया तेषामभ्यर्हा। अत एव च त्रिपुरुषमेवेदं श्राद्धं विधीयते सर्वत्र। पितृपितामहप्रपितामहानेवोद्दिश्य विधीयमानत्वाच्छ्रा

दृश्य । श्राद्धयोग्येन हि पुरुषेणानन्तरत्रय एव पूर्वपुरुषा शक्यन्ते जीवन्त उप-
लब्धुम् । वृद्धप्रपितामहादीनां हि जीवनामुपलम्भोऽसम्भवप्राय एवेति । ये तु मृताना
श्राद्धमाहुस्ते त्रिपुरुषोद्देशकत्वं श्राद्धस्यान्यथा व्यवस्थापयितु सर्वथाप्यशक्ता ।
तथैव खल्विमे श्राद्धप्रशस्ता दक्षिणमयनं शरदृतु, कृष्णः पक्षोऽमावास्या तिथिर
पराह्णो दिवसभाग इत्याद्या समयविशेषा अप्यस्मिन्नेव कल्पे सम्यगुपपद्यन्ते ।
तथा हि सर्वत्रैवात्र विशिष्य विचारे प्रवर्त्यमाने स्फुटमेवेद परिलक्ष्येत यदापूर्य-
माणो दैव काल, अपक्षीयमाणस्तु पित्र्य इति शास्त्ररहस्यमिति । उत्तरस्यां दिश्य
यमानस्य भगवतो मरीचिमालिन समधिकमुपचीयते तेज इति स दैव काल ।
दक्षिणस्या तु दिश्ययनमानस्यास्योत्तरमपक्षीयत एवेति स एव विशिष्य पित्र्य
काल आख्यात । तदनन्तरादेवेद शरदोऽपि पित्र्यत्व व्याख्यातप्रायमेव । कृष्ण
पक्षोऽमावास्या तिथिश्चेति चन्द्रसम्बन्धेन विवेच्यम् । शुक्लपक्षे हि क्रमिकामुन्नतिम-
धिगच्छन् पूर्णायां पूर्णश्येव विद्योतते भगवान् कुमुदबन्धु । कृष्णे तु पक्षे प्रत्यहम
पक्षीयमाणोऽमायां नाममात्रावशेषतामाश्रयते । सर्वतोऽन्यतमस्य परिव्याप्ते च सपक्षत
रजनीति स एवाख्यात पित्र्य काल इत्यमेव प्रातरारभ्य प्रतिक्षणमधिकाधिक
प्रसरति चण्डमानो प्रदीप्तिमा मध्याह्नमिति सोऽयं दैव काल । ततश्चापराह्णमार
भ्यानुक्षणमुपक्षयमेवोपयातीति सोऽय नियमित पितृणा काल, इत्यनेन तत्रतत्र सर्वं
आलोच्यम् । अस्य च स्फुटतरमेवाभिप्रायो यद्विद्याबलादिभिरायोजनमुपचीयमा-
नास्तत्र तत्र प्रख्याततपसो जना भवन्ति देवत्वाभिषेका । तदुत्तर तु वार्धक्येऽ
पक्षीयमाणतत्त्वादिविभवा भवन्तीम एव पित्र्य । अत एव हि 'पुण्यासो यत्र पितरो
भवन्ती'ति भगवती श्रुति पुण्यानामेव कालेन पितृत्वप्राप्तिमाह । त एवैते
स्वयमशक्तताभुपगता पितृत्वेनार्चनीया पुत्रादिभि । ते ते समयविशेषाश्चापि
तेषा प्राकृतिकसर्वपदार्थोपलक्षणशिक्षाय पुन पुनरनुस्मरणेन जगदीश्वराराधन-
प्रवृत्तये च नियमिता इति जीवनो श्राद्धे स्फुटावगति । ये चाप्येते रक्षका
पितर आख्यातास्तत्सम्बन्धेनापि सम्यगेवोपपद्यतेऽय समयादिनियम, बहुला-
न्धकाररजनीविशिष्टायाममावास्यायां तिथौ तस्करादिभीतिबाहुल्येन रक्षकाणाम
तिशयेनापेक्षणात् इति तदभ्यर्हणाया आवश्यकत्वात् । 'कार्यकारणसम्बन्धे
भवन्ति हि स्फुट एव लौकिको न्याय । यदा हि यदपेक्षा तदा सोऽप
भवत्यभ्यर्च्य इति । तमोबाहुल्यादेव चाऽमावास्याया प्रकाशार्थं विद्युदा
द्याविष्कारप्रयोऽपि पितर सुतरामपेक्ष्यन्त एव । अपराह्णकालोऽपि रात्रि
सन्निहितत्वादेव पितृश्राद्धेऽपेक्षणीयतया स्यात् । रात्रावेव विशिष्य रक्षका
णामपेक्षासिद्धे । तदानन्तर एव नक्तसमदाशिष्टे कृतभोजना रात्रिपुरुषा कथ
रात्रावस्मानुपेक्षिष्यन्ते । रात्रौ विशिष्य रक्षकाणामपेक्षितत्वादेव च रात्रेरपि विशिष्य
पितृसम्बन्धस्तत्र शास्त्रेष्वाख्यात उपपन्नो वक्तव्य । अत एव च सन्ध्याया

पितृप्रसूरिति नाम व्यपदिशन्त्यभिधानिकाः । सन्ध्याया एव च पितृणामुत्पत्तिमा चक्षते पुराणानि । सन्ध्यामेवारभ्य रक्षकाणां प्रवृत्तेः सर्वस्यास्योत्पादकत्वात् । शरदृतुरप्यस्य यच्छ्राद्धे विशिष्याङ्कनस्तदिदं तदात्वे धान्यादिसमुत्पत्तिबाहुल्येन बहुनररोगप्रचारादिना च रक्षकाणामधिकापेक्षासत्त्वादेवोपपत्तिमत् । वानप्रस्थाश्रमिणामपि चारण्ये निवसतां पितृणां वर्षासु गृहे समानाय्याभ्यर्हणं दुष्करमिति शरदि विशिष्य तच्छ्राद्धमुपनियमितम् । मृतश्राद्धवादिनस्तु सर्वस्यास्य कालादि विशेषस्योपपत्तिसमाख्याने बद्धमौना एव भवेयुरिति जीवतामेवोपपत्तिसिद्धं श्राद्धम् ।

योऽप्ययं श्राद्धे नामास्मिन् कर्मणि पितृसम्बन्धेन स्वधाशब्दो बहुधा प्रयुज्यते, स्वधाशब्दप्रयोगमन्तरेण च श्राद्धस्यैव वैगुण्यमभिमन्यते, तदपि कल्पेऽस्मिन् सम्यगुपपन्नं द्रष्टव्यम् । स्वधाशब्दस्य हि शब्दशास्त्रमनुसृत्य विविच्यमानस्य 'स्वा ज्ञातिधनाद्य स्वे आत्मात्मीयादयो वा धीयन्ते धार्यन्ते यया सा स्वधेति' विग्रहेण स्वसम्बन्धिद्रविणपुत्रकलत्रादिरक्षणपरेषु पितृणां (रक्षकाणां) कर्मसु शक्तिः सिध्यति । तथा चानया रीत्या स्वधाशब्दोऽयं भवेत्पितृकर्मवाचक इति ।

पितृयज्ञपाध्यायाचार्यादिशब्दवत्पितृणामेव उपाधिभूतो द्रष्टव्यः । स्वकर्मवैशिष्ट्यबोधकोपाधिसंकीर्तनेन च भवेदेव सर्वस्यापि सचेतनस्य हर्षावाप्तिरिति तत एवास्योच्चारणं पितृप्रीतिकरमिति तदुद्देश्यके कर्मणि श्राद्धे नियमितम् । यद्वा 'स्वं स्वकीयमस्तित्वं दधातीति स्वधा प्रकृतिरिति स्वभाव-स्वधर्मादिवाचकोऽयं भवत्स्वधाशब्दः । तथा च महामहिमसु विद्वत्सु रक्षकादिषु चोत्कृष्टस्वभावधर्मादिशालिषु युक्ततम एवास्य शब्दस्य प्रयोगः । येऽपि च ब्रह्मचर्यादीन्नाश्रमान् यथावन्निर्व्यूढवन्तः स्वकीयाः पितृपितामहादयस्तेष्वप्ययमुत्कृष्टप्रकृतिधर्मादिबोधकतया सुप्रयुक्त एव । नैघण्टुकास्त्वन्नं स्वधामाहुः । तथाविधोऽप्ययमवश्यं स्वयमुपार्जयितुमशक्ता वृद्धाः पितरोऽन्नादिभिरभ्यर्हणीया एवेति शिक्षयितुं पुत्रादीन्नियमितः श्राद्ध इति सर्वथाऽप्युपपन्नतरम् । यत्तु पुराणादिषु दक्षस्य सुता पितृणां काचन स्वधेत्याख्यायते तादृगेकस्याः स्वधायाः सर्वविधपितृपत्नीत्वं कथमुपपद्येतेति परीक्षोऽयमर्थः सुधियाम् । सहस्रशो हि पितरः स्मर्यन्ते, बहवश्च तेषां गणाः । ये चाप्येते प्रत्यहमुपयान्ति यमसदनं तेऽपि पितर एवाभ्युपगम्यन्त इति कथं सर्वेषामेका पत्नी भवेत् । तस्माद्यदपि पितृपत्नीत्वं तदपीदं पितृणामुपाधिरूपतया तत्सहचरत्वेन तत्प्रसादकत्वेन च पत्नीशब्दस्य एव पर्यवसितमिति जीवतामेव पितृणां सम्बन्धेन तदप्येतदुपपन्नं न तु मृतपितृणां कोऽपि सम्बन्ध एतेन सिद्ध्यति । यश्चाप्ययं यमः पितृणां राजेत्यस्ति प्रवादः सोऽपि नास्माकं प्रतिकूलः । सूर्यस्य सुतौ यमो यमी चेति कौचन चेतनविशेषावेव हि पौराणिकानां पन्था

यद्यपि विरुध्येताऽप्यनेन, परं विशिष्टप्रज्ञास्तु पश्यन्ति यमो नाम दिवसः, यमी च रात्रिरिति । अनयोः सूर्यसम्बन्धेनैवौरसत्वात्सूर्यपुत्रतादिव्यवहारः । तदित्थमहोरात्रे प्रथमं प्रवृत्तो यमशब्दः क्रमेणाहोरात्राद्युपाध्युपहितस्य महाकालस्याप्यभूद् वाचकः । अत एव—

"वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानम्" ।

इत्यादिश्रुतौ यमस्य वैवस्वतत्वमुक्त्वाऽपि ॥

"यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन"

इत्याद्यथर्वश्रुतौ (१८।२।३२)

यमस्य सूर्यादपि परत्वमाम्नातम् ।[1]



---

1. अपूर्ण एव समाप्तोऽयमपि लेख इत्यादावेवोक्तमनुसन्धेयं कृपया पाठकमहाभागैः—सम्पादकः ।

काव्यसाहित्यखण्डः

एतद् ग्रन्थरचयितृभिस्त्रिरत्नमहाकाव्यप्रश्ननाम्ना रघुवंशकुमारसम्भवकिराता-र्जुनीयशिशुपालवधमहाकाव्यानामनेकसर्गाणामुपरि अन्वय—व्याकरण—व्याख्या—भावार्थ इत्येतत्क्रमेण व्याख्या विहिता, तत्र भावार्थेषु पद्यानां स्वातन्त्र्येण सरलेन संस्कृतेनाशयस्तथा प्रस्तुत येन संस्कृतेनाल्पपरिचिता अपि पद्यस्य भाव सम्यगवगन्तु पारयेयु । तत्र तत्र पद्येषु व्यंग्यार्थरूपेण ये निगूढाश्चमत्कारा सन्ति तेऽपि भावार्थेषु प्रस्फुटीकृता काममपि कमनीयां कान्तिमुद्घाटयन्ति काव्यस्य छात्राणामिति बहुभिर्विद्वद्भिस्त एते भावार्थसन्दर्भा अपि रत्नावल्यामस्यामवश्य स्थापनीया इति प्रेरितेन मया निवेशिता—सम्पादक ।

रघुवंशे द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

सूर्यपौत्रस्य मनुपुत्रस्येक्ष्वाकोर्महाराजस्य वंश्यो राजर्षिर्दिलीपः प्रौढेऽपि वयसि सन्ततेरभावात्खिन्नो गुरोर्वसिष्ठस्य महर्षेराश्रमं गत्वा स्वस्यापुत्रताया कारणं प्रतीकारं च जिज्ञासते स्म । तेन च "स्वर्लोकादागच्छता त्वया मार्गे कामधेनुः प्रमादादसत्कृता, तत एव ते सन्ततेः प्रतिबन्धः । अधुना मदाश्रमस्थां कामधेनुसुतां नन्दिनीमाराधय, प्रसन्नायामस्यां फलिष्यति मनोरथः" इत्यनुशिष्टः । ततस्तदाज्ञया तत्रैवाश्रमे निर्दिष्टपर्णशालायां समार्यो वसतिं प्रकल्प्य रात्रौ सुप्त इति प्रथमसर्गे गतम् । तदनन्तरं वृत्तमुच्यते—

१.

दिलीपः प्रातरेव कृतस्तनपानं नन्दिन्या वत्सं स्वस्थाने बद्ध्वा सुदक्षिणया गन्धमाल्यादिभिः पूजितां नन्दिनीं धेनुं वने स्वच्छन्दविहारार्थं मुमोच—

२.

यथा स्मृतिः श्रुतिनिहितमेव पवित्रमर्थमनुविदधती श्रुतिमनुगच्छति, तथैव पतिव्रताशिरोमणिः सुदक्षिणापि तां गामनुजगाम, तस्याः पादैः पवित्रे पथि स्वयमपि गन्तुं प्रवृत्ता बभूवेति ।

३.

नृपतिः किञ्चिद्दूरं गत्वा अनुयान्तीं प्रियां सुदक्षिणां "परिश्रान्ता मा भूत्" इत्याश्रमं प्रति निवर्तयामास । स्वयं च येन प्रयत्नेन समुद्रमेखला कृत्स्ना पृथ्वी रक्षिता स्म, तेनैव तामपि ररक्ष । यतः इयं गोरूपधारिणी साक्षात् पृथिवीव सम्भाविता । अस्याः स्तनाश्च समुद्रत्वेन सम्भाविताः, उभयोः पयःप्रदत्वं मध्यस्थितत्वं च सादृश्यमिति ।

४.

नृपतिः सह गच्छन्तमितरमप्यनुचरवर्गं निवर्तयाञ्चकार । यतो मनुनिष्ठ

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥
निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥
व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

स्यास्य न प्रभावदर्शनार्थमनुचरापेक्षा, अपि तु स्वेनैव सुपाप्यत्वात्। स्वशरीररक्षार्थं न कदाप्यपरानुचरापेक्षा जायते स्म, यतो मनुवंशजा आत्मरक्षणमात्मपराक्रमेणैव विदधते, न परापेक्षन्त एव।

५

दिलीपः कदाचित् कोमलतृणग्रासानुपानयति स्म, कदाचित्कण्डूयनादिना गात्रं विमृश्य खर्जूं विनोदयति स्म, वनमक्षिकाश्च दूरीकरणेन सततं रक्षति स्म। न च कुत्रापि यथेच्छं गच्छन्तीं तां निवर्तयामास इत्येवं सेवायां प्रवृत्तः। सम्राडप्येवमाराधयतीं यहो!

६

यथा छाया छायावति चेष्टमाने एव स्वयमपि तद्वच्चेष्टते न तु स्वतन्त्रा, तथैव दिलीपोऽपि गवि तत्तदवस्थानप्रस्थानोपवेशनादिक्रिया कुर्वत्यामेव स्वयमपि तास्ताः क्रियाश्चकार न तु स्वयं तां कस्यामपि प्रेरयामास।

७

नन्दिनीं परिचरन् दिलीपो यद्यपि छत्रचामरादिराजचिह्नं त्यक्तवान्, तथापि केनचिदाकृतौ स्वयमाप्तेन स्वाभाविकेन राजतेजसा "राजेनायम्" इति लोकैरन्वमीयत। यथा गण्डस्थलनालक्षितमदरेखोऽपि गजेन्द्र आकारेणैव मत्त इत्यनुमीयते।

८

दिलीप इतस्ततः प्रकीर्णान् स्वान् केशान् लतातन्तुभिर्हस्तं संयम्य सज्जं धनुरादाय च मनस्वच्छं गच्छत स्म, तदवलोकेन च प्रतीयते स्म, यदयं वन्यानां दुष्टजन्तूनां प्रजाहितद्रवकारिणाम् शासनार्थमेव वने भ्रमति, गोरक्षा तु व्याजमात्रमिति।

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥ ८ ॥

९

यथा वरुणो जलाभिवर्षणेन समस्तं वनस्पतिजातमभिवर्धयति, तथैव यमपि महाराजो दिलीपो रक्षणशिक्षणादिना प्रजाः परितोषयति। अत एव वरुणदेवतुल्यस्य अस्य वने भ्रमतोऽस्य पार्श्ववर्तिनो वृक्षा अस्य दर्शनेन हृष्टाना पक्षिणां कलकूजितैः स्वागतमिव कुर्वन्तो जयशब्दादिनामनुचराणां कार्यं निर्वर्तयामासुरिति सम्भाव्यते।

१०

नगरं हि राज्ञः प्रचारे पौरकन्याः एभ्यो लाजान् प्रक्षिपन्तीत्याचारः। स एव आचारोऽत्र कन्यानामभावेऽपि वायुनान्दोलिताभिर्लताभिर्निजपुष्पवर्षणेन सम्पादित। अग्निः खलु वायोर्मित्रम्, दिलीपश्चाग्निसदृशः प्रभावेण पूज्यश्च, अतएवाग्निसदृशस्य मित्रस्यातिथीभूतस्य स्वागतं कर्तुं वायुना लताः प्रेरिता इति। महापुरुषस्य प्रयाणे शुभसूचकस्य मन्दस्य वायोः प्रचारः प्रकृतिसिद्धः। तत्र मित्रसदृशस्य राज्ञ आतिथ्यहेतुतया निगूढमुत्प्रेक्षितं कविना।

११

यद्यपि कार्मुकधारिणो दिलीपाद् बाह्यरूपात् भयं सम्भावितम्, तथापि हरिणीनां मनसि तं दृष्ट्वा भयं न जातमिति—"विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च" इति न्यायेन 'दयाशीलोऽयं राजा नास्मान् हिंस्यात्' इति हरिण्यो विश्वस्ताः। तत एव च निर्भीका अतिशयेन मनोहारि शरीरमस्यावलोक्य स्वनेत्राणां विस्तारस्य साफल्यममन्यन्त।

१२

वने विचरता दिलीपेन तत्र तत्र कुञ्जेषु वनदेवताभिः स्वमुखादुच्चैः स्वकीर्तिगानं च श्रुतम्, वायुना निःस्वनन्तो वंशा एव तत्र गाने वाद्यवाद्यमाना अभूवन्।

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥ ९॥
मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ १०॥
धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः॥ ११॥
स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ १२॥

१३.

सदाचारेण परिपूतस्य दिलीपस्य आतपजनितां श्रान्तिं हरन् व्यपनयन् शीतलो मन्दः सुगन्धिश्च पवनो विनोदयामास ।

१४.

दिलीपस्य वने प्राप्तिमात्रेणैव तस्यालौकिकप्रभावात् तत्र तत्र स्वभावेन वने प्रवर्त्तन् दावानलो वर्षणमन्तरेणैव शान्तिमवाप । वृक्षा पूर्वापेक्षयाधिक पुष्पफलभाजोऽभवन् । सिंहादिहिंस्रजन्तवो निर्बलमृगादिकान् नाबाधन्तेति ।

१५.

सर्वं दिनं वने विभिन्नासु दिक्षु परिभ्रम्य सायं समये आगन्ते गौराश्रमाभिमुखी प्रस्थिता । सूर्यप्रभापि तथैवेति तयोरेकधर्मतया सादृश्यं प्रतिभातम् । उभयोस्ताम्रवर्णतयापि सदृशता प्रतीयते स्म ।

१६.

आश्रमं गच्छन्तीं गां दिलीपोऽप्यनुजगाम । तेनानुगम्यमाना च सा अनुष्ठानानुगता श्रद्धेव शुशुभे । कर्मसु केवलं श्रद्धैव न कौशलहेतुः, किन्तु "यस्तु क्रियावान् कुशलः स एव" इत्यभियुक्तोक्त्या अनुष्ठानानुगता श्रद्धा लोके विशेषेण प्रशंसामर्हति । तथैव राजानुगता गौरपि विशेषेण प्रशंसास्पदं जाता ।

१७.

सूर्येऽस्तमुपगच्छति तमःप्रसारेण श्यामीभवति तत्रारण्ये स राजा क्वचिज्जलाशयेभ्यो निर्गच्छतो वराहान्, क्वचिच्च स्वनीडेषु गन्तुमुत्सुकान् मयूरान्, क्वचिच्च स्वैरविहाराद्विरम्य तृणहरितप्रदेशेषु विश्राम्यतो मृगान् पश्यन् वशिष्ठाश्रमं प्रति ययौ ।

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाऽऽकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ १३ ॥
शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥
संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥
तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥
स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

१८.

दुग्धबाहुल्यात् स्थूलस्योधसो भारान्नन्दिनी, शरीरगौरवाच्च दिलीपः, इत्युभावपि मन्दगामिनौ । मन्दा च गतिः शोभते–इति तयोस्तथा गमनेन मार्गस्यापि शोभाभवदिति ।

१९.

सर्वं दिनं प्रियस्यादर्शनेन सुदक्षिणाया नेत्रयोरुपवास–इव जातः, तेन च यथा कश्चन कृतोपवासः सञ्जातकण्ठशोषस्तृष्णया करोद्धृत्य पयः पिबति, तथैव सुदक्षिणाऽपि धेन्वा सहायान्तं दिलीपं तृष्णातिशयेन निमेषमपि परित्यज्य पपाविव, सोत्कण्ठं ददर्शेति ।

२०.

दिलीपराजाभिमुखा तपोवनात्प्रत्यागच्छन्तीं धेनुं सत्कर्तुं यदा सुदक्षिणा आश्रमात् कियन्ति पदानि सम्मुखे जगाम, तदा (दिलीपः पुरुषत्वात्तेजस्वितया च दिवससदृशः, सुदक्षिणा तु स्त्रीत्वात् सौम्यतया च रात्रिसदृशीति) तयोर्दम्पत्यो-र्मध्यस्थिता ताम्रवर्णा सा धेनुः दिनक्षपयोर्मध्यस्थिता ताम्रवर्णा सन्ध्येव व्यराजत ।

२१.

सुदक्षिणा तां नन्दिनीं परिक्रम्य, प्रणम्य च अक्षतादिभिस्तस्या नन्दिन्याः भालमर्थसिद्धेर्द्वारं मत्वा पूजयामास ।

२२.

वनात् परावृत्य स्ववत्समालोकयितुमुत्कण्ठमानापि सा धेनुर्निश्चलभावेन सुदक्षिणया विहितां पूजां स्वीचकार । तेन स्वविषये तस्याः प्रसन्नतामनुमाय–सुदक्षिणादिलीपौ परमानन्दं प्रापतुः । यतश्च नन्दिनीसदृशानां महानुभावानां प्रसन्नता अविलम्बिता फलसिद्धिं सूचयति ।

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥
वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥
पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥
वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

२३.

तपोवनादाश्रमं प्राप्तो दिलीपः पूर्वमरुन्धतीसहितं वशिष्ठं प्रणनाम, तदनु सायंकालिकीं सन्ध्यामुपासाञ्चक्रे, अथ दुग्धदोहनानन्तरं भूमावुपविष्टायास्तस्या एव कामदुघाया नन्दिन्याः परिचरणे तत्परो बभूव। न च तदानीं तच्चेतसि राज्यचिन्ता पदमकरोत्, यतः स पूर्वमेव स्वरिपून् उत्सादितवान्।

२४

सुदक्षिणादिलीपावुभावपि तस्या नन्दिन्याः समीपे बलिद्रव्याणि भक्तपात्रादीनि दीपांश्च स्थापयामासतुः। अथ तस्यां भूमावुपविष्टायां स्वयमप्युपाविशताम्, सुप्तायामस्वपताम्, प्रातः पुनरुत्थितायां चोत्थितौ तथैव पूर्वं दिवसोक्तं सर्वमकुरुताम्।

२५.

उक्तेनैव प्रकारेण स पत्नीसहितो दिलीपः सन्तानार्थमेकविंशतिदिनपर्यन्तं गोसेवारूपं व्रतमकरोत्।

२६.

द्वाविंशे दिने नन्दिनी दिलीपस्य भावं परीक्षितुमियेष, 'सत्यमयं मद्भक्तः, कृत्रिमा वा भक्तिरिति" परीक्षेच्छया च गङ्गाप्रपातसमीपवर्तिन्यां हिमालयगुहायां प्रविष्टा। अत्र हरितहरितो घासः प्ररूढ आसीत्।

२७

"इमां नन्दिनीं प्रभावाद् व्याघ्रादयो मनसाप्याक्रमितुं न समर्थाः" इति विचार्य निश्चिन्तो राजा क्षणं पर्वतशोभादर्शनासक्तोऽन्यमनस्क आसीत्, परमन्तरे अकस्मादागतोऽदृष्ट एव कश्चन सिंहस्तामाक्रान्तवान्।

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥
तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥ २४ ॥
इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥
अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥
सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

२८.

सिंहेनाक्रान्ता नन्दिनी दुःखाक्रन्दनमकरोत् । तच्चाक्रन्दनं पर्वतगुहायामुच्चैः प्रतिध्वनितम् । ततश्च यथान्यमनस्कमश्वमश्वारोहो वल्गामाकृष्य कुमार्गान्निवर्त्य मार्गमानयति तथैव दीर्घं तदाक्रन्दनं नेत्रकिरणरूपां वल्गामाकृष्य राज्ञो नेत्रं पर्वतान्निवर्त्य नन्दिन्यभिमुखमकरोत् ।

२९.

यथा गैरिकधातुना रक्तवर्णायां पर्वतस्योर्ध्वभूमौ पुष्पितो लोध्रवृक्षो लक्ष्यते, तथैव रक्तवर्णां नन्दिनीमाक्रम्य स्थितः प्रसन्नमूर्तिः सिंहोऽपि पर्वतात् परावृत्तचक्षुषा दिलीपेन लक्ष्यते स्म ।

३०.

येन सर्वे स्वशत्रवो बलाद् विनाशिताः, तादृशः शरणागतरक्षको दिलीपः स्वसमक्षं गवि सिंहस्याक्रमणं दृष्ट्वा स्वपराभवममन्यत । अत एव स्वपराभवकर्तुर्वधयोग्यस्य तस्य सिंहस्य वधाय तूणीराद् बाणं निष्कासयितुमैच्छत् ।

३१.

यदा दिलीपः पृष्ठभागे लम्बमानात् तूणीरात् बाणनिष्कासनाय स्वदक्षिणहस्ताङ्गुलीः पुङ्खे योजितवान्, तदाङ्गुलयस्तत्रैव सहसा निश्चेष्टा अभवन्, बाणं बहिराक्रष्टुं नाशक्नुवन् । अत एव यथा चित्रलिखितं वस्तु स्पन्दशून्यं भाति, तथैव दिलीपस्य दक्षिणहस्तोऽपि भाति स्म ।

३२.

स्वबाहोः प्रतिरोधेन दिलीपस्य क्रोधो ववृधे । न च समीपस्थस्यापि सिंहस्य किमपि कर्तुं शक्तोऽभूत् । तेन यस्य सर्पस्य पराक्रमो मन्त्रेणौषधेन च निबद्धः स्यात्, स यथा किञ्चिदकुर्वाणः स्वहृदय एव ज्वलति, तथैव राजापि तेजसा स्वयमेव मनसि जज्वाल, अत्यन्तं खिन्नस्तप्यमान इवाभवदिति ।

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

३३.

दिलीपोऽभूतपूर्वं स्वभुजप्रतिरोधमनुभूय विस्मयं प्राप्त एव, पुनरपि स सिंहो मानवीं वाचमवलम्ब्य तस्याधिकमाश्चर्यमुत्पादयन् तं सम्बोधयामास ।

३४.

सिंहो वदति—हे राजन् ! मा स्म कृथा वृथा श्रमम्, यतः प्रथमं तु स्वभुजसञ्चालन एवासमर्थः, यदि कथं चिच्चालयेरपि, तथाप्यस्त्रपातनात् हिंसितुं शक्तमपि तवास्त्रं मम न किञ्चिदपि कर्तुं शक्नोति । यथा वृक्षाणामुत्पाटने समर्थोऽपि वायोर्वेगः न पर्वतमुत्पाटयितुं समर्थः ।

३५.

हे राजन् ! नाहं सामान्यः सिंहो यः त्वं हन्याः, अपि तु कुम्भोदर निकुम्भनामानौ यौ द्वौ प्रसिद्धौ भगवतः श्रीशङ्करस्य गणौ, तयोरन्यतरोऽहम् । यदा शिवो वृषभं स्ववाहनमारोढुमिच्छति, तदानीं तस्यानुकम्पया मम पृष्ठदेशे पादं न्यस्य समारोहति इति मम सेवा ।

३६.

हे राजन् ! सम्मुखस्थितं देवदारुवृक्षमेतमप्यवलोकसे ? एष खलु शिवेन पुत्रत्वं मानितः । यतश्चायं स्कन्दस्य जनन्या पार्वत्या स्वकुचसदृशे पयः सदृशजलपूरितैर्हेमकुम्भैः सिक्तः । अतएवायमुभयोरुमामहेश्वरयोः स्कन्दवत् प्रियः ।

३७

एकदा कश्चनारण्यो हस्ती स्वकण्डूयनोदाय स्वगण्डस्थलमस्मिन् देवदारौ घर्षयामास । तेनास्य वल्कलमुत्पाटितमभूत्, तच्च दृष्ट्वा पार्वती देवासुरसंग्रामेऽसुराणां शस्त्रैः क्षतं कार्तिकेयं विलोक्य यथा, तथैव शोकातुराऽभूत् ।

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥
अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥
कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥
अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६ ॥
कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

३८.

यदा वन्यगजेनास्य देवदारोस्त्वगुत्पाटिता, तत आरभ्यैव वन्यगजानाम् भीत्युत्पादनार्थं महादेवो मम सिंहरूपं विधाय मामत्र न्ययोजयत् । आदिशच्च माम् यत् 'त्वया स्वसमीपागतान्-प्राणिनः व्यापाद्य स्वजीवनं निर्वोढव्यम् , न पुनरिमं परित्यज्य भोजनाय क्वापि गन्तव्यम्" ।

३९

एकादश्यादिपर्वसु कृतोपवासा जना उपवासान्ते पारणां यथा विदधते, तथा चिराद् भोजनालाभात् कृतोपवासस्य मम पारणार्थं महादेवेन तृप्तिजननयोग्यस्य गोरेव प्रेषिता । राहुणा यथा चन्द्रमण्डलामृतं प्राप्यते, तथा मयेयं प्राप्ता ।

४०.

हे दिलीप ! "क्षत्रियोऽहमिमां रक्षितुं नाशकम्" इति हेतोर्मा स्म घात् पदं ते चेतसि लज्जा । यतस्त्वया यावच्छक्यमिमां रक्षितुं प्रयासं कृत्वा गुरुभक्तिः प्रदर्शितैव । अस्यास्तु गोर्विनाशो जगदीश्वरेणैव रचितः, तथा न प्रतिविधातुमशक्यस्य तव का लज्जा ? न चाशक्ये वस्तुनि यशोहानिरपि । तस्माद् गृहं त्वया गन्तव्यम् ।

४१

सिंहस्य वाक्यमिदं श्रुत्वा "श्रीशङ्करप्रभावान्मदस्त्रप्रतिबन्धो जातः" इति राज्ञा ज्ञातम् । तेन या पूर्वमात्मनि स्वस्यावज्ञा प्रादुरासीत् "काने मदस्त्र-व्यर्थं जातम् , धिङ् माम्" इति सा निवृत्ता । सामान्यात्पराभवो व्रीडां जनयति, न तु सर्वेश्वरादिति । अधिराजत्वेन सिंहस्य साम्याद् व्रीडाया योग्यता, परं शङ्करस्यानुभावेन गर्हित इव निवृत्तिः ।

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥
तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥
स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ ४० ॥
इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥

४२

यद् दिलीपो गां भक्षयितुमुद्यतं सिंहं हन्तुं धनुषि बाणं सधातुं नाशकत्, तदिदं दिलीपप्रयत्नस्य प्रथममेव वैफल्यम्, इतः पूर्वं कदापि तेन शस्त्रप्रयोगे निष्फलता नानुभूता । ततश्च वज्रप्रयोगं चिकीर्षुर्महेन्द्रो महादेवप्रभावात् निश्चेष्टो यां दशामनुभूतवान् सैव दशा दिलीपस्यापि तदवसरे जाता । तेन विवशः स वाङ्मात्रेणोत्तरं दत्तवान् । अन्यथा पराभवकर्तुरग्रे क्षत्रियाणां शस्त्रेणैवोत्तरं शस्तम्, न वाङ्मात्रेण ।

४३

हे मृगेन्द्र ! यद्यपि समर्थस्यैव वचस्यादरः प्रायेण सर्वदा भवति, किमपि कर्तुमशक्तस्तु यदपि वदति, तत्केवलं लोके परिहासयोग्यं मन्यते अत एव यदहं त्वां वक्तुमिच्छामि, तच्छ्रुत्वापि "अहो अशक्तोऽप्ययं वीर इव प्रलपति" 'असम्भावितमेतत्कथनम्" इत्यादिरूपेण प्राकृतो जनो मामुपहसेत्, अतो न वाच्यमन्येषेयम् । किन्तु त्वं दिव्यसेवकत्वात् सर्वज्ञोऽसि, मम वाङ्मनसयोरेकरूपतां ज्ञातुं प्रभवसि, अतस्त्वां प्रति वक्ष्येव । अनुक्तमपि त्वया ज्ञायते, तत् कथने को दोषः ।

४४.

हे मृगेन्द्र ! अस्य देवदारोः समीपमागताः प्राणिनस्तव भक्ष्यमिति जगदीश्वरस्य भगवतः शङ्करस्य शासनं मया शिरसैव धार्यते, तेन "त्वमेनां कृपया त्यज' इति न वक्तुं शक्नोमि । किन्तु गुरोर्धननाशमपि नोपेक्षितुं शक्तोऽस्मि । गुरुश्चाहिताग्निरिति गौस्तस्य मुख्यं धनम्, हविःसाधनत्वात् एतदभावे घृतरूपहविषोऽनुपलम्भे स कथमग्निहोत्रं होष्यति ?

४५.

हे मृगेन्द्र ! त्वं कृपया गोः प्रातिनिध्येन मदीयं शरीरम् भुक्त्वा जीवनं निर्वह । इमां महर्षेर्धेनुं परित्यज । इदानीं सायं जातम्, एतस्याः लघुर्वत्स एतदागमनं सोत्कण्ठं प्रतीक्षमाणो भवेत् । स इमामदृष्ट्वा कथं जीविष्यति ।

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥
संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥
मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥
स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥

४६

राज्ञः कथनं श्रुत्वा सिंहः ईषद् विजहास । तदनु राजानमुवाच । हास्यकाले निर्गतैस्तद्दन्तप्रभा किरणैर्गुहान्धकारो विनष्टः ।

४७

राजन् ! त्वं यत् सत्यमिदं कर्तव्यमिदमकर्तव्यमिति विवेक्तुं न जानासि । यदेकस्या स्वल्पीयस्या गो कृते स्वशरीरं मह्यं दातुमुद्यतोऽसि । अनेन ते साहसेन एकच्छत्रं राज्यम् , नवीनमुपभोगोचितं यौवनम् , मनोहरं शरीरम् चैतत्सर्वमपि एकपदे त्यक्तं स्यात् ।

४८

हे दिलीप ! यदि त्वं प्राणिषु कृपालुतया गां रक्षितुं स्वशरीरं मह्यमर्पयसि, तर्हि मुधा ते विचार । कुतः ? त्वद्विनाशे केवलमियं मुनिधेनुर्जीवनदानेनानुकम्पिता स्यात् , किन्तु यामिरत्वं "प्रजानाथ" इति व्यपदिश्यसे, तास्त्वदीया बहुप्राणिसंकुला प्रजास्त्वदभावे बहूपद्रवैराक्रान्ता नितरां पीडिता स्युः । स्वयमेव खलु ताषां पितृवद्रक्षक इति अनेकान् पीडयित्वैकरक्षणं किं दयाधर्मः ? "प्रजानाथ" इति सम्बोधनेन प्रजारक्षणहेतुके जीवने न [illegible] धर्मेण स्वतन्त्र इति बोधयति ।

४९

हे नृप ! यदि गोविनाशेन गुरुर्महा कोत्स्यति, शापं च दास्यतीति तव चेतसि भ्रमः, तर्हि तदपि व्यर्थमेव । यतः एकस्याः अस्याः गोः स्थाने कोटि सख्याका गावो भवता दातुं शक्यन्ते, अलस्थाने बहु लब्ध्वा च तस्य क्रोध शाम्येदेव ।

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ ४७ ॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥ ४८ ॥

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः ॥ ४९ ॥

५०.

सिंह उपदिशति—राजन्! तस्मात्कल्याणसन्तानमुपभुञ्जानेन त्वया स्वशरीरं रक्षणीयमेव। गोरक्षणेन स्वर्गहानिस्तु न शङ्कनीया, यतः सम्पत्तिशालिराज्य मिन्द्रपदात् किञ्चिदपि भिद्यते, यदि तयोः कश्चन भेदोऽस्ति, तर्हि स इयानेव यदिन्द्रो भूतलं न स्पृशति, राजा तु स्पृशतीति। (देवानां भूतलस्पर्शाभाव आगम सिद्ध)। अन्यत्तु सुखैश्वर्यादिकं समानमेव, ततश्च प्रत्यक्षं स्वर्गं राज्यं परित्यज्य कोऽयं परोक्षस्वर्गप्राप्त्ये प्रयत्न इति।

५१

एवमुक्त्वा सिंहो यदा विरराम, तदा स एव तस्य शब्दो गुहायामुच्चैः प्रतिध्वनितोऽभूत्। तत्र कविरुत्प्रेक्षते यद्राज्ञि प्रेम्णा हेतुना पर्वतोऽपि "आत्मदेहं रक्ष" इति सिंहोक्तमनुवदन् राजानं मरणव्यवसायान्निवारयति स्म

५२

एकतः सिंहेन हितमुपदिशता शरीररक्षणायानुरोधः कृतः, अपरतस्तु तेनाक्रान्ता गौः "किमिदानीमयं वदति, अपि मां मोचयति, शरीरं वा रक्षति" इति दीनया दृष्ट्या तन्मुखं प्रेक्षते। एवं सङ्कटावसरेऽपि स्थिति स्वकर्तव्यं निर्धार्य राजा सिंहं प्रति पुनर्जगाद।

५३

हे सिंह! स्वकर्तव्यं पालयत एव पुरुषस्यैश्वर्यभोगो जीवनं च श्लाघ्ये, न तु कर्तव्यविमुखस्य लोकनिन्दितस्य। वयं हि लोके "क्षत्र" इति व्यवह्रियामहे। क्षताद् नाशात् साधून् प्राणिनस्त्रायामहे इत्येव क्षत्रशब्दप्रवृत्तिरस्मासु। तद्यदि सम्मुखे हन्यमानां गामुपेक्ष्य जीवनं रक्षेयम् तर्हि कर्तव्यविमुखो लोकनिन्दितः स्याम्, वृथा च तथा सति मे जीवनं राज्यं चेति।

तदक्षकल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः॥ ५०॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव॥ ५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः॥ ५२॥

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥ ५३॥

५४.

यदुक्तम् "अपेक्षधेनोरित्यादि", तदपि न, यत अन्यासां दुग्धवतीनां शतानां गवां प्रदानेनापि महर्षेः प्रसादनम् दुष्करम्। इयं हि नन्दिनी न केवलं दुग्धदोहनमात्रोपयुक्ता, अपि तु सा कामधेनुः। यद्यदपि कामयते, तत्सर्वमेषा दोग्धि, अतो नास्या अन्यधेनुसादृश्यम्। नन्वीदृशी चेत्कथं मद्वशगा इति मा स्म शङ्कथाः, त्वया त्वस्या उपरि महादेवप्रभावेणैव प्रहारः कृतः। अन्यस्य नास्ति सामर्थ्यमिमां प्रहर्तुम्।

५५

अत एव हे सिंह! एतस्या गोः परिवर्ते तुभ्यमहं स्वशरीरमुपहरामि, उचितमेवैतत्, न तु विचारमूढत्वाल्लक्षणम्। स्वप्राणव्ययेनापि परस्य प्राणिनः, विशेषेण गोः, तत्राप्येवंविधायाः, तत्रापि च गुरुहोमधेन्वा, रक्षणीयत्वात्। एवं च सति तव व्रतान्तमोजनमपि न विहन्येत्, गुरोर्वशिष्ठस्याग्निहोत्रादिक्रियापि सुखं निर्वहेद् इति द्वयोरेव न हानिः। अहं च तथा सति स्वकर्तव्यपालनेन कृतार्थः।

५६.

हे सिंह! त्वं मिथ्या तत्त्वतस्त्वमप्येतद्वस्य जानासि, यत्तेऽस्को मौनमास्थाय पादानि पादमदृन्दयित्वा स्वयं काचिदपि हानिमभोद्वा स्वामिधनं चेन्नाशयेत्, तर्हि संडावमतरु यो दण्डमयमीतश्च स्वामिनोऽग्रे स्थातुं न शक्नोति। यद्यपि नामवित्थत् तर्हि त्वमपि एवंद्वेवराजकृत्विपदं एव यत्नवान् नामविष्य।

५७

हे सिंह! यदि त्वं मां केनापि हेतुना "अवध्यम्" मन्यसे, तत एव मम देहरक्षणमुपदिशसि, तर्हि कृपया मे यशःशरीरं मा हिंसीः। इदं तु भौतिकं पिण्डं वपुरास्य काम त्वमोजनायोपयुङ्क्ष्व। निर्विघ्नं खलु भौतिकेषु शरीरेषु नामहपरा, यतस्तेषां भूतपिण्डरूपत्वादिनाशोऽवश्य भावी, यशःशरीरं तु स्थिरं ते सर्वात्मना रक्षन्ति।

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥ ५४ ॥
सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥ ५५ ॥
भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥
किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥

५८.

हे सिंह ! परस्परमालाप एव सौहार्दस्य हेतुः । तत्रापि च वने, (वने साहचर्यस्य मैत्रीलक्षणेषु गणनात्) । स चालापो वने सम्मिलितयोरावयोर्जात एव । अत एवेदानीं त्वमहं च सुहृदौ भवावः । सुहृदो मे पूर्वोक्ता प्रार्थना न त्वया विफलीकरणीया । यतस्त्वं भूतनाथस्येश्वरस्यानुगः—इति भवादृशे सौहार्दवैफल्यं न सम्भाव्यत एव ।

५९.

दिलीपस्य प्रार्थनां स्वीकुर्वन् सिंहः "यथा भवते रोचते, तथैव भवतु", इत्युवाच । "किमयं सत्यं ददाति देहम्, उत वाङ्मात्रमिदम्" इति परीक्षणे तत्तात्पर्यम् । तत्क्षण एव राज्ञो बाहुरपि प्रतिबन्धरहितो जातः । "अपनीते बन्धने प्राकृतजनवत्पुनरप्ययं शस्त्रचालनायाविष्टो यतेत, उत प्रतिज्ञामनुस्मरन् शरीरमर्पयेत्" इति परीक्षणे तात्पर्यम् । अथ स दिलीपस्तु शस्त्रादिकमेकतः परित्यज्य स्वप्रतिज्ञानुसारं स्वदेहं सिंहस्याग्रे न्यपातयदेव । यथा कश्चित्साधारणं मांसग्रासमविचिन्त्य एव दद्यात्, तथैवाखिन्नस्य सुप्रसन्नस्य दिलीपस्य देहदानमिति ।

६०.

सिंहस्याग्रेऽधोमुखः शयानो राजा "एष मयि निपतति सिंहः" इति सिंहाक्रमणं निध्यायति स्म । परं सिंहस्तु न निपतितः, तत्स्थाने पुष्पवृष्टिस्तद्देहोपरि निपतिता । तत्रैव हिमगिरिगुहायां स्थिताः संवादमिममाकर्णयन्तो विद्याधरा राज्ञो महत्त्वेन विमुग्धाः पुष्पाणि ववृषुरिति ।

६१

अथ नृपतिः, "वत्स ! उत्तिष्ठ" इति मधुरां गिरमनुभूयोदतिष्ठत् । उत्थितश्च क्षीरं स्रवन्तीं स्वमातृसदृशीं नन्दिनीमपश्यत् । सिंहं तु नापश्यत् ।

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते ।
तद् भूतनाथानुग ! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
सन्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥ ५९ ॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥

६२.

अतर्कितोपतनया पुष्पवृष्ट्या सिंहस्यादर्शनेन च राजा विस्मयं गतः । नन्दिनी च तदा तमित्थमुवाच । हे परोपकारिन् दिलीप ! मयैव कपटसिंहमुत्पाद्य तव भक्तेः परीक्षा कृता । वस्तुतस्तु मां वशिष्ठप्रभावेण सर्वजीवनाशको यमोऽपि पीडयितुं न समर्थः । अन्येषां हिंस्रजन्तूनां तु कथैव का ।

६३.

हे दिलीप ! गुरौ भक्तिं मद्विषयेऽनुकम्पां च निरीक्ष्य निरतिशयं प्रसीदामि । अतएव मत्सकाशात् स्वाभिमतं वरं प्रार्थयस्व 'एषा धेनुः दुग्धातिरिक्तं किं दद्यात्' इति त्वया न शङ्कितव्यम् । यतोऽहं प्रसन्ना सती यथेच्छं कामानपि पूरयितुं शक्नोमि ।

६४.

धेन्वा वरयाचनायै प्रेरितोऽतिवदान्यः शौर्यशाली स दिलीपो बद्धाञ्जलिर्भूत्वा वंशप्रवर्तकं यशस्विनं पुत्रं वरत्वेन याचितवान् । दिगन्तविश्रान्तजैत्ररथाः कल्पद्रुमाद् याचकेभ्योऽभिलषितं वितरीतुं समर्था अपि ऋणत्रयापाकरणाय देवानामग्रे याचनार्थं हस्तौ प्रसारयन्तीति कवेराकूतम् ।

६५.

नन्दिनी पुत्राभिलाषिणे तस्मै नरेन्द्राय 'तथास्तु" इति वरं प्रादात् । तदुपायरूपेण च पर्णस्मिन्पत्रपुटके स्वकीयं दुग्धं दुग्ध्वा पातुं तमाज्ञापयामास ।

६६.

हे मातृकल्पे ! नन्दिनि ! यथाहं प्रजाभ्यो रक्षणानन्तरं न्याय्यं षष्ठांशं स्वोपभोगार्थमाददे, तथैव वत्सपानाद् गुरोरग्निहोत्रीयप्रयोगाच्चावशिष्टं मदर्थं न्याय्यं तव

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥ ६२ ॥
भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥
ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥
सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥
वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ! ।
ऊधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥

पयः पास्यामि, तदपि च गुरोराज्ञयैव अन्यथाऽननुज्ञातं गुरुद्रव्यं विशेषतश्च यज्ञार्थं तत्प्रागुपभुञ्जानस्य मे पातित्यप्रसङ्ग इति ।

६७.

"वत्सस्य होमार्थविधेश्च" इति राज्ञो वचनमाकर्ण्य वसिष्ठधेनुः पूर्वतोऽप्यधिकं तुतोष । "यथा विपत्काले, तथा सम्पत्कालेऽप्ययं धर्मं रक्षति" इति धर्मनिष्ठायाः स्तोषहेतुत्वात् । ततश्च हिमालयगुहान्तरात्तेन साकं श्रमं विनैवाश्रममाजगाम ।

६८.

मुखे चन्द्रवदुज्ज्वलां लक्ष्मीं दधत् स दिलीपो नन्दिन्या वरदानवृत्तं पूर्वं वसिष्ठाय पश्चात् सुदक्षिणायै च सूचितवान् । परन्तु तस्य तत्सूचनं पिष्टपेषणं जातम् । यतो वसिष्ठः सुदक्षिणा च दिलीपकथनात्पूर्वमेव मुखप्रसादेन तद्वृत्तमन्वमिनुताम् ।

६९.

दिलीपः स्वगुरोर्वसिष्ठस्याभ्यनुज्ञां प्राप्य वत्सपीतादग्निहोत्रहोमार्थाच्चावशिष्टं नन्दिन्याः पयोऽतितृष्णया पपौ, यथाऽस्य यशसि नितरां तृष्णा, तथैव श्वेततया यशःसदृशे प्रसादभूते तस्मिन् पयस्यपि बभूव । विशिष्टं कर्म सम्पाद्य तत्फलभूतं यश इव पयोऽनेन प्राप्तमित्यपि यशःसादृश्यमभिव्यङ्ग्यम् ।

७०

प्रभाते यदा सुदक्षिणादिलीपौ पारणां विहितवन्तौ, तदा वसिष्ठो मार्गविघ्नपरिहाराय प्रस्थानकालोचितं स्वस्तिवाचनं विधाय तौ स्वकीयां राजधानीं प्रति प्रेषयति स्म ।

७१

राजा दिलीपः क्रमशो वह्निम्, वसिष्ठम्, तत्पत्नीमरुन्धतीम्, सवत्सां धेनुं

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥
तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥
स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥
प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥ ७० ॥
प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

च प्रदक्षिण परिक्रम्याश्रमात् स्वां पुरीं प्रति प्रस्थान चक्रे। प्रतिष्ठमानस्य तस्य तेज पूज्यपरिक्रमणस्वस्तिवाचनादिना मङ्गलाचारेणातुत्कृष्टमभूत्।

७२

दिलीप -सुदक्षिणया सह रथमा रुह्य जगाम। स रथ पुत्रप्राप्तिलक्षणस्वीय मनोरथसदृशोऽभूत्। यथा रथस्य ध्वनि कर्णयो सुखकर, मनोरथस्य श्रवणमात्रमपि कर्णसुखदम्, किं च रथो विविक्ततया मार्गे न प्रतिहन्यते इति सुखकरोऽभवत्, मनोरथोऽपि प्रतिबन्धरहितो जात इति सुखकर। रथ सम्पत्तिभि पूर्ण, मनोरथोऽपि पूर्ण सम्पन्न इति। यस्य मनोरथ पूर्णोभवति, न मार्गश्रम न बाधते, हर्षेणोल्लसित सोऽनायास गच्छतीति पूर्णस्य मनोरथस्यापि रथस्येव गमनसाधन त्वमभिमहित कविना।

७३

पुरवासिनश्चिरादवदर्शनेन दिलीप प्रभु नितरामुत्कण्ठिता आसन्, अत एव स पुत्रप्राप्तिवरदानरूप नवमभ्युदय प्राप्य यदा स्वपुरी प्रविवेश, तदा तेऽत्यादरेण त ददृशु। तस्य शरीर तदा सन्तानार्थ कृतन व्रतेन कृशमासीत्। स दिलीपस्त दानीमेवमशोभत, यथा लोकहितार्थं स्वा कला देवेभ्यो दत्त्वा क्षीणो नवोदितो द्वितीयाचन्द्र, औषधीना नाथमित्युक्त्या चन्द्रस्य सोमलता धन्यते। तेनच देवपानयोग्यता। देवा कृष्णपक्षे चन्द्रकला पिबन्ति, तत च वृष्ट्यादि लोकहित जायते इति पुराणोक्ति[१]।

७४

दिलीपो यदा पुर प्रविवेश, तदानीं तत्र पौराणा भवनेपूत्सवार्थं राशिगृहपताका उदञ्चीयन्त। नगरवासिनश्च तरमाभिनन्दन चक्रु। अथ स पुत्रे गुरोराश्रम गच्छन् मन्त्रिणां हस्ते समर्पित राज्यभार पुन स्वहस्तगतमकरोत्।

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहित सहिष्णु।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजा प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम्।
नेत्रै पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदय नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्री पुरमुत्पताक प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमान।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूय स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

---

[१] ते च सोम पपुर्देवा पर्यायेणानुपूर्वश —इति पुराणम्।

७५.

वशिष्ठवरदानानन्तरं दिलीपकुलवृद्धये सुदक्षिणा गर्भं दधार, तत्रोपमा, यथा अत्रिमहर्षिनयनयोरुत्पन्नं चन्द्ररूपं तेजो द्युलोको धत्ते, यथा वा वह्निना क्षिप्तं महादेवस्य कार्तिकेयरूपं ज्योतिर्गङ्गा दधार, तथेति। पूर्वं पार्वत्या वह्निना पुनर्गङ्गादिभिर्गतं शङ्करस्य वीर्यं धृतमिति षाण्मातुरस्य कार्तिकेयस्योत्पत्तिकथा द्रष्टव्या। किञ्च यतस्तद् गर्भजात एव बालको राजपदमारोक्ष्यति अत एव "अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृप" इति मनुवचनानुसारमिन्द्राद्या अष्टौ दिक्पालास्तं गर्भं स्वस्वांशैरनुजग्मुः।

इति रघुवंशे द्वितीयः सर्गः।



अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥ ७५॥

रघुवंशे त्रयोदशः सर्गः

कथासम्बन्धः

दिलीपपुत्रस्य रघोर्महाराजस्य वंशे साक्षाद्भगवान्नारायणो रावणत्रासितानां देवानां प्रार्थनया रामरूपेणावततार । सोऽयं भगवान् पितुराज्ञया राज्यं परित्यज्य वनं गतो वनाद्भार्यां भगवतीं सीतामपहृतवन्तं रावणं सकुटुम्बं युद्धे जघान, तद्भ्रातरं च स्वशरणागतं विभीषणं शरण्यो लङ्काराज्येऽभिषिषेच । अथ भार्यया सीतया, लक्ष्मणेन, सुहृदा वानरराजेन सुग्रीवेण, तदनुयायिभिरन्यैर्वानरपुङ्गवैर्विभीषणेन च सत्कारार्थमनुगच्छता स पुष्पकं विमानमारुह्य स्वपुरीमयोध्यां प्रतस्थे इति द्वादशसर्गस्यान्तः । तदुत्तरं वृत्तमुच्यते ।

१

अथ भगवान् रामचन्द्रो वियति पुष्पकेण गच्छन्-समुद्रोपरि प्राप्तः प्रियया सीतया विश्रम्भगोष्ठीविनोदमिच्छन्—तां समुद्रं प्रदर्शयन्नेवमाह ।

२.

हे सीते ! इमं जलनिधिं पश्य, य एष मलयाचलपर्यन्तं मया निर्मापितेन महता सेतुना मध्यस्थितेन द्वयोर्भागयोर्विभक्त इव निरतिशयं फेनायमानश्च तथा शोभते, यथा मध्ये तिष्ठता छायापथेन विभक्तं शरदि निर्मलं तारकितं नभः ।

३

हे सीते ! एवं खल्वैतिहासिका आहुः, यदेकदास्मत्पूर्वजो महाराजः सगरोऽश्वमेधेन यजते स्म । भगवान् कपिलो भ्राम्यन्तं यज्ञियमश्वं रसातलमनयत् । अतस्तदन्वेषणाय यतमाना महाराजसगरसुता इमामुर्वीमखनन् । तत आरभ्यैवायं जलनिधिरियन्तं महान्तमाकारं दधौ ।

४.

इतः समुद्रादेवाप आकृष्य सूर्यरश्मयोऽम्मयं गर्भं दधति । तेनैव काले वृष्टि

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥
वैदेहि ! पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥
गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरङ्गे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥
गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

जायते। एष एव महान्त रत्नराशिं स्वान्तरे पोषयति। एतस्यैवोदरे विद्युदिति प्रसिद्धोऽग्निस्तिष्ठति, विद्युतो ज्लादेवोत्पद्यमानत्वात्, समुद्रस्य च जलराशिरूपत्वात्। लोकलोचनरञ्जनश्चन्द्रोऽपीत एव जन्म लेभे, समुद्रादेव चन्द्रस्योत्पत्ते पुराणे प्रसिद्धत्वात्।

५.

अथैकोऽपि विष्णु मत्स्यकूर्मादिनानावतारस्रूपेण, ब्रह्म विष्णु शिव रूपेण, स्व कार्यभूतभौतिकरूपेण, चानेकधा विवर्तमान, सर्वत्र व्यापकश्च 'इत्थ भूतोऽयम्' 'इयदस्य परिमाणम्' इति च न शक्योऽवधारयितुम्, तथैवैकोऽपि विभिन्ना कारेण विपरिणममानो दशसु दिक्षु व्याप्तोऽय महानम्बुराशि, परिमाणेन स्वरूपेण च सर्वथा दुष्परिच्छेद। समुद्रो हि कदाचित्तरङ्गमालासकुल, कदाचिच्च प्रशान्त इवावलोक्यते, वर्णाश्चास्य विविधा काले कालेऽनुभूयन्ते, बाष्पमेघादि रूपाश्चावस्थामयमेव धत्ते—इतीदकृतयावधारण न शक्यम्। दशसु दिक्षु व्याप्ततया चेयत्तावधारण न शक्यमिति द्वेधानवधारणे क्रमेण द्वय हेतुत्वेनास्ति।

६.

कल्पान्ते लोकान्संहृत्य योगनिद्रामास्थितो भगवान् विष्णुरस्मिन्नेव जल निधौ शेते। अत्र शयान चैम नाभिकमलस्थितो ब्रह्मा स्तौति। यद्यपि कल्पान्ते विष्णो शयनमन्तरिक्षमध्ये समुद्र पयोऽपपद्यते, भूतस्य जलस्य पूर्वमेव विनाशे तदा जलरूपसमुद्राऽसम्भवात्, तथाप्युभयो समुद्रयोरभेदाध्यवसायेनेद निरूपितमिति न विरोध।

७.

यथा शत्रुपीडिता राजान स्वरक्षानिमित्त मध्यस्थ धर्मप्रधान राजान शरण मुपयान्ति, तथैवेन्द्रेण स्वशत्रुणा पक्षच्छेदादिभिरभिभूता पर्वता इममम्बुराशि माऽत्मरक्षार्थे प्रपद्यन्ते।

इन्द्रो हि पर्वतानां पक्षाँश्छिन्नत्ति, तद्भयेनोड्डीय अत्रान्त प्रविष्टाना तेषा पक्षच्छेदभय निवर्तत इति भाव।

त तामवस्थां प्रतिपद्यमान स्थित दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयम् इदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥
नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन सस्तूयमान प्रथमेन धात्रा।
अमु युगान्तोचितयोगनिद्र सहृत्य लाकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥
पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धा शरण्यमेन शतशो महीध्रा।
नृपा इवोपप्लविन परेभ्यो धर्मोत्तर मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

८.

वराहावतारे भगवान् विष्णुर्यदेमां भुवं रसातलादुद्दधार, तदानीं प्रलय हेतुना समेधितमस्य निर्मलं जलं पृथिव्या अग्रभागमावृण्वत्तथा शोभमानं लक्ष्यते स्म, यथा वराहेण कृतोद्वाहयाऽनया पृथिव्या लज्जारक्षार्थं मुखावगुण्ठनं धृतं भवेत् । अद्यापि नवपरिणीता लज्जया मुखमवगुण्ठयति इति प्रसिद्धम् । मुहूर्तमात्रमिव शोभासीत्, तदुत्तरं भगवता वराहेण पृथिवीयमुपरि स्थापितैव ।

९.

वेगात् द्रवन्तीनां नदीनां मुखरूपाग्रभागजलं झटिति सागरे प्रविशति तरङ्गचालितं च सागरजलं तासु नदीष्वपि किञ्चित्प्रविशति, तत्रेयं कविकल्पना यथा इमा नद्यः स्वाधररसं पिपासवे स्वपतयेऽस्मै स्वयमेव समुद्राय स्वमुखमर्पयन्ति, अयमपि च समुद्रः स्वाधरं पातुकामाभ्यः स्वपत्नीभ्यो नदीभ्यः स्वयमेव तरङ्गरूपमधरं निवेदयति, एवमेतेषामसाधारणं दाम्पत्यमाभाति । अन्यत्र पुरुषा एव प्रियाणामधररसं पिबन्ति, इह तु परस्परं पानमित्यनन्यसाधारणत्वं मल्लिनाथ आह । परस्परं स्वयं समर्पणमनन्यसाधारणमिति तु युक्तमाभाति ।

१०.

अमी तिमिनामानो महामत्स्या स्वमुखानि व्यादाय, तेषु क्षुद्रमत्स्यादिसहितं जलमापूर्य यदा स्वोष्ठपुटं मेलयन्ति, तदानीं मुखावरोधेन तेषां मुखरन्ध्रमुदकविरहितं दृष्ट्वा गतैर्नोर्ध्वगामि भूत्वा जलयन्त्रशोभां दर्शयति ।

११

सीते ! पश्य वेगेनोच्छलद्भिर्मकरैर्द्विधा विभक्ताः समुद्रफेनाः एतेषाम् (मकराणाम्) उभयोः कपोलयोः सलग्नाः श्वेतवर्णसाम्यात् कर्णचामरं इव भाति । मकराः महत्त्वेन गजसदृशा, गजानां च प्रशस्तानामलङ्करणार्थं कर्णयोरुपरि चामरे बध्येते इति तत्सादृश्यमत्रापि फेने सम्पादितम् ।

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥
ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥
मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान् द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥

१२

वायुमासेवितुं तटमुपेता इमे समुद्रस्य महान्तो भुजगा वर्णाकारसाम्यात् पूर्वं तरङ्गा एवेति प्रतीता अपि सूर्यकिरणसम्बन्धात् सुस्पष्टं प्रकाशमानैः फणामणिभिस्तरङ्गेभ्यो भेदे सिद्धे भुजगा इति ज्ञायन्ते ।

१३

प्रिये ! पश्यसि पुरः—तरङ्गवेगात् क्षिप्त एष शङ्खसमूहः प्रवालेषु पतन्, तेषामङ्कुरेषु प्रोतश्चाचिरं तत्रैव तिष्ठति, भूयो भूयस्तु तरङ्गपरिचालितः कथं चिच्छनैरपक्रामति । तत्रेदं सम्भावये, विद्रुमेषु तवाधरसादृश्येन ततोऽपगमने ऽस्य शङ्खसमूहस्यापि क्लेश इति । अधरस्पर्धिषु इत्युक्त्या 'कामोर्मिवेगात् तवाधरे क्षिप्तस्तत्रैव च रागाच्चिरममृतमास्वादयन् स्थितः प्रोत इव, पश्चात्तया शङ्खसदृशो मदीयो दन्तसमूहस्तत्र क्लेशादिवापसरतीति' विनोदार्थं रहोवृत्तं स्मर्यते ।

१४.

जलपानायैव मेघाः समुद्रं गत्वा जलं गृह्णन्तीति लोकप्रसिद्धिः, तामाश्रित्योच्यते समुद्रात् जलमादातुं प्रवृत्त एष घनः, आवर्तवेगाद् भ्राम्यति । भ्राम्यतैतेन एष समुद्रः तथा प्रतीयते यथाऽयं मन्दरेण गिरिणा पुनरपि प्रमथ्यते । देवासुरैरेकदा मन्दरपर्वतेन समुद्रं प्रमथ्य चतुर्दश रत्नानि लब्धानि इति पुराणप्रसिद्धिः । मेघगिर्योः सादृश्यं चापि कविसम्प्रदाये प्रसिद्धम् । तन्मूलकः पुनः प्रमथनभ्रमो त्प्रेक्षितम् । देवासुरकर्तृकप्रमथनादिकं यद्यपि क्षीरसमुद्रस्य, तथापि कविसम्प्रदाये सर्वेषाम् समुद्राणामैक्यमेवेत्यविरोधः ।

१५.

एष समुद्रो नीलवर्णसाम्याद्वर्तुलरूपेण दृश्यमानत्वाच्च लोहचक्रवदाभाति । किं चास्य तटमुपाश्रिता सन्ततेया तमालवनपङ्क्तिर्दूरात्स्फुरतरा चक्रप्रान्ते घनतमालिन्यरेखावत् प्रतीयते ।

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ १२ ॥
तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद् भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥
दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥

१६.

समुद्रतटे वायुनोड्डीय जानकीमुखे सलग्न केतकीपुष्पराग विलोक्य राम कथयति—हे आयताक्षि ! वेलानिल केतकपरागैस्ते मुखमल करोति । यद्यपि मुखालङ्करणमिद मदीय कर्तव्यम् , परमेष वेलानिलो वेत्ति, मद्बोधेन वियोगेनाह तवाधरपान निरतिशय सतृष्ण अतएव स्वहस्तेनालङ्करणे कालक्षेप सोढुमसमर्थ , तत एव मदीय कर्तव्यमेव स्वय सम्पादयतीव ।

१७

अथ विमानवेगान्मुहूर्तमात्रकालेनैव विस्तीर्णस्य समुद्रस्य तट प्राप्ता स्म , यत्र भिन्नाभ्य शुक्तिभ्यो मौक्तिकपुञ्ज विकीर्णमस्ति, फलनम्राश्च पूगवृक्षा श्रेणिशो दृश्यन्ते ।

१८.

हे मृगनयने ! मनाक् स्वपृष्ठदिशि दृष्टिपात विधेहि,.पूर्वं समुद्रोपरि गच्छद्भिरस्माभिर्नभ्मेव परितो दृश्यते स्म, इदानीं तु समुद्रोऽस्माभिर्यथा यथा दूरे त्यज्यते, तथा समुद्रे दृष्टि निपातयद्भिरित्य प्रतीयते-यद् वनसहिता भूमि मन्ये समुद्रमध्याद् बहिर्निस्सरति । वेगवद्यानमारूढेन भूमिवृक्षादिषु गति प्रतीयते इति स्वाभाविकम् ।

१९

सीते पश्य । एतद् विमान यथाऽहमिच्छामि तथैव चलति । कदाचिद् भूमे रत्यूर्ध्वं व्रजति, कदाचित्ततोऽधो भवति, कदाचिच्च ततोऽप्यधो भूमे समीप मिवागच्छति । भूमेरुपर्यन्तरिक्षे पक्षिणा मार्ग , तत ऊर्ध्वं मेघानाम् , ततोऽप्युपरि देवविमानानाम् । इद तु सर्वेष्वपि मार्गेषु यथेच्छ गच्छति ।

वेलानिल केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि ।
ममाक्षम मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

एते वय सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटल पयोधे ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूल फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवत समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमि ॥ १८ ॥

क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणा क्वचिद्घनाना पतता क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाष प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

२०

त्रिपथगातरङ्गसम्पर्केण शीतलः, ऐरावतगण्डस्थलसम्पर्कात् मदवारियुक्तः सुगन्धिश्चैव मन्दं मन्दं प्रवहन् समीरस्ते मुखे—मध्याह्नजनितं घर्मोदकं शोषयति ।

२१

हे सीते ! यदा त्वया कौतुकेन गवाक्षमार्गाद् हस्तं निःसार्य मेघः स्पृष्टः, तदानीं तस्माद्विद्युन्मण्डलं प्रकाशते स्म, तेन त्वत्करे द्वितीयं वलयरूपमाभरणं न्यस्तमिव ।

२२

अमी तपस्विनः राक्षसभयादाश्रमस्थानानि परित्यज्य पुरा इतस्ततः प्रयाताः, इदानीं तु राक्षसविनाशाद् दण्डकारण्यं भयरहितं मत्वा स्वस्थानेषु पुनर्नवनवाः पर्णशालाः निर्माय तेषु निवसन्ति । राक्षसविनाशादेवमेतेषां सुखं जातमिति ।

२३

अयि प्रिये ! अत्र भूम्यां त्वामन्विष्यता मया तव चरणात्पतितं नीरवमेकं नूपुरं प्राप्तमासीत् । तस्य नीरवत्वे कारणं च त्वच्चरणारविन्दवियोगदुःखमेव मया सम्भावितम् । नूपुरं हि पादस्य पादसञ्चालने शब्दायते, पादाद् भ्रष्टस्य तु नीरवता सिद्धैव, तत्र हेतुरुत्प्रेक्षितः ।

२४

हे भीरु ! रावणो येन पथा त्वामपजहार, तं पन्थानं जिज्ञासमानं मां दयालवः इमा लता अबोधयन् । यद्यपि वाग्व्यापारो नास्ति, तथापि यथा कश्चिन्मूकोऽपि हस्तचेष्टया तथा शाखानां पल्लवास्तस्यां दिशि नमयन्त्योऽबोधयन्नेव, त्वद्गमनदिशायेनासां पत्राणि नतान्यासन्निति । यद्वा—यस्मिन् मार्गे त्वं गता, तत्र लता वियोगदुःखात्कुब्जिका आसन्, तास्तथाविधा दृष्ट्वा मे त्वन्मार्गबोधः समभवत् ।

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥
करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥
अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥
सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥
त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

२५.

इतस्ततस्तव मार्गमन्विष्यन्तं मामवलोक्य हरिण्यो दर्भाङ्कुरचरणमुपेक्ष्य दक्षिणदिशि स्वदृष्टिनिपातेन, "सीतां कश्चिद्दक्षिणस्यां दिशि निनाय" इत्येवं मह्यं तव मार्गमसूचयन् । स्वच्छन्दचरा हरिण्योऽपि त्वद्गमनदिश्यैव दत्तदृष्टय आसन्निति सारः ।

२६.

एतत्पुरो माल्यवतः पर्वतस्य गगनचुम्बि शृंगमाभाति । यत्र वर्षारम्भे यदा मेघैर्नवं जलं सृष्टम्, तदानीमेव मेघदर्शनादुद्दीपित त्वद्विरहदहनसहनानेन मयाप्यश्रुजलं सृष्टम् अत्रैव वर्षा प्रारब्धा इति तात्पर्यम् ।

२७.

ग्रीष्मे शुष्कप्रायेषु जलाशयेषु नववर्षारम्भे किमपि सौरभं प्रादुर्भवति, कदम्बकुसुमानि च फुल्लन्ति, मयूराश्च नृत्यन्तः केकाः कुर्वन्ति, सर्वेन्द्रियाकर्षकमेतत्सर्वमुद्दीपनतया त्वद्वियोगार्तस्य पर्वतेऽस्मिन्निवसतो मे असह्यमभूत् ।

२८.

अयि भीरु ! पूर्वमावयोः सहस्थितौ यदा घनगर्जितमुदीर्णं भवति स्म तदा त्वं एतेन भीता सकम्पं मामाश्लिष्टवती, तत् पूर्वानुभूतं त्वदाश्लेषं स्मारयन्ति घनगर्जितानि उद्दीपनतया वियोगकाले मयातिक्लेशेन सोढानि ।

२९.

ग्रीष्मे सौरतेजसा सन्तप्तायाः पृथिव्या वर्षासु धारासंपातसेकेन बाष्पमुद्गच्छतीति । स्वाभाविकी वस्तुस्थितिः । धूमाकारेण तेन बाष्पेण युक्तानि नवविकसितरक्तकन्दलीकुसुमानि दृष्ट्वाऽहं विवाहसमये होमधूमारुणयोः तव लोचनयोः शोभां स्मरन् विरहव्यथामन्वभवम् ।

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥
एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥
गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥ २७ ॥
पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु ! तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथंचिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥
आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

३०.

पुर एतस्मात्सर आभाति । एतत्पार्श्वे वञ्जुलवनराजिः शोभते । अत्र क्रीडन्तस्तरलाः सारसा अपि दूरत्वहेतुना दुर्निरीक्षणीयतां यान्ति, एतस्य सरसो हृदये दृष्टिश्चिराय निबद्धा तिष्ठति ।

यथा कश्चित् पथिकोऽध्वखेदापनोदाय जलाशयमुपगम्य जलमापिबति, तथैव दूरादस्मात्प्रदेशादथ पम्पासरसि निपतिता मे दृष्टिः श्रमापनोदाय तज्जलं पिबतीति सम्भाव्यते ।

३१.

हे सीते ! अत्र पम्पासरसि क्रीडन्ति, प्रेम्णा परस्परमुत्पलकेसरानर्पयन्ति चक्रवाकमिथुनान्यवलोक्य त्वद्विरहव्यथितोऽहम् "अहो एतेषां सौभाग्यम्, यदहमपि प्रियया न वियोक्ष्ये, तर्ह्येवमेव सानन्दं व्यहरिष्यम्" इति सोत्कण्ठं साभ्यसूय-मिवाचिन्तयम् ।

३२.

त्वद्विरहव्याकुलोऽहं त्वामन्विष्यन् यदा स्तनसदृशाभ्यां कुसुमगुच्छाभ्यां विनतामिमां पम्पातटस्थितामशोकलतामपश्यम्, तदा सादृश्यात् सीता प्राप्तेति बुद्धिर्मे जाता । तया च प्रेरित आलिङ्गितुं यावदहं कामये, तावल्लक्ष्मणो मां "नेयं जानकी" इति सखेदं निवारयामास ।

३३.

विमानचलने विमानलम्बिनीनां क्षुद्रघण्टिकानां स्वनं श्रुत्वा सादरात् सम्भ्रम-शब्दभ्रान्त्याकाशमुत्पतन्त्य इमा गोदावरीस्थाः सारसपङ्क्तयस्तथा शोभन्ते, यथा मन्ये तव स्वागतं कर्तुं सम्मुखमायान्ति ।

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥
अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये ! सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥
अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥

३४.

यत्र त्वं पुरा स्थिता, यत्र त्वयापि पेशलमध्यया कलशानुसृतघटवारि द्रुमाः सिक्ताः, सैव पञ्चवटी स्थाना । चिरादियं दृष्टा मे मानसं मोदते । अस्याः मृगाश्चापरमन् द्रष्टुमत्युत्सुकाः ।

३५.

हे प्रिये ! यदत्र गोदावरीतीरे शीतलः पवनो मृगयाजनितां मे श्रान्तिमप निनाय, किंचैकान्ते त्वदङ्के शिरो निधाय बहुधा सुप्तवानस्म्यहम् इति सर्वं पूर्ववृत्तं मया पञ्चवटीं दृष्ट्वा स्मर्यते ।

३६.

यः खलु भ्रूभङ्गमात्रेण नहुषमिन्द्रपदात् प्रच्यावयति स्म, यस्य चोदये दीर्घिकाकासारादयः सर्वे जलाशयाः स्वच्छा जायन्ते, तस्यागस्त्यमुनेस्तारारूपेण दिवि स्थितस्यापि भूम्यामाश्रमो विद्यते ।

३७.

हे प्रिये ! आहिताग्नेरुत्तमस्यास्याश्रमतो निर्गतम् विमानमार्गं व्याप्तवन्तम् हविर्गन्धेन सुगन्धिनम् धूममाघ्राय मे मनसि सत्त्वगुणोद्रेको जायते ।

३८.

शातकर्णेर्मुनेरेतत् क्रीडासरो वृक्षसमूहावृतं दूरात् तथा दृश्यते—यथा मेघान्तराले चन्द्रमा दृश्यते ।

३९.

अत्रेदमैतिह्यं समाम्नायते लोके—यत् पुरा किल स शातकर्णिर्मुनिर्मृगैः सह

एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥

त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ ३७ ॥

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ ३८ ॥

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ ३९ ॥

चरन् दर्भाङ्कुरैश्च प्राणयात्रां निर्वहन् महत्तपस्तेपे। तत्तपोभीतश्चेन्द्रोऽप्सरोगणाद् रूपवतीभिर्युवतिभिः पञ्चभिरप्सरोभिस्तं प्रलोभ्य तपोमार्गाद् भ्रंशयति स्म।

४०

पूर्वोक्तः स शातकर्णिर्मुनिर्नन्दा नर्गते प्रासादे तपसा कल्पिते सर्वदैवेशो निवसति। तत्राप्सरोभिः सङ्गीतेन रममाणस्य तस्य मृदङ्गघोषो विपतितः प्रसरन् रमद्विमानेऽपि प्राप्तः, विमानस्योच्चभागस्तेन शब्दायमानो जातः पर विमानवेगात् क्षणमात्रमेवैषा ध्वनिः समपद्यत।

४१

असौ सुतीक्ष्णाभिधस्तपस्वी चतसृषु दिक्षु प्रज्वलन्तश्चतुरोऽग्नीन् प्रतिष्ठाप्य, वियद्गतं चण्डरश्मिं सूर्यं पञ्चममग्निं मत्वा तन्मध्ये स्थितः पञ्चाग्नितपस्यामाचरति। नाममात्रमस्य सुतीक्ष्ण इति कर्माणि तु परं सौम्यानि, न हि कदाप्यस्य क्रोधः इति।

४२

एतत्तपोभीतः सुरराजः एनं तपोमार्गाद् भ्रंशयितुकाम एतत्सविधे याः सुन्दरीः प्रेषयामास, परं तासां सस्मयस्मितावलोकनादयो विविधाः सुन्दराङ्गदर्शना दयश्च विलासा नास्य मनसि मनागपि विकारमुत्पादयितुमशक्नुवन्।

४३

बाहू ऊर्ध्वौ कृत्वा तपश्चरन्नेव सुतीक्ष्णो मुनिर्मामभ्यागतमभिनन्दयितुं दक्षिणमुन्नमदमदभिमुखं सभाजनानुकूल्या मुद्रया व्यापारयति। यत्र भुजे अक्षमाला शोभते, येन भुजेन दयापरवशो मृगान् काले कण्डूयति, वैदिककर्मानुष्ठानार्थं कुशाश्च येन लुनाति। बाहोः पवित्रकर्मनिष्ठता विशेषणैरुक्ता। यत्र च तादृशेन भुजेन सभाजनप्राप्त्या स्वस्य सौभाग्यं द्योत्यते।

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति॥ ४०॥
हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः॥ ४१॥
अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि॥ ४२॥
एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम्।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते॥ ४३॥

४४

यतोऽयं मुतीक्ष्णो मौनव्रती, अतो मम प्रणामं शिरःकम्पेनैव प्रत्यग्रहीत्, न तु वाचापि प्रायुङ्क्त। अस्मद्विमानेन च मध्यगतेनास्य सूर्यसंलग्ना दृष्टिर्व्यवहिताभूत्, तच्चलिते विमाने पुनरेष दृष्टिं यथापूर्वं सूर्ये सङ्क्रमयति।

४५

यथा पूताः समिधोऽग्नौ हूयन्ते, तथा मन्त्रपूतं शरीरमपि शरभङ्गेनाहुतीकृतमिति रामायणे प्रसिद्धा कथा, तस्य शरभङ्गस्येदं तपोवनम्।

४६

यद्यपि शरभङ्गस्याश्रमे इदानीं कोऽपि न निवसति, तथापि तत्पुत्रकल्पा इमे पादपा अस्मिन्नाश्रमे समागतान् अतिथीन् घनच्छायया मधुरैश्च फलैः सत्कुर्वन्ति। सद्गृहेषु अतिथिपरिचरणं कदाचिदपि नोच्छिद्यते—इत्यभिसन्धिः।

४७

हे सीते! दृप्तः वृषभ इव शोभमान एष चित्रकूटो गिरिर्मदीयं चक्षुः स्वस्मिन्नाकर्षति। यथा दृप्तो वृषभः स्वमुखेन बलवद् गर्जति, आर्द्रं भूमिचयमपरिकर्माणश्च विषाणयोः (शृङ्गयोः) पङ्कं धत्ते। तथैवाय चित्रकूटोऽपि मुखसदृशीभिर्निर्झरकन्दरैर्मुखायमानैः गर्जति शृङ्गेषु (शिखरेषु) च कर्दमसन्निभान् मेघान् धारयति।

४८.

हे प्रिये! चित्रकूटगिरेः पार्श्वे धीरं प्रवहन्ती दूरत्वहेतुना कृशा प्रतीयमाना निर्मलजला मन्दाकिनी नदी भूमिकण्ठधृता मुक्तावलीव शोभते। पर्वतः शिर इव, तत्समीपभागः कण्ठस्तत्र मन्दाकिनी हारसदृशीति।

वाचयमत्वात्प्रणतिं ममैव कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते ॥ ४४ ॥
अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥ ४५ ॥
छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥
धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि! चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥
एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥

४९.

चित्रकूटवनीतटवर्ती स तमालपादपो विद्यते यस्य सुरभिणा नूतनपल्लवेनाहं त्वदर्थं कर्णाभरणमरचयम्।

५०.

हे सीते! इदमत्रिमहर्षेस्तपोवनमस्ति। अत्र महर्षेरलौकिकप्रभावात् दर्शयन्त इव दण्डभयरहिता अपि जन्तवो विनयं पालयन्ति, नहि प्रबला निर्बलान् बाधयन्ति, वृक्षाश्च पुष्पोद्गममन्तरेणापि फलानि प्रसुवते।

५१

हे सीते! एव [illegible], यदत्राश्रमे भगवती अत्रिपत्नी अनसूया स्वस्यालौकिकेन माहात्म्येन ऋषीणां स्नानाय नूतना गङ्गा प्रवर्तयाञ्चकार।

५२.

वीरासने स्थितये ध्याननिरतासु वेदिकासु वीरासनेनोपविश्य ध्यानपरायणानां मुनीनां मध्ये स्थिता अमी वृक्षा अपि समाधिस्था इव लक्ष्यन्ते। योगिनो निश्चलाङ्गा भवन्ति, इमे वृक्षा अपि वाताभावेन निश्चला वर्तन्ते।

५३.

हे सीते! नाम्ना श्यामो यो वटस्त्वया पूर्वं वनगमनकाले प्रार्थितः स एव पुरस्तिष्ठति। रक्तवर्णैः फलैर्युक्तोऽयं वटः पद्मरागमणिसहितानां मरकतमणीनां समूह इव शोभते। (पद्मरागसदृशानि फलानि, पत्राणि मरकतसमूहसदृशानि) इदानीं सिद्धमनोरथे (त्वयि) प्रणामपूर्वमस्माभिरयं वन्दनीयः।

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥
अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम्।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥
अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम्।
प्रवर्तयामास किलानसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ ५१ ॥
वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ ५२ ॥
त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

५४, ५५, ५६, ५७

प्रयागे गङ्गायमुनाप्रवाहयोः सङ्गमे कृष्णवर्णेन यमुनाजलेन संमिश्रितं शुभ्रं गङ्गाजलं विविधसंनिवेशवशाद् विविधां सुषमां धत्ते। यत्र वेगवशादावर्तमानं मण्डलाकारतामापद्य प्रवहति, तत्र क्वचित्सुस्निग्धप्रभं प्रतिबिम्बितसूर्यकान्ति नीलमणिभिरनुविद्धानां मौक्तिकानां हारमिव प्रतीयते, क्वचिच्च नीलकमलानुविद्धविकसितशुक्लकमलमालाकारं विभाति, यत्र च परस्परं भिन्नसरला रेखामाश्रित्य प्रवहति, तत्र कृष्णवर्णकादम्बसकलहंसपङ्क्तिसदृशं शोभते। यत्र तु गङ्गाप्रवाहस्य मध्ये यमुनाजलं प्रविष्टम्, तत्प्रान्ते गाम्भीर्यस्याल्पतया च भूमिरप्यालोक्यते तत्रैव विभाति—यथा भुवो नायिकाया अङ्गेषु चन्दनेन रचना कृता भवेत्, तन्मध्ये च कृष्णागुरुणा मकरिकापत्राणि रचितानि स्युः। अथ यत्र प्रवाहप्रान्तभागगतं मन्दप्रवाहं प्रशान्तमिव प्रतिबिम्बितसूर्यकान्ति च गङ्गाजलम्, यमुनाजलं न प्रतिबिम्बेनाभिज्वलितम्, तत्र तरुच्छायागतेन तमसा विच्छुरिता प्रसृता चन्द्रिकेवाभाति, यत्र च यमुनाजलं सूर्यप्रतिबिम्बेनाभिज्वलितम्, गङ्गाजलन्तु नाभिज्वलितम्, किन्तु मनतामिवापन्नं दृश्यते, तत्र तथा प्रतीयते यथा शुक्ला शरन्मेघा अभिव्याप्ता स्युः, तेषामन्तराले च स्थाने स्थानेऽन्तरिक्षं कृष्णवर्णं दृश्यते। अथ यत्र प्रशान्तप्रायस्य गङ्गाजलस्योपरि कृष्णा यमुनातरङ्गा खेलन्तस्तदावृषवत् इव, तत्र कृष्णोरगवेष्टितं भगवतः शङ्करस्य भस्मलिप्तं शरीरमिव तद्विभाति। एतत्सर्वं भगवान् रामः सीतायै प्रदर्शयति।

५८

तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति श्रुतिभिर्निर्णीतम्, परमत्र प्रयागे कृतस्नानानां पुरुषाणां तत्त्वज्ञानं विनापि मोक्षलाभो भवति। अत्र प्रमाणं 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते" इत्यादि श्रुतौ स्पष्टम्।

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥ ५६ ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥
समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥ ५८ ॥

५९.

एतद् गुहस्य पुरं प्राप्तम्, यत्रास्माभी राजवेशं विहाय आरण्यकवेषो धृतः। सुमन्त्रश्च रुदन् रथमादाय निवर्तितः।

६०.

हे सीते! एषा सरयूः प्रवहति। ऋषयः कथयन्ति यद् यथा अव्यक्ताद् बुद्धिरुत्पद्यते, तथैवैषा सरिद् ब्रह्मनिर्मिताद् मानसात् सरसः प्रभवति, यस्मिन् सरसि स्नान्तीनां यक्षसुन्दरीणां पयोधरा हेमाम्बुजपरागैरलंक्रियन्ते।

६१.

अस्यास्तीरेऽस्मत्पूर्वजैर्भूयांसोऽश्वमेधाख्या महाक्रतवोऽनुष्ठिताः, यज्ञभागभूता अद्याप्येतत्तीरे निखाता दृष्टिपथमायान्ति एषा चायोध्यामनुप्रवहति।

६२.

अहमिमां सरयूमुत्तरकोशलदेशवासिनां साधारणीं मातरं मन्ये। या नः सर्वान् स्वपुलिनोत्सङ्गे क्रीडयति, स्वपयोभिश्च पोषयति।

६३.

जननीव पित्रा दशरथेन वियुक्तैषा सरयूः प्रवासादागच्छन्तं पुत्रकल्पं मां वारिशीकरैः पवनं शिशिरयद्भिस्तरङ्गरूपैर्हस्तैरालिङ्गितुं यतत इव। अन्याऽपि जननी प्रोष्यागतं श्रान्तं पुत्रं कराभ्यां व्यजनपवनं सृजन्ती प्रेम्णा समालिङ्गति इति प्रकृतिसिद्धम्। पतिवियुक्तायाश्च जनन्या विशेषेण पुत्र एवाधारो भवतीति तत्रैव प्रेमाधिक्यप्रकटनं युक्ततरम्।

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति॥ ५९॥
पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति॥ ६०॥
जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि॥ ६१॥
यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम्॥ ६२॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव॥ ६३॥

६४.

अयि प्रिये पुरस्ताद् वियति प्रसरन्तं धूलिनिकरमवलोक्य तर्कयामि यद्धनूमता मदागमनविषये सूचितो भरतः सैन्यपुरस्सरं मत्स्वागतं कर्तुमायाति ।

६५

ससैन्यमागच्छन्तं भरतमुपलभ्य 'किमसौ भरतः स्वाधिगतं राज्यं निष्कण्टकं विधातुमस्माभिः सह योद्धुमायाति' किमद्याप्यस्माकं दुर्दैवं नावसितम्' इति सम्भाविता सीताया शङ्काभरनोदनिच्छुकामो रामः कथयति हे प्रिये ! त्वयैतद् विश्वसनीयम्—यत् साधुमतिः स भरतश्चतुर्दशवर्षवनवासरूपां पितुः प्रतिज्ञां परिपाल्य प्रतिनिवृत्ताय मे न्यासरूपेण रक्षितां स्वयमनुपभुक्तां राजलक्ष्मीमवश्यं प्रत्यर्पयिष्यति । यथा वने खरादीन् राक्षसान् हत्वा प्रत्यागताय मे लक्ष्मणः स्वरक्षितां निष्पापां त्वां प्रत्यर्पितवान् । अत्र शङ्कितहृदयया सीतयैव राजलक्ष्मी मुपमिमानस्य रामस्येदं हृदयम्—यद् हे सीते ! मदनुपस्थितौ लक्ष्मणपार्श्ववर्तिन्यास्तव यथा तस्मिन् विश्वासस्य लक्ष्मणे च साधुत्वस्य प्रदीपान् विश्वासस्तथैव भरतस्य राजलक्ष्म्यामनुरागकथापि नेति त्वया विश्वसनीयम् ।

६६.

सेनां पश्चात्कृत्वा गुरुं वसिष्ठमग्रगामिनं विधाय मन्त्रिभिः सह वल्कलवसनो हस्तेऽर्घोदकं दधानोऽसौ भरतः पद्भ्यामेव मत्समीपमागच्छति । पदात्यादि विशेषणैः पूर्वपद्योक्तं भरतस्य साधुत्वं समर्थितम् ।

६७

यस्मात्तपौवनोऽप्येष भरतः केवलं मदपेक्षया सर्वथा स्वाधीनामपि राजलक्ष्मीं न बुभुजे, तन्मन्येऽयं चतुर्दश वर्षाणि यावत् तया राजलक्ष्म्या सह असिधाराचङ्क्रमणतुल्यं व्रतमनुष्ठितवान् । यथा असिधारायां चङ्क्रमणं दुष्करम् तथैव युवावस्थायां प्राप्तायाः युवत्या इव श्रियस्त्यागोऽपि दुष्कर इति भावः ।

विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥
अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन् संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥
असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥
पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ ६७ ॥

६८.

एतावदुक्त्वा भगवान् रामचन्द्रो विरराम। अथ तस्य भूमाववरोहणेच्छां विज्ञातवत्या विमानाधिष्ठातृदेवतया प्रेरितं पुष्पकमाकाशाद् भूमाववततार। इदानीं भूमाववतरद्विमानं भरतेन सह समायाताः प्रजाजना ऊर्ध्वमुदपश्यन्।

६९.

विमाने भूमिष्ठे जाते भगवान् रामचन्द्रः सेवाकर्मकुशलेन सुग्रीवेण समर्पितं हस्तावलम्बनमवलम्ब्य मनोहारिणा स्फटिकरचितेन सोपानमार्गेण तस्मादवरोहति स्म। विभीषणोऽग्रेसरो भूत्वा तस्मै मार्गमादिदेश।

७०

रामेण पूर्वं गुरवे वसिष्ठाय प्रणामः कृतः, तदनु भरतदत्तमर्घ्यं गृहीत्वा भरतः प्रणमन् प्रेम्णा समाश्लिष्टः, बाष्पजलेन शिरस्याभिषिक्तश्च, तस्मिन् भरतस्य शिरसि यतोऽपि राज्याभिषेको रामस्य भक्त्यैव प्रतिषिद्धः, तस्मिन् शिरसि रामस्याघ्राणम्, पर्यश्रुतयाश्रुजलेन तदभिषेकं पुनः प्रतिपादितमिव।

७१

अथ चिराद् राजभक्तेन विमनायमानः, निर्वेदादकृतक्षौरसंस्कारतया प्रवृद्धश्मश्रुकलापः, विकृताकृतिर्जटिलप्लक्षादपि [illegible] प्रतीयमानः, विनया दशया च वृद्धमन्त्रिवर्गो भगवन्तं रामचन्द्रं प्रणनाम। भगवांश्च कृपार्द्रया दृशा सम्भाव्य तैः सह कुशलप्रश्नपुरस्सरं मधुरं सल्लाप।

७२.

रामः "अयमस्माकं विपद्बन्धुर्वानरराजः सुग्रीवः" "अयं च समरमहावीरः पुलस्तिसूनोः पौत्रो (मदर्थे गोत्रवैराणि कृतवान्) विभीषणः" इत्येव सबहुमानं भरतेन सुग्रीवविभीषणयोः परिचयमकारयत्। अथ भरतो भ्रातरमपि लक्ष्मणमति

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः॥ ६८॥
तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः॥ ६९॥
इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके॥ ७०॥
श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा॥ ७१॥
दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे॥ ७२॥

क्रम्य पूर्वं विपत्सहायत्वादिना माननीयौ तावेव ववन्दे । मल्लिनाथस्तु "लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य आलिङ्गनशिरोघ्राणादिभिरसंभाव्य" इति लक्ष्मणस्य कनिष्ठत्वमेवाभिसंधाय व्याख्यातवान् । वस्तुतस्तु नायमर्थः पद्यस्वरसतः प्रतीयते, अकृतप्रणामस्य कनिष्ठस्यालिङ्गनादिना असंभावनं स्वतः सिद्धमिति तत्प्रतिपादनार्थं व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमिति वचनमपुष्टार्थमेव स्यात् । लक्ष्मणस्य ज्येष्ठत्वे तु तदतिक्रमणस्य सुग्रीवविभीषणयोर्गौरवप्रदर्शनार्थत्वाद् नापुष्टार्थता ।

७३.

इन्द्रजित्प्रहरणैर्ये व्रणा लक्ष्मणस्योरसि जाताः, कालक्रमेण प्ररूढाश्च तैस्तस्योरसि कठोरता जाता । प्ररूढव्रणेऽङ्गे कठोरता स्फुटं सर्वैः प्रतीयते । तयाऽनयाऽभिनवया कठोरतया लक्ष्मणो भरतहृदयं पीडयन्निवेति सम्भाव्यते । यथा कश्चिन्मल्लः स्वाङ्गे सविशेषां कठोरतामभिमन्यमानः परस्य मल्लस्याङ्गं पीडयितुं दृढमाश्लिष्येत्, तथैव भरतः लक्ष्मणमालिङ्गितवान्, तत्र श्लेषार्थं कविनोत्प्रेक्षितम् । तादृशमङ्गस्पर्शेन प्रहारमनुभाव्य प्रेम्णा भरतस्य हृदये क्लेश इत्यप्यभिव्यक्तः ।

७४.

रामेण वानरचमूपतीनां सम्यङ्मनुष्योचिता वेषभूषाः कारिताः, विशालेषु मत्तेषु च गजेन्द्रेषु ते आरोहिताः । तेन पर्वतसुखा [illegible] तेऽनुभूयन्ते स्म । पर्वते यथा वारिधाराः, तथा गजेष्वपि मदजलधारा इति ।

७५.

रामाज्ञया विभीषणोऽपि सुसज्जिते रथे समुपविष्टः । तदनुगाश्चापि तथाविधेष्वन्येषु रथेषु । यद्यपि विभीषणादीनां राक्षसानां मायानिर्मिता उत्कृष्टा रथा भवन्ति, तथापि कृत्रिमरचना अपि रामरथास्तदपेक्षया अत्युत्कृष्टा आसन् ।

७६.

प्रणामादिसम्भावनानन्तरं भरतलक्ष्मणाभ्यां सह रामः पुनः पुष्पकविमान-

---

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥ ७३ ॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥ ७४ ॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥ ७५ ॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥

मारुढ। तत्र च तस्य बुधबृहस्पतियुक्तस्य सायतनाभ्रमध्यगतस्य चन्द्रस्येव शोभाऽभूत्। अभ्रे यथा विद्युद्, विमाने तथैव पताका राजते।

७७.

सीता विमान एवारूढाभूत्, विमाने प्राप्तो भरतस्तां ववन्दे। इयं सीता कृच्छ्रगता रामेणोद्धृतास्ति। तत्रोपमाद्वयं स्पष्टम्।

७८

सीताचरणाभ्यां भूयोभूयः प्रणमन् लङ्केश्वरोऽपि धर्मरक्षणाय तिरस्कृत इति तदतिपवित्रम्, भरतस्य शिरसा च ज्येष्ठं भ्रातरं धर्मानुकूल्येनानुवर्तमानेन राज्याभिषेकं परित्यज्य ज्येष्ठो भ्राता वने जटा बिभर्तीति, स्वयमपि जटा विधृता तेन तदपि पवित्रतमम्। अनयोः कस्य पवित्रताया विशेष इति तारतम्यनिर्णयस्य कर्तुमशक्यत्वेन उभयोः परस्परं पावनत्वमभिहितम्।

७९.

ततः प्रभृति प्रजाः पुष्पकस्याग्रे (व्याख्यान्तरानुसारेण तु पृष्ठतः) गन्तुं प्रवृत्ताः, तत एव पुष्पकस्य वेगो मन्दीकृतः, तेन च कियद्दूरं गत्वा रामेणायोध्याया बहिरेव पटमण्डपेषु शत्रुघ्नेन सज्जितेषु स्थितिः कृता।

इति रघुवंशे त्रयोदशः सर्गः।

तेनेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे॥ ७७॥
लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य॥ ७८॥
क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास॥ ७९॥

कुमारसम्भवे प्रथमः सर्गः

१.

देवभूम्याम् उत्तरस्या दिशि देवरूपः सुरगिरिश्रेष्ठ एको महान् गिरिरस्ति । यः सर्वदा हिमाच्छादितत्वाद् हिमालयनाम्ना लोके प्रसिद्धः । किंच य पूर्वपश्चिमसमुद्रमध्यवर्तिनीं सर्वां भुवं व्याप्य तिष्ठति, अत एव भुव आयामपरिच्छेदाय प्रसारितो मानदण्ड इव लक्ष्यते । देवतात्मेत्यनेन केवलं शैलविशेषमात्रं निराकृत्य वक्ष्यमाणचेतनोचितविवाहादिघटनायोग्यता सूच्यते ।

२.

पुरा किल पृथुः क्षुत्क्षामदेहानां प्रजानामन्नपानाद्यभीष्टसिद्ध्यर्थं गोरूपधरामुर्वीं प्रजाभिरात्माभीष्टमर्थं दोहयामास । तत्र तेषु तेषु वर्गेषु यथोक्तदोग्धारो वत्साश्च परिकल्पिता इति भागवती कथाऽनेन पद्येन सूचिता । तदेव दोहनप्रसङ्गे यदा पर्वतैरेषा धरित्री दोग्धुमभिलषिता तदानीं मेरुर्दोग्धाऽभवत्, हिमालयश्च दोहप्रस्तुतये वत्सः पर्यकल्प्यत, रत्नानि महौषधयश्च दुह्यन्ते स्म, अनेन हिमालयस्य वत्सरूपं महत्त्वं सूचितम् । हिमवतो वत्सत्वनिर्देशाद् वत्सनीतशेषस्यैवान्यैरुपयोगाद् वसुन्धरासारभूतानां रत्नानां समृद्धिरत्रास्तीति सूचितम् । देवादीनामभीष्टदोहने स्वस्वजातिश्रेष्ठानां महेन्द्रादीनामेव वत्सत्वं परिकल्पितम्, अतोऽस्यापि वत्सत्वकथनात् पूर्वपद्योक्तं स्वजातिश्रेष्ठत्वं समर्थितं बोध्यम् ।

३.

सर्वदा हिमाच्छादितत्वेऽप्यस्य हिमालयस्य रमणीयतागुणो न मनागपि विनष्टः । यतोऽयमनन्तानामुत्तमरत्नानामाकरः । दृश्यते लोके यद् एको दुर्गुणो गुणराशौ दुर्लक्ष्यो भवति, अनेकेष्वेकस्य एवेति, यथा चन्द्रमस एकः कलङ्कस्तत्किरणसमूहे लीयमानो न मात्रयापि तद् रम्यतां विहन्ति ।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं, मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च, पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ २ ॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य, हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ ३ ॥

४.

अस्य हिमालयस्य शिखरेषु गैरिकादिधातवः प्राचुर्येण वर्तन्ते, यान् अप्सरस आत्मनां विभूषणाय प्रसाधयितुमुपयुञ्जते। किं च धातूनां रक्तिम्ना शिखराण्यपि रक्ततामुपेतानि, अत एव सम्भाव्यते यदेष पर्वतः सदातनीं सन्ध्यां धारयति। सन्ध्या हि रक्ता, स्वरक्तिम्ना मेघखण्डानि रञ्जयति च, अत्रापि सन्ध्यास्थानीया गैरिकादिधातवः शिखराणि च मेघस्थानीयानि। धातवः शिखराणि स्वरक्तिम्ना रञ्जयन्ति इति शिखरबलाहकयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव उत्प्रेक्षाप्रयोजक इति प्रकाशिका विवरणकारौ व्याचक्षाते। हिमालयस्योच्चे शिखरेषु स्थितानां गैरिकादिधातूनां रागो मेघखण्डेषु सङ्क्रामयति, स च दृष्ट्वाऽप्सरसामकाल एव सन्ध्याभ्रमं करोति, तेन च तात्त्वरया रमणाय सज्जीभवन्त्यो मण्डनान्युपाददते—इत्यभिप्राय मल्लिनाथ आह। उभयो व्याख्याकारौ सुधीभिर्विवेच्यौ।

५

एष हिमालयोऽतितरामुच्चतरो विद्यते। मेघमण्डलमस्य प्रायः तत्पर्वतेष्वेव भ्रमति, नात्वस्यस्य शृङ्गाण्यधितिष्ठति। अत एव अत्र निवासिनो गन्धर्वसिद्धा इव ग्रीष्मेषु घर्मबाधां परिहर्तुं मेघमण्डलाधोवर्तिषु सानुषु प्रसृतां छायां सेवन्ते। मेघव्यवधानात्तत्र घर्मस्य सर्वथा अप्रवेशात्। यदा च वर्षाभिरुद्वेजिता भवन्ति, तदा मेघमण्डलोपरिवर्तीन्यातपयुक्तान्यस्य शिखराण्यधिवसन्ति। अत एव सर्वर्तु रमणीयोऽयं पर्वतः।

६

अन्यत्र किराताः प्रायो हतगजानां सिंहानां शोणिताक्तानि पदचिह्नान्येव दर्शं दर्शं ताननुगच्छन्ति, परमत्र हिमालयेऽनवरतहिमजलस्रवणेन शोणितस्य क्षालिततया पदचिह्नानि स्फुटं न प्रतिभासन्ते, तथापि सिंहानां रन्ध्रेषु नखेषु गजमस्तकविदारणसमये यानि मौक्तिकानि सञ्चीयन्ते, गमनसमये पदविन्यास वशात् तेषां गलनेन तान्येव दृष्ट्वा सिंहमार्गं किरातैरनुमीयते।

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां, सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥
आमेखलं सञ्चरतां घनानां, छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते, शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥ ५ ॥
पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं, यस्मिन्नदृष्ट्वाऽपि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ ६ ॥

७.

अत्र हिमाद्रौ विद्याधरस्त्रियः स्वकामुकेभ्यः प्रेमसन्देशान् प्रेषयितुं भूर्जवृक्ष-वल्कलानि पत्रत्वेन, गैरिकादिद्रवं च मसीत्वेनोपयुञ्जते । भूर्जबाहुल्यम्, धातु-बाहुल्यम्, विद्याधरस्त्रीणां विहाराश्रयत्वेन हिमालये वर्णितानि ।

८.

अत्र हिमालये स्वभावतः कीचकवेणवो गुहानिःसृतेन वायुना पूर्यमाणाः स्वनन्ति । तत्र कविरुत्प्रेक्षते—यथा लोके कस्यचिद् गायकस्य गानारम्भात् पूर्वम् परस्तत्सहचरः 'गाता यं यं स्वरं गच्छेत्तं तं वंशेन तानयेत्' इति सङ्गीतशास्त्र-मनुसृत्य तानं प्रदातुं वेणुवाद्यं स्वमुखवायुना पूरयति, तथैवायं हिमाद्रिरपि तत्र वसतां गायकानां किन्नराणां गानारम्भात् प्रागेव दरीरूपमुखनिर्गतेन वायुना वेणुवाद्यसदृशान् इमान् कीचकान् गायकस्वरताननेच्छया पूरयति इति ।

९.

अत्र हिमाद्रौ सरलाख्याः पादपाः प्रभूताः सन्ति । हस्तिनो यदा स्वगण्डकण्डू-विनोदयितुमिमान् गण्डस्थलेन घर्षयन्ति, तदैतेभ्यः सुगन्धि क्षीरं निर्गच्छति, यस्य सुगन्धेनास्य हिमाद्रेः सानुप्रदेशा अपि सुवासिता भवन्ति ।

१०.

एतस्य हिमाद्रेः गुहासु निवासिनः किराता रात्रौ नगरस्थजनप्रकाशसाधन-दीपाद्यभावेऽपि दीपसुखमनुभवन्ति, यतोऽत्र पर्वते स्वस्वभावादेव भूयस्य ओषधयो या रात्रौ प्रज्वलन्ति, अस्य गुहासु रममाणानां किरातानां ता एव दीपकार्यं निर्वहन्ति । दीपे भूयो भूयस्तैलपूरणापेक्षा, अन्यथा विलोपशङ्का, एते तु विलक्षणा 'दीपाः' विनापि तैलं विलोपशङ्कारहिता एव ।

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र, भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥ ७ ॥
यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥ ८ ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं, विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः, सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥
वनेचराणां वनितासखानां, दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १० ॥

११

अत्र हिमालये नितम्बस्योऽश्वमुख्य किन्नरस्त्रियो यदाऽस्य प्रदेशेषु विचरन्ति, तदा घनीभूतेन शीततमेन हिमेन सुकुमारास्तासां पादा पीड्यन्ते। शीतमावारममप पादतलं न ता मार्गेऽर्पयन्ति, कदाचिदग्रभागेन चलन्ति, अङ्गुलीषु च सुकुमारासु बाधितासु पश्चाद्भागेन पार्ष्णिना गन्तु प्रक्रमन्ते, सोऽपि च शैत्येन बाध्यते, एवं खिन्ना अपि तु ता न शीघ्र धावनु प्रभवन्ति, स्थूलस्य श्रोणिभागस्य पयोधरयोश्च दुर्वहत्वेन शीघ्र गन्तुमशक्यत्वात्। एतेन सर्वाङ्गयवसौन्दर्यं तासां व्यक्त भवति।

१२

अत्र हिमालये गभीरासु गुहासु सूर्यांशुसम्पर्काभावाद् रात्राविव दिवाप्यन्धकारस्तिष्ठति। तत्र कविना अन्धकारस्य गुहास्थितौ सूर्याद् भय हेतुमुत्प्रेक्ष्य भीताथान्धकाराय शरणप्रदानेन हिमालयस्य शरणागतरक्षकत्व सम्भावितम्, तदेव चोत्तरार्धेन समर्थितम्। ये हि उन्नतशिरस सन्ति लब्धप्रतिष्ठा (हिमालयो प्युन्नतशिखरत्वादुन्नतशिरा) ते शरणागत क्षुद्रमपि रक्षन्तीति। दिवा भीता — उलूका अप्यन्धकारे गुहासु रक्ष्यन्ते—इति च श्लेषमूलयोपमया बोध्यते।

१३.

अय हि हिमालयो गिरिराज इति व्यवह्रियते। राज्ञश्च चामरादिसद्भावोऽप्यावश्यक। तदत्र सतत विचरन्त्यो बहव्यश्चमर्यो लाङ्गूलचालनेन तदग्रभागभूतानि चामराण्यान्दोलयन्त्योऽस्य गिरिराजशब्द समर्थयन्ते। आन्दोलितानि चामराणि दृष्ट्वा। राजत्वप्रतीति सर्वेषां जायत इति। लाङ्गूलानां व्यजनदण्डसाम्य च द्योतितम्।

१४.

अस्य हिमालयस्य गुहाद्वारेषु सतत मेघमण्डलानि भ्रमन्ति, तानि च सुरतकाले अपनीतवस्त्राणा किन्नरस्त्रीणां लज्जानिवारणाय जवनिकाकार्यं कुर्वन्ति।

उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्, मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्य ॥ ११ ॥
दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥ १२ ॥
लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥ १३ ॥
यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥ १४ ॥

१५.

अत्र पर्वते मृगान्वेषणेन परिश्रान्ताः किराताः श्रमापनोदनाय गङ्गातरङ्ग सीकरशीतलं देवदारुगन्धसुरभिं मन्दं च पवनमासेव्य सुखिनो जायन्ते।

१६.

अन्यत्राधःपातिभिः सूर्यकिरणैः कमलानि विकास्यन्ते, हिमालयस्योच्च शिखरेभ्यस्तु सूर्यभ्रमणमार्गोऽप्यधस्तादेवेति तत्र स्थितेषु सरस्सु जातानि कमलान्यू र्ध्वमुखैः सूर्यकिरणैर्विकास्यन्ते। सप्तर्षयश्च प्रातःसन्ध्याकाले मुकुलितान्येव तानि सूर्यार्घ्यदानाय प्रथमं हरन्ति। उत्तरस्या दिश उच्चत्वाभिमानाद्, दक्षिणस्याश्चाधस्त्वमननाद्धिमालयाद्दक्षिणस्यामेव भ्रमतः सूर्यस्याधः परिवर्तनम् कथञ्चित् समर्थनीयम्, अयुक्तिरूपं वा तदिति।

१७.

ब्रह्मणाऽस्य हिमालयस्य पर्वतस्य यज्ञे भागः क्लृप्तः, सर्वेषां पर्वतानामधि राजत्वे चायं स्थापितः, यतोऽयं हिमालयो यज्ञाङ्गानां सोमलतादीनामुत्पत्ति स्थानम्, पृथिव्या धारणे (उत्तम्भने) च अस्यैव प्राधान्येन शक्तिरिति।

१८.

हिमालयेन (पर्वताभिमानिना देवेन) मेनाया विवाहः कृतः, यद्यपि कामार्थस्य धर्मरतस्य विवाहोपेक्षा, तथापि कुलसन्ततिमर्यादारक्षणाय धर्मरूपेण विवाह इति। इयं मेना पितॄणां मानसी कन्या, धर्मज्ञत्वेन च मुनिभिरप्या दरणीया। विवाहेऽन्यसाहाय्यस्यापेक्षितत्वेन मेरोस्तत्र साहाय्यसूचनाय मेरुसख इत्युक्तम्।

१९

इत्युत्तर

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥ १५ ॥
सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥ १६ ॥
यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥ १७ ॥
स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥ १८ ॥
कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद् भूधरराजपत्न्याः ॥ १९ ॥

२०.

हिमालयस्य मेनायां प्रथमः पुत्रो मैनाको नाम पर्वतः (तत्पर्वताभिमानी देवः) जज्ञे। तस्य चाग्रे वक्ष्यमाणं महत्त्वम्, तच्चाविष्कृतमस्मिन् पद्ये निर्दिष्टम्, यद्-यदा पर्वतानां पक्षच्छेदनायेन्द्रः कोपेन प्रवृत्तः, तदापि, मैनाको मित्रात्समुद्रात्स्नेहेन सपक्ष एव गोपायितः। नास्य पक्षजनितवेदनाया कदाप्यनुभवोऽभूत्। समुद्रे निमग्नश्चायं पातालस्था नागकन्या रमयामासेति। यद्यपि काव्येऽस्मिन् मैनाकवर्णनस्य न कोऽप्युपयोगः, तथापि भ्रातृमत्याः कन्याया विवाहे प्राशस्त्याद् वर्ण्यमानाया गौर्याः भ्रातृमतीत्वं स्फुटीकर्तुं मैनाकजन्मोपन्यास इति भावज्ञाः। उक्तं हि मनुना "यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया" इति।

२१

कुमारमातुः पार्वत्याः प्रबन्ध इह उपस्थापनीय इति तज्जन्मोपन्यासाय तत्पूर्वजन्मकथा स्मार्यते। पूर्वं हि दक्षस्य प्रजापतेः पुत्री सती भगवतः शङ्करस्य भार्याऽभूत्। दक्षेण च केनचिद्धेतुना शिवं प्रति कुपितेन स्वीये यज्ञे भगवान् शिवो न निमन्त्रित इति तेन परिभूयमानेन कुपिता देवी सती पितरि प्रतीकारमनुचितं मत्वा योगेन स्वशरीरं तत्याज। सैव शङ्करेण निरन्तरसम्बन्धा वियोगमसहमाना तादृशातिप्रकृष्टपर्वतपत्न्यां मेनायां पुनर्जन्मग्रहणायेच्छामकरोत्। वस्तुतः परा शक्तिः सा नित्यैव, देवानां कार्यसिद्ध्यर्थं समये समये स्वातन्त्र्येण तस्या आविर्भाव इति। एतच्च 'प्रपेदे' इति कर्तृप्रत्यये स्वातन्त्र्यमभिदधता सूचितं द्रष्टव्यम्।

२२.

सा पूर्वोक्ता शिवपूर्वपत्नी सती हिमालयेन मेनायां जनिता। जननमत्र प्रादुर्भाव एव, नित्यत्वेनास्याः मुख्यजन्मनोऽसम्भवात्। तत्रोपमा-यथा उत्साह-गुणेन नीतौ सम्पत्प्रादुर्भवति-तथैवेति। सम्पत्सिद्धौ यथा नीतेरुत्साहस्य च कृतार्थता जायते, तथैवास्या भगवत्याः प्रादुर्भावेन मेनाहिमालयौ कृतार्थतां गताविति व्यज्यते।

असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसख्यम्।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम्॥ २०॥
अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥ २१॥
सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत्॥ २२॥

२३.

पार्वत्या प्रादुर्भावदिवसे दिश प्रसन्ना बभूवु, (तेन शरीरिणाम् नेत्रसुख) पांसुरजितो मन्दशीतल पवनो ववौ, (तेन त्वक्सुख), जन्मन शङ्खध्वनि हिमालयगृहे भूत्वा देवी देवै पुष्पवृष्टि कृता, यद्वा देवैरेव शङ्ख विनद्य पुष्पवृष्टि कृता, (तेन श्रोत्र घ्राणयो सुखम्) सर्वे च स्थावरजङ्गमा प्राणधारिण सर्वेन्द्रियैर्निवृतस्सुखमापु । सर्वेश्वर्या प्रादुर्भावे सर्वमिदमुपपन्नमेवेति ।

२४

प्रादुर्भूतायास्तस्या भगवत्या स्फुरन्ती प्रभा विलक्षणैवासीत्, तेन प्रभाजालेन जनन्या अपि शोभाऽभवत् । तत्रोपमा विदूराख्य एक पर्वत, यत्र वैदूर्याख्या मणयो जायन्ते, वर्षारम्भे प्रथमेन मेघध्वनिना तत्र रत्नाङ्कुरा शलाकाकारा प्रादुर्भवन्ति । ताभी रत्नशलाकाभिर्यथा गिरिप्रान्तभूमे शोभा भवति, तथैव कन्ययानया मातु शोभाभूदिति ।

२५.

प्रादुर्भूता भगवती प्रत्यह ववृधे । यथा चन्द्रकला प्रत्यह वर्धमाना ज्योत्स्नामयी कला प्रादुर्भावयति, तथेयमपि प्रत्यह लावण्यमयान्यङ्गानि प्रादुश्चकार ।

२६

सा पर्वताज्जाता, पर्वते जाता इति वा हेतोर्बान्धवजनैस्तस्या देव्या 'पार्वतीय-न्वर्थं नाम चक्रु । अग्रे च यदा सा तप कर्तुं प्रवृत्ता, जनन्या च तप क्लेशमनु माय स्निग्धया 'उ मा' इत्येव निषिद्धा, तत प्रभृति "उमा" इत्यपि तस्या नाम जातम् । इदमाख्यानमग्रे स्फुट स्यात् ।

२७

यद्यपि पूर्वं पुत्रादिसन्ततौ सत्यां पुनरुत्पन्नायां कन्यायां न विशेषेण

प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवात शङ्खस्वनाऽनन्तरपुष्पवृष्टि ।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥ २३ ॥
तया दुहित्रा सुतरा सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे ।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥ २४ ॥
दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।
पुपोष *लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि* ॥ २५ ॥
तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रिया बन्धुजनो जुहाव ।
उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥ २६ ॥
महीभृत पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ २७ ॥

लोकानामनुरागो दृश्यते, तथापि हिमालयस्य पार्वत्यामधिकोऽनुराग आसीत्। स तां पश्यन्न तृप्तिमग्मत, तत्र च तस्या एव भगवत्या अनन्यदुर्लभा गुणाः कारणम्, यथा गुणातिशयादेव सत्स्वपि वसन्तजन्येषु बहुषु पुष्पेषु सहकारमञ्जरीष्वेव भ्रमरा नितान्तमुत्कण्ठिता भवन्तीति।

२८.

उत्पन्नया भगवत्या पार्वत्या हिमालयः पूतश्चालंकृतश्च बभूव। तत्रोपमानानि त्रीणि स्थानि। सर्वत्र विभूषितत्वं शोभाधिक्यप्राप्तिरेव। पूतत्वं तु दीपे तमःसंसर्गरहितता, स्वर्गमार्गे पुण्याधिक्यसम्बन्धः, मनीषिणि शुद्धशब्दप्रयोगात्पुण्यप्राप्तिः, हिमालये च भगवत्याः प्रसादान्निशुद्धान्तःकरणतया मुक्तियोग्यता।

२९.

सर्वलोकप्रकृतिभूताया भगवत्या यद्यपि न बाल्यं वास्तवम्, केवलदेववशायां शरीरग्रहणात्, तथापि सा साधारणबालस्वतया चिक्रीड, यथा क्रीडायामेव तद्बाल्यं सम्भाव्यते स्म।

३०.

यथावसरमध्ययनाय नियुक्ता पार्वती आचार्याणां प्रयासेन विनैव सर्वा अपि विद्या गृहीतवती। तत्र हेतुः पूर्वजन्मदृढाभ्याससहिता सर्वा विद्याः स्वत एवास्या बुद्धौ प्रकाशमापुः, उपदेशस्तु निमित्तमात्रमिति। तत्रोपमाद्वयम्—यथा शरदं निमित्तीकृत्य गङ्गायां हंसमालाः स्वत एवायान्ति, यथा वा रात्रिं निमित्तीकृत्य ओषधीनां स्वत एव भासः प्रस्फुरन्ति इति सर्वविद्यास्वरूपाया भगवत्या विद्याग्रहणे क प्रयास इति हृदयम्। अध्यापनन्तु लोकमर्यादामात्रम्।

३१.

क्रमेण पार्वत्या यौवनं प्राप्तम्। तच्च यौवनं त्रिधा विशेषितं कविना। एतद्धि यौवनं शरीरस्यालङ्कारस्वरूपम् (तेन शरीरे शोभाविशेषः, द्रष्टृणामानन्दश्च प्रभवते), परमलङ्कारान्तराणि यथा बाह्यैः सुवर्णरत्नादिभिः सम्पाद्यन्ते, तथा नेदम्,

---

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी, तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥ २८ ॥
मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥ २९ ॥
तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ ३० ॥
असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥ ३१ ॥

अपि तु स्वाभाविकम्। किं चेदं यौवनं नेत्रविलासादिभिर्व्यक्तरूपस्य मदस्य जननम् (द्रष्टॄणां वा संमोदहेतुभूतमदजननम्) परं मदजनकद्रव्यं यथासवशब्देन व्यवह्रियते, तथा नेदम्। किं चेदं कामस्यास्त्रं परं न पुष्परूपम् इति (अनेनैव साधनेन कामो लोकान् जयति, यत्र यौवन प्रादुर्भूतम्, तमेव वा जयति इति)।

३२.

यौवनेन शरीरावयवेषु समुचितसंनिवेश-लावण्यादिजननात्तस्याः शरीरं सर्वतः शोभमानमासीत्। यथा तूलिकया कुशलरञ्जनं चित्रं शोभते, यथा वा सूर्यांशुविकासित पद्मं शोभते, तथैवेति।

३३.

भूम्यां चरणनिक्षेपकाले समुन्नतस्याङ्गुष्ठस्याङ्गुलिनखप्रभयैवं संभाव्यतेऽस्यास्चरणयुगलस्याग्रभागौ परिभ्रमादन्त इव रागमुद्वमतः। तेन च रागेण स्थलकमलशोभा तत्र प्रतीयते।

३४.

पार्वत्या गतिर्हंसतुल्या दृष्टा, मञ्जीरशिञ्जितानि च हंसकेभ्योऽप्युत्कृष्टानि समनुभूयन्त। तत्रेदं कविनोत्प्रेक्षते हंसैः पार्वत्यै गतिशिक्षा दत्ता, विद्यादानं च शुश्रूषाहेतुकम्, धनहेतुकम्, किञ्चिच्छिक्षितया किंचिच्छिक्षणरूपं वा भवतीति प्रत्युपकाररूपेण अनेन मञ्जीरशिञ्जितानुकरणं तैः शिक्षितमिति।

३५.

लावण्यमेवोपादानेन भगवता अङ्गानि निर्मातुं विधाता प्रवृत्तः, तत्र सर्वमपि लावण्यं (यावत्तस्य निधौ आसीत्) जङ्घानिर्माण एव तेन व्ययीकृतम्। ततश्च शेषाणामवशिष्टनानामङ्गानां निर्माणाय लावण्यमपि विधात्रा पुनरुत्पादमासीदिति तदर्थमपि तस्य महान्यत्नो जात एव भवेदिति सम्भाव्यते।

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ ३२ ॥
अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥ ३३ ॥
सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरशिञ्जितानि ॥ ३४ ॥
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ॥ ३५ ॥

३६.

स्त्रीणामूरू हस्तिशुण्डादण्डैः कदलीभिर्वा कविभिरुपमीयेते, पार्वत्या ऊर्वोस्तु सादृश्यं सामान्येन तेषु नास्ति। नागेन्द्राणां शुण्डादण्डाः, नन्दनादिस्थिताः काश्चित्कदल्यश्च यद्यपि विशालेनाकारेण समा उपलभ्येरन्, परं शुण्डादण्डाना कर्कशत्वाद्, ऊर्वोस्तु कोमलत्वात्, कदलीना सदा शैत्येन शीतकाले उद्वेजकत्वात्, ऊर्वोस्तु ग्रीष्मे शैत्येन शीतकाले चोष्णत्वेन सर्वर्तुसुखाकरत्वादुपमानता न युज्यत एव।

३७.

यो भगवतः शिवस्योत्सङ्गोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मनसापि कामयितुमशक्य, अत्यन्तदुरवापतया तत्रेच्छाया अप्यनुदयात् तत्रैव पार्वत्या नितम्बः स्वयं भगवता शिवेनैवारोपितः—इत्यतोऽधिकं नितम्बस्य सौन्दर्यं गुणवत्त्वं गौरवं वा किन्नु वर्णनीयम्। अत्यन्त जगतो विलक्षणमिति सर्वथा तेनैवानुमितिः सिद्ध्यतीति।

३८.

यौवनारम्भे नाभिरन्ध्रपर्यन्त प्रसृता पार्वत्या रोमराजिः श्लक्ष्णकृष्णवर्णतया शोभते स्म, यथा मेखलामध्यगस्य नीलमणेः प्रभा नीवीमतिक्रम्य प्रसृता भवेदिति सम्भाव्यते स्म। उभयोर्वर्णसाम्यमुत्प्रेक्षाहेतु।

३९.

पार्वत्या मध्ये वलित्रयं दृष्ट्वा तथा संभाव्यते, यथा पार्वतीतनौ प्राप्तं यौवनं स्वप्रभोः कामस्यागमनाय सर्वं सज्जीकुर्वत् तस्य हृदयपर्यन्तमारोहणाय सोपान-परम्परां न्यस्यतीति। पाठान्तरं तु पूर्वमेव तनौ प्रविष्टः काम स्वसुहृदो यौवन-स्यागमनं प्रतीक्षमाण, तस्य नवत्वाद् (बालत्वाद्) आरस्य स्तनप्रदेशादागमने क्लेशं विचार्य सोपानपरम्परां न्यस्तवानित्यनुसन्धेयम्। अत्र च कामनिर्मितत्वेन वलित्रयस्य सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते—इति प्रकाशिका।

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वाऽपि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥ ३६ ॥
एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥ ३७ ॥
तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥ ३८ ॥
मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ३९ ॥

४०.

स्तनद्वयं परस्परमप्यवकाशमददद् बाधमानं तथा वृद्धिं गतम्—यथा तदन्तरे मृणालसूत्रमपि नावकाशमासादयेत्, "पाण्डु" "श्याममुखम्" इति विशेषणद्वयं यौवनावस्थाव्यञ्जकमिति व्याख्यातारः । श्याममुखेति विशेषणेनावकाशदानाभावोऽपि समर्थ्यते, नहि कृष्णमुखः (कुटिलः) कस्याप्यवकाशं कथमपि ददातीति ।

४१.

पुष्पाणि कामदेवस्यास्त्राणि, तानि च प्रयुञ्जानोऽपि कामः शिवेन पराजितः, उमायास्तु बाहू अस्त्रत्वेन प्रयुज्य कामेन सफलता लब्धा, यतो बाहू तेन पाशरूपेण शिवकण्ठे समर्प्य शिवस्य बन्धनं कृतम् । तेन पुष्पेभ्यः प्रशस्तता बाह्वोः सिध्यति, प्रशस्तता च कामास्त्राणां सौकुमार्यादेवेति सर्वपुष्पसुकुमारात् शिरीषपुष्पादप्यधिकं सौकुमार्यं बाह्वोः सिद्धमिति व्याख्यातारः । कामस्यास्त्रभूतानि सुकुमाराणि पुष्पाणि शिवेन न सोढानि, (पराजितत्वात्कामस्य सिद्धमेतत्) उमाया बाहू तु पाशभूतावपि तेन कण्ठे सोढौ, तदेतत् सौकुमार्याधिक्ये लिङ्गमित्यपि युक्तं भाति ।

४२.

अन्यत्र मुक्ताभूषणं कण्ठालङ्करणं भवति, कण्ठशोभाजनकत्वाद् इति सुप्रसिद्धम् । पार्वत्याः कण्ठस्य तु शोभा मुक्ताकलापेन जनितेत्येव न, अपि कण्ठेनापि मुक्ताकलापस्य शोभा जनिता । मुक्ताकलापोऽपि तत्र कण्ठे नितरां शुशुभे, तस्मादिह शोभावर्ध्यलङ्कार्यौ, उभावपि चालङ्कारौ उभयोः शोभाजनकत्वे हेतू स्तनबन्धुरत्वं निस्तलत्वं चेति ।

४३.

रात्रौ विकसितस्य कमलस्य, दिवा कान्तिमतश्चन्द्रस्य चाभावो भवति । तेन सौन्दर्याभिमानिनी श्रीदेवता यदा चन्द्रमाश्रयते, तदा कमलगुणाः सौरभसौकुमार्यादयस्तया नानुभूयन्ते—इति न्यूनतैव, यदा च पद्माश्रयते तदामृतनिष्यन्दिनी चन्द्रकान्तिस्तया नानुभूयते । तत एकोभयत्रापि पूर्णप्रीतेरभावाल्लक्ष्म्या लोलत्वं

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डुतथा प्रवृद्धम् ।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥ ४० ॥
शिरीषपुष्पाऽधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनाऽपि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥ ४१ ॥
कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥ ४२ ॥
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ ४३ ॥

जातम्। कदाचित्तत्र गच्छति, कदाचित्तत्र गच्छतीति। यदा तु देव्याः पार्वत्याः यौवनं प्रादुर्भूतम्, तदा तन्मुखे चन्द्रकान्ते पद्मसौरभसौकुमार्यादीनां चैकत्रैव सद्भावात्सुखाश्रिता लक्ष्मीः पूर्णां प्रीतिमवाप। तेन च लोलतां परित्यज्य तत्रैव सुस्थिरतराभवदिति व्यङ्ग्यम्।

४४.

कवय ओष्ठं रक्तपल्लवेन विद्रुमेण वा, स्मितं च कुसुमेन मौक्तिकेन वोपमिमते। परं यथोपमेययोरोष्ठस्मितयोः परस्परसम्बन्धात्सुषमा, न तथोपमानयोरुपलभ्यते। न हि प्रकृत्या कुसुमरक्तपल्लवयोराधाराधेयभावः क्लृप्तः, नापि मौक्तिकविद्रुमयोः। (कृत्रिमस्तु संबन्धो न स्वाभाविकीं सुषमां स्रष्टुं प्रभवति) यदि प्रकृतिस्तथा विरचयेत्, तदास्य सादृश्यं स्यात्, इदानीन्तु दुर्लभं जगति पार्वत्या ओष्ठे लक्ष्यमाणस्य स्मितस्य सादृश्यमिति।

४५.

यदा पार्वती वक्तुमुपक्रमते तदा श्रोतॄणां कर्णयोरमृतमिव निषिच्यते, सुप्रसिद्धमधुरशब्दा कोकिलापि च तदा सर्वैः श्रोतृभिः कर्णकठोरशब्दा प्रतीयते, यथा विस्वरं वाद्यमाना वीणा कर्णकटु प्रतीयेत, तथेति। वक्तुमुपक्रान्तायामेव यदेयं दशा भवति, तदा निष्पन्नायां वाचि तु किं भवेदिति "प्रजल्पिता" इत्यत्र प्रशब्दो व्यञ्जने चमत्कारी। श्रोतृणामपि कोकिला विरसा तदमे मन्यते— किं पुनर्विशेषज्ञा श्रोतार इति श्रोतृपदं व्यनक्ति।

४६.

मृगीणां प्रेक्षणे पार्वत्याः प्रेक्षणे च चञ्चन्नीलोत्पलावस्थासदृशे चञ्चले—तथा सादृश्यं प्रतीयते, यथैतदेकत्रान्यत आगतमिति स्फुटो निश्चयः, परं कया कस्याः गृहीतमिति न निश्चेतुं शक्यते। अधिकशो हि शिक्षकः, अल्पशश्च शिक्षितो मन्यते, इह तूभयत्रापि निर्विशेषं सादृश्यमिति शिक्षकः शिक्षितो वा न निश्चेतुं शक्यः। मृगाङ्गनाभिरिति मृगाङ्गनाभ्य इति च बहुवचननिर्देशेन मृगाङ्गनानां सर्वासां संभूय पार्वती शिष्यत्वं सम्भाव्यते, पार्वत्यास्त्वेकस्या एव सकलमृगाङ्गनाशिक्षकत्वं सम्भाव्यत इति कोऽप्यतिशयः पार्वतीप्रेक्षणस्य व्यञ्जितः।

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥ ४४॥
स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना॥ ४५॥
प्रवात-नीलोत्पल निर्विशेषं मधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥ ४६॥

४७.

पार्वत्या भ्रुवोस्तथा संनिवेशः, यथा तयोरञ्जनशलाकया निर्माणं संभाव्यते। (शलाकानिर्मितं हि यथेच्छसंनिवेशकरणादधिकं सौंदर्यं भवतीति तथोत्प्रेक्ष्यते) । एतयोर्भ्रुवोरग्रे कामधनुरपि तुच्छम्। कामधनुषि हि परप्रेरणया व्यापारः, भ्रूस्तु स्वयं लीलाचतुरेति महदेतयोरन्तरम्।

४८.

चमरीबालेभ्योऽधिकं पार्वतीकेशपाशस्य सौन्दर्यमित्ययमर्थः प्रकारान्तरेण कार्यसंभावनामुखेनोपन्यस्तः। चमर्यो हि बालेष्वत्यन्तं स्निह्यन्तीति प्रसिद्धिः, तत्रकविराह स्नेहोऽयं सर्वाधिकगुणे वस्तुनि विशेषतयोदेति, ततोऽप्यधिकगुणं च, वस्तु यदि लभ्येत, तदा स्नेहे शैथिल्यं जायते, तथा स्नेहवस्तुर्मनसि लज्जा च जायते। चमरीणां चायमेवाभिमानो यदस्माकं बालाः सर्वाधिकसौन्दर्यशालिन, अत एव तासां तत्र विशेषेण स्नेहः पर पार्वतीकेशपाशं ततोऽप्यधिकसुन्दरं दृष्ट्वा चमरीभिः स स्नेहः कुतो न शिथिलीकृत इति प्रश्ने इदमेव प्रतिभाति, यत् तिर्यक्त्वात् तासां मनसि लज्जा नास्ति, यदि लज्जा स्यात्, तर्हि केशपाशवि जितसौन्दर्येषु बालेषु न स्नेहो यथापूर्वं तिष्ठेदिति।

४९.

मुखग्रीवकुचपादादीनां चन्द्रकम्बुचक्रवाकपद्मादीन्युपमानानि कविसंप्रदाये प्रसिद्धानि, अस्ति तेषूपमानवस्तुषु सौन्दर्यम् किन्तु भिन्नं भिन्नं धामात्र तत्र तत्र स्थितं तन्न द्रष्टुः पूर्णमानन्दमुत्पादयितुमलम्। तदस्य सर्वस्य सौंदर्यस्यैकस्मिन्नवय-विनि स्थितस्य दर्शनेच्छा विधातुरभूत्, तत एव यथास्थानं तान्युपमानवस्तून्ये-कावधानेनौचित्येन संनिवेश्य पार्वतीशरीरं तेनोत्पादितमिति संभाव्यते।

५०.

यथेच्छं विचरता हिमालयगृह आगतेन नारदेन कदाचित्पितुः समीपस्था

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ४७ ॥
लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥ ४८ ॥
सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥ ४९ ॥
तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥ ५० ॥

पार्वती दृष्ट्वा, तल्लक्षणान्यालोक्य स 'महादेवस्येयमनन्या भार्या भविष्यति, प्रेम्णा तच्छरीरार्धे चास्याः स्थितिर्भविष्यति इति भावि वृत्तं न्यरूपयत् ।

५१.

पूर्वं पार्वत्या विवाहानुरूपं वयो दृष्ट्वा हिमालयस्य वरान्वेषणे प्रवृत्तिरभूत्, परं नारदोक्तौ निश्चयं तेन वरान्तरान्वेषणाभिलाषस्त्यक्तः । युक्तश्चैवं शिवाया कन्याया एवंविधेनैव वरेण सम्बन्धः । यद्यपि सन्त्यन्येऽपि देवाः, परं न ते एतामुद्वोढुं योग्याः । यथा तेजांसि लोके बहूनि, किन्तु हविर्ग्रहणयोग्यताग्नेरेव केवलमिति ।

५२

यद्यपि भगवते शिवाय कन्याप्रदानं हिमालयस्यात्यन्तमिष्टम्, तथाऽपि न हि शिवः स्वयं याचते, नचायाचिता कन्या देयेति शिष्टसम्प्रदायः । स्वयं च समर्प्यमाणां शिवः स्वीकुर्यान्नवेति महती प्रार्थनाभङ्गशङ्का, तेन स उदासीन एव तस्थौ । एवमेव प्रार्थनाभङ्गभीताः शिष्टाः कुर्वन्तीति ।

५३

ननु शिव एव स्वयमायान्तीं पार्वतीं कुतो न याचितवान्, तत्र हेतुरुच्यते, दक्षसुतया सत्या यदा देहस्त्यक्तः, तदा प्रभृत्येव शिवस्य निर्वेद उदभूत्, तेन विवाहकथा दूरापास्ता सुदतीति विशेषणं यौवनावस्थाबोधकं भोगेष्वत्यन्तासक्ताया वेदयन्निर्वेदयोग्यतां व्यनक्ति अतुलस्य प्रियजनस्य नाशो निर्वेदाय भवतीति । पशूनां पतिरित्यनेन सर्वजीवबन्धविमोक्षकारणस्य भगवतः शङ्करस्य दाराग्रहणं केवलं लीलामात्रमिति बोधनाय । स हि स्वकार्येण—'सति शोकहेतौ न महात्मभिः खिन्नैर्भाव्यम्, अपि तु वैराग्यं सेव्यम्', इत्युपदिदेश इत्यादिप्रकाशिकाविवरणयोः ।

५४

तेन खलु त्यक्तपरिग्रहेण कृत्तिमिव वसता शङ्करेण गजचर्म परिदधता हिमालयस्यैकस्मिन् शिखर एव तपश्चर्यार्थं निवासः कल्पितः । (विशेषणद्वयेन तपो-

---

गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥ ५१ ॥
अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥ ५२ ॥
यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥ ५३ ॥
स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु ।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किंचित्क्वणत्किंनरमध्युवास ॥ ५४ ॥

योग्यता बाह्याभ्यन्तरयोः सूचिता) यस्य शिखरस्य गङ्गायाः प्रपातः, देवदारुवृक्ष-बाहुल्यम् (एतेन प्रदेशस्य पवित्रजलच्छायादिरूपतया तपोयोग्यता सूचिता) कस्तूरीमृगसञ्चारेण सौरभप्राचुर्यम् , (एतेन पूतिगन्धराहित्यं द्योतितम्) किन्नरगानध्वनिश्चेति । एतेन खरशब्दराहित्यम् देवयोनिनिवासेन पवित्रता च द्योतिता । कस्तूरीसौरभेन, किन्नरगानेन चेन्द्रियविषयोपयुक्ता, तथा चोक्तया वशिनो विषयसम्पदो न विघ्नन्तीति सूचितमित्यरुणाचलनाथः ।

५५.

भगवति शिवे तत्र स्थिते तदनुगाः प्रमथा अपि तत्रैव स्थिताः । तेषां च तत्र सुरपुन्नागपुष्पैरलङ्कारसौष्ठवम् , कोमलैर्भूर्जवल्कलैर्वसनसौष्ठवम् , मनःशिलाधातुना चाङ्गरागसौष्ठवं सम्पद्यते स्म ।

५६.

भगवति शिवे तत्र कृतनिवासे तद्वाहनो वृषभोऽपि तत्रैव तस्थौ । स च घोरं सिंहध्वनिं श्रुत्वा 'कोऽयं मदग्रे गर्जति' इति अमर्षमापन्नः क्रोधाद्धिमशिलाः खुराग्रैर्विदारयन् स्वयमपि गर्जति स्म । तं च तथाविधं विशालाकृतिं गर्जन्तं दृष्ट्वा भीताः, स्वसदृशाकारेण स्वयूथ्यं मत्वा कथञ्चिद्विश्वस्ताश्च गवयाः कथञ्चिद्ददृशुरिति ।

५७

तत्र पूर्वोक्ते हिमवच्छिखरे भगवता शिवेन तपश्चरणमारब्धम् , सर्वेषु वैदिकेषु कर्मसु अग्रे अपेक्षितत्वात्तपश्चर्यायामग्निश्च प्रतिष्ठापितः , समिदादिभिस्तत्परिचर्याऽपि समारब्धा । यद्यपि लोकानां फलार्थी प्रवृत्तिः कर्मसु दृश्यते, भगवांश्चायं सर्वेश्वरः सर्वेषां स्वयं फलदाता पूर्णकाम इति नास्य फलं सम्भाव्यते, नाप्यन्यस्याराधनीयो देवः , अग्न्यादीनामप्येतन्मूर्तित्वात् , नाप्यन्तःकरणशुद्धिः फलम् , ईश्वरत्वेन नित्यशुद्धत्वात् , तथापि तपश्चरणमित्यलौकिको मार्गः स लोकहितायैव । अन्येऽपि मां दृष्ट्वा तपसि प्रवृत्ता भवन्त्विति । इममेव स्वार्थप्रश्नाभावं ध्वनयितुं 'केनापि कामेन' इति कविनोक्तम् । 'कः कामोऽस्य स्यात्' इति न चिन्तयितुं शक्यते इति ।

गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥ ५५ ॥
तुषारसङ्घातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथञ्चिद् गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥ ५६ ॥
तत्राऽग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनाऽपि कामेन तपश्चचार ॥ ५७ ॥

५८.

सर्वलोकोत्पादनसमर्थैर्ब्रह्मादिभिरप्यर्च्यमानः, वस्तुतस्तु स्वरूपेणावाङ्मनसगोचरतया केनापि पूजयितुमशक्यो भगवान् यदा स्वयमेव प्राप्तः, तदा परमाराध्यं मत्वा हिमालयेन सोऽर्चितः, नित्यं तदर्चनाय च स्वपुत्री पार्वती सखीसहिता तेन आदिष्टा, यतः सा प्रयतेत्येवंविधानां पूजने समुचिता ।

५९

यद्यपि विशिष्टसुन्दरी पार्वती चेतोविकारहेतुत्वात्समाधेः परिपन्थिभूता, तथापि सेवमाना सा शिवेन न निषिद्धा यतस्तस्य चेतोविकारभयं नास्त्येवेति ।

६०

सेवायां प्रवृत्ता पार्वती प्रतिदिनं पूर्वं पूजायै पुष्पाण्यवचिनोति स्म, तदनु तदभ्यर्च्यस्थानं परिष्करोति स्म, अथ जलानि बर्हींषि चानयति स्म, इत्यादिना प्रकारेण सेवानिरताभूत् । न च सुकुमार्या अपि तस्याः सेवया ग्लानिरुदभूत्, यतः शङ्करस्य मस्तके स्थितस्य चन्द्रस्याह्लादकरैः किरणैस्तस्याः खेदोऽपनीयते स्म इति ।

[इति कुमारसम्भवे प्रथमः सर्गः]

अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ॥ ५८ ॥

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ ५९ ॥

अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा
नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥ ६० ॥

कुमारसम्भवे पञ्चमः सर्गः

कथासम्बन्धः

तारकाख्येनासुरेणाभिभूता इन्द्राद्या देवास्तद्विनाशाय विज्ञापयितुं ब्रह्मण समीपे गता, ब्रह्मणा च 'शङ्करस्य वीर्येण जातो युष्माकं सेनापतिर्भूत्वा तारकं शमयिष्यति, तच्छङ्करस्य विवाहोपायश्चिन्त्यताम्' इत्यादिष्टा । तत इन्द्रेण सबहुमानमाहूय कामं शिवस्य चेतः पार्वत्यामनुरञ्जयितुमादिष्टः, स च वसन्तसहायः कैलासं गत्वा सेवार्थमुपस्थितां पार्वतीमालम्बनीकृत्य भगवति शिवे सम्मोहनास्त्रं प्रायुङ्क्त । किञ्चित्परिवृत्तधैर्योऽपि शिवः संयमितया द्रुतं चेतोविक्रियां नियम्य तृतीयनेत्रानलेन कामं भस्मसादकरोत् । अथ बहु विलपन्ती मरणे कृतनिश्चया कामपत्नी रतिः 'भूयोऽपि शिवस्य कृपया कामस्य जीवनलाभो भविष्यति' इत्याकाशवाचा समाश्वासिता, तेन च बद्धाशा सा जीवनं दधारेति चतुर्थे गतम् । अथ पार्वतीवृत्तमारभ्यते ।

१.

इत्थं महादेवेन कामदेवे भस्मसात् कृते पार्वती निराशा समभवत् । नारदोक्त्या यो मनोरथाङ्कुर उदभूत्, सेवानुमोदनेन च पल्लवितः, सम्मोहनास्त्रप्रयोगकाले सानुरागवीक्षणेन च यः फलितः, स कामं दहता महादेवेन समूलमुत्पाटितः । महादेवमन आक्रष्टुमसमर्थमात्मनो रूपं तदा पार्वती गर्हते स्म । यतः भर्तुः प्रेमैव रूपस्य फलम्, यस्मिन् रूपे भर्ता नानुरज्यति तद् रूपं निष्फलमेवेति । धीरया पार्वत्या यद्यपि कस्यचित्पुरः पुरानि रूपविकत्थना न कृता, तथापि चेतसि तस्या रूपगर्वमासीदिति चेतसैव निन्दापि कृता ।

२

इत्यमुपायान्तरमपश्यन्ती पार्वती तपस्यया महादेवं वशीकृत्य स्वसौन्दर्यं चरितार्थयितुं निश्चिकाय । महादेवसदृशः पतिर्यो मृत्युञ्जय इत्युच्यते, तादृशोऽनुरागश्च-यद्वशीभूतः स मृत्युञ्जयस्तस्यै स्वशरीरार्धमपि समर्पयेत्, एते तपस्यामन्तरेण कथं भवितुमर्हतः । सर्वं दुर्लभं वस्तु तपसैव साध्यं भवति इति ।

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ १ ॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥ २ ॥

३

भगवति मृत्युञ्जये निरतिशयमनुरक्तायाः पार्वत्याः अतिकठिनतपश्चर्याविषयोद्योगं श्रुत्वा तस्याः जननी मेनका तां (पार्वतीम्) वक्षसालिङ्ग्य तपश्चर्याध्यवसायं त्यक्तुमुपदिदेश । गिरीशेऽनुरक्तया तया हर्षं, तपःकष्टमनुमाय तु विषाद इति ।

४

मेना वक्ति, वत्से ! पार्वति ! तव पितुः प्रदेशाः देवभूमयः सन्ति । अत्र विद्यमाना इष्टाः शम्भ्वादिसौभाग्यदेवताः आराधय । त्वदीयं कोमलं शरीरं कठिनतपोनुष्ठानक्षमं नास्ति । मृदुलं शिरीषस्य कुसुमं लघीयसो भ्रमणशीलस्य भ्रमरस्य भारं सोढुं शक्नोति, न पुनर्महीयसः पक्षिणोऽपि । भ्रमरो हि परिमाणे लघुः, भ्रमणशीलत्वाच्चैकत्र न चिरमवतिष्ठते—इति तत्पदं कोमलेनापि पुष्पेण सोढुं शक्यते, पतत्री तु गुरुत्वादाघातकरत्वाच्च न सोढुं शक्य इति । पद्यस्थितदेवताराधभ्रमरयोः शिरीषपुष्पवपुषोः, पतत्रितपसोश्च मिथो बिम्बप्रतिबिम्बभावो बोध्यः ।

५

मेनया पूर्वोक्तेन प्रकारेण बहुधा पार्वती समुपदिष्टा, परं न सा तपसो निश्चयाद्विरताभूत् यतः फलसिद्धौ दृढनिश्चया आसीत् । यथा निम्नाभिमुखं जलं न केनापि विरुद्धं प्रवाहयितुं शक्यते, तथा प्राप्तव्येऽर्थे दृढमभिनिविष्टं चित्तं कश्चिदपि विपरीतं कर्तुं न शक्नोति ।

६

हिमालयोऽपि स्वसुतायाः मनोरथं विवेद । अथ एकस्मिन् दिने स्ववसरे तपसि कृतनिश्चया गौरी फलसिद्धिपर्यन्तं तपश्चरितुं स्वसखीमुखेन पितुः सकाशात् वनवासानुज्ञां प्रार्थयते स्म । न ह्येतादृशानि तपांसि गृहे संभवन्तीति ।

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥ ३ ॥
मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥ ४ ॥
इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ ५ ॥
कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ ६ ॥

७

हिमालय स्वसुताया योग्ये वस्तुनि अभिनिवेश विज्ञाय सन्तुतोष । तपस्यां कर्तुं च तामनुजानाति स्म । गौर्यपि पितुरनुज्ञामधिगम्य हिंस्रप्राणिविरहिते शान्ते पर्वतशिखरे तप कर्तुं प्रतस्थे, यच्च शिखर पश्चात्तन्नाम्नैव गौरीशिखरमितिप्रसिद्धम् जातम् । 'शिखण्डिमत्' इत्युक्त्या शान्तत्व समर्थितम् ।

८

दृढप्रतिज्ञा गौरी तपश्चर्यानुरूप वेष परिधातुकामा स्तनान्तरे लम्बमान बहुमूल्य मौक्तिकहार परित्यजति । शरीराच्छादनाय च बालारुणपिङ्गल वल्कल धारयति स्म । तदपि च नवम् अप्रशान्तकषायम् । अत्यन्त दुःस्पर्शम् । (एतद् बालारुणबभ्रु विशेषणेन बोधितम्) यच्च स्तनयोर्दुःखेन धृतमभूत् ।

९

गौरी शिरसि जटा बभार । ताभिस्तदाननस्य शोभा न मनागपि पर्यहीयत । किन्तु यथा पूर्वम् अलङ्कृतै केशैस्तन्मुखमशोभत, तथैव जटिलैरपि । मधुरा ह्याकृतय सर्वथापि शोभन्त एव, यथा कमल केवलम् भ्रमरपङ्क्तिभिरेव राजत इति न, अपि तु शैवलैरपि तच्छोभत एव ।

१०

अत्र कटिप्रदेशे पार्वती क्षौमादिनिर्मिता काञ्ची धारयति स्म, तप परायणा तत्र मुञ्जतृणनिर्मिता त्रिरावृत्ता मखला मेखला दधार, यया अस्या प्रतिक्षण रोमाञ्चो जायते स्म । किञ्चैन पूर्वमधृतया अनया मौञ्ज्या अस्या कटिप्रदेश सघर्षणेन रक्त कृत ।

११

पार्वत्या कर पूर्वं सुकोमलेऽधरे लाक्षारसादिरञ्जनम् , कन्दुकक्रीडा

अथाऽनुरूपाऽभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरी शिखर शिखण्डिमत् ॥ [illegible] ॥
विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कल पयोधरोत्सेधविशीर्णसहति ॥ ८ ॥
यथा प्रसिद्धैर्मधुर शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कज सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥ ९ ॥
प्रतिक्षण सा कृतरोमविक्रिया व्रताय मौञ्जी त्रिगुणा बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रशनागुणास्पदम् ॥ १० ॥
विसृष्टरागादधरान्निवर्तित स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलि कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया कर ॥ ११ ॥

चेति सुकुमारतरान् व्यापारानन्वतिष्ठत् । तपःकाले तु स कर्कशतरकुशोत्पाटने अक्षमालायाः सततं चालने च विनियुक्तः । अयं सारः यत् तपःपरायणा पार्वती सर्वविधं शरीरालङ्करणं मुमोच । अधरोष्ठस्य लाक्षारसेन रञ्जनं तत्याज । चन्दनाद्यङ्गविलेपनाद् विरराम, मनोविनोदाय कन्दुकक्रीडां च परिजहार, किं च मुनिव्रताचरणाय कण्टकिनः कुशान् लुलाव । यैर्हि कण्ठके तस्याः कराङ्गुलयः परिक्षता अभवन् , अनिशं रुद्राक्षमालया जजाप चेति ।

१२.

या पर्वतराजपुत्री पूर्वं मृदुतरतूलिकादि विराजिते कोमलोपबर्हणाधिते बहुमूल्ये शयने निद्रासुखमन्वभूत् , तथापि च पुष्पस्पर्शेनापि यदङ्गेषु आघात इवाभूत् , पुष्पेभ्योऽपि कोमलतरत्वादङ्गानाम् , ईदृशी सुकुमारी सा इदानीं तप प्रसङ्गेन धनास्तृतभूमौ स्वबाहुमेवोपधानीकृत्य स्वपिति, तत्रैवोपविशति च । भूमिशयनस्य तपोऽङ्गत्वानुष्ठानमनेनोक्तं भवति ।

१३.

पर्वतशिखरे तपश्चरन्त्या पार्वत्या स्त्रीस्वभावसुलभौ विलास चञ्चल दृष्टिश्च नावलोक्यते स्म, किन्तु तादृग् विलासादिकं लतासु हरिणीषु च दृश्यते स्म, तत्र कविरुत्प्रेक्षते यथा लोके कश्चित् कार्यान्तरप्रसङ्गेन स्वकीयं वस्तुकञ्चित् कालम् अवधिं कृत्वा अन्यस्य पार्श्वे न्यासरूपेण रक्षति अवधिसमाप्तौ च तद् वस्तु ततो गृह्णाति, तथैव पार्वत्यापि तप प्रतिबन्धकीभूतं विलासादिकं तप समाप्तिपर्यन्तं स्वप्रतिवेशिनीभ्यः लताभ्यो हरिणीभ्यश्च निक्षेपरूपेण अर्पितम् , तपः समाप्तौ सा निक्षिप्तं स्वकीयं ताभ्यो ग्रहीष्यति इति ।

१४.

अनलसा पार्वती आलस्य दूरतस्त्याज, तत्रत्यान् स्वल्पस्वल्पान् पादपान् स्वयमानीतैः कलशजलैः सिषेच, 'स्वयंदासास्तपस्विनः' इति न्यायात् । स्वसंवर्धितेषु तेषु पादपेषु पार्वत्यास्तथाविधं इद पुत्रवात्सल्य सञ्जातम् , यदनुभूय कविस्तर्कयति–यद् यदा पार्वत्या कार्तिकेयो नाम औरसः पुत्रः सञ्जनिष्यते, त ह्यपि तस्या एतेषु पादपेषु तत् पुत्रवात्सल्य न निवर्तिष्यते । अतः सा तान् ज्येष्ठपुत्रत्वेन निरीक्षते ।

महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥ १२ ॥
पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥ १३ ॥
अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाऽऽप्तजन्मना न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥ १४ ॥

१५

पार्वती नीवारदयामाकादिभिर्मुनिधान्यैर्हरिणान् पुपोष । नीवाराणामञ्जलिं तेभ्योऽदात्, न तु कणमात्रम्। ते हरिणास्तस्या तथा विश्वास प्रापु, यथा ते निर्भयं तस्या समीपमाजग्मु, सा च 'मम सहचरीणां नेत्रे विशाले, उतैतेषां हरिणानाम्' इति जिज्ञासमाना कौतुकात् तेषां नेत्रे स्वाङ्गुल्यादिना परिममे, परन्तु परिमाणकरणसमये जायमानेऽप्यक्षिनिपीडने हरिणा न मनागपि क्षोभ प्रापु । अत्रैव तिरश्चां विश्वासस्य परां काष्ठां प्रतिपादयता कविकुलगुरुणा पार्वत्या महती अहिंसाप्रतिष्ठा व्यञ्जिता ।

१६

पार्वत्या प्रत्यहं त्रिषवणेन (वारत्रय स्नानेन) शरीरशुद्धि संपादिता, तपोऽग्नेन हवनेन उत्तरीयस्याप्यनुरागत्यागेनान्त करणशुद्धि, प्रत्यहमध्ययनेन आत्मशुद्धि । तेन च वैराग्यवृद्धत्वम् (स्वगुत्तरासङ्गवतीमिति विशेषणसूचितम्) ज्ञानवृद्धत्वम् (अधीतिनीम्) शीलवृद्धत्व चास्या प्रतिष्ठितमित्यस्या दर्शनार्थं मुपदेशश्रवणार्थं च ऋषयोऽप्यस्या आश्रममागच्छन्। ननु वयसा कनिष्ठाया पार्वत्या समीपे वयोवृद्धानामृषीणाम् (सेवार्थम्) आगमनमनुचितमिव भाति, नैतत्, सेव्यसेवकभावविचारे धर्मवृद्धस्यैव सेव्यतास्वीकारात्, अल्पवयस्काया अपि धर्मेण वृद्धाया पार्वत्या समीपे ऋषीणामागमनं नानुचितमिति ।

१७

तत्र गौरीशिखरे पार्वत्यास्तप प्रभावेण न केवल तदाश्रमस्य, अपि तु सर्वस्यापि तपोवनस्य परा पवित्रतासीत्, यद्दर्शनादन्येषां पवित्रता सम्भवति स्म । अस्यास्तप प्रभावेणैव विरोधिभिर्जीवै –गोव्याघ्रेण, सिंहहरिणेन सर्पमयूरेण चेत्यादिभि स्वाभाविको विरोधस्त्यक्त, वृक्षा यथेष्टं फलानि पुष्पाणि चोत्साया तिथीन् परिवेद, अभिनवाश्च बहवस्तपस्विनो जाता, येन नवेषूटजेषु अग्नय आधीयन्ते स्म ।

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसु ।
यथा तदीयैर्नयनै कुतूहलात् पुर सखीनाममिमीत लोचने ॥ १५ ॥
कृताऽभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वय समीक्ष्यते ॥ १६ ॥
विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सर द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि ।
नवोटजाऽभ्यन्तरसम्भृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥ १७ ॥

१८.

यदा चिर तपसा पार्वत्या चिन्तितम्—यदीदृशेन लघुना तपसा ममेप्सितं न भविष्यति इति, तदा सा शरीरस्थितिमनपेक्ष्य घोरे तपसि प्रवृत्ताभूत्।

१९

पार्वत्याः कठिनतपःप्रवृत्तिं साश्चर्यमाह कविः—यत् कन्दुकक्रीडामात्रेणापि यस्याः शरीरे श्रान्तिरुदभूत्, तया विशिष्टमुनिसमाद्य परमं तपः कर्तुमारब्धम्। तत्रैवोत्प्रेक्षते—यत् नूनं तस्याः शरीरं काञ्चनपद्मेन निर्मितमस्ति—पद्मधर्मेण सुकुमारम्, सुवर्णधर्मेण कठोरमपि च वर्तते।

२०

'ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थः' इति शास्त्रमनुसृत्य पञ्चाग्नितपस्तया प्रारब्धम्। चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽग्नयः, पञ्चमस्तु सवितेति पञ्चाग्नयस्तत्र प्रसिद्धा। तेनैव क्रमेणाग्निचतुष्टयमध्यगतयानया सवितरि निश्चला दृष्टिः स्थापिता। यद्यपि 'सुमध्यमा' (कृशमध्यदेशा) इयमिति ईदृशेन तपसा परा ग्लानिरस्याः सम्भाविता, तथापि सा तथाविधेऽपि तपसि वर्तमाना 'शुचिस्मिता' तेन खेदाभावो ध्वनितः। न च नेत्रे अप्यस्याः सूर्यं पश्यन्त्याः प्रतिहते—इत्यहो।

२१

सूर्याभिमुखं सततं निरीक्षणेऽपि मुखे कापि विकृतिरस्या नाभूत्, प्रत्युत यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं कमलं नितरां शोभते, तथा तन्मुखमप्यशोभत। कालिमा तु तत्रावकाशमलभमानः सुकुमारतरयोर्नेत्रप्रान्तयोः शनैः प्रावर्तत। तेन च नेत्रप्रान्तयोः शोभैव, न म्लानत्वमिति द्योतितं भवति। तापकृता विषादकृता वा श्यामिका मुखे नास्तीत्याकूतम्।

यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम्।
तदाऽनपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥ १८ ॥

क्लमं ययौ कन्दुकलीलयाऽपि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ १९ ॥

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥ २० ॥

तथाऽतितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ॥ २१ ॥

२२.

पार्वत्या वृक्षवृत्तिः प्रारब्धा । यथा वृक्षाः केवलं मेघजलं चन्द्ररश्मींश्चोपभुज्य जीवन्ति, न तु किमप्याहारान्तरम्, तथैव पार्वत्यपि पूर्वोक्तं द्वयमेवोपजीवति स्म । न तु फलपुष्पादिकं किमपि ।

२३.

यथा पृथिवी ग्रीष्मे तप्ता वर्षारम्भे जलसिक्ता धूमाकारं बाष्पम् 'भाप' इति भाषायां प्रसिद्धं मुञ्चति, तच्च पृथिव्या ऊर्ध्वं गच्छति, तथैव पार्वत्यपि सूर्यादिना चतुर्भिर्वह्निभिश्च ग्रीष्मे तप्ता वर्षारम्भे बाष्पममुञ्चत् । तदुपरिभागेऽपि धूमाकारं बाष्पं प्रतीयते स्म । अनेन पृथिवीसादृश्यात्सर्वथा शरीरे निरपेक्षता व्यज्यते ।

२४.

वर्षाकाले अनावृते स्थितवत्याः पार्वत्या उपरि वृष्टिजलबिन्दवः प्रथमं तन्नेत्रलोमसु विलम्ब्य, अधरे प्रहृत्य, कुचयोर्निपातेन खण्डतां गताः । पुनः संघीभूय निम्नोन्नतप्रदेशे त्रिवलीषु स्खलन्तो नाभिं प्राप्य स्थिताः ।

२५.

वर्षर्तौ यदा निरन्तरा धारासंपाता अभूवन्, तडितो विद्योतन्ते स्म, मध्ये वायुश्च वाति स्म, तदापि पार्वती अनावृते प्रदेशे तपोऽर्थं स्थिता एव । काले च तत्रैव शिलातले शेते स्म । न कोऽप्यन्यस्तथाविधे काले तस्यास्तथाविधस्य महातपसः साक्षी, तादृशेऽवसरे बहिः स्थातुमशक्यत्वात्, केवलं तत्साक्षित्वे नियुक्ता रात्रिरेव तडिद्रूपैर्बहुभिर्नेत्रैस्तां ददर्शेति संभाव्यते ।

२६.

ग्रीष्मे वर्षासु च यथा तप्त्वा हिमवर्षितवाते हिमर्तौ रात्रौ जलनिवासतत्परा पार्वती तपस्यति स्म । तथापि नान्यः कोऽपि तस्या दृष्टिविषयोऽभूत्, केवलं

अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः ।
बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥ २२ ॥
निकामतप्ता विविधेन वह्निना नभश्चरेणेन्धनसंभृतेन सा ।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् ॥ २३ ॥
स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ २४ ॥
शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपःसाक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥ २५ ॥
निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥ २६ ॥

वियोगाग्निना दह्यमानं चक्रवाकयुगलं तथाविधे शीते चकोऽवलोकयति स्म । तस्य च तादृक्शीतसहने वियोगाग्निरेव हेतुः । चक्रवाकयुगलस्य रात्रौ परस्परावलोकनामावादन्योन्यमानन्द, तत्र च पार्वत्या कृपैवाभूत्, न तु तस्य दर्शनेन विरहोद्दीपनम् । तेन तपसि वर्तमानायास्तस्या ब्रह्मचर्यनिष्ठापि व्यज्यते । चक्रवाकयुगले कृपा, न तु स्वतपसः कापि गणनेति व्यङ्ग्यमरुणाचलनाथ आह ।

२७.

जलनिमग्नाया पार्वत्या शिशिरनिशासु मुखमात्रं लक्ष्यते स्म, तच्च कमलसम सुरभि, शीतेन वेपमानोऽधरश्च तत्र किसलयसदृश प्रतीयते, तादृशे तपस्यपि च न म्लानं तत् । तस्मादिदं समाभाति—शिशिरर्तौ हिमेन नष्टेष्वन्येषु कमलेषु 'जलानि कमलशून्यानि मा भूवन्' इति विचार्यैव पार्वती स्वमुखकमलं तत्र निवेशितवती । तेन वसन्तपर्यन्तं कमलपरम्पराया अविच्छेदो जातः, वसन्ते तु पुनः कमलानि प्रादुर्भविष्यन्त्येवेति ।

२८

तपस उपवासोऽप्यङ्गम् । तत्र फलमूलाद्यभ्यवहरणरूपा नाना भेदाः, स्वयं निपतितवृक्षपर्णमात्रभक्षणम् तत्र सर्वश्रेष्ठं तप उच्यते । परं पार्वती क्रमेण पर्णभक्षणमपि त्यक्त्वा सर्वथा निराहाराऽभूत् । येन भीषणेन पर्णत्यागरूपेण कर्मणा तस्या नाम 'अपर्णा' इति ख्याति गतम् ।

२९.

कोमलेन शरीरेण पार्वती तथा तपोऽकरोत्, यथा अतिकठिनशरीराणामपि तपस्विनां तपस्तदपेक्षयाऽत्यन्तमधोभूतम् ।

३०.

पार्वत्या तथा प्रौढे तपसि निविशमानायामेकस्मिन् दिने कश्चिदविज्ञातः पुरुषस्तस्मिंस्तपोवनं आगतः, स चाजिनाषाढादिभिश्चिह्नैर्ब्राह्मणो ब्रह्मचारीति लक्षितः । तस्य तेजोलक्षणानि च तथाविधान्यासन्, यथा स साक्षाद् ब्रह्मचर्याश्रम एव शरीर

मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाऽधरपत्रशोभिना ।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदा सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् ॥ २७ ॥

स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुन ।
तदप्यपाकीर्णमत प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविद ॥ २८ ॥

मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतै स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम् ।
तप शरीरै कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥ २९ ॥

अथाऽजिनाषाढधर प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्ध प्रथमाश्रमो यथा ॥ ३० ॥

धृत्वा आगत इति संभाव्यते स्म । तस्माद्भगवान् शङ्कर एव दयाजनितेनानुरागेण प्रेर्यमाणो गौर्याः प्रेमदार्ढ्यपरीक्षार्थं तया विस्रम्भगोष्ठीसुखार्थं च छद्मवेशेनागत इत्यन्ते स्फुटीभविष्यति ।

३१

अतिथिसत्कारचतुरा पार्वती तं ब्रह्मचारिणं सबहुमानं प्रत्युज्जगाम, आनर्च च । एतदेव कविनोत्तरार्धेन समर्थितं, यत् सर्वत्र समदर्शिना रागद्वेषशून्यानामपि शरीरेण विज्ञाततेजसि कस्मिंश्चिद् भव्ये व्यक्तिविशेषे आदरो जायत एवेति । नायमादरो लिप्सया, अपि तु कर्तव्यबुद्ध्यैवेति । तपसा महान्तः सत्कार्या एवेति । श्रीमान् मल्लिनाथस्तु कथं समानेऽपि (ब्रह्मचर्यादिना स्वतुल्येऽपि) तस्मिन् तस्यास्तादृशी प्रतिपत्तिरियवतार्य साम्ये सत्यपि निविष्टचेतसाम्—स्थिरचित्तानां वपुर्विशेषेषु अतिगौरवा क्रिया भवन्तीति व्याचक्षाणो 'न पार्वत्यास्तपोभिमानः, अपि तु अन्येषु तपस्विषु पूज्यत्वबुद्धिरेवेत्यभिप्रायं विशदयति । ये रागद्वेषाभ्यामदूषिताः, तेषामेव वस्तुतो महत्त्वशालिषु महत्त्वोचितो व्यवहारो जायते, रागादिमन्तस्तु परिचितेष्वेव स्निह्यन्तीति प्रकाशिकाविवरणकारावप्यर्थं विनैव पाठान्तरं व्याचक्षाते ।

३२.

उमया सत्कृतो ब्रह्मचारी लक्षणमध्वपरिश्रमापनयं नाट्यति स्म, तदनन्तरं च ब्रह्मचर्योचितया शैल्या सरलेन चक्षुषा पार्वतीं विलोकमानः कथनं प्रारभते स्म ।

३३.

ब्रह्मचारी विशिष्टाचारानुकूल्येन प्रथमं पार्वतीं तपस्विजनोचितपदार्थसंपत्तिरूपं कुशलं पृच्छति ।

३४.

त्वया सततं वारिणा सिच्यमाना एता लताः कच्चिन्निरन्तरं पल्लवान्युत्पादयन्ति ? एतेषु पल्लवेषु हि रक्ततया त्वदधरसादृश्यमालोक्यते । यद्यपि त्वया-

---

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥ ३१ ॥
विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् ।
उमां स पश्यन्नृजुनेव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ॥ ३२ ॥
अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते ।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ ३३ ॥
अपि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम् ।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुला यदारोहति दन्तवाससा ॥ ३४ ॥

घरेऽन्धकन्याश्चिरात्यक्त', तथापि स्वभावरक्त तदिति पल्लवसादृश्य विमर्शव। चाटूक्तिरिय पार्वत्याश्चेतोविनोदनार्था। सौन्दर्ये हि स्तूयमाने स्वभावेन स्त्रीणां प्रसादो जायत इति।

३५.

कच्चिच्च हरिणेषु प्रसन्ना तिष्ठसि? यद्यपि हरिणा परिचयजनितेन प्रेम्णा तव करस्थान् कर्मोपयुक्तानपि दर्भानपहरन्तस्तुभ्यमपराध्यन्ति, तथापि तत्परिहर्तां न कोप इति तव प्रसाद एव तत्र युक्त। यतो च हरिणास्तव विलोचनयो सादृश्यं स्वनेत्रयोरलभमाना स्वनेत्रे चाल्यन्त सादृश्यमभिनयन्तीव, यथा हीनगुणा महाजने सादृश्य लब्धुं व्यापारवैशादिभिस्तानुकुर्वन्ति, तद्वत्। तेन तव नेत्रयो श्चाञ्चल्यं स्वाभाविकम्, हरिणास्तु स्वव्यापारेण चाञ्चल्यमाधातु यतन्त इति सौन्दर्यस्तुतिरूपा चाटूक्तिरेव।

३६.

'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' "न सुरूपा पापाचारा" इत्यादि लोकैरुच्यते, सामुद्रिकशास्त्रकाराश्चापि 'रूप शीलानुसारि' इति ब्रुवते, तदेतत् त्वां दृष्ट्वा सह सत्यं प्रतीयते। यत एवंविधिरूपवत्यास्तवेदृश शीलम्, यद् दृष्ट्वा उपदेश गृह्णन्त इवान्ये तपस्विन स्वीयानाचारानपि परिष्कुर्वते। इय पार्वतीस्तुतिस्तां विनीय तस्या हृदयं प्रविश्य तदान्तरभावप्रकाशनाय प्रयुज्यते।

३७.

अस्य हिमालयस्य पृष्ठे स्वर्लोकाद्गङ्गाप्रवाह पतति, गङ्गा च निसर्गेणैवाति पवित्रतमा, सप्तर्षिदत्तबलीनां पुष्पादीनि च तत्र प्रवहन्तीति विशेषेण पवित्रता, तथापि सा गङ्गा तथाविधां पवित्रतां हिमालये नार्पितवती, यथा त्वदीयानि चरितानि सपुत्रपौत्रं हिमालयं (त्वत्पितृत्वात्, तच्छिखरे तपश्चरणाद्वा) पवित्रीकुर्वन्ति। गङ्गाजलाद् अपि उत्कृष्टानि तव चरितानीति सार। तव हेतुगर्भं विशेषणम्— "अनाविलै" इति। गङ्गाजलं वर्षासु रोधःपतनकाले वा आविलम् (अस्वच्छम्) अपि भवति, त्वच्चरितानि तु न कदाप्याविलानि (पापगन्धीनि) इति।

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मन करस्थदर्भप्रणयापहारिषु।
य उत्पलाक्षि! प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥ ३५ ॥
यदुच्यते पार्वति! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने! तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ ३६ ॥
विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गै सलिलैर्दिवश्च्युतै।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधर पावित एष सान्वय ॥ ३७ ॥

३८.

धर्मार्थकामेषु लोकाः प्रायेणार्थकामयोरेव विशेषेण सक्ता दृश्यन्ते, धर्ममपि तदर्थमेवाश्रयन्ति, तेनार्थकामयोरेव प्राधान्य मनस्यायाति। परमद्य मया प्रतीतम्, यद् धर्म एव मुख्य पुरुषार्थः। यत त्वादृशी बुद्धिमती अर्थकामौ सर्वथा उपेक्ष्य केवल धर्मं भजते इति।

३९.

अहमभ्यागत, त्वया विशेषेण सत्कृत इत्येतावतैवाहं त्वदीयो जात। नेदानीं परः इति मन्तव्योऽस्मि। यतो हि सज्जनानां मैत्रीरूप सम्बन्धो न कष्टसाध्य, स हि केवलं परस्परालापे सप्तपदोच्चारणमात्रेण सप्तपदपरिमितेऽध्वनि सहचरणमात्रेण वा समुत्पद्यते। तस्मात्त्वदीयत्वात् त्वन्मनोऽभिलाषं प्रष्टुं ममाधिकारोऽस्तीति।

४०.

अत्र तपःसम्बन्धे अस्ति मे जिज्ञासा, त्वत्सम्बन्धी चाहं न इति प्रश्नेऽधिकारं मन्ये। न च प्रश्नेन ते कोपसम्भावना, यतस्त्वं तपोधना बहुक्षमा। स्वाभाविकं च प्रश्नकुतूहलरूपं चापलं ब्राह्मणेषु इति प्रथम एव दर्शने प्रश्न एवंविधे मे उपपन्ना प्रवृत्तिः। न च मे निर्बन्धः, यदि गोप्य न स्यात् तर्हि कथय-इति। विनयप्रदर्शनमिदम्।

४१

तपसो लौकिकानि फलानि यानि समाम्नायन्ते, तानि (उत्तमकुले जन्म, सौन्दर्यम्, सम्पत्तिः, यौवनं इति) सर्वाण्यपि ते सन्ति। तथाविधानि च सन्ति, यत उत्कृष्टानि न सम्भवन्ति। नवं च ते वयः, तेन (आश्रमत्रयमनपाकृत्य) मोक्षाभिलाषोऽपि न सम्भवति, तत्र समाप्यते तवास्य तपसः किमपि फलम्। न चाफला बुद्धिमतां प्रवृत्तिः, तत एव फलप्रश्ने कौतुकमुत्पन्नमिति।

अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥ ३८ ॥
प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां सन्नतगात्रि! सङ्गतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ ३९ ॥
अतोऽत्र किञ्चिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने! न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥
कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपः फलं स्यात्किमतः परं वद! ॥ ४१ ॥

४२.

इष्टप्राप्तिस्तपसा न सम्भाव्यतेति पूर्वस्मिन् पद्ये उक्तम्। ननु इष्टप्राप्तिवदनिष्टपरिहारोऽपि वाञ्छनीयः, तदर्थमेव कदाचित्तपः स्यादिति स्वयं सम्भाव्य, अभ्युपगम्य च तस्याप्यभावं विवृणोति वर्णी, त्वयि अनिष्टसम्बन्धोऽपि न सम्भाव्यत इति।

४३.

अनिष्टसम्बन्धाभाव उक्तः, स एव प्रपञ्च्यते, तवाकृतिरेव 'अनिष्टप्राप्तियोग्यता न प्रतीयते', न हि सौम्याः, सर्वलक्षणोपेता वा आकृतयोऽनिष्टभाजो दृष्टाः। यद्वा शोकचिह्नं तवाकृतौ न दृश्यते इति भावो व्याख्येयः। किं च कस्मादनिष्टं सम्भवेत्। भर्तृगृहे भर्तुरत्याचाराच्छ्वश्रूननान्द्रादेर्वाऽनिष्टं स्यात्, त्वं तु पितृगृहे निवससि, पिता च त्वयि नितरां स्निग्ध इति कोऽनिष्टं कुर्यात्। अन्यस्तु कश्चन कामी पुरुषः पर्वतराजपुत्रीं त्वां मनसापि न धर्षयितुमलम्, न हि सर्पमणेरपहरणाय कश्चिदुद्युङ्क्ते।

४४

तपःकारणानि परिहृतानि, निरभिलाषा तपः स्यादिति पक्षमाक्षिपति। वल्कलं वृद्धानां शोभते, न तु यौवनप्रारम्भ एव। अधुना तव भूषणधारणकालोऽस्ति, न तु वल्कलधारणकालः। यथा रात्रेरारम्भ एव चन्द्रतारका अस्तं गच्छेयुः, अरुणश्चोदियाद् इत्यसङ्गता घटना, तथाऽस्मिन्नेव वयसि भूषणत्यागो वल्कलधारणं च तवासङ्गतमिति। रात्रेः भूषणस्थानीयाश्चन्द्रतारकाः, अरुणस्थानीयन्तु वल्कलम्।

४५.

समाधानान्तरं निराक्रियते—यदि स्वर्गेच्छया तपः, तर्हि व्यर्थम्। स्वर्गो तु तव पितुरेव, हिमालयप्रदेशा एव देवानां निवासाः स्वर्गा इत्युच्यन्ते, एतदर्थमेव तपस्यन्ति भूमिष्ठा लोकाः। यदि तु विवाहार्थं वरं प्रार्थयसे—तदप्यसमाप्यम्। ईदृशं स्त्रीरत्नं स्वयं वरा अभिलष्यन्ति, नात्मभिर्गवेषितदुर्लभस्ते वरः स्यात्। 'यस्त

भवत्यनिष्टादपि नाम दुस्सहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि ॥ ४२ ॥
अलभ्यशोकाऽभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे।
पराऽभिमर्शो न तवाऽस्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥ ४३ ॥
किमित्यपास्याऽऽभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुरच्चन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥ ४४ ॥
दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ ४५ ॥

ईप्सितो वरः, सोऽहं स्वयं त्वामन्विष्यन्नायातः, अलमिदानीं तपसा' इति भगवता शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

४६.

वर्णी वक्ति—यदा मया संभावितान मनोरथान् निराकरणायोपक्षिपता वरप्रार्थना उपक्षिप्ता, तदा त्वदन्तस्तापबोधकाः उष्णनिःश्वासाः प्रवृत्ताः, वरार्थित्वं तवानुमीयते । तथाप्युपपत्तिमालोचयतो मम विचारशीले मनसि तत्रानुमाने विश्वासो न जायते । यतो हि उत्कृष्टं वस्तु सर्वैः प्रार्थ्यते, अतः सर्वोत्कृष्टा त्वमेव सर्वैः प्रार्थनीया, त्वदपेक्षया न दृश्यते कोऽप्युत्कृष्टो यस्त्वया प्रार्थ्येत । पुनश्च प्रार्थ्यमानोऽपि स न सुलभ इति तदर्थं तपश्चरणमिति तु संभावनाया अविषय एवेति ।

४७.

यदि सत्यं वरप्रार्थनयैव तव तपः, तदेदं वक्तव्यं स्याद्, यस्त्वयेष्यमाणः कोऽपि वरः पाषाणवदेव दृढ इति वृथा युवत्वाभिमानी । (स्थिरशब्दः स्थैर्यगुणबोधकोऽप्यत्र वाक्यार्थवैशिष्ट्याद् दुर्गुणपर्यवसायी) स हि साश्चर्यमुपालभ्यते मया । यतस्त्वं तद्विरहैयोदृशीं दशां गतासि, यद्बन्धनाभावात् श्लथास्तव जटाः कपोले लम्बन्ते, न च योग्योऽपि कपोलदेशः कर्णोत्पलकान्त्या शोभते, तस्य तु मनसि नास्त्येतावतापि कोऽपि प्रभाव इति । कलमाग्रपिङ्गला इति विशेषणमपि जटानां कपोलशोभाहेतुत्वमुक्तम् 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' इति न्यायेन । 'तवेप्सितो यो वरः सः नित्यं युवैव, न कदापि बालो वृद्धो वा, जन्ममृत्युसम्बन्धाभावात् । स्थिरः—सर्वथा विकारशून्यः कूटस्थः, अहो दृश्यावनर्यरूपश्च' इति भगवतः शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

४८.

विभूषणधारणोचितानि तवाङ्गानि सूर्यकिरणैर्दह्यन्त इव । व्रतैश्च त्वमतिमात्रं कर्शितासि, दिवा मलान्ता चन्द्रलेखेव दृश्यसे, त्वामेवमवस्थां दृष्ट्वा कः सहृदयस्त्वेनसि न खेदमनुभवति, तथापि त्वत्प्रार्थितो युवा न द्रवतीत्याश्चर्यमेव । 'सचेतसो मनो दूयेत, त्वत्प्रार्थितस्य तु मनः सम्बन्ध एव नास्ति, निरिन्द्रियत्वात्' इति गूढोऽभिप्रायः ।

निवेदितं निश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥ ४६ ॥
अहो ! स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाऽग्रपिङ्गलाः ॥ ४७ ॥
मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥ ४८ ॥

४९.

मयानुमीयते—त्वया प्रियत्वेन सकल्पितः कोऽपि पुरुषः, सौभाग्येन गर्वितः, 'मामेवैष सर्वथानुयास्यति, कठिनामस्याः परीक्षां करोमि' इत्याद्यभिमानस्तस्य। तेनैव गर्वेण वञ्चितः सोऽद्यावधि। ननु वञ्चित इति कथमुच्यते, तत्राह यदि स त्वामन्वसरिष्यत्, त्वदीयमिदं सौन्दर्यनिधानं नेत्र तन्मुखासक्तमभविष्यत्, एतद्दिदृक्षया स यथार्थसौभाग्यमाप्स्यत्। वृथा सौभाग्यमदेनैव तस्येदं मुख्य सौभाग्यं प्रतिरुद्धमिति स वञ्चित एव मया मन्यते। 'वस्तवेप्सितः प्रियः, स वस्तुतः सौभाग्यमदेन वञ्चित—रहित एव, न तस्य प्रासकामस्य सौभाग्येच्छा, न वा तज्जनितो मदः—अभिमानो हर्षो वास्ति। न च स नेत्रयोर्लक्ष्यं भवति' इति भगवतः शिवस्य गूढोऽभिप्रायः।

५०.

पार्वति! चिरं तपः कुर्वती त्वं श्रान्तासि, दया मे त्वय्युत्पन्ना। अहं स्वार्जितस्य तपसोऽर्धभागं ते दास्यामि, तेन तवाभिलाषः पूरयिष्यते। परं तु त्वदीप्सितं वरं पूर्वं ज्ञातुमिच्छामि—योग्यः स न वेति। योग्यवरप्राप्त्यर्थमेव मया त्वदर्थे तपोव्ययः क्रियेत इति। इयं भगवतः शिवस्य वरप्रदानपरा गूढोक्तिरिति विवरणकारो व्याचष्टे तथा हि—तपःशब्दो लक्षणया तपःसाधनभूतस्य शरीरस्य बोधकः, 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इत्युक्तत्वात्। शरीरस्य दिव्यत्वप्रतीतिर्लक्षणाप्रयोजनम्। तेन च ममापि—निर्गुणत्वेन, निरीहत्वेन, निराकारत्वेन च प्रसिद्धस्यापि पूर्वभ्रमसञ्चितम्—पूर्वम्, सर्गारम्भकाले, अभ्रमेण—अनायासेन, मायामात्रेण सम्पादितम्, तपः शरीरम्, अस्ति, तदर्धभागेन काङ्क्षितम् लभस्व—तस्य समाधमर्धं लब्ध्वा पूर्णमनोरथा भव, शरीरार्धं ते ददामि परं वरं त्वदीप्सितम्, साधु—मया करिष्यमाणस्य पूर्वपक्षस्य निराकरणपूर्वकं वेदितुमिच्छामि, अपि त्वद्भावदार्ढ्यं जिज्ञासे इति।

५१

प्रश्नात् पूर्वं द्विजन्मा—ब्राह्मण इति, तदुत्तरं दातव्यमेव, चाटूयुक्त्या च हृदयं तेन वशीकृतम्, तेनाप्युत्तरदानमावश्यकम्। परं तथापि लज्जया पार्वती स्वयं

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुराऽवलोकिनि।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः॥ ४९॥
कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि! विद्यते ममाऽपि पूर्वाभ्रमसञ्चितं तपः।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम्॥ ५०॥
इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तिताञ्जननेत्रमैक्षत॥ ५१॥

स्ववर कथयितुमशक्तामूत् । वक्तव्यावश्यकता तु विचार्य सखीमुख पश्यन्ती तामुत्तर दातु प्रेरयामासेव। नेत्रमभिमुखीकृत्य नेत्रसङ्केतनैव सखीं प्रति द्योतयन्ती 'अनङ्गनस्कारणीभूता व्यथा स्वथा वेदयितव्या' इति व्यञ्जितवती । सखी नित्य पार्श्वस्थितिशीलेति तस्या हृदय विजानाति, सा सर्वं वक्तु क्षमेति तात्पर्यार्थो विनिर्व्यनक्ति ।

५२.

पार्वत्या दृष्टिपातेन प्रेरिता सखी ब्रह्मचारिण प्रत्युक्तवती । साधो ! स्वकीयार्घ-तव प्रदानोद्यमेन परोपकृतिपरायणता तव प्रकटीकृता, पर नैवमस्मत्सख्या ममी स्थित साध्यमस्ति, अतिदुष्प्राप तत् । तथापि स्वाद्यस्य कौतूहलनिवृत्ति कर्तव्यैवति कथयामि । यस्मै प्रयोजनाय तपस्यन्तीयमस्मत्सखी सुकुमारतरमिद शरीरमति कठिने शीतातपत्रदादिसहनसाहसे तथा योजितवती, यथा कश्चित् कमलमातपनिवारणार्थं योजयेत्–तत्प्रयोजनं ते वच्मि ।

५३.

प्रयोजनमाह सखी 'वरार्थमेवास्यास्तपश्चरणम्' । वरास्तु इन्द्रादयो यद्यपि सुलभा, उत्कृष्टा च तेषा दिगीशत्वश्रीरिति अयासां प्रार्थनीया अपि ते, तथा त्वभिमानवतीयमिन्द्राणीप्रभृतिभ्य उत्कर्षमिच्छन्ती न तानाद्रियते । य तु सर्वेभ्य उत्कृष्ट पिनाकधारिणमिय पतित्वेनाप्तुमिच्छति, स न सौन्दर्येण वशीकर्तुं शक्य — यतस्तेनास्या समक्षमेव स्वय धनुर्धर कामो निगृहीत । तस्मात्तपश्चरणमेव तत्प्राप्त्युपाय इति निश्चितम् । पिनाकपाणिमिति पद वीरतामावेदयदभिलाषयोग्यता तत्र व्यनक्ति । मानिनीनां वीरकामनाया स्वभावसिद्धत्वात् ।

५४

कामेन यदा बाण शिवं वशीकर्तुं विसृष्ट, तदा शिवेन कामो दग्ध, बाणश्च तस्य हुङ्कारेण निवर्तित । मृतस्यापि कामस्य स बाण शिवानुगतहृदयामिमां पार्वतीमवलां मत्वातितरां हृदये पीडयति स्म ।

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो ! तव चेत्कुतूहलम् ।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारण कृत तपःसाधनमेतया वपु ॥ ५२ ॥

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥ ५३ ॥

असह्यहुङ्कारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥ ५४ ॥

५५.

कामबाणेन यदा हृदि विद्धा, तत एवारभ्य मदनकृतसन्तापोऽस्याः परां वृद्धिं गतः । येन हिमालये प हिमशिलास्वपि लुठन्त्या न तापशान्तिरभूत् । तापशान्तये च यच्चन्दनमपि सर्वस्मिन् ललाटे लिम्पति स्म, तत् क्षणादेव शुष्कं ललाटाद्विनिःस्य लुठन्त्या अस्या विकीर्णानलकान् धूसरयति स्म । 'पितुर्गृहे' इत्युक्त्या हिमालयेऽपि एव ताप इति तापोत्कर्षो व्यञ्जितः', इति विवरणकारः । 'पितुर्गृहे' विरहतापस्यात्यन्तगोपनार्हत्वेऽपि ताप एव प्रकटोऽभूद्—इत्युक्त्या व्यज्यत इति तु वयम् ।

५६

इयं हि शिवेऽनुरक्ता शिवकीर्तनश्रवणव्यसनाद्वनान्ते गच्छति स्म । तत्र च यदा किन्नरकन्यकाः शिवचरितं गातुमारभन्ते स्म, तदा ताभिः सह गातुमुपक्रममाणापीयं शिवस्मरणोद्बोधितविरहजनितेन कण्ठरुद्धत्वेन स्पष्टं पदान्युच्चारयितुमसमर्था तथा वैकल्यं प्राप्नोति स्म, यथास्या दशां दृष्ट्वा सखीभूतास्ताः किन्नरराजकन्यका अपि रुदन्ति स्म ।

५७

निशास्वनया निद्रा न लभ्यते स्म । रात्रेर्भागद्वयं विनिद्रमेव गमयित्वा तृतीयभागे कथञ्चिन्नेत्रनिमीलनमात्रं निद्राभासं प्राप्नोत् । तत्र चाल्पतमनिद्रायां कथञ्चिज्जागरणम्, कथञ्चिच्च स्वप्न इति स्वप्नजागरयोः सङ्करदशायां स्वप्ने शिवं दृष्ट्वा तमुपगूहमाना जागरप्रत्ययवद् बाहू प्रसारयन्ती, तं च तत्रापि पलायमानं दृष्ट्वा "नीलकण्ठ (विषभक्षणेनापि कण्ठे तु सहरोऽसि, किमिति मां तु त्यजसि) क्व व्रजसि" इति ब्रुवती पलायनजनितात् त्रासाज्जागर्ति स्म । जागरिता चापश्यत्, यन्मम जागरे निर्विषया, स्वप्नस्य शिवस्याविद्यमानात् । बाहू चापि परिरम्भार्थं प्रयुक्तौ कल्पनामात्रनिर्मित एव कण्ठे सक्तौ, न तु वास्तव इति ।

५८

स्वप्न चित्र-सादृश्यदर्शनानि विरहिणां विनोदस्थानानि, तत्र स्वप्नदर्शनेना

तदा प्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसङ्घातशिलातलेष्वपि ॥ ५५ ॥
उदात्तवर्णं चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम् ।
अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसङ्गीतसखीररोदयत् ॥ ५६ ॥
त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ ! व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥ ५७ ॥
यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥ ५८ ॥

तुतिश्च्छा । चित्रदर्शनमप्युच्यते—'इयं पार्वती कथञ्चिच्छिवरूपं द्रष्टुमुत्कण्ठिता स्वहस्तेनैव शिवं चित्रे लिखति स्म । तद्दर्शनोद्बुद्धविरहविमुग्धा च 'चित्रमिदम्' इति विस्मरन्ती प्रत्यक्षवत्तमुपालभते स्म—यत् 'पण्डितैः सर्वान्तर्यामितया उपदिश्यमानोऽपि कथं मदनुरागं न वेत्सि । जानानोऽप्युपेक्षसे—इत्याहो ते निर्दयता !' इति । अथ चास्या व्यापारो लज्जयैकान्ते प्रवृत्तोऽपि सखीभिः कथञ्चिद् दृष्ट इति ।

५९.

अति तीव्रविरहेण संतप्तया उपायं विवेचयन्त्याऽनया यदान्य उपायो न दृष्टस्तदा पितुराज्ञां गृहीत्वा तपः कर्तुमियमत्रागता । स्त्रिया एकाकिन्या निवासस्यानुचितत्वाद्वयमेतस्याः एतया सहैवात्रागता । जगत्पतिर्हि भगवान् शङ्करो न तपोऽतिरिक्तोपायसाध्यः स्यात् ।

६०.

तपस्यन्त्या अस्माकं सख्याः पार्वत्या इयान् समयो व्यतीतः, यदनयाऽत्रागतया स्वहस्तेन उप्तबीजाः सिक्ताश्च वृक्षा अपि फलवन्तो जाताः, किन्तु अस्या मनोरथबीजमद्यापि बीजावस्थमेव, न बीजाङ्कुरोत्पत्तिकालिकी उच्छूनावस्थापि तत्र दृश्यते । सिद्धेः किमपि लक्षणमद्यावधि न दृष्टमिति ।

६१.

सखी वक्ति—'वर्णिन्' ! यत्त्वयोक्तम्, 'कः प्रार्थितदुर्लभो भविष्यति' इति एष प्रार्थितदुर्लभः शिवः, तदर्थमेव तपस्यन्तीयमीदृशीं दशां गता, यास्तस्यो वयमेतस्या दशां विचार्य निरन्तरमश्रूणि मुञ्चामः अश्रूणामन्तराले च कथंचिदेतस्या दशां प्रेक्षामहे । वृष्टिप्रतिबन्धेन यथा शस्यरक्षिता भूमिः शोच्या भवेत्, तथेयमस्माकं शोच्या, (स्वयं त्वियं न शोचति, वयमेवैतदर्थं विषण्णाः, कृषकाः भूम्यर्थमिव) यथेन्द्रस्तप्तायां भुवि कृपां कृत्वा वर्षति, तथा कदा स देवः कृपां करिष्यतीति न ज्ञायते :

यदा च तस्याऽधिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
तदा सहाऽस्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥ ५९ ॥

द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ॥
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ॥ ६० ॥

न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् ॥ ६१ ॥

६२.

पार्वतीप्रेरितया हृद्गत भाव जानन्त्या सख्या सर्वं यथार्थमावेदितम्। तच्च श्रुत्वा भगवत शिवस्य हर्ष उत्पन्न, पर स्वरूप गोपयितुं न हर्षचिह्नानि रोमोद्गमादीनि तेन प्रकटितानि। प्रत्युत विपरीत पार्वती प्रति एव पृष्टम् 'अयि पार्वति! त्वत्सखी सत्य ब्रवीति, उत सखीभावात्परिहास करोति" इति। स्वय पार्वतीमुखादाकर्णयितुमग्रे विपक्षीभूय परीक्षितु सेय कपटरचना।

६३.

आवश्यक वर्णिप्रश्नस्य तद्गौरवरक्षणायोत्तरणम्, लज्जा च निरुणद्धि, इत्यसामञ्जस्ये चिर स्थित्वा पार्वती, अन्तत कथञ्चिदतिसङ्क्षेपेणोत्तरदाने प्रवृत्ता। सा जप कुर्वाणासीत्, जपमध्ये चानुचित भाषणमिति जपविरामाय स्फटिकनिर्मिता जपमाला तया हस्ताग्रभागे निश्चलीकृत्य स्थापिता। जपकाले च मध्यमामध्यभागे धृताया मालाया अङ्गुष्ठेन चालनम्, तर्जनी च पृथग् विवृता स्थाप्यत इति अङ्गुल्यो विवृता भवन्ति, जपविरामे सङ्कोच्य ता मुकुलीकृता।

६४.

वर्णिना यत् 'किं परिहासोऽयम्' इति पृष्टम्—तत्र पार्वत्या एव बुद्धिरुदभूद् यच्छिवपत्नीत्व दुष्प्राप मत्वायमेवाहेति। तदनुसारेणैवोत्तरयति सा 'वेदविद्वर! त्वया सखीमुखाच्छ्रुत यथार्थमेव, तादृशदुष्प्रापोन्नतस्थानप्राप्तौ मदभिलाषो वर्तत एव। इदं चातितुच्छ तपोऽह तत्प्राप्तिसाधन वृथैव मन्ये इति वाञ्छिता मे। तथापि किं करवाणि, मनोरथा समीक्ष्य न प्रवर्तन्ते—इति मनोरथस्यैवाय दोषो न ममेति।

६५

पार्वतीमुखात्कपटवटुना शिवेन स्वानुरागो यद्यपि श्रुत, तथापि भूयोऽपि स्वादर्थपरीक्षार्थम् 'क्रुद्धसुप्तमत्तानां भावज्ञानम्' इति नीतिवचनात् क्रोधदशायां मुख्यभावपरीक्षायां सौलभ्य पश्यन् कोपदशायां जातिमधुरान् पार्वतीमुखविकारान्

अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया ।
अयीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षण ॥ ६२ ॥

अथाऽग्रहस्ते मुकुलीकृताऽङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाऽक्षमालिकाम् ।
कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षर चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥ ६३ ॥

यथा श्रुत वेदविदां वर ! त्वया जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुक ।
तप किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ ६४ ॥

अथाऽऽह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे ।
अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य त तवाऽनुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे ॥ ६५ ॥

द्रष्टुकामस्तां कोपयितुं स्वं (शिवं) निन्दितुमुपचक्रमे । यद्यपि मया पूर्वम् अर्द्धतप प्रदानं तुभ्यं प्रतिश्रुतम्, परमिममयोग्याभिनिवेशं ते विलोक्य वाङ्मात्रेणापि तवानुवर्तनमनुमतिरूपं न कर्तुं शक्नोमि, दूरे ■ तप प्रदानम्' । स्पष्टमन्यत् ।

६६.

पूर्वमुक्तमसङ्गलाभ्यासं प्रपञ्चयति-अग्रे निर्वाहस्तु दूरे आस्ताम्, विवाहकाल एव पाणिग्रहणसमये यदा शिवस्तु धृतमङ्गलसूत्रं पाणिं स्वकरेण ग्रहीष्यति, तदा तत्करे सर्पं भूषणत्वेन स्थितं दृष्ट्वा भीत्या एव करो निवर्तिष्यत इति पाणिग्रहणमेव न सम्पद्येत । क स्वं कृतविवाहमङ्गलवेषा सुकुमारतरा बाला, क च सर्पभूषणः शिव इति वैषम्यमत्र प्रकटितम् । तत्प्रथमावलम्बनपदेन च विशेषेणासहत्वमुक्तम् । अग्रे अभ्यासात्करस्तत्करस्पर्शं सहेतापि, प्रथममेव तु कथं सहेत इति ।

६७.

हे गौरि ! अन्यस्य कस्यचित्कथनमुपदेशो वा दूरे आस्ताम्, नास्ति तस्याऽवश्यकता, त्वमेव स्वयं विचारय । विवाहकाले ग्रन्थिबन्धो यदा स्यात् तदा त्वया धृतं तादृशं महार्हं पट्टवस्त्रम्—यत्र गोरोचनया प्रान्तभागे हंसद्वयं लिखितं स्यात्, महादेवेन च धृतं नवं गजाजिनं यस्मात्तया शोणितबिन्दवः स्रवन्तः स्युः, तयोः परस्परं ग्रन्थिः क्रियेत । किमियं घटना समुचिता स्यात् ? किं तयोर्योगः शोभेत ? आस्तां तव शिवस्य च योगे औचित्यविचारः युवाभ्याम् परिहितयोर्वस्त्रयोरेव योगो न तावद् घटते इति ।

६८.

अनन्तरं च यदा त्वं भर्तृगेहे गमिष्यसि, तदा शिवस्य श्मशानवासित्वात्त्वयापि भर्त्रा सह श्मशान एव स्थितिर्भविष्यति । ततश्च यत्रैस्तव पादयोः पितृगेहे मङ्गलमयेषु गृहेषु विकीर्णपुष्पेषु सञ्चरणम्, तत्रैव च तौ समुचितौ, तावेवेतस्ततः प्रक्षिप्तशवकेशासु श्मशानभूमिषु सञ्चारो भविष्यति । तत्रैव च पादन्यस्तालक्तकरञ्जितानि पदचिह्नानि ते लक्ष्येरन् । तव शत्रुरपि (यो निन्दितोऽपि स्यात्, सोऽपि) घटनामिमां नानुमन्तुमर्हति, कथं तु मादृशो बन्धुरनुमानीयात् ।

अवस्तुनिर्बन्धपरे ! कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः ।
करेण शम्भोर्वलयीकृताऽहिना सहिष्यते तत्प्रथमाऽवलम्बनम् ॥ ६६ ॥
त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाऽजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥ ६७ ॥
चतुष्कपुष्पप्रकराऽवकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवाऽनुमन्यते ।
अलक्तकाऽङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥ ६८ ॥

६९.

यदा समागमनकाले महादेवस्त्वामालिङ्गिष्यति, तदा तद्वक्षसि स्थितम् (तदेव तत्र सुलभं नान्यत्किमपि चन्दनादिकम्) चिताभस्मरूपमनुलेपनं तवास्मिंस्त्रिलोकीसौन्दर्यनिधाने कुचद्वन्द्वे लग्नं स्यात्। यस्मिन् स्तनद्वन्द्वे चन्दनकुङ्कुमादीनां विलेपनमुचितम्, तत्र तादृशस्यामङ्गलस्य पदार्थस्य संस्पर्श इति, इतः परं किं वस्त्वनुचितं सम्भाव्यते।

७०

भवत्याः शिवगृहगमने सति पूर्वोक्तं श्मशानवासभस्मसंसर्गयोः प्रसङ्गः, ततः पूर्वमेवैकं वस्तु मया विस्मृतम्, यच्छिवस्य नान्यानि वाहनानि सन्ति, विवाहोत्तरं स स्वीयं वृद्धं वृषभमारोप्य त्वां नेष्यति। या परमसुन्दरी राजकुमारी स्वगुरुकुञ्जरिणीमारोढुं योग्या, सा वृषमारूढेति व्यतिक्रमं दृष्ट्वा लोकानामाश्चर्यमवश्यं च स्यात्, तेन ते हसिष्यन्ति, इयं तव विडम्बना प्रसज्येत। वारणराजेति राजपदम्, वृद्धेत्युक्षविशेषणं चात्यन्तवैलक्षण्यबोधनाय। वृद्धो वृषो द्वाभ्यामारूढो न जाने कदा प्राणान् जह्यात्, तदा पादचारस्यैव प्रसङ्गः स्याद्' इति चाकूतम्।

७१.

अतिप्रशस्तकान्तिः सुकुमारतरा चन्द्रकलेव पूर्वं कपालधारिणो भूतेशस्य शिरोगतत्वेन शोचनीयाऽभूत्। इदानीन्तु त्वमपि तत्समागमार्थिनीति जगति द्वयं शोचनीयतां गतम्, अपकृष्टाश्रितमुत्तमं वस्तु शोच्यं भवतीति।

७२.

'कन्या कामयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः' इति नीत्युक्तदिशा रूपं धनं, विद्या, कुलं चेति चतुष्टयं परीक्ष्य वरा विवाहार्थं मृग्यन्ते। पार्वति! त्वया वरीतुमिष्टे त्रिलोचने तु एष्वेकमपि नास्ति, कुतश्चतुष्टयं स्यात्। तस्य नामैव विरूपाक्ष—तेन सौन्दर्यं दूरे निरस्तम्।

अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवक्षः सुलभं तवाऽपि यत्।
स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति ॥ ६९ ॥
इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥ ७० ॥
द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ ७१ ॥
वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ ७२ ॥

(त्वं तु बालमृगाक्षी, स च विरूपाक्षः इति कुत्र द्वयोरनुरूपता) कुत्र कदा कस्माज्जातोऽयमिति न केनापि विज्ञायते। यस्य पिताप्यविदितः, तस्य कुलसम्बन्धे किमु वक्तव्यम्। उत्पत्तिकालस्थानाभावेनाल्पवृद्धत्वं सूचितं भवति, तदपि वर-विरुद्धम्। उत्पत्तिदेशकुलयोरज्ञाने च विद्यापि कथं सम्भवेत्। प्रायशोऽभिजनाः प्रशस्तकुला एव च विद्वांसो दृश्यन्ते। अस्य तु इयमवस्था, यदाच्छादनार्थं वस्त्रमपि नास्ति, अत एव दिगम्बर इत्युच्यते। 'त्रिलोचने' इत्युक्त्या च लक्षण-हीनत्वं सूचितम्, 'हानिर्वाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः' इति सामुद्रिकोक्तेः। ततश्च कथमीदृशेन भवादृश्याः सम्बन्धो योग्यः स्यात्।

७३.

मम युक्तियुक्तानि वाक्यानि विचार्य, अज्ञानात्परिणाममनवधार्य योऽभिला-षस्त्वया कृतस्तं परित्यज। दृष्टान्तेनानौचित्यं प्रकाशयन्नाह—यथा श्मशाननिखाते शूलयष्टौ वैदिकसत्क्रियासम्बन्धो न घटते, तथा शिवेऽपि तव सम्बन्धो न घटत एव। वैदिकी सत्क्रिया यथा अलौकिकी, तथा त्वमप्यलौकिकीति तत्प्रशंसायां तात्पर्यम्।

७४.

ब्राह्मणमुखादेवं शिवनिन्दां श्रुत्वा पार्वत्याः कोप उदभूत्। तेन तस्या अधरोष्ठः कम्पमान आसीत्, नेत्रे च प्रान्तभागे रक्ततां गते। अथ सा तन्मुखाद् दृष्टिं परावर्त्य कुटिलां भ्रुवं कृत्वा पार्श्वभागे दृष्टिं चिक्षेप। कोपाविष्टस्य लक्षणान्यत्राभिहि-तानि। 'द्विजातौ' पदेन तस्य शापाद्ययोग्यता प्रतिपादिता। यद्यन्योऽभविष्यत्, पार्वती तीव्रदृष्टिक्षेपेण तं भस्मसादकरिष्यत्। परं ब्राह्मणे न योग्यो निग्रह इति दृष्टिं तिर्यक् क्षिप्त्वावज्ञैव कृता।

७५.

कोपचिह्नप्रकटनानन्तरं पार्वती श्रुतायाः शिवनिन्दायाः पापपरिहाराय परिहारोऽवश्यं वक्तव्यः इति विचिन्त्य ब्रह्मचारिणं प्रत्युत्तरं वक्तुमारभत। (तेन च कपटवटोः रसिकशिरोमणेः शिवस्य न केवलं कोपाक्रान्ततन्मुखदर्शनेन चक्षुषोरेव लाभः, अपि तु स्वानुरागवचनश्रवणेन श्रोत्राप्यायनमपीति समुच्चयेन

निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया॥ ७३॥
इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते॥ ७४॥
उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥ ७५॥

सूचितम्) । तदुक्तस्य क्रमेण सङ्क्षेपेण परिहारः पार्वत्या वक्तव्यः । अत्र 'विदितो महेश्वर' इति तदुक्तिरेव प्रथमं निराक्रियते, यत् त्वं 'महेश्वरं न जानासि' इति तदुक्त्या निःदर्शितानुमीयते । अलौकिका हि महात्मानो न लोकसाधारणमाचरन्ति, तेषां च विलक्षणाचारे को हेतुरित्यपि सर्वैर्न ज्ञायते । तत एवाज्ञाना मूढास्तच्चरितानि दूषयितुं प्रवर्तन्ते । तन्माहात्म्यविज्ञाने भविष्यति कश्चिदत्र हेतुरिति समुत्पश्येत् । १९ निःदार्थं प्रवृत्त , तस्मात्त्वं जानासीत्येव स्पष्टमनुमीयत इति ।

७६

"अमङ्गल्यमासतिम्" इति विप्रोक्तं दूषणं परिहरति यदापन्निवारणाय शुभप्राप्तये वा लोकानां मङ्गले प्रवृत्तिर्भवति । यस्य तु नापत्सम्भावना, न वा शुभाप्त्यभिलाषः (जगच्छरण्यस्येति आपत्सम्भवाभाव उक्तः, निराशिष इत्याप्तकामत्वादभिलाषाभावः) तेन किमिति मङ्गलं सेव्यम् , स मङ्गलमस्त्वस्तु, अमङ्गलं वा, कस्तस्य विशेष इति । एतेन पूर्वोक्तो लोकसामान्याभावः समर्थितः । तथा च तादृशो निरापत्प्राप्तसर्वकामश्च पुरुषो ममाभिलषणीयो वर इत्युक्तं भवति ।

७७

न केवलं त्वमेव शिवं न जानासि, अपि तु लोके केऽपि विद्वांसः शिवस्य तत्त्वं ज्ञातुं न प्रभवन्ति । अज्ञेयं हि तत्तत्त्वरूपम् ' विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात् ' इत्यादिभिः श्रुतिभिर्निरूपितम् । सर्वे च परस्परं विरुद्धा अपि धर्मा निर्धर्मके तस्मिन् मायया समारोपिता , तदुक्तं भगवता व्यासेन 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' (वे० सू०) इति । ततश्च विरुद्धधर्माश्रय कः कथं ज्ञातुं प्रभवेत् । तदेवात्र प्रदर्शितम्—यत्स्वयं स भवतु नामाकिञ्चनो वस्त्रविभूषणोत्तमवाहनादिरहितः , तथापि सर्वा सम्पदस्तत एवेन्द्रादिभिः प्राप्यन्ते । ' सुरास्तां तामृद्धिं दधति ■ भवद्भ्रूप्रणिहिताम् , न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति" इति भगवतः पुष्पदन्तस्योक्तिरनेनानुगता वेदितव्या । तथैव भवतु नाम श्मशानवासी, तथापि लोकत्रयस्य धाता, श्मशानस्थित्यापि न लोकशास्तृत्वे किमपि हीयते । अस्तु नाम स भुजगभूषण इति भीमरूपः , तथापि लोकास्तं 'शिव ' इत्येव व्यवहरन्ति । न हि तदनुगता भुजगा अपि भीषणतां भजन्त इति । एतेन 'अवस्तुनिर्बन्धपरे' 'दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु' इत्यादि परिहृतम् । यद्वा वस्तुतोऽकिञ्चन —सर्वधर्मैरहितः , मायाविशिष्टस्तु सम्पदाम्–सर्वरूपाणां प्रभवः, वस्तुतः पितृसद्मनि–सर्वलोकान्तरे

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥ ७६ ॥
अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः ।
■ भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥ ७७ ॥

श्मशाने, सर्वस्यापि दृश्यमानस्याभावे तुरीयावस्थायां विराजमान , मायया तु लोकत्रयसुखाय तदीश्वरोऽसि, मायया सर्वं जगन्नाशद् भयप्रद इति भीम , वस्तुतस्तु शिव एव, 'शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते' इति प्रतिपादित । एव माया विरहितस्य, मायाशबलस्य चेति रूपद्वयस्य कीर्तने न सर्वमविरोधेनोपपादितम् । एवविध महेश्वरो यो ज्ञातुमपि लोकैर्न शक्यते, स यदि पतिभावेन सेवितु लभ्यते, तदा किमु वक्तव्य, सौभाग्यमिति । पिनाकिन इत्युक्त्या पिनाकधारितया सर्वोऽपि तस्माद्बिभ्यति, सम्यक् दृष्ट्वापि तत्स्वरूपं ज्ञातु न शक्यत इति व्यञ्जितम् ।

७८.

वर्णिन् ! ये त्वया सर्पगजाजिनादिधारणाङ्गवैरूप्यादयो दोषा भगवति शिवे प्रतिपादिता , ते अज्ञानहेतुका एव । निर्गुणस्य निराकारस्य भगवतो वास्तव आकार एव न भवतीति कथ कश्चित्तस्य मूर्तिमवधारयेत् । मायया तु स भगवान् विश्वमूर्ति , सर्वं जगत्तस्यैव रूपम् । ततश्च जगद्रूपेण स्थितस्य कथमेकरूपेण परिच्छेद संभवेत् । यानि रूपाणि, यानि वा भूषणादीनि जगत्युपलभ्यन्ते, सर्वाणि तानि तस्यैव । यदि अङ्गेषु सर्पबन्धनम् , गजाजिनपरिधानम् , कपालधारण वा तस्य लोकदृष्ट्या निन्द्यन्ते, तर्हि विभूषणशोभितम् , दुकूलपरिधानम् , चन्द्रशेखरता चेति प्रशस्यतामपि । यदि स पिनद्धभोगी, तर्हि विभूषणोद्भासी कोऽन्य , तदपि रूप तस्यैवेति भाव । यद्वा एकेनैव रूपेणैश्वर्यवशात्सर्वविध स्वेच्छया स भवितु मर्हति, न हि तस्य कापि परतन्त्रता, यतो विश्वमूर्ति स एवेति । 'पिनद्धभोगि' इति पिनद्धपद जगदुपद्रवकारिणो सर्पाणा स्वाङ्गे बन्धन बोधयन्तीकरुणापरता भगवती व्यनक्ति । ततश्च यस्तत्तद्वस्तूना स्वीकारो दृश्यते, सोऽपि जगद्धितायैव, न आप्तकामस्य तस्य पदार्थापेक्षेति निगूढ बोधितम् ।

७९.

यच्च 'अयुक्तरूप किमत परम्' इत्याद्युक्तम्—तत्रोच्यते, अन्यत्र चिताभस्म अमङ्गलमपवित्र च भवतु, शिवशरीरे धृत तु तदन्यस्यापि पवित्रतासपादक भवति । अत एव नृत्यकाले हस्ताद्यङ्गव्यापारेण ये तस्य कणा भूमौ पतन्ति, तान् देवा स्तस्या भूमौ पतिता शिरोभिर्धारयन्ति । यदि तद्विशुद्धिकर न स्यात् , कुतो देवास्तद्धारणे प्रयतरन् ।

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाऽजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखर न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपु ॥ ७८ ॥
तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुव चिताभस्मरजो विशुद्धये ।
तथाहि नृत्याऽभिनयक्रियाच्युत विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥ ७९ ॥

८०

वर्णिन् ! शिवो वृषभमारुह्य गच्छतीति सत्यम्, किन्तु सर्वोत्तममैरावतमारुह्य गच्छन् (तव दृष्ट्या परो महान्) इन्द्रः, यदैव वृषमारूढं तं पश्यति, तदैव ऐरावतादवरुह्य, समीपमागम्य तस्य पादयोः प्रणमन्, स्वीयमुकुटस्थितानां मन्दारकुसुमानां रजोभिस्तस्य पादाङ्गुलीः रञ्जयति। तथा च न तस्य वृषभारोहणं वाहनान्तराप्राप्त्या, अपि तु 'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति', इति शिक्षयितुमेव, वृषभारोहणेन च का तस्य क्षतिः, स वृषमारूढोऽपि जगदीश्वर एव, इन्द्रादयश्च गजारूढा अपि तद्भृत्या एव। तेन सह वृषभारोहणं मदीयं परं सौभाग्यम्, न तु 'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' इत्यादि त्वदुक्तं युक्तमिति।

८१

वर्णिन् ! यद्यपि त्वं नष्टबुद्धित्वाद्भगवतः शिवस्य दोषानेव वक्तुं प्रवृत्तः, तथापि तव बुद्धेरस्थिरत्वादेकं वाक्यं भगवतो महत्त्वप्रतिपादकं सम्यगेव त्वया निःसृतम्, यत्त्वयोक्तम् 'अलक्ष्यजन्मता' इति, तथैव, 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादीनि श्रुतिवाक्यानि जगदारम्भे स्वयम्भुवं ब्रह्माणमपीश्वरः शङ्कर उत्पादयतीति निरूपयन्ति, एवञ्चैतस्य जगदीश्वरस्योत्पत्तिं को वा कथयेत्। उत्पत्तिस्तस्य नित्यस्य नास्त्येव, कुलीनता कथं स्यादिति।

८२.

वर्णिन् ! नाहं त्वया विवादं कर्तुमिच्छामि, यतो दोषरता विवादे प्रेमावताम्, विशेषतस्तत्त्वविदामप्रवृत्तेः। त्वं तावदाग्रहपरो दृश्यसे, अतो यथा तव शिवविषये ज्ञानम् तत् त्वं तथैव मत्वा धारय। न त्वहं त्वद्वचनाच्छिवे विरक्ता भविष्यामि, यतो मम मनो भगवति शिवे भक्त्या परमनुरक्तं सुस्थिरं वर्तते, दोषदर्शनेऽपि न तच्चालयितुं शक्यम् इति।

८३

एवं वर्णिनं प्रत्युक्त्वा पुनरोष्ठस्फुरणेन स्वयं किमपि वक्तुमिच्छन्तमवर्यं

असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाङ्गुली॥ ८०॥
विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति॥ ८१॥
अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते॥ ८२॥
निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥ ८३॥

वादप्रतिवादावनिच्छन्ती पार्वती सखीं प्रत्युवाच सखि ! अयं वटुः पुनः किमपि वक्तुमिच्छतीत्यनुमीयते, सोऽयं वार्यताम्। नाहं भगवतः शिवस्य निन्दां श्रुत्वा पापपङ्कनिमग्ना भवितुमिच्छामि इति।

८४.

पार्वती पुनरुवाच 'चपलो वाचालश्चायं वटुर्न विरंस्यति, न वा निर्गमिष्यति, तस्मादहमेवस्थानान्तरं गमिष्यामि।

> 'गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
> कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

इति स्मृत्या स्थानान्निर्गमस्य विहितत्वात्। इत्थं वदन्ती च सा उत्थाय गन्तुमारेभे। वेगेनोत्तिष्ठन्त्यास्तस्या वल्कलञ्च स्तनप्रदेशात्प्रच्युतमभूत्। (तेन शङ्करस्य स्तनदर्शनलालसापूर्तिरपि सूचिता) तमेव क्षोभेन निर्गच्छन्तीं दृष्ट्वा शङ्करेण स्वस्य रूपं प्रकटितम्, (वृषभध्वजशब्दोक्त्या परिजनपरिच्छदादिसान्निध्यमपि सूचितमिति प्रकाशिकाकार आह) स्मितं च कृतम् (तेनोक्तस्य सर्वस्य परिहासरूपता सूचिता) गच्छन्ती च पार्वती वसने धृत्वा निवारिता।

८५

अकस्मात् प्रियतमस्य शिवस्य दर्शनेन लज्जाहर्षप्रेमभयपरवशाया पार्वत्याः शरीरे कम्प स्वेद स्तम्भाद्याः सात्त्विकभावाः प्रादुरभूवन्। स्तब्धा च सा पर्वतनात्पूर्वं गमनाय यथोद्धृतपदा आसीत्, तथैवावस्थिता न तत्पदं तयाग्रे निहितम्, न च गमननिवृत्तिनिश्चयेन यथास्थानम् स्थापितम्। तत्रोपमाभिधीयते कविकुलगुरुणा–यथा प्रवहन्त्या नद्या मार्गे कश्चित्पर्वत आपतेत्, सा च नदी पर्वतेन निरुद्धाऽग्रे गन्तुमशक्ता स्यात्, प्रवाहवशाच्च स्थातुमप्यशक्तेति तत्रैव भ्राम्येत्, तथैव पार्वत्याः स्थितिस्तदानीमभूदिति।

८६

स्तब्धां पार्वतीं विलोक्य भगवता शङ्करेणोक्तम् 'सुन्दरि ! अद्यारभ्याहं ते

> इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।
> स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः॥ ८४॥

> तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
> मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥८५॥

> अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि ! तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
> अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥८६॥

दास इव संवृत्तोऽस्मि । यथा दासो द्रव्येण क्रीयते तथाहं त्वया तपसा क्रीतोऽस्मि, इति । (अद्य प्रभृति–इति आरम्भावधिरुक्त, अवसानावधिस्तु नोक्त इति निरवधि दासत्व व्यञ्जितम्) एतदभीप्सित वचन श्रुत्वा पर हर्षं प्राप्तया पार्वत्या सर्वोऽपि तप क्लेशस्तदेव दूरीबभूव । यतो हि प्राप्ते फले उपाये जात क्लेशो न दु खयति, प्रत्युत पूर्वंवदेव नवीनताम् (क्लेशप्राप्ते पूर्वामवस्थाम्) प्रापयतीति ।

इति कुमारसम्भवे पञ्चम सर्ग ।



किरातार्जुनीयस्य द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

महाभारतकथास्य महाकाव्यस्याधारः । किरातरूपधारिणा शिवेन सहार्जुनस्य युद्धम्, तदनु ततोऽर्जुनस्य शस्त्रप्राप्तिश्चात्र मुख्यं वर्णनीयम् । किरातार्जुनावधिकृत्य कृतं काव्यं किरातार्जुनीयमिति काव्यनामव्युत्पत्तिः । द्यूतनिर्जितेन भ्रातृभिर्द्रौपद्या च सार्धं वने निवसता ज्येष्ठपाण्डवेन युधिष्ठिरेण दुर्योधनस्य राज्यशासननीतिपरिज्ञानाय गुप्तचररूपेण कश्चिद्वनेचरो राजधानीं प्रति प्रेषितः तेनागत्य दुर्योधनस्य शासननीतेरतिप्रशंसा कृता । अथ युधिष्ठिरेण तस्मिन् वृत्ते भ्रातृणां द्रौपद्याश्च सविधे वर्णिते, द्रौपदी "क्रमेण प्रबलीभवन्तः शत्रवः शीघ्रमेव जेतव्याः, न त्वेवमुपेक्ष्याः" इति युधिष्ठिरमुत्तेजितवती । तदिदं प्रथमे सर्गे गतम् । अनन्तरं वृत्तमिदमुच्यते—

१.

भीमसेनो द्रौपद्या वचनं स्वमनोऽनुकूलं सारयुक्तं च बुद्ध्वा राज्ञः प्रवृत्तये स्वयमपि तत्समर्थनाय प्रबला युक्तीरालम्ब्य वक्तुमारेभे । बलप्रयोग एव विधेय इत्येतस्यापि पक्षः । नृपमित्यनेन युधिष्ठिरो न कश्चिद्वीतरागः, अपि तु क्षत्रियवंशज इति भवत्यस्य परामर्शस्य पात्रमिति द्योतितम् ।

२.

भीमो वक्ति, हे राजन् द्रौपद्याः क्षत्रियकुलाभिमानः प्रोज्ज्वलं जागर्ति, अस्मासु च महानस्याः स्नेहः । ततश्च स्नेहपूर्वकं निपुणं स्वपक्षपरपक्षसम्बन्धि सर्वं विविच्य यत्तयोक्तमस्ति, एतादृशं वचनं बृहस्पतिरपि कदाचिदेव वक्तुं शक्नुयात् । ततश्च स्त्रियोक्तमपि शास्त्रानुरोधि, तत्रापि च हितानुबन्धि इदं वचः कं जनं न विस्मापयेत ? आश्चर्यस्थानमिदं वचनमिति वचनप्रशंसायां तात्पर्यम् ।

विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥
यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा ।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥ २ ॥

३.

यथा निगम्भीरेऽपि नदीह्रदादौ घट्टघाटाद्येन सर्वेऽपि प्रवेष्टुं शक्नुवन्ति, परं तत्रानुकूल्यघट्टनिर्माणं न सर्वैः सुकरम्। तथैव नीतिशास्त्रमपि ग्रन्थानधीत्य सामान्येन व्याख्यातुं बोद्धुं च बहवः शक्नुवन्ति, परन्तु प्राप्तेऽवसरे 'अत्रेदमित्थं कार्यम्' इति कार्यमार्गनिदर्शको नीतिरहस्यज्ञोऽनुकूलं प्रवक्ता सुतरां दुर्लभः। इयं तु द्रौपदी कार्यमार्गं निपुणमुपन्यस्यतीति यत्सत्यमस्ति विस्मयस्थानम्।

४.

हे राजन्! इदं द्रौपदीवाक्यं यद्यप्यल्पम्, युद्धोपोद्बलकतया निरुत्साहाय पुंसे भयङ्करं च, तथापि परिणामोऽस्य सुखः, सारवत्तार्थं च वाक्यमिदम्। अत एव प्रारम्भे रोगिणे दुःखदमपि उत्तरकाले नैरोग्यबलादिजनकम्, स्वल्पपरिमाणमपि महाप्रभावशालि रसायनाद्यौषधम् यथा सर्वैरद्रियते, तथा गुणशालि गरीयो द्रौपदीवाक्यं ग्राह्यमेव।

५.

हे राजन्! त्वं गुणग्राही असि, अत एव इममर्थं प्रतिपादयद् द्रौपदीवचनमिदं सर्वथा तवापि रुचिकरं भवितुं युक्तम्, समुच्चयार्थेनापिशब्देन 'अस्माकन्तु रुचिकरमस्त्येव, भवतोऽपि भवेत्' इति बोध्यते। भारतीपदेन भरतवंशसम्बन्धोऽपि व्यञ्जित इति चिन्त्यमानु। गुणवदपीदं स्त्रियोक्तमिति नोपेक्षामर्हति। यतो गुणमात्रलोलुपाः पण्डिताः 'इदं केनोक्तमित्यादि' वक्तृविशेषज्ञानाय न यतन्ते। गुणमात्रमाददते "बालादपि सुभाषितम्" इति न्यायात्।

६.

इदानीं भीमं स्वयमुपालभते—हे राजन्, लोकस्थितिहेतूनामान्वीक्षिक्यादीनां चतसृणामपि विद्यानां निपुणमध्ययनेनाधिगता या ते बुद्धिः सदसतोः सम्यग्

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥ ३ ॥
परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम्।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥ ४ ॥
इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती।
ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥ ५ ॥
चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥ ६ ॥

विवेचन कर्तुमशक्त, अथ ■ कुतो वैपरीत्य प्राप्ता ? यथा पङ्के निमग्ना करिणी आत्मानमुद्धर्तुमप्रभवन्ती निश्चेष्टा किंकर्त्तव्यविमूढा च सती खिद्यते, तथैव तव बुद्धिरपि खिन्ना किंकर्त्तव्यविमूढा तिष्ठति, कोऽत्र हेतु ? नैतत्कथमपि युक्तमिति । नृपेतिसंबोधनेन मतिविपर्ययो बोधित , त्व नृपोऽसि, प्रजापालन तव धर्म , न तु वने वासस्तपो वा, तद् विपर्ययेण त्व धर्म पश्यसीति । ततश्च पङ्कपतिता करिणी यथा बलवत्तरेण करिणा शक्यत उद्धर्तुम्, तथा त्वमपि बलमाधाय समुद्धर, कथमाश्रयेति तात्पर्यम् ।

७

हे राजन् ! राज्यबहिष्कृतो निराश्रयस्त्वं वनादनमटसि । शत्रुभिरापादिता मिमां गर्हणीयां दशामनुभवसि, परं नात्मोद्धाराय मनाक् पौरुषमवलम्बसे । तेन च सुरा अपि यत् पौरुष बहुमन्यन्त, तदेव महापुरुषेण त्वयोपेक्ष्यमाण लोके नष्टप्राय जातमित्यहो परमा सीमा कष्टस्य । 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ' इति न्यायाद्भवद्दृष्टान्तेन सर्वेऽपि लोका पौरुषमुपेक्षिष्यन्ते । तत पौरुषोपक्षयो लोके कष्टप्रवृत्तिश्च स्यादिति महाननर्थं यद्वा—शत्रुभिर्दुर्दशां गमितेऽपि त्वयि अद्यापि देवा अपि पौरुषम (उद्योगयोग्यताम्) सभावयन्ति, 'अस्ति राज्ञि पौरुषम्' तत्तु काले प्रकाशिष्यत' इति, पर सर्वथोदासीने त्वयि सा सभावनापीदानीं नश्यति । ततश्च 'सभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इति न्यायेन तव त्वदाश्रितानां च स्माक महत्कष्टस्थानम् ।

८.

दूरदर्शी नृपति शत्रोर्वृद्धिमात्र दृष्ट्वा न तत्प्रतीकाराय यतते, नापि क्षीयमाण दृश्येनात्यैव तमुपेक्षते । किन्तु शत्रोरभ्युदयो यद्यादौ महानपि दृष्ट , पर तदन्तो यदि न शुभस्तर्हि समुपेक्षत एव, स्वयमेव समाप्यमाने तद्विनाशे प्रयत्नस्य व्यर्थत्वात्, किं च क्षीयमाणोऽपि शत्रुर्यदि परिणामेऽभ्युदयोन्मुखस्तर्हि समाप्यमानां तदुन्नतिं प्रतिकर्तुं यतत एव, वृद्धिं प्राप्तस्य तु दुरुद्धरत्वापत्तेरिति । तथा च दुर्योधन स्येदानीमुदय , स च न दुरन्त , अपि ■ स्वन्त एवानुमीयते, चारोक्त्या तस्य नीतिप्रवणताज्ञानात् । ततश्च न स उपेक्षामर्हति, अपि तु प्रतीकारमेवेति यतितव्य मेवास्माभि प्रतीकाराय ।

विधुरं किमत पर परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥
द्विषतामुदय सुमेधसा गुरुरस्वन्ततर सुमर्षण ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत् प्रवण परिक्षय ॥ ८ ॥

९.

नीतिकुशलो जनो यदा लक्षणैर्विचारयति—यच्छत्रोर्हानिः क्षीप्रभाविनी महती च, स्वस्य तु हानिः कालचिरेण सम्भाव्यते, साप्यल्पैव, तदा उदासीनो भवति, किमपि न विचेष्टते। दैवेनैव शत्रुपराभवस्य सिद्धत्वात्। यदा तु विचारयति शत्रोर्हानिश्चिरेण कथञ्चित्स्यात्, साप्यल्पैव, स्वस्य तु हानिः प्रत्युपस्थिता, प्रभूता च, तदा प्रतीकारे झगिति प्रवर्तते। अनया च नीत्या अस्माभिरिदानीं प्रतीकारे प्रवर्तितव्यमेव, यतोऽस्माकं क्षयः महानुपस्थितो वर्तते, शत्रोस्तु नेदानीं क्षीप्रं सम्भाव्यत इति।

१०.

ये हि राजानो वृद्धिं गच्छन्तीमपि शत्रूणां शक्तिमुपेक्षन्त एव, न तत्र कमपि प्रतीकारमाचरन्ति, तेषां सम्पदः क्षीप्रमेव विनश्यन्ति। तत्र हेतुरुत्प्रेक्ष्यते, एवंविधस्य पुरुषस्य समीपेऽवस्थित्या लोकाः स्त्रीणामिव सम्पदामपवादं करिष्यन्ति "इमाः सम्पदोऽलसे निकृष्टे पुरुषेऽनुरज्यन्ते" इति। तदपवादभयादेव सम्पदोऽपवादप्रसारात्पूर्वमेवाशु ततोऽपसरन्ति।

११.

यो नृपः कोशदण्डादिभिः क्षीणोऽपि नैसर्गिकं क्षात्रं तेजो न जहाति, प्रतिपक्षांश्च दूरीकृत्याभ्युदयाय सततं प्रयतते, तस्य लोका वशीभवन्ति। यथा शुक्लप्रतिपदि प्रादुर्भूतश्चन्द्रो यद्यपि क्षीणतमः, तथापि नैसर्गिकः प्रकाशस्तस्मिन् वर्तत एव, वर्धिष्णुश्च सः, न हीदानीं क्षयस्तस्य सम्भावितः, तस्मात्प्रजास्तं प्रणमन्त्येव, न तु क्षीणोऽयमिति तिरस्कुर्वन्ति। वयमपि यद्यपि क्षीणाः, तथापि यदि तेज आश्रित्य यत्नपराः स्याम्, तर्हि अवश्यं जना अस्मद्वशे भविष्यन्तीति।

१२.

राजन्! "प्रभुशक्तिहीना वयं किं करिष्याम" इति मा भैषीः, यतो हि प्रभुत्वस्य—कोशदण्डयोर्मूलं नीतिः, साप्युत्साहमपेक्षत इत्युत्साहमूल!

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥
अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ॥ १० ॥
क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥ ११ ॥
प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥ १२ ॥

नीतिशास्त्रेण हि मन्त्रस्य पञ्चाङ्गानि विविच्यन्ते। कार्यावसरे तु प्राप्ते विनोत्साहं निरर्थिका नीतिः। यथा हि दैवप्रातिकूल्ये व्यर्था लोकस्य कृष्यादिक्रियेति। यद्यपि भीमो न दैववादी, तथापि दैववादरतो युधिष्ठिरस्तदभिमतेन पथैव बोधनीय इति दैवं दृष्टान्ततया गृहीतम्। ततश्चोत्साहेन नयस्यापि मूलेन नयसाध्यौ कोषदण्डावुत्पादयिष्येते।

१३

ननु उत्साहे समाश्रितेऽपि नीतिपालनमन्तरेण विनिपातः संभाव्येत इति युधिष्ठिरशङ्कायामाह भीमः। आत्माभिमानरक्षिणां धीराणां स्वपुरुषार्थ एव विनिपाताख्यमनर्थं निवर्तयति, न तु कस्यचिदन्यस्यापेक्षा। यथा कश्चिदुन्नतं वृक्षपर्वताद्यारोहन् पदस्खलनजनितपतनपरिहाराय किञ्चिच्छालादिकमालम्बते, तथोन्नतं स्थानमधिकर्तुमिच्छन् मनस्वी पौरुषमेवालम्बते—इति नीतिविदां सिद्धान्तः।

१४.

उत्साहपराक्रमवतः प्रशंसा कृता, इदानीं तद्विहीनो निन्द्यते। यः पराक्रमवान् न भवति, तं विविधानि व्यसनादिकष्टानि परामवन्ति, शत्रवस्तं पीडयन्ति पाटच्चराश्चाप्यकोषादि विलुण्ठन्ति, सचिवास्तं वञ्चयन्तीत्यादि। विपद्भिराक्रान्तं च राजानं दृष्ट्वा प्रकृतयोऽपि तस्मै करादिकं न प्रयच्छन्ति इति कोषहानिः, तत एव च सैन्यहानिरपि। ततश्च न कोऽपि तमाद्रियते। सर्वैरनादृतश्च कथं राजलक्ष्म्या सेव्येत। तस्माद्राजलक्ष्मीमभिलष्यता समाश्रयणीय एव विक्रमः।

१५.

मना श्लाघीयमाना उत्साहं तत्साध्यमुद्योगं च मूल एव निहन्ति, ततश्च तामाश्रितवतस्तमोरूपो विषाद एव वर्धते, तस्मिन्नेर्ऽपि न तस्योन्नतेः संभावना, राजलक्ष्मीश्च नियतं ततोऽपसरति। यथानुकूले नायकेऽनुरक्ता नायिका प्रतिकूलादुद्विजते, तथा संपदः पराक्रमवत्यनुरक्ता विषादादुद्विजन्त इति पराक्रमविषादयोः पुंस्त्वेन समृद्धेः स्त्रीत्वेन च व्यज्यत इति चित्रभानुराह।

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।
विनिपातनिवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १३ ॥
विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ १४ ॥
तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥

१६.

राजन् ! यदि तवायमभिप्रायो—यद् द्यूतनियतसमयापादनन्तरं दुर्योधनो राज्यं दास्यत्येव, किं युद्धेन, तर्हि नैतत्सम्यक् पश्यसि। एतावतीं राज्यश्रियं स्वायत्तां कृत्वा ज्ञातास्वादो दुर्योधनो न विना युद्धेन तां त्यक्ष्यति। तत्र हेतु चतुष्टयं विशेषणैर्व्यञ्जितम्। दुर्योधनो हि धृतराष्ट्रसुतः, धृतराष्ट्रो जन्मान्धोऽपि कथंचिद् भ्रातुराच्छिद्य राज्यश्रियं बुभुजे, न तत्याज, ततस्तत्सुतो दुर्योधनोऽविकलाक्षः कथं त्यजेत्। किं च दुर्योधनेनारम्भादेव लाक्षागृहदाह—विषान्नभोजन—द्यूतादयः (जिह्माः) कुत्सिता व्यापाराः कृताः, तेऽपि तथा कृता यथा ते प्रकटीभूताः सर्वैर्ज्ञाताः (तदर्थमेवाविष्कृत—पदोपादानम्) ततश्चैवंविधः कुत्सितः कथं राज्यं त्यजेत्। किं च तेनोपभुक्ता न सामान्या सम्पद्, किन्तु नरेन्द्रसम्पद्, साऽपि तेन चिरम् आस्वादिता—उपभुक्ता। ततश्च सुत्यजेति असम्भाव्यमेव।

१७.

अथ यदि मन्येत—जनापवादभयाद्वा भीष्मादीनामनुरोधाद्वा दुर्योधनो राज्यं प्रत्यर्पयिष्यत्येवेति, तथापि नैतदुक्तं स्यात्। यतो राजन् ! नरनाथोऽपि, क्षत्रियत्वाद्विजित्यैव ग्रहणं तव शोभते, नरनाथत्वादन्येभ्यो ददतस्तव शोभा, यदि त्वादृशोऽपि परप्रसादेन स्वाधिकारं लभेत्, तर्हि जगत्प्रसिद्धविक्रमाणां तवानुजानामस्माकं बाहुबलस्य किं प्रयोजनं स्यात्। ईश्वरस्याधिकारोऽपि परनियोगेन, न केवलं परनियोगेन, अपितु शत्रुनियोगेन प्राप्यते, सोऽपि त्वया, राजसूययज्वना, सोऽपि पुनः अर्थात् पूर्वं लाक्षागृहात्कथंचित्पलायनादपि धृतराष्ट्रादिप्रसादेनैव स्वाधिकारो लब्धः, तत एव अभिमन्युद्विष्टैस्तैरज्ञानैः स्वदत्तोऽधिकारोऽपहृतः, पुनरपि तत एव प्राप्स्यते, व्यर्थं तर्ह्यस्माकं पौरुषमित्यत्र किमु वक्तव्यम्।

१८.

राजन् ! यो हि स्वप्रभावेण सर्वमपि जगदाक्रमितुमिच्छति, स कदाचिदपि परैर्दत्तां समृद्धिं न कामयते, स्वबलेनैवार्जितं भोक्तुमिच्छति, इदमेव च महत्त्वलक्षणम्, परपिण्डोपजीविनः कुतो महत्त्वं स्यात्। यथा हि वनराजः सिंहः स्वनखदंष्ट्रै

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना ।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ॥ १६ ॥
द्विषता विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।
जननाथ तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥
मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः ।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

वक्षति। स कदापि परालीढमामिष न भुङ्क्ते। स्वयमेव भोजनाय मांसमुत्पादयति। तदपि न क्षुद्रान् पशून् अर्दयित्वा, अपि ■ मदवर्षिणो गजेन्द्रान् स्वय हत्वा। तेनैव दृष्टान्तेन महद्भिर्वर्तितव्यम्।

१९

राजन्! न च दुर्योधनाल्लक्ष्मीमवाप्य कथमपि त्वया संतुष्टेन भवितव्यम्—यतो हि मनस्विना न लक्ष्मीप्राप्तिर्मुख्यमुद्देश्यम्, यशःप्राप्तिरेव तेषा प्रवृत्तेरुद्देश्य भवति। स्थिरतरस्य यशसश्चयनाय (समहाय) ते अस्थिरान् प्राणानपि सुख त्यजन्ति, किं पुनर्विद्युद्विलासचपला राजलक्ष्मीम्। यशःसंपादनाय तेषां या प्रवृत्ति, तयैव लक्ष्मीरपि विना यत्नान्तर प्राप्यते इत्यन्यदेतत्। तव यशो दुर्योधनप्रसादेन राज्यमवाप्य न लभ्यते, इत्यतो हीयेत। विजित्य राज्यमाप्त्यैव क्षत्रियस्य यशो विद्योतत इति। ननु यशोऽस्माक जगति राजसूयादिभिर्विद्योतत एवति चेत्तत्रोक्तम् चिचीषत इति। महति प्रासादे यथा इष्टकोपरि इष्टका भूयो भूयश्चीयन्ते, तथा मनस्विनो यशस उपरि यशश्चेतुमिच्छन्ति, न तु यशसा परितुष्यन्तीति। द्विविधा लक्ष्मी—साम्राज्यलक्ष्मीर्नियतैका, तद्विकारभूता समये समये प्राप्यमाणा सम्पद्द्वितीया। अत्र द्वितीयाया विद्युद्विलाससाम्यमप्रोक्तम्, साम्राज्यलक्ष्म्यास्तु विद्युत्साम्य तेन गम्यम्।

२०

लोके निस्तेजस परिभव प्रत्यक्ष दृश्यते, यत्प्रज्वलन् पावको न केनापि स्पृश्यते तस्यैव परिणतिभूत भस्म तु पादेनाप्याक्रम्यते। तत एव परिभव सोढुमशक्नुवन्तो मनस्विनस्तेजोरक्षाप्रसक्ताः प्राणानपि त्यजन्ति, न तु तेज कदापि त्यजन्ति। तस्मात्त्वयापि तेजोरक्षायमेव यतितव्यम्, सा च पराक्रमसाध्येति पराक्रम एव मतिर्विधेया। भस्मनामिति बहुवचनेन यथा निःसारकिंशुकादिभस्म, तथा गुरुतरखदिरादिभस्माप्याक्रम्यत एवति कुलीनस्यापि निस्तेजस परिभवो द्योतित, हिरण्यरेतसमिति तेजस्विन आराध्यमानस्य हिरण्यादिसमृद्धिदातृत्वमपि द्योतितमित्याहु।

२१.

किं च राजन्! आस्ता प्रयोजनविचार महान्त स्वभावेनैव परस्योन्नतिं

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभि स्थास्नु यशश्चिचीषत।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मी फलमानुषङ्गिकम् ॥ १९ ॥
ज्वलित न हिरण्यरेतस चयमास्कन्दति भस्मना जन।
अभिभूतिभयादसूनत सुखमुज्झन्ति न धाम मानिन ॥ २० ॥
किमपेक्ष्य फल पयोधरान् ध्वनत प्रार्थयते मृगाधिप।
प्रकृति खलु सा महीयस सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

दृष्ट्वा नोदासीना भवन्ति, अपि तु ततोऽप्याधिक्यमाप्तुं प्रयतन्त एव। अन्यथा परस्याधिक्यो महीयसः तेषां सुतरां विहन्येत। नयमीर्ष्या, अपि तु स्पर्धा। परस्योन्नतिं दृष्ट्वा चेतस्यभिज्वलनं तस्य विनाशानुचिन्तनं च ईर्ष्या, ततोऽप्याधिक्यमाप्तुं प्रयतनं तु स्पर्धा। ईर्ष्या नीतिविद्भिर्दोषपक्षे निक्षिप्यते, स्पर्धा तु गुणपक्षे। सोऽयमर्थो दृष्टान्तेन समर्थ्यते—घनगर्जनं श्रुत्वा शार्दूलः 'कोऽयं मदग्रे गर्जति' अभिभूय नशीकुर्यामिनम्' इति गुहाया निष्क्रम्य साटोपं गर्जत्युत्पतति चेति प्रसिद्धिः। तस्य खलु किं प्रयोजनम्, किं तेन मेघाक्षान्छेयम्, न किमपि। प्रकृत्यैव स स्वस्य परोपेक्षयावनतिं न सहते। सोऽयमेव मनस्विनां स्वभावः।

२२.

पौरुषालम्बनं सत्यपि भवः स्वादा न यति संशयस्तु त्वया न कार्यं, केवलं त्वया 'पौरुषम् करणीयम्' इति बुद्धिः कर्तव्या। तावन्मात्रेणैव शत्रवो हता इति निश्चितं ज्ञेयम्। त्वदनुत्साहेनैव वयं प्रतिबद्धाः स्म, तत एव च शत्रवो जीवन्ति, सपदं चानुभवन्तीति। त्वयावलम्बित उत्साहे अस्माभिः शत्रुक्षयः कृत एवेति जानीहि।

२३.

राजन्! यथा सक्रोधमभिमुखमागच्छन्तश्चत्वारो दिग्गजा न केनापि सोढुं (निवारयितुम्) शक्याः, यथा वा अभिमुखमागच्छन्तश्चत्वारः समुद्रा न केनापि सोढुं शक्याः, तथा समामे पराक्राम्यन्तस्तव चत्वारो लघुभ्रातर इन्द्रतुल्यविक्रमा वयं शत्रुभिः न केनापि सोढुं शक्याः। अस्मासूद्यतेषु शत्रून् नष्टानेव विद्धि। यथा दिग्गजाः समुद्राश्च चतसृषु दिक्षु विश्रुताः तथा तवानुजा अपि। सर्वैवायं प्रभावः, यतस्तवानुजत्वादेव वयं प्रसिद्धा इति तवेति पद्यगया द्योत्यते।

२४.

राजन्! त्वं यद्यपि धीरतया न प्रकाशयसि, तथापि तव मनस्वितया स्फुटमनुमीयते यच्छत्रुभिरनयं कृत्वा समुत्पादितः क्रोधाऽग्निः सद्यस्तव मनसि

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप निर्धूय तमः प्रमादजम्।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः॥ २२॥
द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायतः।
प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः॥ २३॥
ज्वलतस्तव जातवेदसः सततं वैरिकृतस्य चेतसि।
विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः॥ २४॥

ज्वलत्येव। तस्य चास्याग्नेर्बलेनैव शान्तिर्भविष्यति, विलक्षणस्यास्याग्नेनिर्वापणाय जलमपि विलक्षणमेवापेक्षितम्, त्वदाशया हतानां शत्रूणां स्त्रियो वैधव्यमाप्य यदा रोदिष्यन्ति, तदा तेनामङ्गलेन जलेन अमङ्गलस्याग्ने शान्ति स्यात्। तथा च स्वीयमनोऽग्निशान्तये शत्रुव्यापादनमावश्यकमेवेति।

२५.

राज्ञा दृष्टम्—मत्तमतङ्गज इव भीमोऽयं क्रोधाख्यदोषेणाक्रान्तस्तज्जनितान् विकारान् प्रदर्शयति, मरुतश्चाय सुत इति चापल्यौद्धत्य च विशेषेणास्मिन् सम्भावितम्, नाय निर्भर्त्स्य शक्यो वशीकर्तुम्' न च त्याज्य, प्रियभ्रातृत्वाद्, बहुप्रयोजनसाधकत्वाच्च। तस्मात्सान्त्वनेनानुनेतव्य—इति विचार्य सामप्रयोगेण भीममनुनेतु महाराज प्रवृत्त, दुष्टोऽपि गजो न त्यज्यते, अपि तु कथचिद्विनीय वशे क्रियत एव।

२६.

युधिष्ठिरो वक्ति भीम! यत्त्वया वाक्यप्रपञ्च उदाहृत तस्मिन्न कापि प्रमाणानां बाध। शब्दाश्च सुन्दरा, श्रुतमात्र एवाय मन आकर्षति, अनुष्ठीयमान श्चास्योपदेशो मङ्गल सपादयिष्यति, एवविध वाग्विस्तर श्रुत्वा तव बुद्धिमत्ता सुस्फुट प्रकाशते। न हि बुद्धिहीन कश्चिदेवमभिदध्यादिति। यथा मलरहिते शुद्धे दर्पणे सर्व वस्तु स्फुट दृश्यते—तद्वत् तव बुद्धिरस्मिन् वाक्प्रपञ्चे दृश्यत इति स्तुति।

२७

भीम! तव वाचि पदानि न क्लिष्टानि, अपि तु प्रसन्नानि स्फुटार्थानि, अयं वाचो गुण, सति तु सरलत्वे प्रायेणार्थगौरव नश्यति, पर त्वद्वाचि सरलेष्वपि पदेषु गाम्भीर्यम्—अर्थबहुत्वमस्ति। आविष्टो वक्ता प्रायेण पुनरुक्ति करोति, एकमेवार्थं भूयो भूयो वक्ति, पर तव वाचि भिन्नार्थता शब्दानाम्, न पुनरुक्ति, सत्यपि च भिन्नार्थत्वे परस्पराकाङ्क्षारूप सम्बन्धो वाक्यानामस्त्येव, तेन न 'दश दाडिमानि, षडपूपा,' इत्यादिवद् 'जरद्गव कम्बलपादुकाभ्याम्' इत्यादिवद्वा उन्मत्तप्रलपितसादृश्यम्। तस्मात्तव वाक्य सर्वथैव बुद्धिमदुचितम्। अत्र

इति दर्शितविक्रिय सुत मरुत कोपपरीतमानसम्।
उपसान्त्वयितु महीपतिर्द्विरद दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ २५ ॥
अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥ २६ ॥
स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहित क्वचित् ॥ २७ ॥

भीमसेन प्रश्नच्छन्दव्याजेन कविना स्वकीय प्रबन्धोऽप्यभिहितः, भारविनाम्न एवंविधाया एव हि दृश्यमाने ख्यातत्वादिति सुधिय एवात्र प्रमाणम् ।

२८

यदत्र खलु प्रमाणवाक्यमात्रं पठन्तो युक्तिं सर्वथोपेक्षन्ते, सोयमपि दोषः, युक्त्या विना प्रतिपाद्यार्थस्य मनस्युपारोहासम्भवात् । भीम ! त्वया तथा न कृतम्, युक्तिरपि त्वया स्वीये वाक्यमध्ये सम्प्रयुक्ता । केचिच्च युक्तिमात्रगर्विताः शास्त्रं खण्डयन्ति, तदप्यत्यन्तमनुचितम्, त्वया तदपि न कृतम् । शास्त्रमाश्रित्य तत्समर्थनाय युक्तिरुक्ता । सर्वथा शास्त्रधर्मसम्बन्धि त्वद्वचनम्, त्वद्भिन्न एवंविधं वाक्यं वक्तुमारम्भेऽपि दुर्लभम्, दूरे तु पूर्णतया वचनम् । श्लोकद्वयमिदं वचनं प्रशंसापरम् । केचिन्निन्दापरतयापि योजयन्ति, युधिष्ठिरे वक्तरि तत्सर्वथानुचितमेवेति मल्लिनाथः ।

२९.

ननु यदि सम्यक् मदीयं वचनम्, तर्हि तदनुसारमेव प्रवर्तितव्यं भवतेति भीमस्याभिप्रायमनुमाय वदति युधिष्ठिरः, भीम ! यद्यपि त्वया सम्यगेव पराक्रमपक्षो निर्णीतः, अथाप्यहं पुनरपि विचारं वाञ्छामि, न हि मे चेतस्यद्यापि निर्णयो जायते । यद्यपि नीतिशास्त्रेण सन्धिविग्रहाद्या विषयाः सामान्येन निर्णीयन्त एव, तथापि देशकालपात्राधिकारभेदाद्ये तत्र तत्रान्तरा अवान्तरभेदाः, न ते नीतिशास्त्रेण क्वापि निर्णेतुं शक्यन्ते । तत्र निर्णयार्थं बुद्धिरेवापेक्ष्यते । न च विशेषनिर्णयमन्तरेण कर्तव्ये प्रवृत्तिः फलवती स्यात् । तस्माद्विशेषनिर्णयाय भूयो भूयो विचारः कर्तव्य एवेति ।

३०

अनेन पूर्णं विचारं विना क्वापि किमपि कार्यं विधातुमनुचितमिति सूच्यते नीतिः । विना विचारं कार्यकरणे महत्य आपदः आपतन्ति । एतद्वैपरीत्येन यो विचार्य कार्यं करोति, तस्य सविधे विनैव यत्नं सम्पद आगच्छन्ति । यथा काचित् पतिव्रता गुणलुब्धा गुणवन्तं पतिं वृणुते, तथा गुणलुब्धा अनेकाः सम्पदो युगपदेव विचार्य कार्यकर्तारं वृणुत इति ।

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः ।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥ २८ ॥
अवितृप्ततया तथापि मे हृदयं निर्णयमेव धावति ।
अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ॥ २९ ॥
सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ ३० ॥

३१.

यथा कृषीवलो जनः क्षेत्रे बीजवापं कृत्वा, तस्य प्रतिकूलप्रसङ्गाद्रक्षां कुर्वन्, फलोत्पत्तिं प्रतीक्षमाणः, जलेन बीजं सिञ्चन् शरदतौ सस्यम्—तां सस्यसमृद्धि-माप्नोति, सस्यसमृद्धिशालिन्या शरदि तस्य नियतोऽधिकारः, तथैव यः कर्तव्यं रुपस्वरूपेण मनसि निधाय प्रतिकूलप्रसङ्गाद्रक्षां कुर्वन्, फलप्राप्तेश्च समयं प्रतीक्षमाणो विवेकेन कर्तव्यं पोषयति, तस्य फलशालिन्यां क्रियायां नियतोऽधिकारः, स समये कर्म कृत्वा फलं प्राप्नोत्येवेति। साहसिकः कदाचित्फलं प्राप्नोति, कदाचिन्न, विमृश्यकारी त्ववश्यं फलं प्राप्नोत्येव।

३२.

संप्रदायागतेन शास्त्रज्ञानेन मनुष्यस्य शोभा भवति, तच्च शास्त्रज्ञानं क्षमया शोभते, शास्त्रं ज्ञात्वापि यदि क्रोधवशः स्यात्, व्यर्थं तज्ज्ञानं स्यादिति। क्षमापि च अवसरे पराक्रमस्यैव शोभते, अन्यथा सा क्षमा अशक्ततेति गण्यते। यः समये सामर्थ्यं परिदर्श्यापि क्षान्तः, स एव क्षान्तः। तेन पराक्रमः क्षमाया भूषणम्। (तेनेदं सिद्धम्–क्षमा सततं धार्या, पराक्रमस्तु तद्भूषणत्वेन अवसर एव) पराक्रमश्च सिद्धौ सत्यामेव शोभते, इति सिद्धिः पराक्रमस्य भूषणम्। किन्तु सिद्धिरियं न केवलस्य पराक्रमस्यायत्ता, अपि तु नीतिसहकारेण कृतस्य पराक्रमस्य। नीतिसहकृतपराक्रमप्राप्तैव च सिद्धिर्भूषणरूपा, न तु साहसिकत्वेन विनैव नीतिं प्राप्ता, तस्याः काकतालीयन्यायागततया भूषणत्वाभाव एव। सिद्धिः सर्वस्यापि भूषणमेव, न तु तस्या भूषणान्तरमिति तस्याः स्तुतिर्गम्यते। क्षमामाश्रित्य शास्त्रानुसारेण प्रवर्तितव्यम्, न तु झटिति पराक्रम आलम्बनीयः, साहसेन कदाचित्प्राप्तापि सिद्धिर्न शिष्टैः संमान्यत इति भावः।

३३.

यथान्धकारेणाच्छन्ने पथे सम्यक् प्रज्वलितेन दीपेन दृष्टं वस्तु दृश्यते, तथा 'इदं कर्तव्यम्, न कर्तव्यम्' इत्यादिविप्रतिपत्त्या आच्छन्ने कर्तव्यतत्त्वे सुविचारितं शास्त्रमेव मार्गनिर्णयं करोति। तेन शास्त्रं सुविचार्य तदनुसारेण प्रवर्तितव्यम्, न तु कदापि सहसेति भावः।

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति॥ ३१॥
शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥ ३२॥
मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥ ३३॥

३४.

ये हि पुरुषाः शिष्टानां मार्गमनुसरन्ति, शिष्टसम्प्रदायेन व्यवहरन्ति, शास्त्रानुरोधेन प्रवर्त्तन्ते, तेषां यदि दैवात्पतनमपि कदाचिद् भवेत्, तथापि पतनमिति न गणनीयम्, अपि तून्नतिसममेव तत्। यतो हि यथोन्नतः पुरुषो लोके श्लाघ्यते, तथैव ते जनैः सदाचारनिष्ठत्वाच्छ्लाघ्यन्त एव, न तु केनापि निन्द्यन्ते, पुरुषापराधाभावात्। तदुक्तं नीतिशास्त्राचार्येण कामन्दकेन—'यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेति विपर्ययम्। पुरुषस्त्वनुपालभ्यो दैवान्तरितपौरुषः।' इति। किं च स्वापराधात्पतितः पुरुषो मलिनमतितया उद्धाराय पुनरपि करोति, तेन च भूयो भूयः पतति, दैवात्पतितस्तु सन्मार्गनिष्ठत्वात्पुनरपि पापं न करोति इति तस्य तत्पतनं सद्य एव निवर्तते, उन्नतिरेव चिराय लभ्यत इति विनिपातस्याप्युन्नतिहेतुतया उन्नतिसमत्वं ज्ञेयम्। तेन दैवाघातादनर्था अपि वयं न शोच्या एव, स्वापराधाभावादिति।

३५.

येषां विजयप्राप्तेरस्ति कामना, ते विवेकिनः क्रोधस्य वशम्भूताः कदापि न प्रवर्तन्ते, सति क्रोधे विवेकासंभवात्, विवेकं विना च विजयकथाया अप्यभावात्। तस्मात् क्रोधं विजित्य, यदा विवेकेन फलसिद्धिमवश्यंभाविनीं मन्यन्ते, तदा शौर्यसाहाय्यानुरूपं सम्यगुपायमाचरयन्ति। न च क्षुद्रफलाय तेषां प्रवृत्तिः, न वा परिणामेऽनर्थभवनायाम्। तदाह कामन्दकः—'निष्फलं क्लेशबहुलं संदिग्धफलमेव च। न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च' इति।

३६.

सूर्यो हि यदा पूर्वं स्वकान्त्या रात्रिजनितं तमो विनाशयति, तदैवोदयं (उदयाचलम्) याति, तथैव य उदयम् (अभ्युदयम्) इच्छति, तेन तमः पूर्वं विनाश्यमेव। अत्र तमो बुद्धिसंमोहः क्रोधजनितः। तद्विनाशश्च विवेकबुद्ध्या। क्रोधजयमन्तरेण नैवाभ्युदयलाभ इत्याशयः।

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ॥ ३४ ॥
शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः ॥ ३५ ॥
अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते ॥ ३६ ॥

३७

बलवानपि येन कोपजनितं तमो (मोहो) न निवार्यते, तस्य सर्वा अपि सम्पदः शक्तयः विनश्यन्ति । यथा कृष्णपक्षरूपेण कालेन तमो (अन्धकार) न निवार्यत इति तस्य चन्द्रस्य चन्द्रकला विनश्यन्तीति स्पष्टं दृश्यते । अन्यस्य बलवत्त्वमपि क्रोधान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेति । पुरुषकृतापराधादिह सम्पदां क्षय इति पुरुषस्यैव हन्तृत्वम् (विनाशकर्तृत्वम्) उक्तम्, सम्पदः स्वयं न नश्यन्ति अपि तु स एव सम्पदो विनाशयतीति । उपमानेऽपि कालस्य सर्वजगन्नाशकत्वादि तुल्याहन्तृत्वं तत्रास्त्येव । चन्द्रकलानां शोभनवस्तुत्वात्तत्र सम्पद्रूपत्वं च उक्तम्, शक्तीनां तु सम्पद्रूपत्वाभ्युदयहेतुत्वात्तुल्यत्वेन । आक्रमणेन सम्पद्विनश्यतीत्यपि लोकसिद्धमेव ।

३८

यो हि राजा न सर्वथा मृदुरेव स्यात्, नैवैकान्ततस्तीक्ष्ण एव भवेत्, अपि तु काले मृदु काले च तीक्ष्णः स्यात् स सर्वमपि लोकं स्ववृत्त्या आक्रम्य वशीकरोति यथा सूर्यं समयभेदेन हेमन्तादिषु मृदुः, ग्रीष्मादौ च तीक्ष्णो जायते अत एव सर्वोऽपि लोकस्तेनाक्रम्यते ।

३९

येनेन्द्रियाणि (इन्द्रियप्रेरका क्रोधाद्या दोषा) न जितानि, य इन्द्रियाणां वशे तिष्ठति स चिरं लक्ष्मीं भोक्तुं न शक्नोति । करगतापि लक्ष्मीस्तस्य विनश्यत्येव । परिग्रहपद, भार्यास्वीकार एव निरूढम्—तस्यात्र प्रयोगेण श्रीषु भार्यात्वारोपो द्योत्यत इति चिन्तमानु । श्रियामिति बहुवचनेन च नानाविधाना सम्पदां परस्परविरुद्धानां सपत्नीनामिव रक्षणे विशेषोपायौचित्यं ज्ञाप्यते । तथा च यः परवशः, तस्मिन्नेकापि स्त्री न रज्यते, किं पुनर्बह्व्यः, परवशो हि कथं श्रियो वशीकुर्यात् । उत्तरार्धेनेदमुक्तम्, श्रियोऽपि स्वभावेन चलाः, पुरुषोऽपीन्द्रियपरतन्त्र इति । उभयोश्चलयोर्योगे दुष्करमेव स्थैर्यम् । यथा शरदभ्राणां वायुपरतन्त्राणाम् । प्रावृडभ्राणां तु गुरुतया कथञ्चिज्जायत एव स्थैर्यमिति । तद्वद् जितेन्द्रियपुरुषाश्रिता श्रिय स्थिरा भवति । बहुच्छला इति बहून् छलान् जानन्ति, कथञ्चिदिवामिन

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः ॥ ३७ ॥
समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥ ३८ ॥
क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३९ ॥

प्रतार्य गच्छन्त्येव, एतेन च चलेन्द्रिये पुंस्ये लक्ष्मीः सुदुर्लभा। प्रकृतिकोपाद्याः तथा निर्गमदेनतोऽत्र विवक्षिताः। विशेषणाभ्याम् अस्या श्रियाः पुरुषत्यागस्य च व्यक्तिनिरूपणं विस्तरेण। तथा च दुर्योधनस्य चलेन्द्रियत्वात् तत्र वर्तमानापि लक्ष्मीश्चिरं न स्थास्यतीति प्रकृते सम्बन्धः। यद्वा स्थिरा लक्ष्मीरभिलष्यद्भिरस्माभिर्जितेन्द्रियत्वरो स्थेयम्, अपि तु तत्प्रेरकाः क्रोधाद्या दोषा विजेतव्या एवात।

४०.

भीम! यदि पूर्वमेतादृशं धैर्यमासीद्, येन त्वयैव धीरतमोऽपि समुद्रो जितः, (समुद्रे प्रकृतिस्थिरनिमग्नम्, न तु चञ्चलत्वम्, तरङ्गमालासङ्कुलत्वात्, त्वयि तूत्तमम्, मर्यादास्थितिरपि मनःक्षोभाभावेऽपि तत्र समुद्रो जित इति विभाव्यम्), समुद्रस्य काले (प्रलये) धैर्यं (स्थितिः) त्याज्यः, तव तु न कदापीति तस्य जय इति बोध्यम्, इदानीं तु त्वं मन्वन्तकाल इव त्वया क्षोभमुद्भावयसि, तत्र समुद्रस्त्वदपेक्षया उत्कृष्टः स्यात्। तस्य समये धैर्यत्यागः, तव त्वसमये एवेति तस्योत्कर्षः। पराजितस्य पुनरस्य कथं सर्वथानिष्टमेवेति धैर्यं त्वया वशीकृतमेव। प्रत्यक्षतया समुद्रादपि भीमो न्यूनः नीतः यदा क्षोभं जनयत्येव।

४१.

शास्त्राधिगमो हि क्रोधादिविकारविजयार्थेव भवति, ये शास्त्रमधीत्यापि विकारा न जिताः, तेषां न केवलं शास्त्राधिगमो व्यर्थः, अपि तु श्रियमपि रक्षितुं ते न शक्नुवन्ति। तेभ्यः श्रीः क्षोभयात्येव। तच्चेदमागतं न श्रियः स्वाभाविकम्, अपि तु तथा पुरुषाणां दोषैरेव जनितम्। तस्मात् श्रीश्चलेति लोके योऽयं श्रियः स्थिरत्वे कलङ्कः, सोऽयमजितेन्द्रियैः पुरुषैरेव दत्तः। शरीरजन्मना शत्रुतया यैरतिसन्निकृष्टा अपि स्थिता जेतुमशक्याः, ते दूरस्थान् रिपून् कथं जेष्यन्तीत्यभिप्रेतम्।

४२.

भीम! यथा बहुलशक्तिनिस्यापि, सेयमक्षमा नाम मनोविकारः क्रोधादिक-

---

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः।
क्रियते पतिरम्भसां भवता धीरतयाऽधरीकृतः ॥ ४० ॥
श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥ ४१ ॥
अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी।
जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥ ४२ ॥

सुराय अनुकूलमवसरं सहायादिसंपत्तिं च प्रतीक्षितुं न ददाति त्वरया अविवेकेन प्रवर्तयति । अनया च शत्रूणां कोऽप्यपकारो न क्रियते, अपि तु स्वस्यैव शरीरमिन्द्रियाणि च तप्यन्ते (शरीरेन्द्रियेत्युक्त्यापि स्वस्यैव शरीरादौ लब्धे स्वपदोपादानं स्वस्यैव शरीरादिकं तापयतीति द्योतयितुमुपात्तम्) तयानयाभिभूताः प्राकृताः पामरजना अविवेकेन प्रवर्तमाना नीतिभ्रष्टाः सिद्धेरपि भ्रश्यन्ति । भवादृशस्तु विवेकी अस्या वशगो भवदिति न सर्वथा योग्यम् । भीम प्रत्युत्तरस्य तात्पर्यमिदं राज उद्देश्यम् ।

४३.

क्षमा पुरुषस्योत्तरकाल रक्षति, वर्तमाना सपद पाति, सत्यामेव क्षमायां कर्माणि नूनं फलप्रदानि भवन्तीति सैव फलप्राप्तेर्मूलकारणम् । इयमेव शत्रून् विनाशयन्त्यपि स्वस्य स्वाश्रयस्य वा नानर्थं जनयति । एवंविधं सिद्धेः साधनं नान्यज्जगति वर्तते । अस्ति पराक्रमेणापि आयतेरुपकारः; परं नात्यन्तिकः, क्षमा तु भृशमुपकारिका । पराक्रमः फलं ददाति, परमल्पमेव, क्षमा तु भूरि ददाति । पराक्रमः शत्रून्नाशयति, परं कदाचित्स्वस्याप्यपकरोति, क्षमा तु न तथेत्युत्कृष्टा सा । कालप्रतीक्षया सहिष्णुतेह क्षत्रियाणां क्षमा विवक्षिता, न तु मुमुक्षूणामिव सर्वथा प्रवृत्तिनिघातिनीति विभावनीयम् ।

४४.

ननु क्षमावलम्बने क्रमेण दुर्योधनपक्षवृद्धिः स्यात्, उदासीनेभ्योऽस्मात्तु सर्वे राजानो दुर्योधनेनैव मैत्रीं बध्नीयुरिति भीमस्याशङ्कां मनसि विचार्य युधिष्ठिर उत्तरयति नैवं स्यात् । प्रथम बलशालिनो यादवानेव पश्य, तेषां प्रधानस्य कृष्णस्य वय पितृष्वसुः सुताः, स्वाभाविकं च तैरस्माकं प्रेम, तेषां चास्माभिः, मानयामश्च वयं तान् । दुर्योधनोऽभिमानी न तान् मानयति, असमानिता अपि केचन लुब्धा मानमविगणय्य महान्तमनुवर्तेरन्, परं ते तु मानरक्षिण इति अस्मान् विहाय दुर्योधनेन तेषां प्रीतिर्न कदापि भवितुमर्हति । प्रयोजनापेक्षया कञ्चित्कालं भवेदपि, सदा तु नैव ते दुर्योधनमनुसरेयुरिति तेषां भेदशङ्का नास्त्येव । ते दुर्योधनं त्यक्ष्यन्त्येव, अस्मत्पक्ष एवागमिष्यन्तीति परमस्माकं बलम् ।

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः ।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥
प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः ।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः ॥ ४४ ॥

४५.

यथा यादवाः, तथैव सन्त्यन्येऽप्यस्माकं सहजाः प्राकृताः कृत्रिमाश्च सुहृदः, यादवानामपि च सन्ति सहजाः सुहृदः, तेषामपि च सुहृदो सन्त्येव सुहृदः स्वमतानुकूलाः, एते सर्वेऽपीदानीं यद्यपि दुर्योधनानुगताः प्रति नीता इव लक्ष्यन्ते, तथापि स एष तेषां विनयः कृत्रिमः, केवलं प्रयोजनापेक्षी, यस्माद् दुर्योधनं प्रति तेन सह वैरमनुचितं मन्वाना विनयं प्रदर्श्य तं प्रतारयन्ति, स्वप्रयोजनं साधयन्ति च, कार्यकाले तु तेऽस्मत्पक्ष एव यादवैः सहाभविष्यन्ति । 'धृतराष्ट्रात्मजम्' इति पदम् 'अन्धपुत्रो दुर्योधनः स्वयमप्यन्ध इव कृत्रिममपि विनयमकृत्रिमं मन्यत इति सुखेन प्रतारयितुम्' इति द्योतयति ।

४६

भीम ! यद्यपि मयोक्ता राजानः सन्त्येवास्मत्पक्षपातिनः, परं यदि त्वत्प्रभायाः प्रतिभुवस्य त्रयोदशाब्दपरिमितस्यावधेर्मध्य एव स्वप्रभावमनुसृत्यास्माभिरभियोगः क्रियेत, तर्हि दुर्योधनस्यादोषम्, अस्माकं सत्यप्रतिज्ञातिक्रमरूपं दोषं च विभाव्य सर्वे एतेऽस्मत्पक्षात्पृथग् भविष्यन्ति । अस्मत्पक्षाश्रयणे कश्चिद्धर्मलाभो न भविष्यतीति न्याय्ये पथि वर्तमानास्ते कथं दुर्योधनेन युज्येयुः । यथा सूर्यं उदयन्नेव कमलदलानि भेदयति तथा त्वत्कर्तृकाभियोगवृत्तान्तः प्रसरन्नेव सर्वान् अस्मत्तो भेदयेदिति व्याख्यातारोऽभिप्रायमाहुः । वयं तु पश्यामः—'कृतावधेः' इति विशेषणात् त्रयोदशवर्षपरिमाणावधिरिति लभ्यते, तदवधौ पूर्णे त्वया कृतस्याक्रमणस्य वृत्तं निशम्य य इदानीं पूर्वोक्तया कृत्रिमरीत्या तत्पक्षावलम्बिनः ते ततो विश्लेषयिष्यन्ति, अस्मत्पक्षं चाश्रयिष्यन्तीति । एतदेव चोत्तरश्लोकेन सहेतुकमभिवदति इति प्रकरणानुकूलत्वम् । एतेन 'अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते' इति भीमोक्तस्योत्तरं दत्तम् ।

४७.

अस्माकं वंशपरम्परया ये सुहृदः अस्मत्पक्षमाश्रयिष्यन्त्येव, परं ये उदासीनाः, तेऽपि कालक्रमेण दुर्योधने विरक्ता भविष्यन्तीति अस्माभिर्भेदरूपमुपायमाश्रित्य स्वपक्षं आनेतुं शक्यन्ते । दुर्योधनो हि स्वभावेनोद्धतः कृतार्थतां च

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये ।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥ ४५ ॥
अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य ततः कृतावधेः ।
प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥ ४६ ॥
उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः ।
सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

स्वीयामवस्थां दर्पेण तथा मत्ता भविष्यति, यथा सर्वानवमानयिष्यति। अवमानितान्तु साधारणोऽपि जनो न सहते, लोकाभिधायिनस्ते राजानः, तेषामपि च समूहः, स्वयमपमानं सहेत, स्वभावेषा नियमस्त्वत्र स्वाभाविकः, तेन चास्माकं कार्यसिद्धिरिति। विधाता–इति अनद्यतनार्थेन लुट्प्रत्ययेन क्रियोत्पत्तौ कश्चित्काल समपेक्षत एवेति द्योतितम्।

४८.

ननु दुर्योधनः सर्वसाधारणं विनयं दर्शयतीति वनेचरेणावदितम्, ततश्च स्वाभिमानशमन एव कुत इत्याशङ्क्य समाधत्ते युधिष्ठिरः–दुर्योधनस्य विनयो न वास्तवः अपि तु कृत्रिमः, स्वल्पकालस्थायी। येषां शील एवाभिमानः, ये अभिमानं गुणं मन्यन्ते, तथा भूताः विनयाः नोत्सहन्त एव। केवलं मण्डलं वशीकर्तुं कृत्रिमं विनयं ते दर्शयन्ति, स च विनयस्तावन्त कालमभिमानवेगं तेषां रुणद्धि। न स्वभिमानं नाशयति। यदा तु सम्पन्नं कार्यम्, प्राप्ता समृद्धिः, तदा सा समृद्धिरेवाभिमानं पुनरुन्नतं करोति, तेन च विनयो लीयते।

वेगशब्दोऽत्र प्रकरं लाक्षणिकः, तेन यथा अदृढेनाल्पेन सेतुना निरुद्धवेगाऽपि नदी प्रायप्रावल्या सेतुं विनाश्य सर्वतः प्रवहति, तथा विनयरूपं सेतुं विनाश्य मदस्तथा प्रसरत्येवेति व्यञ्जितम्। विभवानुस्तु असमापितकृत्यसम्पदामेव मदं विभूतय उत्तम्भयन्तीति योजयति, ते हि कार्यमपि पूर्णतां नेतुं न शक्नुवन्ति, किञ्चित्फलसिद्धी–अल्पस्मृ द्रागाम एव विनयस्तेषां क्षयतीति।

४९.

'विभूतयो मदमुत्तम्भयन्ति'—इति उक्तम्, मदस्य परिणाममाह—यदा कश्चिद्राजा मदमानयोराधिक्याद् व्यवहारे विकृतिम् (परवशताम्) दर्शयति, तदा क्रमेण कार्याकार्यपरिज्ञानाभावरूपा मूढता तमाक्रामति, तथा च तं गृह्णाति, यथा कदापि न त्यजति। स मूढतां न त्यजतीति नोक्तम्, नरः सर्वथा नियन्त्रितस्य स्वातन्त्र्याभावेन त्यागकर्तृत्वाभावात्, मूढतैव स्वयं तमाक्रम्य स्थिता, सा च तादृशस्यान्यस्याश्रयस्यालाभेन तं न त्यजतीति। मूढता न पृथग् भवतीति लक्ष्योऽर्थः, पुरुषस्य स्वस्य पारतन्त्र्यं व्यङ्ग्यम्। मूढताक्रान्तश्च नीतिमार्गोचितां बुद्धिं त्यजति, तन्मार्गात्स्वयं पृथक्क्रियते, (पृथग्भावे सौकर्यातिशयद्योतनाय कर्मकर्तरि प्रयोगः)। यदा च बुद्धिविवेकहीनः, तदा सर्वस्यापि प्रतिकूलमाचरतीति

असमापितकृत्यसम्पदा हतवेगं विनयेन तावता।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

अनुरक्तोऽपि जनस्तस्मिन् द्वेषं गच्छति । कोपने अत्याचारपरे च राजनि प्रजा वर्गः अमात्यादिवर्गश्च सर्वोऽपि द्वेषं बध्नातीति द्वयोऽस्मिन्श्लोकेन सम्बन्धः ।

५०.

दण्डकार्कश्यादिभिर्हेतुभिर्यस्मिन् राज्ञि जनानामप्रीतिर्जाता, आज्ञालङ्घन-प्रतिकूलाचरणादिना च प्रजा यस्य प्रभावं छिनत्ति, तस्य अभ्यन्तरप्रकृतिरमात्यादिवर्गोऽपि प्रतिकूलाचरणादिना विरक्तो भेदमापद्यते, परस्परं घर्षते च, तस्मिन् काले शत्रवस्तस्यानायासेनैव समूलं विनाशं कर्तुं शक्नुवन्ति, स समृद्धोऽपि स्याद्, बलवानपि स्याद्, परमीदृशोऽन्तरे तद्विनाशे नैव कष्टं भवति । यथा विशालोऽपि तरुः प्रबलेन वायुना यदा भूयोभूयः प्रकम्पितो भवति, तेन चान्तरि तस्य शिफा-समूहः शीर्यते, चाल्यते च, तस्योत्पाटनं तस्मिन् काले सर्वं वा सुकरमिति । समन्तात्प्रकम्पकत्वेन वायोर्बलवेगातिशयं बोधयदपमीरणपदमिह कामदुघां पुष्णाति । समीरणेनेरितस्य तरोरिव च प्रजानामप्रीतिभाजनस्य राज्ञः पातः स्यादिति पदेन प्रतीयते । पूर्वं यो नृपादिशब्दैरुक्तः, स एव जनानामप्रीतिभाजनमिति रिपुशब्देनाभिहितः । यथा च वायुना क्रियमाणं स्वविनाशं पादपः पूर्वं क्षयोऽपि न जानाति, तथा मदजडभूतेन तेन राज्ञा उपस्थितोऽपि स्वविनाशो न ज्ञायते—इति च वस्तु उपमया व्यज्यते । तदेतत्कथगौरवमस्य पदस्योत्कृष्टं चित्रं भानुना प्रकाशितम् । तथा च शाद्वलीभवेद्यो यतो दुर्योधनोऽस्माभिः सुजयो भविष्यतीति ।

५१.

बाह्यभूतस्य शत्रोराक्रमणं राज्ञा तादृग्भयप्रदं न भवति, यथ स्वभूतानाम् मन्त्र्यादीनां प्रकोपजमप्रीतिः । यथा हि वंशतरुशाखामूलानां वृक्षाणां शाखा-संघर्षेण जातो वह्निः स्वल्पोऽपि क्रमेण वायुनोत्तेजितः सर्वमपि पर्वतं भस्मसात् करोति, तथा अन्तरङ्गाणां स्वल्पोऽपि प्रकोपः (विद्वेषः) राज्ञ औदार्येणोपेक्षितो राजानं विनाशयत्येव । प्रकृतिशब्देन कारणशक्तिना राज्ञः प्रभुत्वे एषां कारणत्वं द्योतितम्, एभिरन्तरङ्गैः प्रधानामात्यादिभिरेव राजा राजा क्रियत इति । ततश्च स्वस्मिन् राज्ञो राजत्वस्य कारणतां मन्यमानाः प्रकृतयो राज्ञः प्रतिकूलमाचरितुं न सङ्कुचिता भवन्ति राजा च स्वस्मिन् प्रभुत्वं मन्यमानो न प्रकृतीः प्रसादयतीति क्रमेण वर्धत एव वैरमिति प्रभुप्रकृतिशब्दाभ्यां व्यञ्जितम् । पूर्वं सानन्ददाना

अपरागसमीरणेरितः　　क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः　　।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना　　रिपुरुन्मूलयितुं　　महानपि　　॥ ५० ॥
अणुरप्युपहन्ति　　विग्रहः　　प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः　　।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः　　॥ ५१ ॥

जनानामपरागः, ततो बाह्यप्रकृतिप्रकोपः, ततोऽन्तरङ्गप्रकृतिभेद इति क्रमो विग्रह-शब्देन द्योत्यते। उपनाने प्रयुक्ते तत्काला-न्तःशब्देनपनेयेऽन्तः प्रकृतिवर्गवद्वाह्यानां क्रमेण प्रकोपोऽभिधीयते।

५२.

पूर्वोक्तकार्यकालागमापेक्षः तादृशस्य शत्रोर्विजये बुद्धिमता न भ्रम कार्यं, येन कार्यकाले स्वीकृतोऽपि विनश्यत्यक्तः। यतो हि पूर्वोक्तावसरलाभे तस्य पराभव सुखेनैव स्यात्। न च तादृशोऽरो नाय स्थानीति भ्रमेण्यम्, विनयमन्तरेण सम्पदो नैव तिष्ठन्ति अनर्थमुत्पाद्य नश्यन्ति एवेति नियमात्। श्रूयते हि नहुष राजादीनां चिरदेव परगति, दृश्यते च स्फुटं नहुषं तयेने। 'अवमानितकृत्य सम्पदाम्' इत्यारभ्याऽविनयमवगतः इति श्लोकस्तु। 'अचिरेण परस्य भूयसीम्' इत्यादिभीमोक्तस्य चैदमुत्तरम्।

५३

यदा राज्ञो वृत्तं क्षुद्रमिव भवति, स प्रजाभ्यो मनस्विभ्यो हितैरदेयादो चौर्या चौर्यमाप्नुते अत्याचारैश्च प्रजा पीडयति, मान्यानसत्करोति, तदा तस्य बाह्यं मण्डलम्, आभ्यन्तरमण्डलञ्च क्रमेण ततो भेदमाप्नोति-विद्वेषं गच्छति। पूर्वं बाह्य मण्डल एव भेदमवाप, तदनु आभ्यन्तर इति बहिरन्तश्चेति शब्द विन्यासो युक्ततरः, यद्वा व्याख्यान्तरे बलादिव्यापारे प्राप्तोऽपि भेदो यदा राज्ञा न शान्तिं नीयते, तदा मानसो द्वेष उत्पन्नो भवतीति योजनीयम्। भिदां गतम् इति भिदोत्तर द्वितीयाश्रयेण भेदस्यैश्वर्यतमत्वम्—इच्छया स्वीकृतत्व गम्यते, तस्मिन्नेव काले परः राज्ञः शत्रुर्यद्यपर स्यात्, सोऽनायासेन विद्विष्ट मण्डलं स्वायत्तीकर्तुं शक्नोति, यद्वा तन्निहितराष्ट्रादिस्तदा तस्य राज्यं स्वायत्त करोति। तदित्थं दुर्वृत्तस्य राज्ञः पराभवः। यथा शिथिलस्थितं कूलं नदीवेगेनापह्रियते, तद्वदेव। तदित्थमेव दुर्वृत्तस्य दुर्योधनस्य राज्ये प्राप्ते भेदावसरे युष्मदा स्वायत्तीकर्तुं शक्यते। कूलोपमया अवधेयानि चित्रभानुरह—यथा कूल द्विविधं नदीकूलं शालाद्विलभूभागेन च तस्य सम्बन्धः, भूभागेन सम्बन्ध शैथिल्ये कृते तदपह्रियते, तथा कुरुराज्यमिदं दुर्योधनेन सम्बन्धमपि सम्भाति, दुर्योधनेन सम्बन्धशैथिल्ये अस्मामिरपह्रियेत। यथा च वृथास्त्रेव नदीकूलं हर्तुं शक्नोति, तथा प्राप्ते समये भवाम्भिरस्मदाज्यं हरणीयमिति। यथा च

मतिमान् विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥ ५२ ॥
लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम्।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥ ५३ ॥

कूलं कदापि नदी जलप्रदानेन लोकमुपकरोत्येव, उपकारकत्वमेव तस्याः मुख्यम्, कूलहरणं त्वौपाधिकम्, तथैव मम (युधिष्ठिरस्य) लोकोपकार एवोद्देश्यम्, दुर्योधनहानिस्तु विरुद्धान्योपनता औपाधिक्येवास्यपि ।

५४.

यदा प्रशान्तो युधिष्ठिरः पूर्वोक्तेन प्रकारेण विक्षुब्धचेतसं भीममुद्दिश्य नीतिरहस्यमुपदिशन्नासीत्, तदैव भगवान् पराशरसुतस्तन्निधौ प्राप्तः । यथा नीतिं विदुषः पुरुषस्य समीपे तदभिवाञ्छितोऽर्थः स्वयमागच्छति, तथैवेदं भगवतो व्यासस्यागमनम्, भगवान् व्यासो मूर्तिमान् युधिष्ठिरस्य मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्ष्यते कविना । तेन च मनोरथस्याभ्यर्थितस्य पूर्तेः, साधनोपदेशाय व्यासस्यागमनमिति द्योतितम् । अनुशासितमिति वर्तमानकालार्थकप्रत्ययेन अनुशासनमध्य एवागमनं बोधितम्, तेन चान्यानुपायान् सम्यग् व्याचक्षाणेऽपि युधिष्ठिरे भीमादिः नयविषये किं वदेदिति तस्याशङ्कां समीक्ष्य तद्गौरवरक्षणाय तदुपायं स्वयमुपदेष्टुमागतो व्यास इति ध्वनितं भवति । इह अर्जुनाग्रज इति भीमविशेषणं परमनीतिज्ञस्याऽर्जुनस्य सवन्धं बोधयदुपदेश्यता पोषयति, अर्जुनादीनामग्रजमग्रजं इत्यस्मिन्नुपदिश्य शान्विते सर्वे ते शान्तिता भविष्यन्तीति वा ।

५५.

भगवन्तं व्यासं वर्णयति कविः — स हि भगवान् व्यासः सर्वानुग्रहाय सर्वत्र शान्तिमयीमाह्लादकरीं दृष्टिं प्रसारयति, तस्याश्च दृष्टेः स तादृशः कोऽपि प्रभावः, यत्सम्बन्धेन अत्यन्तं तामसानि, विवेकबुद्धिरहितानि च तिर्यग्योनिगतानि हिंस्राण्यपि सिंहादीनि भूतानि निरवशीभूय मनसि शान्तिं लभन्ते, अनुगतेभ्यो हिंसादिव्यापारेभ्य उपरमन्ते । तिर्यञ्चि इति नपुंसकलिङ्गपदोपन्यासेन तिर्यञ्चि अपि यान्यत्यन्ततामसानि नपुंसकानि, तान्यपि शमं प्राप्नुवन्ति, किमु वक्तव्यमन्येषामिति द्योत्यत इति चित्रभानुः । किं च भगवन्तं व्यासं परितस्तेजोमण्डलं विराजते, तच्च तेजोमण्डलम् अत्युज्ज्वलम्, व्यापकम्, आलोकनेनैव दुरितदाहकम्, न च सूर्याग्न्यादिनामवत्तीक्ष्णम्, किन्तु दर्शनयोग्यम् । तेनासौ विशेषणत्रये एकैकेन क्रमेण सूर्याग्निचन्द्रतेजःसादृश्यम्—अपराभ्यां चैकैकापेक्षया व्यतिरेको व्यञ्जित इति चित्रभानुः । पटुव्यापकमिति सूर्यतेजःसाम्यम्, दहनमिति अग्नितेजःसाम्यम्,

---

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥ ५४ ॥
मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥ ५५ ॥

विलोकनक्षममिति चन्द्रतेजःसाम्यम्, तथैव विलोकनक्षममिति सूर्याग्निव्यतिरेकः, दहनमिति चन्द्रव्यतिरेकः, पटु इत्यादिर्व्यतिरेक इति विवेच्यम् ।

५६.

पूर्वश्लोकेनैव सम्बन्धः—किं च—स भगवान् व्यास ईदृशस्तपस्वी धार्मिकः सत्पात्रि-पुण्यमूर्त एवोत्पन्नानीति जनाना बुद्धिर्जायते । आपदां च दर्शनमात्रेण निवर्तकः । राज्ञा तदागमनेनैवं समर्थितम्—मन्मदीय पुण्यराशिरेवायं शरीरं धृत्वा आगत इति । एतादृशो व्यासोऽकस्मादेव युधिष्ठिरेण ▪, न हि तस्यागमनं पूर्वं समाविनमासीत् । तेन च दर्शनकाल एव युधिष्ठिरस्य विस्मय उदभूत् । अनेन श्लोकद्वयेन व्यासदर्शनात्पूर्वं युधिष्ठिरादीनां मनसि य आसीद् वितर्कः—सोऽप्यभिव्यञ्जित इति चित्रभानुः । तथा हि—मधुरैरवशानीत्यादिना पूर्वमकस्मा दृष्टं शान्तमृगपरिगणं विलोक्य तेषां मनसि किमेतदिति वितर्क उदभूद्—इति व्यञ्जितम् । तदनु परितः पटु इत्यादिना सूर्यशशाङ्कवह्निविलक्षण परितः प्रसर्पत् किमपि धाम पश्यतां हरिहरादिभिर्देवोऽयमत्र क्रियते इति सचमत्कारो हर्षः समभूद्—इति द्योतितम् । ततश्चाकस्मादेव प्रादुर्भूतस्तत्रभवान् भगवान् व्यासो दृष्टः, तं दृष्ट्वा सविस्मयो हर्षातिरेकः समजनीति ।

५७.

व्यासं दृष्ट्वैव युधिष्ठिर स्वस्थानादुत्थितः, त्वरावशात् तेन परिहितस्य रक्त-वर्णस्य वल्कलस्याग्रं प्रकम्पमानम्—इतस्ततः परिस्पन्दद् दृश्यते । तेन च सुमेरुशृङ्गा-दुद्यतः सूर्यस्येव तस्य शोभाऽभूत् । सूर्यकिरणजालेन वल्कलाम्बरस्य, सुमेरुशृङ्गेण च युधिष्ठिरासनस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावः । इह वने निवसतः परिहितवल्कलस्य युधिष्ठिरस्य चोदर्शं सिंहासनं न संभवतीति आस्तृतं कुशाद्यासनमेवात्राभि-व्यक्तिमिति, उन्नतत्वं तु तस्य युधिष्ठिरादरार्थं भ्रातृभिर्विहितायाः मृदादिवेद्या विधानात् । (यद्वोन्नत काष्ठमयमासनं विवक्षितमस्तु) परार्ध्यत्वं च महापुरुषस्य युधिष्ठिरस्य तत्रोपवेशनादेव कविना निर्दिष्टम् । परार्ध्यत्वं दृष्टेन रत्नादिधनेनैव सुमेरुशृङ्गसादृश्यमिति तत्र निर्वहणम् । यद्वा व्यासदर्शनेन स्वस्याभ्युदयं परमामलकवद्विभाव्य हृष्टो युधिष्ठिरो वनवासादिकं विस्मृत्य राजसिंहासनस्थमेवा-त्मानममन्यतेति तस्य तां बुद्धिमनुकुर्वता कविनापि तदासनं सिंहासनत्वेनैव निरूपितमिति चित्रभानुः । शीतरश्मिरपीति पाठं मत्वा चन्द्रसादृश्यं च तेन युधिष्ठिरस्योक्तम् । यथा च सुमेरुशृङ्गाच्चन्द्रसूर्यादिरुद्गमो लोके प्रकाशाय, जगतः

सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम् ।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ॥ ५६ ॥
अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः ।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥

शुभाय–तथा युधिष्ठिरस्यापि व्यासदर्शनसूचितोऽभ्युदयो जगतः शुभायैवेत्युपमा-लङ्कारमपि स प्राह ।

५८

व्यासागमनजन्येन हर्षेण यस्य चेतस उल्लासोऽभूत्, स निश्चलं चित्तमवहितं कृत्वा, युधिष्ठिरो धौम्यं पुरोहितमग्रतः कृत्वा, तदुपदेशेन भगवतो व्यासस्य ऋषियोग्यां सपर्यां सम्यग् विदधे । स व्यासमासने समुपवेश्य च तदाज्ञया पश्चात्स्वयमप्यासने उपविष्टः । युधिष्ठिरेणाध्यासितस्यासनस्य तथा शोभा आसीद्, यथा प्रशमेन शास्त्रज्ञानस्य शोभा जायते । इह नरेन्द्रपदं युधिष्ठिरस्य 'मुनिप्रसादेन शीघ्रमेव नरेन्द्रत्वं प्राप्स्यामीति' सुदृढं विश्वासं व्यनक्ति । उपमया च युधिष्ठिरस्य प्रशमस्तद्व्यवहारेण व्यासेन सुष्ठु लक्षित इति व्यज्यत इति चित्रभानुराह ।

५९

हर्षजनितेन स्मितेन दन्तमयूखानां निर्गमाद् युधिष्ठिरस्यौष्ठौ सुशोभिता-वास्ताम्, तेन तस्य मुखं चन्द्रेण पूर्णं साम्यं गतम् । व्यासस्य तु मुखं परितस्तेजोमण्डलं विराजते एव स एव बृहस्पतिग्रहसदृशः प्रतीयते । तेन पूर्णचन्द्रो बृहस्पतेः सम्मुखभागे स्थितस्य चन्द्रस्य या कान्तिः, सैव तदा व्यासमुखे स्थिते युधिष्ठिरे दृश्यते स्म । शशाङ्कमूर्तेरिति मूर्तिपदो-पादानेन व्यज्यते—यथा चन्द्रस्य मूर्तिभूते दृश्ये मण्डल एव क्षयकलङ्कादि दोषः प्रतीयते, न तु तदधिष्ठातरि देवे चन्द्रे, तथा उपमेयभूतस्य युधिष्ठिरस्यापि शरीर एव वनवासकृता, कार्श्यादिदोषाः, न तु शुद्धे तदात्मनीति । इद्धमंशुजालं तन्वन्तमिति गुरुविशेषणं घनतुहिनावरणाभावं बोधयत् शरदिन्दुतनुविमलितां द्योतयति, स्वोच्चक्षेत्रस्थितत्वं च । सम्मुखे स्थितश्चन्द्रो गुरुणा दृष्टो भवतीति ज्योतिर्विदां सम्प्रदायः, ततश्च स्वोच्चक्षेत्रगतेन गुरुणा दृष्टश्चन्द्रो यथा जगदभ्युदयहेतुः, तथैवायं व्यासेनानुगृहीतो युधिष्ठिरोऽपीत्युपमया व्यज्यत इति चित्रभानुः । व्यासस्य गुरुसादृश्यकथनेन तेन करिष्यमाणो हितोपदेशोऽपि सम्यग् द्योतितो भवति । युधिष्ठिरस्य चन्द्रसादृश्यकथनं च तस्यापि सकल-ताम्-प्राप्तराज्यताम्-लोकाभ्युदयस्याश्रयभावित्वं व्यनक्ति ।

इति किरातार्जुनीये द्वितीयः सर्गः ।

अभ्युदितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ।
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥ ५८ ॥
व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठस्तिष्ठन्मुनेरभिमुखः स विकीर्णधाम्नः ।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः ॥ ५९ ॥

किरातार्जुनीयस्य तृतीयः सर्गः

अथ चतुःश्लोकात्मकेन कलापकेन व्यासवर्णनम्

१.

अतितेजस्वी व्यासस्तदानीमुपविष्टोऽप्यूर्ध्वगामिभिः शरच्चन्द्रकिरणावदातै स्तेजोभिर्विशालकाय प्रतीयते स्म। अपि च स ईषत् कृष्णवर्णं पीतजटाभिश्च आसीदिति विद्युद्युक्तमेघसदृशो बभौ। विद्युज्जटयोः पीतवर्णत्वात् साम्यम्। दिवापि व्यासस्य तेजोंऽशूनामुत्सर्पणोक्त्या सूर्यरश्मीनभिभूय तेषां व्यासिरश्मियुक्त भवति।

२

भगवति व्यासे मूर्तिमतीव पूर्णा प्रसादलक्ष्मीर्विराजमानासीत्, तादृशी सौम्या मधुरा च भगवतस्तस्याकृतिरासीद् या दृष्ट्वा य कश्चिद् 'व्यासोऽयम्' इति तं भगवन्तं न परिचिनोति, तस्यापि मनसि बलात्तद्विषये श्रद्धामयं स्नेहं प्रादुर्भावयेत्, व्यास एव स्वाकृत्या बलात्तेषां मनसि भक्तिमुत्पादयतीति प्रतीयते। अतएव भगवत्स्वाकृतिमभिव्यञ्जयितुं व्यासस्य समासञ्जनकर्तृत्वमारोपितम्। व्यासो भावमुत्पादयतीत्यपि नोक्तम्—यतस्तौ कालान्तरसापेक्षे, स तु स्वल्पविधे स्थितं भावं तन्मनस्सु दर्शनमात्रेण समासञ्जयति—इति।

३

उद्दण्डताया यत्र लेशोऽपि नास्ति, तथाभूता भगवतो व्यासस्याकृतिरेव तस्य चेतसः परां शान्तिमेकाग्रतां च प्रकटयति स्म, अथवा शान्ता तदीयामाकृतिं मात्रेक्षयतामपि मानसी वृत्तिः पवित्रा शान्तैकाग्रा च जायते स्म। तदानीं मधुरया विश्वासयुक्तया दृशा पश्यन् स तथा लक्ष्यते स्म यथासौ आलपन् दर्शकान् सम्भाषयति। आलापेन य आनन्दः स तद्दृष्ट्यैव जायते स्म। अथवा एवं प्रतीयते स्म—यथासौ विपद्ग्रस्तान् हस्तसंज्ञयोपसान्त्वयति। व्यासं दृष्ट्वा सर्वेषा-मन्तर्बहिश्च प्रशान्ता वृत्तिरभूदितीत्युक्त्या क्रोधेनाविष्टस्य भीमस्यापि वृत्तिः शान्ता

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम्॥ १॥
प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम्॥ २॥
अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम्।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन॥ ३॥

जातेति व्यञ्जितम्। इत्थं कृतोपचारमपि स्थितेरुक्तया च तादृशस्य गभीरस्य मुनी-न्द्रस्याशयमविज्ञाय वक्तुमनीशोऽपि युधिष्ठिरस्तद्दृष्टिपातेन तत्सम्भाषणमनुभूय वचने प्रगल्भोऽभूदिति व्यज्यत इति चित्रभानुः। इह व्यासदर्शनपरस्तु तद्दर्शिना यथानुभवो जायते—तथा क्रमोऽपि निर्दिष्ट इति व्याख्यानस्यापरोऽर्थः चित्रभानुना दर्शितः। तथा हि दूराद्दर्शनार्थमागच्छन्तः पूर्वं दर्शनीयस्य चान्द्र-स्येव तेजसोऽनुज्ज्वलं पश्यन्ति, तदनु मधुस्निग्धकृष्णां तदीयां छविम्। मूर्तेर्निर्गत्य बहिः प्रसरन्तस्तेजसोऽवयवा अङ्कुरादिशब्दैरुच्यन्ते, मूर्त्यनुस्यूता प्रकाशसमष्टिश्च शोचिरुच्यादिशब्दैरिति। ततस्तस्य जटा एतेषां दृग्गोचरीभवन्ति। अथ सन्निहितास्ते भगवतः प्रसादलक्ष्मीमनुभवन्ति, तया तेषां मनसि कोऽपि भक्तिविशेषः प्रादुर्भवति। तदनु प्रशान्त आकारस्ते समया लोक्यन्ते, तेन तेषामपि चेतसि शान्तिरेकाग्रता चोदेति। ततो माधुर्यं सवन्त्या दृष्ट्या हितमनुकूलं चाम्पनिर सर्वविधां चार्तिं शमयन्निव भगवांस्ते प्रतीयत इति। अग्रे श्रुतीनां प्रसूतिरित्युक्त्या ततस्तदुपदेश लाभस्तेषां जायत इत्यपि व्यञ्जितं द्रष्टव्यम्।

४.

अभ्युदयनिःश्रेयसयोः साधनभूतस्य धर्मस्य प्रतिपादिका पतनहेतोरधर्मस्य च निषेधिका ऋग्यजुःसामाख्याः श्रुतयो व्यासेन वनेरादौ पृथक् पृथग् विभज्य लोके परम्परायसम्प्रदायप्रवर्तनेन प्रचारं नीताः। स सुखेनासने उपविष्टं भगवन्तं व्यासं प्रति तदानीं तदागमनकारणजिज्ञासया युधिष्ठिरो वक्तुमारभत।

५.

भगवन् व्यास! ये पुरा पुष्कलं पुण्यराशिमर्जितवन्त एव श्रेयोनिदानं सकलजनदुरितदुःखादेश्च प्रसरं निरुन्धानमनभ्रवृष्टिसदृशमिदं भवद्दर्शनं प्राप्तुं शक्नुवन्ति, नान्ये अकृतपुण्याः। किं च भवद्दर्शनं भविष्यति श्रेयःसम्पादकम्। तेन कालत्रयेऽपि दुरितक्षयपुण्यसम्पद्योग्यता भवद्दर्शनेन व्यज्यते। अनाप्तपुण्योपचयैरिति भूतकाले पुण्यसम्पद् व्यञ्जिता निर्धूतरजा इति सम्प्रति। (रजो-निर्धूननस्य वर्तमानत्वेऽपि सुकरत्वमभिनिमित्तत्वं च व्यञ्जयितुं भूतकालिकः प्रत्ययः—निर्धूत इति।) फलस्य सवित्रीमिति भविष्यत्काले पुण्यसम्पत्समृद्ध्यादि व्यञ्जितम्। इत्थं निगूढप्रशंसा स्वार्थो माघेन 'हरत्यघं सम्प्रति' इत्यादिना कृष्णनारदसंवादे स्वीकृतः। तेन वयमपि भवद्दर्शनभाजः पूर्वं कृतपुण्याः, इदानीं

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम्।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ॥ ४ ॥
अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री।
तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ॥ ५ ॥

विनष्टपापा, भविष्यति श्रेयोमाञ्जनानि चेति द्योतितम्। इह वीतवलाहकाया दिवो वृष्टि —अनभ्रवृष्टि, सा यथा अतर्कितमुपनयति, तथा मन्दर्शनमतर्कितोपनतमिति मल्लिनाथेन व्याख्यातम्। परमनादापुण्योपचयैर्दुरापत्यादिविशेषणानि तस्या वृष्टौ कथं सगच्छन्ते, इत्यत्र तस्य सूरेर्मौनमेव। केवलं निर्धूतरजा —इति विशेषणमुभयपरतया तेन योजितम्। विशेषणानां सर्वेषां तत्रान्वये च कश्चमत्कार इति सहृदया एव साक्षिण। चित्रभानुस्तु दिवो वृष्टिरित्युक्त्या द्युसरित —आकाशगङ्गाया —स्तत्सलिलस्य वृष्टिरित्युक्तं भवतीत्याह। वीतवलाहकाया इत्युक्त्या च मलिनतादिदोषस्य प्रसङ्गः वारित इति। बलाहकरहिता वृष्टिर्सुधाविशुद्धिसमृद्धिहेतु, पुण्यतमनभोगङ्गाप्रवाहोद्भूतेति पुराणेषु श्रूयते, इति च तेन स्वपक्ष समर्थ्यते। तेनविशेषणत्रययोरत्र साधु समर्थित एव। निर्धूतरजा —इत्यनेन ग्रैष्मिकाल्किरजोनिर्धूननमुक्तम् तेन तापशान्तिश्च व्याञ्जनेत्यपरमनुकूलम्। परे तु वीतवलाहकाया दिवोवृष्टि शारदी वृष्टिरिह विवक्षितेत्याहु। शरदतौ बलाहका वर्षाश्च निरन्तर स्थिता अपयान्ति, द्यौर्निर्मला भवतीति प्रसिद्धमेव, तदेव वीतवलाहकपदेनाभिप्रेतम्। 'क्वचित्पुण्यतमे देशे वृष्टिर्भवति शारदी' इति प्रसिद्धे प्रथमविशेषणयोगस्तत्र सिद्ध। निर्धूतरजा इति रज-पदेन च वृष्टयुदककर्दमादिजन्य—कालुष्यम्, धरोज्ज्वालादिषु मिश्रितं रजो वा विवक्षितम्, यस्य निर्धूनन तस्या सुप्रसिद्धमेव सस्यादिफलसमृद्धौ यया तस्या उपयोग, स तु आबालहालिक ज्ञात इति। पक्षाणामेषा तारतम्य विवेचयन्तु सुधिय।

६.

भगवन् व्यास! मयाद्य स्वानुष्ठितक्रतूनां फलमुपलब्ध, अद्यैव च विप्रैर्वितीर्णानामाशिषां फलम् प्राप्तम्, (अद्य मे ससारे जन्म सफल जातम्) यत् मदन्तिकमुपागतवता भवता जगत्यह परम गौरव प्रापित। लोके गौरवमेव जनानामभिलषणीय वस्तु, तदभीप्सित भवदागमनेन सम्पन्नम्, अत कृतार्थोऽस्मि। क्रतूनाम्, मुनिदेवा —इति पदद्वयाभ्याम्—अनेकजन्मार्जितयावत्क्रतूनाम् सर्वब्राह्मणाशिषां च फलभूतमतीव दुर्लभं त्वद्दर्शनमिति द्योत्यते। भूमिदेवा इति पद देववन्निग्रहानुग्रहसामर्थ्यं ब्राह्मणेषु व्यक्ति, तेन तदाशिषां महत्त्व द्योत्यते।

७

भवतो दर्शन श्रीवृद्ध्यादिसर्वश्रेयोनिदान यथा ब्रह्मण। भवान् हि ब्रह्मणा

अद्य क्रिया कामदुघा क्रतूना सत्याशिष सम्प्रति भूमिदेवा।
आ ससृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम्॥ ६॥
श्रिय विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेय परिस्नौति तनोति कीर्तिम्।
संदर्शनं लोकगुरोरमोघ तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते॥ ७॥

त्वय, सोऽपि लोभयुक्तः, भवानपि लोभयुक्त इति । न हि भव्यो दर्शनं कदापि निष्फलं भवति । तेन भवानपि ध्येयं प्राप्तिर्निश्चितैवेति व्यङ्ग्यम् ।

८.

भगवन् व्यासमुने ! बन्धुवियोगात् प्रभृति सुधासारं चन्द्रमसं दृष्ट्वापि बन्धुदर्शनोत्कं मे चक्षुर्न मनागपि तृप्तिं लेभे, परमिदानीं त्वयि दृष्टे चक्षुरिदं निरतिशयां तृप्तिमवाप्नुत । किं च भवदागमनात् प्राग् बन्धुविरहतप्तं धीरताशून्यं मम मानसं त्वत्सन्निधाने कथञ्चित् तापं त्यजति, शान्तमिव च भवति ।

९.

भगवन् व्यास ! त्वां प्रत्येवमस्मादागमनस्य प्रयोजनं पृच्छामीति चेतसि कुतूहलं जायते । पुनश्च विवेकबुद्धिरेवेति अभ्यधत्ते कुतूहलमिदम्, अकिञ्चना वयं किं साधयितुं शक्नुमः, यदुद्दिश्य भगवानागतो भवेत् । आशापाशावद्धाः केचन भाविफलमभिलक्ष्यापि भवनानि कुर्युः, येषु सकलविषयवासनैव त्यक्ता ते भवादृशाः सर्वथापि प्रयोजनशून्याः अस्मासु किमुद्दिश्येयुः । सैषा बुद्धिः कुतूहलं बाधते । परं भवत्सदृशस्य सौजन्यं दयाप्रवर्तयति, भवानपि—भवान् स्वयं निःस्पृहः किन्तु लोकहिते तु स्पृहा भवतस्तदेव भवेत् । तदारब्धितमेव आगमनप्रयोजनं भवेत्, तदस्माभिः श्रोतव्यमेव, अनेनैव च ज्ञात्वा विद्वत्कर्णो निरयप्राप्तस्मात् पारं यास्यतीति प्रश्ने प्रवृत्तिर्जायत एव ।

१०.

यद्यपि युधिष्ठिरस्य चेतसि 'विजयसिद्धेरुपायं भगवन्तं व्यासं प्रति पृच्छानि' इत्यभिलाष आसीत्, तथाप्युदारप्रकृतितया तेन स्पष्टं ग्राम्यतया न स प्रकटितः, अपि तु 'कस्य स्वित्री भवद्दर्शनस्पृहा' 'त्वद्दर्शनं प्रिय निकर्षति' 'कल्याणकरी ते गिरः' इत्यादिना व्यङ्ग्येनैव प्रकटितः । तमेवंविधं युधिष्ठिरस्य विनीतं मनोहरं भाषितं कर्म 'केनोपायेनास्य कार्यसिद्धिर्भवेद्', इति मुनिपुङ्गवेनैकाग्रेण मनसा विचार्य तदनुरूपमेव व्यासः तस्मै रहस्यमनुपदिदेश ।

ज्योत्स्नामयूखेन हिमद्युतौ मे न निर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्सन्निधावुच्छ्वसतीव चेतः ॥ ८ ॥
निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम् ।
तथाऽपि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥ ९ ॥
इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः ॥ १० ॥

११.

ये जना इह लोके परलोके च आत्मनः श्रेयो यशश्च कामयन्ते, तैर्बन्धुषु पक्षपातेन वर्तितव्यम्, एकत्र रागोऽपरत्र द्वेष इति न करणीयम्, सर्वैस्तुल्यमेव व्यवहर्तव्यम्। मादृशैस्तपःपरायणैस्तत्र विषये विशेषतोऽवधातव्यम्, निःस्पृहाणां तेषां विषमव्यवहारस्य सर्वथानुचितत्वात्। चित्रमानुष्यं बन्धुवर्गस्य परस्परं वैरे सति ये तटस्था उभयोरपि समृद्धिं स्वयशसे कामयन्ते, न तु कश्चिद्रागो द्वेषो वा तेषाम्, तेषां सम एव व्यवहार उचित इत्यभिप्रायेण योजितवान्, तथा च परस्परं विरुद्धा अपि दुर्योधनाद्या यूयं च मम दृष्टौ समाना एव यद्यपि, तथापीत्याद्युत्तरेण सम्बन्धः। जन्मवतामित्युक्त्या सकलजन्मधारिणामयं धर्मः, अनेनैव जन्मसाफल्यमिति द्योतितम्। तपोधनानामित्युक्त्या तप एवैषां धनम्, न त्वन्यद्धनं ते काङ्क्षन्ति, ततश्च कस्यैच्छया वैषम्यं कुर्युरिति सूचितम्।

१२.

युधिष्ठिर! पूर्वोक्तप्रकारेण यद्यपि मम बन्धुषु तुल्यवृत्तिरेवोचिता, तथापि त्वद्गुणगणाकृष्टं मम मनस्त्वयि विशेषेणानुरक्तम्। न चात्र मम कोऽपि दोषः, न चैतेन मम मुमुक्षुत्वहानिः, न वा माध्यस्थ्यभ्रंशः, यतो हि गुणवत्तरेषु मुमुक्षूणामपि पक्षपातो भवत्येवेति प्रकृत्या सिद्धमिदम्। अस्मादृशैः पक्षपातो न क्रियते, अपि तु गुणहेतुकः पक्षपातः स्वयमेव जायते—इति 'भवन्ति' पदेन व्यञ्जितम्। गुणानामेव स्वभावः, यत्ते सर्वेषामेव चेत आकर्षयन्ति—इति।

१३

राजन्! धृतराष्ट्रेण यद्यूयं चानुवने निक्षिप्ताः, छलेन राज्यादपसारिताश्च, तस्याहं कारणं न पश्यामि, परो हि दूरीक्रियते, यूयं तु तस्य कनिष्ठभ्रातुः पाण्डोः पुत्रा—इति धृतराष्ट्रस्यापि पुत्रा एव, बाल्यात् प्रभृति पितृविरहितानां युष्माकं पालनभारोऽपि धृतराष्ट्रस्यासीदिति ततोऽपि सिद्धं पुत्रत्वम्। पुत्रोपेक्षणं च सर्वथानुचितम्। यूयमयोग्याः स्थ—इत्यपि नोपेक्षाकारणं युज्यते वक्तुम्, दुर्योधनाद्यपेक्षया युष्माकं गुणवत्त्वातिशयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्, तथा च धृतराष्ट्रो वृथैव भवतस्त्यक्तवान्, अथवा किमत्र वक्तव्यम्, विषयलोलुपाः सर्वथा विवेकशून्या

चिचीषतां जन्मवतामलघ्वीं यशोऽवतंसामुभयत्र भूतिम्।
अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम् ॥ ११ ॥
अथाऽपि निघ्नं नृप तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥ १२ ॥
सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः ॥ १३ ॥

एव भवन्ति । धृतराष्ट्रस्य विषयलोलुपत्वमेव भवतां त्यागे हेतु , नान्य कोऽपीति । औरसा पुत्रा अपि स्वभावेनैं द्रव्यप्रीतिहेतवो विषयपदेन विवक्षिता इति चिन्न भानु । सुयोधनपद तस्य युद्धे पाटव बोधयद् गुणहीनता व्यनक्ति । तस्य राज्य इत्युक्तिर्विषयलोलुप स नामग्रहणस्याप्ययोग्य इति व्यासस्य तद्विषये अमर्षं द्योतयति ।

१४.

राजन् युधिष्ठिर ! 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपात पदे पदे' इत्यभियुक्तोक्तया धृतराष्ट्रस्यार्थहानिसमय प्राप्त एव, यत स विवादास्पदविषयेषु कुटिलमतीना कर्णादीनामेव सम्मतिमाद्रियते, दुर्जनै सह सम्पर्कमात्रमेव जयविघातक विपत्कारण च भवति , तै सह घनिष्टतामापन्न तदुपरि विश्वास तु किमु वक्तव्यम् । तथा च कर्णशकुन्यादिपरामर्शस्यैव फल भवता त्याग न ■ साधुजनभीष्मविदुरादयनु मतोऽय पन्था । आभ्या श्लोकाभ्या परपक्षस्य दुष्टत्वमुक्तम् , तत एव मम तेषु विरक्तिरिति व्यासाभिप्राय ।

१५.

युधिष्ठिर ! यद्यपि तव शत्रवो मध्येसभ स्त्रीग्रहणसाहसादीनि दुष्टकर्माणि कुर्वा धर्ममार्गाद् भ्रष्टा जाता , तथापि ■ धर्मात् पदमपि नाचल , सर्वं तेषामत्याचार सोढवान् । तेन त्वया स्पष्ट प्रकटितम्—गुणेष्वेवोत्कृष्टस्ते प्रेमा, न स्वार्थादिष्विति । स चायं गुणस्नेह एतावानस्तव प्रबल , यत्तव विपत्तौ सत्यामपि तस्य विपत्तिर्न भवति । 'पथश्च्युतायाम्' इत्युक्त्या तव शत्रव सर्वेऽपि न केवल सकृद् धर्मं त्यक्तवन्त , अपि तु धर्ममार्गादेव ते भ्रष्टा , तेषा पुनर्धर्मप्राप्तिराशापि नास्तीति द्योतितम् । तथा च 'शठ प्रति शठ कुर्याद्' इति नीतिमपि परित्यज्य धर्मपरेण त्वया गुणा गृहीता —इति मम पक्षपातस्त्वयि योग्य एवेति । त्वयेत्येकवचनेन त्वद्भ्रातरो भीमाद्या अपि विवक्षिता , त्वमेक एवाविचलोऽसि इति सूचितमिति चित्रभानु ।

१६.

तव वृत्ति सदैव शान्तिपरा, एवम्भूतस्यापि तव यदिद शत्रुभिश्छद्माश्रितया

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धि संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य ।
असाधुयोगा हि जयान्तराया प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ॥ १४ ॥
पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय ।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ॥ १५ ॥
विधाय विध्वंसनमात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन ।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसारा कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ॥ १६ ॥

पन्नतम्, तदेतत् तेषां स्वयमेव स्वनाशको कुठाराघात इव विनाशाय सम्पन्नम्। तव तु तेन लाभ एव जात। यथा भूयो भूयो निघर्षण सुरभिचन्दनकाष्ठस्य लोकोत्तर सौरभमेव प्रकाशयति, तथैव शत्रुभिर्या क्रियमाणोऽपकारस्तव बुद्धे सद्वृत्तस्य च प्रकर्षमेव प्रख्यापयति स्म, इति मन्ये शत्रुकृतोऽपकारोऽपि तवोपकारायैव संवृत्त। तैरपकारबुद्ध्यैव कृतस्त्वपकार इव, पर त्वद्गुणास्तेन प्रकाशिता इति उपकाररूपेण त्वयि परिणत। गुणवत्स्विव जगति धनाना परमं धाम इति। तेषां च दुरात्मता प्रकाशिता यतस्तेषां विनाशोऽप्यनेन।

१७.

व्यासो वक्ति राजन्। नीतिमत्तया साधु लब्धा, किन्तु भूमिरपि (राज्यमपि) लब्धव्यमेव, न च दुर्योधन कथमपि स्वयं राज्यं दास्यति, ततश्च त्वया पराक्रमेणैव राज्यमधिगन्तुं शक्यम्, नेतरथा। किन्तु तव शत्रुपक्षे सन्ति बहवोऽतिवीरा, व्यवसाय, अस्त्राणि, सैन्यानि च तत्रापि प्रचुराणि, अतस्त्वया तथा यतनीयम्, यथा तत्र शौर्यादिषु शत्रोरपेक्षयाधिक स्या, समाने हि बलवत्ता प्रयत्नेनैव कुरुते न दुर्जनम्। धृतराष्ट्र किन्तु दुर्बलोऽपि त्वद कदाचिद्बलेन, रणे तु बलप्रकर्षेणैव जय इति रणशब्दोपादानम्। तथापि कदाचिद्दैवेन दुर्जनेना जय स्यात्, परं जयश्री —प्रतापो जयस्तु उत्कर्षाधीन एवेति श्रीशब्दोपादनम्।

१८.

पूर्वस्मिन् पद्ये उक्त शत्रुगतम्पाधिक्यमनेन वर्णयति व्यास। यत्र युष्माकेन भीष्म तावत् प्रतीहि—राजन्! भीष्मस्यैव प्रभाव तावदालोचय। परशुराम एकविंशतिवारान् भुवं क्षत्रियशून्या विदधे, स एव भीष्म धनुर्वेदमध्यापयामास। परमम्बिकानाम्न्या कन्याया विवाहप्रसङ्गे तस्यैवाभिरामं युध्यमान स्वशिष्याद् भीष्मात् पराजयं प्राप। एवं स्वदत्तया धनुर्विद्यया स्वशिष्ये भीष्मे स्वस्मादपि प्रकर्षं विलोक्य अनुमानमकरोत् गुणानां प्रकर्षं पात्राधीन। विशिष्टे पात्रे न्यस्ता गुणा विशेषं गच्छन्ति, यस्माद्गुरोः, मदधिष्ठिता प्रयोगगणाय धारयन्ती भीष्मे मदपेक्षयापि प्रकर्षं गता इति। न केवल राज्ञाम्, अपितु जगदा विस्तृतस्य भूमण्डलस्य पतीनाम्, न केवलं हन्ता, किन्तु हत्वा तदपि यदृच्छया नैकवारम् अपितु त्रिःसप्तकृत्व इति परशुरामस्य परमुत्कर्षं ख्यापयन्ति पदानीत्यादि विश्रमातु।

लब्धा धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः॥ १७॥
त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम्॥ १८॥

१९

अदेशो मृत्युर्यमाधीन, परं स्वच्छन्दमृत्युतया भीष्मस्य मृत्युस्तदधीनो नास्ति, अतस्तद्विषये यमोऽपि पराभूत इति स्त्रयानि स्वा समाव्यते। तथा च यत्र यमपराक्रमोऽपि कुण्ठतो भवति, स भीष्मो रणभूमौ यदा धनुरारफ स्यति, तदा कस्य चेतसि भयं न जायेत, सर्वेऽपि भीष्मस्य शरासनारोपणमात्रेण भीता भवन्ति। ततश्च तेन सह युद्धे न कस्यापि सामर्थ्यम्। कथं स दुर्योधनपक्षपाती भवद्भिर्जीयेत।

२०

युधिष्ठिर! युष्मासु क एतादृश शूरो यो रणभूमिमवतीर्णस्य अस्त्रप्रयोगै, शरवर्षैश्च शत्रूनाच्छादयतो निगनिदायकुद्धस्य द्रोणाचार्यस्य सम्मुखीन स्यात्, स हि तदानीं त्रिभुवनं भस्मसात्कर्तुमुद्यतो ज्वालारूपा इवबिहा प्रसारयन् कालानल इव सर्वथा दुरभिभवो युष्माकम्।

२१

य खलु कोपाटोपमात्रेण महामहतो धीरानप्यधीरयति, यदा धीरोऽपि य कोपमाश्रित्य समरे धैर्यं जहाति, भार्गव परशुरामो य धनुर्वेदमध्यापयति स्म, त वीर कर्णं समरे युध्यमानं दृष्ट्वा सकलोकभयङ्करस्य मृ योरपि हृदि नूनम् अननुभूतपूर्वं भयमुत्पद्यत इति सभाव्यते। आराधितेश्वरा देवदाराधनप्रस नेन परशुरामेण सर्वोऽप्यस्त्रग्रामस्तस्मै दत्त इति प्रतीयते। इह पूर्वं 'वीयास्त्रबलैर्विरक्षो नायानि' इत्युपन्यस्तम् तदनुसारिणैव ताद्बक्रमेण भीष्मे वीर्यस्य, द्रोणे अस्त्राणाम्, कर्णे च बलस्यातिशयो विवृत।

२२ २३

राजन्! युधिष्ठिर! नाहं भीष्मादिवर्णनेन त्वां भीषयितुमिच्छामि, न वा तव युद्धसाहसमपनेतुमत्रागतोऽस्मि, अपितु युद्ध य प्रवर्षोऽपेक्ष्यते तल्लाभार्थमह

परिहसनैस्यकृतध्वंसो प रमिव प्राप्त इवान्तकोऽपि।
ध्रुवन्धनु कस्य रणे न कुर्यो मनो भयैकप्रवण स भीष्म ॥ १९ ॥
सृजन्तमाजाविषुसहती सहेत कोपज्वलित गुरु क ।
परिस्फुरल्लोल शिखाग्रजिह्व जगज्जिघत्सन्तामवान्त विभ ॥ २० ॥
निरीक्ष्य सरभ्मनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम् ।
असस्तुतेषु प्रसभ भयेषु जातेन मृत्योरपि पक्षपात ॥ २१ ॥
यया समासादितसाधनेन सुदुष्करामाचरता तपस्याम्।
एते दुराप समवाप्य वीर्यमुन्मूलितार कपिकेतनेन ॥ २२ ॥
महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप! देवतानाम्।
दातु प्रदानोचित! भूरिधाम्नीमुपागत सिद्धिमिवाहमि विद्याम् ॥ २३ ॥

इन्द्राप्तेऽर्जुनायोपासनापद्धतिसहितं मन्त्रं प्रदास्यामि, तेनास्य साधनशक्ति प्रादुर्भविष्यति, तयैव पद्धत्या तेनैव च मन्त्रेणायं महाप्रभावा इन्द्राद्या देवता आराधयिष्यति, तपश्चातिकठिनम्, शीतोष्णवर्षक्षुत्पिपासादिसहनरूपम् करिष्यति। ततश्च देवताप्रसादेन मनुष्यदुर्लभस्तादृश प्रभाव, तादृशानामस्त्राणां लाभश्चास्य भविष्यति, येनायं भीष्मादीनपि निहत्य जयं प्राप्स्यतीति मदुक्ता विधेय साक्षात् सिद्धिरेव त्वया समावनीया। अन्यथा न सिद्धिर्विदूरे इति।

२४

पूर्वोक्त विद्यादान प्रतिज्ञाय व्यासो विरराम, तदनन्तर युधिष्ठिरस्त प्रसन्न विज्ञाय 'वत्स विद्याग्रहणाय भगवत समीप व्रज, अभीप्सित साधय, इत्यर्जुनमादि शत्। युधिष्ठिराज्ञसोऽर्जुनो विद्याग्रहणार्थं शिष्यवद् विनयेन व्यासस्य समीपं गतवान्। यद्यपि विद्याग्रहणे शिष्यत्वमेव मुख्य प्राप्नोतीति 'इव' शब्दोपादान व्यर्थमिव, तथापि चिरमन्ते वसन् प्राक्तनशिष्य इवेति विवक्षणाददोषः।

२५

यथा प्रातरुद्यत सूर्यस्य बिम्बान्नि सृत्य रश्मयो विकसत्सु कमलेषु प्रविशन्ति, तथैव सा विद्या व्यासस्य मुखान्नि सृत्यार्जुनमुखे प्रविवेश। देवताधिष्ठितेन मन्त्रस्य चक्रिकणत्वमुपस्थुक्तम्।

२६.

तत्त्वज्ञान विना न विशिष्टा मन्त्रसिद्धिः 'यदेव विद्यया करोति, तद्वीर्यवद् भवति' इति श्रुत्यादिषु ज्ञानस्याङ्गतोपदेशात्। तत्त्वज्ञानञ्च योगेन (समाधिना चित्तैकाग्र्येण) साध्यम्। योगो यद्यपि चिरकालाभ्याससाध्य, पर महर्षिर्व्या सोऽर्जुनायातिशक्तिं चिरकालप्राप्य योगमपि स्वतपोमहिम्ना सद्य एव ग्राहितवान्। (वितताराद्युक्तम्, न शिशिक्ष इति, तेन स्वात्मगतयोगातिशयोऽप्य एव सद्यो दत्त इति फलति) तेन च योगेन सद्योऽर्जुनस्य तत्त्वसाक्षात्कारोऽभूत्। चिरादन्यस्य दुर्लभमदर्याध्यनिलाज्ञानमञ्जन प्रकृत्यादितत्त्वसाक्षात्कारक ज्ञानचक्षुरुन्मीलितम्। करतलगतामलकवत् सर्वाणि तत्त्वान्यनेन साक्षात्कृतानीति।

इत्युक्तवन्त व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रो।
प्रसेदिवांस तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णु ॥ २४ ॥

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद्बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षे।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्ति स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥ २५ ॥

योग च त योग्यतमाय तस्मै तप प्रभावाद्वितताार सद्य।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षु ॥ २६ ॥

२७.

प्राप्ते विद्यायोगोपदेशे अर्जुनस्य मनसि महान् हर्ष उत्साहश्च प्रादुरभूत् । तदनुकूलैव तस्याकृतिस्तथा प्रतीयते स्म, यथानेन किमपि महदैश्वर्यं प्राप्तं भवेत्, तथाविधं तं दृष्ट्वा व्यासेन निश्चितम् अयं बहुमयं तपःसिद्धिं प्राप्स्यतीति । ततो व्यासस्तदसि प्रवृत्तये तं वक्ष्यमाणमुपदिदेश । अत्र सन्निहितस्यार्जुनस्य इदंशब्देन परामर्शो योग्य, न तु परोक्षवाचकेन तच्छब्देन, ततश्च तच्छब्दोऽयं तपसि प्रवृत्तस्याप्यर्जुनस्य मुनेरपेक्षया वैलक्षण्यमाह । अन्तःकरणेन नाय मुने सन्निहित, तच्चास्य विजयेच्छु रूपमेव, तेनैकादशसर्गकथा (वक्ष्यमाणा) द्योतितेति चित्रभानु ।

२८.

हे अर्जुन अनेन मदुपदिष्टयोगेन ते तेजो वर्धिष्यते, तेन तपःसामर्थ्यं त्वया प्राप्यम् । इदानीं तपस्त्वया कार्यम्, तत्र सामान्या मुनीनामाचारास्त्वया पालनीया, निरन्तरं मन्त्रजपं कुरु, उपवासं कुरु, त्रिसन्ध्ये स्नाहि, इत्यादि । विशेषेण च तवेदं दृढं व्रतम् यत्त्वया नियतात् स्थानान्न चलितव्यम्, स्वस्थाने चान्यस्य प्रवेशो न देय, (यद्वा-स्वविषयम परस्मै न शिक्षणीया) किं च तपस्यतापि सततं शस्त्रं धार्यमिति ।

२९.

हे अर्जुन ! त्वया पूर्वं सकलदेवराज इन्द्रस्तपसा प्रसाद्य, स हि कठिनै स्तपोभि प्रसीदतीति दुश्चरं तपस्ते कर्तव्यम् । योग्ये च स्थाने तपःसिद्धिरिति तपोऽर्थं हिमालयस्य शिखरविशेषे इन्द्रकीलनाम्नि पर्वते त्वया गन्तव्यम् । तत्र मनोरमा शिलाच्छाया, मनस्ते तत्र रस्यते । दिव्यश्च स प्रदेश, न मानुषास्तत्रानायासेन गन्तुं शक्नुवन्ति, तस्मात्त्वां तत्र नेतुं गुह्यक एको मया नियुक्त, स चेदानीमागत एवेति जानीहि । (आगमिष्यतोऽपि शीघ्रागमबोधनाय एष इति निर्देश) सोऽयं स्वसिद्धया क्षणेनैव त्वां तं पर्वतं प्रापयिष्यति । अत्र चित्रभानु व्याचष्टे-गोत्र-भिद इति इन्द्राभिधानं शत्रुविधाताय तस्य प्रसादनीयतां व्यनक्ति, यथा गोत्रानसौ भिनत्ति, तथा शत्रूंस्ते भेत्स्यतीति । तपांसीति बहुवचनेन बहु

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम् ।
नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥
अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन् ।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥
करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि ।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ॥ २९ ॥

विधानि महकाव्व्याप्यानि च तपांसि त्वया कर्त्तव्यानीति द्योत्यते। करिष्यसे—इत्यात्मनेपदं कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, तेन स्वार्थं ते तत्, परार्थत्वेऽपि पर्यन्ते च कार्यमिति व्यञ्जितम्। नेष्यतीति परस्मैपदं तु परगामिनि क्रियाफले, तेन गुह्यकस्य तव प्रापणे कोऽप स्वार्थो नास्तीति बोधितम्।

२०.

अर्जुनाय पूर्वोक्तमुपदिश्य व्यासस्तिरोदधे। तेन भगवता सूचितागमनश्च यक्षस्तत्क्षण एव तस्मिन् स्थाने प्राप्तः। तद्धि स्थानं भगवतो व्यासस्य मूर्तिमती आज्ञेव- इत्युत्प्रेक्षितम्। आज्ञाविषयत्वादाज्ञात्वं तत्र समारोपितम्। यथा व्यासस्याज्ञा यत्नेनावश्यं पालनीया, तथा तत् स्थानमप्यवश्यमधिष्ठेयमिति तत्र तदा एव तस्यागमनम्।

२१

स यक्ष अर्जुनं प्रणनाम। अर्जुनोऽपि मधुरैः सुमेधैर्वचनैस्तेन सह संललाप। तेन यक्ष प्रियभाषिणि तस्मिन् निरतिशयमनुरज्यति स्म, सुहृद्वच्च तत्क्षण एव महान्तं विश्वासमकरोत्। नैतच्चित्रम्, यत सज्जनसमागम शीघ्रमेव विश्वासमुत्पादयति।

२२.

यदोदयमानः सूर्यः सुमेरुपर्वतस्य पश्चिमदिग्गतान् कुञ्जान् विजहाति, तदानीं सूर्याभावे सुवर्णरत्नमयत्वेन नैसर्गिकप्रकाशविशिष्टेष्वपि तेषु कुञ्जेषु यथान्धकारः कथंचिदवस्थानं लभत एव, तथैव यदार्जुनः स्वाभ्युदयाय स्वभ्रातॄन् विहाय प्रस्थातुमुद्यतः, तदानीं तद्विरहजन्यः शोको विवेकवत्सु शत्रून् विजिगीषमाणेषु च तेषु युधिष्ठिरादिषु चतुर्षु भ्रातृषु कथंचित् पदमकरोत्। विवेकिनस्तेऽभ्युदयनिमित्तं जायमानं भ्रातृविरहं यद्यपि नागीगणन्, तथापि कथंचिन्मन्दं शोकमोहप्रसरस्तेषु जातः। अर्जुनप्रेमातिशयस्तत्र निमित्तम्। उपमानस्य सूर्यस्योष्णभा—शब्देनोक्त्या उपमेयेऽर्जुनेपि तीव्रा परपरिमर्दशक्तिर्व्यज्यते।

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे।
तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात्प्रदेशमादेशमिवाधितस्थौ ॥ २० ॥
कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहं पुण्यजन स जिष्णौ।
इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ॥ २१ ॥
अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन।
बृहद्द्युतीन्दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे ॥ २२ ॥

३३

कार्यगौरवमालोच्य युधिष्ठिरादिभिर्भ्रातृभिरिदं राज्यं सदा दुर्भरमधार्यत स्म, प्रदत्तं भ्रातृप्रेम्णा तु तत् सद् पुनराकृष्य तद् भ्रातृषु तुल्यभागेन विभक्तं स्म। समस्तमपि सर्वेषु स्थापयति स्मेति। तेन तु मानुमवस्लेपो जात, परमत्र प्रश्नः। तत्र हेतुरुत्प्रेक्ष्यते—यथा महानपि भारो यदि विभज्य बहुभिर्वहेत, तर्हि लघुरेव प्रतीयते, तथा बहूनां (चतुर्णां भ्रातॄणाम्) समानं तु भूमिनिमध्ये विभागादिव तत्र लघुत्व जातमिति। मनस्तु क्षणिकवृत्तितया तत्र शाद्वुमूनाया शोकवृद्धेभविष्य तदयमाप्युत्साहेनोपमर्दोऽल्पत्वं सुकरम्, शुद्धस्तु स्थिरतया तत्र व्यापनं दुष्करमिति मनसः चञ्चलत्वस्य चित्रमातुं समर्थ्यते। समानीयं विभज्यमानं—इति वर्तमानं प्रत्ययेन भूयो भूयः कार्योत्साहं शोकमन्धारयति, भूयो भूयश्च भ्रातृप्रेम च समानं पततीति चान्वितम्। कार्योत्साहेन तु तस्य लघुता प्रतीयते स्म। न तु वस्तुतो लघुता जातेति 'मने' पदेन द्योतितमित्यादि चिन्त्यमानं। तल्याद्विभागादित्युत्प्रेक्षा च समविभागेनोत्पन्नस्य स्कन्धे निवर्तितो भारो यथा लघुः प्रतीयते—इत्याद्या शयस्तेनोक्त।

३४

यद्यपि भ्रातृप्रेम्णा तद्वियोगशोक आविर्भावित, तथापि तेषु स स्थितिं न लेभे। तत्र हेतवः—तथा स्वाभाविकी धीरता, न हि धीरा शोकवशगा भवन्ति। किं च व्यासवचने तेषां विश्वास, व्यासोक्तदिशार्जुन सिद्धिमेव प्राप्स्यति, नात्र किमपि कष्टं भविष्यतीत्यालोचनेन शोकापनोद। किं च शत्रुभिर्यानि दुःखानि दत्तानि, तान्यनुस्मृत्य प्रतीकारेच्छा तथा तेषां प्रबला, यथा तदग्रे न किमपि भावान्तरं तिष्ठति, तथा शोकः प्रणष्ट। किं च—अर्जुनस्य पराक्रमविवेकादिकं ते सम्यग् जानन्ति, तेन चार्जुनस्य कष्टापत्तिमनसु न समागच्छति, ततोऽपि शोकाभाव। एभिर्हेतुभिस्ते शोकत्यागं नामुचन्। एकत्र प्रेम्णा शोकः स्थाप्यते, अनेकैस्तदपसार्यते, तदत्रानेकविरोधप्रकारस्यापि तत्राभाषित शोकस्य स्थितिः सम्यगनेनोपक्रान्तम्। पूर्वेण हेतुना तेषां धीरोदात्तत्वम्, द्वितीयेन धर्मिष्ठत्वम्, तृतीयेन च तेजस्विता व्यज्यते।

असंशयाद्गौचित्यकार्यगुरु प्रभ समं यित्र्यमा ।
द्वयाद्विभागादिव तन्मनोऽपि विभारोऽपि लघु स मन्ये ॥ ३३ ॥
धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादमरातिपराभवाच्च मन्यो ।
वीर्ये च विद्वत्सु सुतेऽमघोने स तेषु न स्थानमवाप शोक ॥ ३४ ॥

३५.

युधिष्ठिरादयश्चत्वारो भ्रातरः अर्जुनविरहजन्यं खेदं मात्रयापि नानुबभूवुः, यतस्ते तितिक्षाशीलाः सहनशक्तिमन्तश्चेति, किन्तु स खेदः तान् सर्वान् परित्यज्य समूहभावमापन्न इव एकप्रवाहतामापन्नश्च द्रौपदीमाचक्राम । यथा दिनस्य चतुर्ष्वपि प्रहरेषु प्रकाशबाहुल्यादवकाशमलभमानोऽन्धकारः प्रकाशशून्यां रात्रिमाक्रामति, तथैवेति । यथा रात्रिरन्धकारमयी भवति, तथा द्रौपदी शोकमयाऽभूदिति तात्पर्यम् ।

३६.

तपस्यार्थं पर्वतप्रदेशे गन्तुमुद्यतमर्जुनं साभिलाषं द्रष्टुमिच्छति द्रौपदी । सा तस्या इच्छा तच्चेष्टया स्फुटं प्रतीयमानासीत् । परं तस्या नेत्रे प्रेमाश्रुपरिप्लुते अभवताम् । तैरश्रुभिस्तस्या नेत्रे तथावृते, यथा सा तं स्पष्टं द्रष्टुं न शशाक । यद्यपि नेत्रनिमीलनेनाश्रुबिन्दूनां बहिर्निपतनात् स्पष्टदर्शनं सम्भावितमासीत्, तथापि सा तथा नाकरोत्, यतस्तया चिन्तितम्—यद् विजयोपायप्राप्तये प्रस्थितस्य पत्युः प्रस्थानसमयेऽमङ्गलसूचकमश्रुमोचनमनुचितमिति । तेन अश्रूणि नयनयोरेव दधे विदुषीयं, नत्वश्रुपातमकरोत् । अश्रुभिस्तस्या नेत्रे तथा आभासताम्, यथा हिमरेखाप्रपातेन सङ्क्लिष्टे कमले भासेते इति ।

३७.

तपस्यार्थे गन्तुमुद्यतेऽर्जुने द्रौपद्या सप्रेम दृष्टिपातः कृतः, स हि दृष्टिपातस्तथा स्निग्धमधुरो बभूव, तथा च द्रौपद्या अकृत्रिमं प्रेम तस्मिन् लक्ष्यमाणमासीद्, यथाऽर्जुनस्य दृष्टिमेकान्ततस्तदाचकर्ष । रामयाऽर्पितं प्रियं च दृष्टिपातमर्जुनः पाथेयवन्मन्यमानः सहर्षं स्वीचकार । लोकेऽपि यात्रार्थे प्रतिष्ठमानः पुरुषो मध्येमार्गं भोजनाय स्वभार्यया प्रेम्णा समर्पितं मिष्टान्नादिकं पाथेयं सहर्षं गृह्णाति, प्रियार्पितं पाथेयं पथि क्षेमङ्करं भवतीत्यागमः । पाथेयमञ्जलिना गृह्यते, अस्य दृष्टिपातस्य ग्रहणार्थं त्वर्जुनेन प्रसन्नं मन एवाञ्जलीकृतम् । मनसा दृष्टिपातस्य ग्रहणं [illegible] सहर्षं दृष्ट्वा मनसि तथा संस्काररूपेण निवेशनम्—यथा प्रवासे तद्

तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य ।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे ॥ ३५ ॥

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः ।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥ ३६ ॥

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥ ३७ ॥

सतत स्त्रियेत। मनसि पूर्वं तेन दृष्टिपातेन प्रसादोदय, तदनु सत्कारस्वरूपेण तस्य स्थापनमिति द्योतयितुं मन प्रसादस्याञ्जलिमुक्तम्, न [illegible] मनः।

३८.

यथा ग्रीष्मर्तौ स्वल्पजला वादगभीरा नदी आरण्यकेन गजेन विलोड्यमाना निर्मलतां जहाति, तथैव शत्रुनिकारदूषिता द्रौपदी पत्युर्युधिष्ठिरस्य वियोगमवहमाना धैर्यभ्रंशेन अतितरां क्षुभितामभूत्। किं च पत्युर्गमनसमयेऽमङ्गलं माभूदिति तथा अश्रुनिरोध कृत —इति पूर्वमुक्तम्, अश्रुनिरोधे च वाक् स्पष्टं न प्रवर्तते, कण्ठश्च स्खलतीति स्फुटं लौकिकानाम्। अत सा कथंचिदतिकठिनतया गद्गदस्वरेण अर्जुनं प्रति अनियमुतोचित वक्ष्यमाणमुवाच। यद्यपि पतिं प्रत्युपदेशादान पतिव्रतानामत्यन्तमनुचितम्, तथापि कृच्छ्रप्राप्ततया तथा कृतम्, अत एव कृच्छ्रादिति हेतुपञ्चमीनिर्देश।

३९.

शत्रुभि छलेन यथा भवतां सर्वा राज्यसम्पद् हृता, तथैव भवतां सम्भावनापि हृता। पूर्वं लोका "पाण्डवा शूरा सन्तीति" भवत समभावयन्, आसीच्च भवत्सु तेषां बहुमान, परं सा सम्भावना स बहुमान, राज्यश्रिया सहैव द्विषन्त मानिलीन। यथा गजादि पङ्के निमज्जति, तथैव, पङ्कमग्नत्वाद् दुरुद्धर स। तस्य समुद्धारायैव भवान् तपसि प्रवर्तते, बहूनि तपांसि त्वया कर्तव्यानि स्यु। अत एव तप सिद्धिविषयकसंशयात् उत्कण्ठितेन दुर्मनायमानेन न भवितव्यम् भवता, यत तप सिद्ध्यैव न आधयो निवर्तिष्यन्ते। दौर्मनस्य च तपोविघ्नकरमिति। यद्यपि प्रवासादिषु उत्कण्ठा दुरत्यया, तथापि तथा नोत्कण्ठितव्यम् यथा तपो विहन्येत्, यत् पदार्थो मापदेन सूचित। उन्मनीभू इति निवर्तयेन तस्य स्वाभाविक धैर्यं द्योत्यते। सम्मानोद्धार एव तपसां मुख्य फलम्, सम्पदुद्धारस्तु आनुषङ्गिक इति च इवेन [illegible]।

४०.

ये पुरुषा यशोलाभाय, सुखप्राप्तये, लोकोत्तर कर्म विधाय दिव्यत्वाधिगतये वा निःस्पृहका भूयस प्रयतन्ते, फलसिद्धिस्तेषां पार्श्वे स्वयमेवागच्छति। यथोत्कण्ठिता

धैर्यरसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धु।
निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥ ३८ ॥
मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन्।
आधिविघाता तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभू ॥ ३९ ॥
यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धि ॥ ४० ॥

प्रेयसी कान्तस्याङ्कमागच्छति तथेति । यदि कान्त स्वयमेवौत्सुक्य प्रकटयेत् , तदा सा मान प्रदर्श्य विलम्बते यदि तु कान्तो निरुत्सुक इव स्यात् , तदा सा समुत्सुका अङ्कमागच्छति । तथैव ये सिद्धावत्यर्थमासक्ति दर्शयन्ति, न तेषा सिद्धि सुलभा । ये तु केवल प्रयत्नपरा अनुत्सुका , तेषा पार्श्वं सिद्धि स्वय समेति । एतेन फलेऽप्यत्यर्थमौत्सुक्य निषिद्धम् । यद्वा यथा दिव्यपदमोक्षलाभार्थिभि स्वजनौत्सुक्य परिहार्यम्, तथा लौकिकफलार्थिनामपि एकाग्रतासम्पत्तये यद्विषयक प्रयत्नस्तदितर विषयकमौत्सुक्य निषिद्धमेव । अत एवार्जुनो द्रौपद्या भूयो भूय प्रबोध्यते, यत् त्वया सिद्धिपरायणेन भवता अस्मासु औत्सुक्य परिहर्तव्यमेवेति ।

४१

शत्रुभिर्योऽयमस्माक केशाकर्षणादिरूप परिभव कृत , तेन खलु अस्माक तेजो हृतम्, तेज एव च क्षत्रियजातेर्मुख्य धनम्, यतो लोकरक्षार्थमिय जातिर्विधात्रा सृष्टा, लोकरक्षा च दुष्टविजयसाध्या, विजयश्च तेजोऽधीन इति । यद्वा सर्वेषामेव क्षत्रियाणां तेजोऽनेन हृतम्-यतो हि क्षत्रियाणा पश्यतामेवैतदस्याहित स्थानमभवत् । यदि क्षत्रियाणां तेजोऽभविष्यत् तर्हि किमेतदस्याहितमप्रतीकार स्थानमभविष्यदेति लोका विचारयन्ति । किंचैतेन परिभवेन स्वभुजार्जितमान्नमुपभुञ्जानाना तेजस्विना प्राणवत् प्रियोऽभिमानोऽपि लुण्ठ्यते, क्षत्रियाणा हि मानहानि प्राणहानिसमा । तेषा हि विजयसाधनी तेजस्विता माने एव तिष्ठति, मानस्तस्या प्राण इव, मानाभावे तदनवस्थिते । अत्र विजयैकवृत्ते इत्यनेन विशेषणेन क्षत्रियस्य विजित द्रव्यमेवासाधारण स्व भवति इत्युक्तम् । तथा च अह त्वया अनेकेषा क्षत्रियाणा मध्ये मत्स्यवध विधाय विजिता अतस्तव मयि असाधारणं स्वत्व भवति, इत्थ च स्वाहृतस्य तेजस्विन क्षत्रियस्य स्ववस्तुन परिभव पश्यत किमेषा प्राणहानिसदृशी मानहानि सोढव्या इति निगूढोऽभिप्राय । विजय इत्यर्जुनस्यैक नाम, तेन, विजये त्वय्येवैकस्मिन् तेजस्विता तिष्ठतीत्यपि ध्वनितम् ।

४२.

यदैव सभामध्ये जातोऽस्माक परिभव देशान्तरीयैर्नृपतिभि श्रुत , तदा तैरपि सहसा न तत्र विश्वास कृत , यतस्तै पूर्वं विचारितम् यद् नैवविध पराभव ईदृशानां वीराणा सम्भवति, परन्तु श्रावयितारो विश्वसनीया आसन्–अतस्तै कथचिद् विश्वास कृत एव तदा च अस्माभिरसम्बद्धानामपि तेषा राज्ञां स्त्रीवेय-

---

लोके विधात्रा विहितस्य गोप्तु क्षत्रस्य मुष्णन्वसु जैत्रमोज ।
तेजस्विनाया विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रिय प्राणमिवाभिमानम् ॥ ४१ ॥
व्रीडानतैराप्तजनोपनीत संशय्य कृच्छ्रेण नृपै प्रपन्न ।
वितानभूत वितत पृथिव्यां यश समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥ ४२ ॥

कर्णादिसहस्य दुर्युत्सुवृत्तस्य भवेद् अन्यथा दुष्टान्त्यवतान्तात्। अथवा
सभायां विद्यमानैरन्यै राजभिर्भीष्मोऽपाचार्य प्रभृतिभिर्दुष्टैः—यद् दुर्योधनः पाण्डव-
नाशमेव एव, अशोकवन्दे च नष्टस्यैवदाविन्यनेनेति, इतरथा ते कदापि
न पैशुन्यन्त । किं च यथा मार्गेषु मार्ताण्डादित्योऽस्वतः समुपैते—तथैवैतेन
परिस्थितेन दिक्षु विद्यानन्द् विस्तृत जना यशो निरविशेष मनुष्यम् । एतेन युष्माकं
पूर्वतनं प्रसारं व्यसनयतेति नाम । इह 'पृथिव्या विद्यानमूनम्' इत्युक्त्वा सर्वो
यथा प्रसारो बोधित, तेनार्जुनस्य गाण्डीवदाहे देवतादिकः स्मार्यते, विततद्-
इत्युक्त्या पृथिव्यां विस्तार, तेन युधिष्ठिरस्य प्रजापालनतोऽश्वं स्मार्यते, दिग्भि-
र्भीमेनि उक्त्या भीमादिकृतो दिग्विजय स्मार्यते ।

४३.

किंचैतेन तनुकालकार्येण मनसो निर्गते, पुराकृतेषु वैरकर्मसु दयाकलनं
कृतम्, यथा तेषां विनोद इव जातः । एतेषां न स्मरन्ति—न च भवति यदैते
अन्येन स्वान्तीतिरस्कार पूर्णे इहनने पाण्डवे कदाचिद् विनाश भवेत् ।
किं च अथैतेन तिरस्कारेण मनसा कीर्तित्वया शोभिन्, यथैनं कदाचिज्जडैव
नेतुमनुभूयते । अपि च—यथास्तमन काले निवृत्ता सूर्यमना सङ्कोचयति, तथैवा-
यमस्कारो मन्त्रणुत्तरकालिकी वर्धयति सङ्कोचित्वात् । तिरस्कृतानां कुतः
समुद्धरिति ।

४४.

यत्नुनिर्हृतस्तुष्टितस्य केशाकर्षणादिस्मृतस्य न परिभवस्य स्मरणमपि दुर्वहम्,
तस्य प्रयोगविषये चिरं स्मृहननिरिये वा किमु वक्तव्यम् । यद्यपि चिरात् तद्
परिभवे क्लिन्नं मे हृदय कालेनैव कथञ्चित् लब्धहने शान्तिं मातम्, तथापीदानीं
त्वद्वियोगखेदाभावात् व पुराणः परिभवः पुनः स्मरणमागो नूतन [illegible] पूर्वन्द् हृदयं
खेदयिष्यति । यथा शनैः शनैः शुष्यति कश्चित् पुराणव्रणे यदि आघातान्तरं
भवेत्, तर्हि स पुनरार्द्रतां गतः पीडयति, तथैव दुःखितस्य पुनरनेन दुःखान्तरं
पुनरपि पुराण दुःखमुद्धापयतीव ।

४५.

हे पार्थ ! यथा कश्चन दन्ती दन्तक्षतो कन्ठे स एवायमिति मन्दनिद्रातुं न

दैवे निदानेषु कृताक्षमर्षं मन्त्रमूलमिव कम्पतीतम् ।
कुर्वन्नपानजनतयातीनसकलस्थानक इवा रोषः ॥ ४३ ॥
प्रहृत्य योऽस्मत्सु परै प्रयुक्तः स्मर्तुं न शक्तः किमुत प्रतिकर्तुम् ।
नवीकरिष्यत्युपसृज्य भावं स त्वद्विना मे हृदयं निकार ॥ ४४ ॥
प्राप्तोऽनेक नन्दवनादवाप्य दन्तीव दन्तव्रणदाहिकारम् ।
द्विषत्प्रवादान्तरितोत्थितैकः शरद्धनाकीर्णं इवादिवतः ॥ ४५ ॥

शक्यते, तथैव त्वमप्यात्माभिमाननाशेन न शक्यसे प्रत्यभिज्ञातुम्, यदयं एव धनञ्जय-य उत्तरकुरून् विजित्यासंख्य धनमाहृतवान्। वर्धमानेन शत्रुप्रतापेन तव तेजस्तथाऽऽदितम् यथा त्वं शरदृतुमेघैराच्छन्नः प्रातःकाल इव निष्प्रभो न प्रत्यभिज्ञायसे। तदानीं हि एकतः सूर्यप्रभा स्वयं मृद्वी, अपि च मेघैरावृता इति हेतोः प्रातःकालः पदार्थमिति प्रत्यभिज्ञा न प्रसरति, एवं त्वमपि पूर्वतनतेजसो विनाशेन सर्वथा स एवायमिति न परिचीयसे। मध्याह्नस्तु मेघावरणे सत्यपि प्रत्यभिज्ञायत एवेति प्रत्यूषस्यैवोपमानत्वमुक्तम्। यथा शरद्घना न प्रावृड्घनवद् दुर्भेद्या तथा तवापीयमापद् न दुर्भेद्या, अपि तु कृतयत्नस्त्वं शीघ्रमिमां तरिष्य सीति शरत्पदव्यङ्ग्यम्।

४६

हे पार्थ! इदानीं तवास्त्राणि क्रियाशून्यतया सलज्जानीव भान्ति, सलज्जो हि न विचेष्टितुं प्रगल्भते। तव निराकरणे तवास्त्राणामपि लज्जाभूत्, तत एव तानि व्यापारे न प्रवर्तन्ते—इति सम्भाव्यते। लज्जितस्य च अपटुता—नि सरणता स्वाभाविकी, अतो नि सत्त्वैरिव तैरस्त्रैस्त्वं न शोभसे। 'अर्जुनोऽस्त्रैस्त्रिलोकीं जेतुं समर्थ—इति पूर्वं तव शोभाभूत्, इदानीन्तु शस्त्राणि व्यापारशून्यानि दृष्ट्वा न तथा सम्भावयन्ति लोकाः। तव पूर्वं सञ्चितं यशोऽपि क्षीणम्, तथा च यथा क्षीणजलः समुद्रः केवलं रिक्तगर्तः प्रतीयेत, तथैव यशःक्षयात् त्वमपि निःसार प्रतीयसे। किं बहुना, त्वयि सर्वं तथा परिवृत्तम् यथा त्वं पूर्वविलक्षणो दृश्यसे, न प्रत्यभिज्ञायसे। अस्त्रैः त्वमनवभासमान इत्युक्तम्, न तु अस्त्राण्यनवभास मानानीति, तेन अस्त्रेषु न प्रतीघातादिदोषः, त्वय्येव तदव्यापारणदोष इति द्योतितम्।

४७

मय्येवं तव पश्यत इमे मम केशाः दुःशासनेन आकृष्टाः, तदानीमबला नाभूत् कश्चिद् रक्षकः, सत्स्वपि युष्मासु नाथेषु अनाथा इव इमे जाता तदानीं केवलं भाग्यमेवैतेषां शरणमभूत्, अन्यथैषां स्वरूपमपि लुप्येत, एवं दृश्यमानेन धार्तराष्ट्रं तूष्णीमुपेक्षमाणस्य ते शौर्यं बलं चोभयमपि गर्हणीयतां गतम्। यत्तव वीर्यं देवैरपि दुरासदम्, तदचेतनैः केशैः कदर्थितम्। स एष विलक्षण परिवर्तः तव धनञ्जयत्वं सन्देहयति, तस्मात् पृच्छामि—किं त्वं स एव—प्रसिद्धकर्माऽर्जुनोऽसि,

---

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमान ।
यशःक्षयात् क्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्न ॥ ४६ ॥
दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः ।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसार कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम् ॥ ४७ ॥

इत्यभिप्रायमाह । परं तस्मिन्नर्थे 'तव अधानाम्' इत्युक्तिस्वारस्यं नास्ति । 'अस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः' इति पूर्वोक्तमेव च तथा सति पुनरुक्तं स्यात् । स्वस्य तु खलनाशप्रार्थनापेक्षया प्रियस्य तु खलनाशप्रार्थनैव युक्ततरेति च विवेचयन्तु सुधियः । किं चाशाशीरर्थकेऽलङ्कारे सत्यपि, स्वस्य तथा व्याख्यायापि च कर्तव्योपदेशं मल्लिनाथो मनुते ।

५३.

पार्थ ! विजने प्रदेशे चिरं त्वया स्थेयम्, भृत्यादिविरहेण चैकाकिनैव तत्र तत्र पर्यटनीयम् । अन्यो यदि सहायो भवेत्, तर्हि स समये हितं बोधयेत्, परं तथाभूतस्याभावात् स्वयमेव त्वया सततमवहितेन स्थातव्यम् । विजनः शान्तश्चायं प्रदेशः, किमत्रानिष्टं सम्भाव्यते, किं च नाहमत्र कस्यापि प्रियमप्रियं वा करोमि, तत्कुतो मे कश्चिद्वैरी स्याद् इति विचार्य प्रमादस्त्वया न कार्यः । यतो हि भवन्ति तादृशा रागद्वेषदूषिता जनास्तत्रापि, ये सत्पुरुषाणामप्यनिष्टं सम्पादयितुं यतन्ते इति । मात्सर्यदूषिततया शत्रुसम्भावनोपन्यस्ता, रागदूषितत्वोक्त्या चाप्सरःप्रभृतीनां स्त्रीणामाशङ्किताऽत्र प्रोक्ता । उभयथापि सावधानेन त्वया भाव्यमिति कर्तव्योपदेशः ।

५४

पार्थ ! यन्मया निवृतं तदेव विचार्य महर्षेरादेशमनुसृत्य तपोऽनुतिष्ठन् सर्वथा त्वद्भ्रातॄणां मम च कामान् पूरयस्व । अस्माकं केवलं ते मनोरथा एव, त्वं तु तत्पूरणेऽपि समर्थः । तेन तवापि अस्माभिः सह समृद्धिलाभः, कीर्तिलाभश्च स्वतन्त्रः स्यादिति कुरुष्वेत्यात्मनेपदेन द्योत्यते । यद्यपि प्रवासकाले गाढमालिङ्गनं कर्तुमुचितं, तथापि निकारसन्तप्ते मानसे न तत्प्रीतिदमिति, यदा त्वं कृतार्थः प्रत्यावर्तिष्यसे, तदैव त्वां गाढमालिङ्गिष्यामि । एवपदेन 'नास्मिन् समये' इति वर्तमानपरिरम्भणं व्यावर्त्यते । ईदृशे अत्यावश्यकेऽपि कर्मण्यप्रवृत्तिः परिभवजनितस्य सन्तापस्यातिशयं व्यनक्ति । यद्वा कृतार्थमेव प्रत्यागतमिति योज्यम्, तेन त्वं यत्नपरो कृतार्थः कथमपि स्या—इति फलप्राप्तौ निश्चयो द्योत्यते ।

५५

पूर्वं प्राप्तोऽपि परिभवो व्यासङ्गाद् विस्मृत इव, स इदानीं द्रौपद्या अभि

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे ।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ ५३ ॥
तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व ।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ॥ ५४ ॥
उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम् ।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः ॥ ५५ ॥

निवेशवाचा पुनरुद्घाट्य—पुनर्नवीकृत्यानुभावित, तेनार्जुनस्य क्रोध प्रदीप्तो ऽभूत्। यथा स्वभावदीप्तोऽपि सूर्यो दक्षिणां दिशमासाद्य कथंचिदल्पतेजा उदीचीं प्राप्य पुन प्रदीप्तो भवति, तथैव स्वभावेन तेजस्वी अप्यर्जुनो शान्तिवत्सलया कथंचित्सौम्यतां गतो द्रौपदीवाचमाकर्ण्य पुन प्रदीप्तोऽभूदिति।

५६

द्रौपदीवाचमाकर्ण्य पारम्पर्यस्मरणेन अर्जुनस्य तथा वृत्तिर्बभूव यथा शत्रवस्तस्य सम्मुख एव तिष्ठन्ति यथा शत्रून् पुरो दृष्ट्वा क्रोधो दीप्यते, तथैव तस्य क्रोधदीप्तिर भूत्। प्रस्थानकाले पुरोहितेन समन्त्रमस्त्राणि तच्छरीरे यथोचितं स्थापितानि। तेन रम्याणि तदाकृतिरिदानीं भयप्रदा प्रतीयते स्म। यथा स्वभावसौम्योऽपि मन्त्रो यदा मारणादिकर्मसु विनियुज्यते, तदा भयप्रदो भवति, तद्वदेव कार्यकाले अर्जुनस्य भीषणत्वमिति।

५७

पुरोहितेनार्जुनस्य शस्त्राण्यारोपितानीत्युक्तम्, कानि तानीति विवृणोति—यस्याकर्षणे कोऽपि शत्रुर्योद्धुं न शक्नोति, यद्वा—यस्याकर्षणमर्जुनादृते कोऽप्यन्यो न कर्तुं शक्नोति यद्वा कस्याप्यन्यस्य धनुषो विकर्षणं यस्य विकर्षणं नातिशेते—तद् गाण्डिवं धनुरर्जुनेन धृतम्। अक्षय्यबाणनिधी तूणीरौ च निबद्धौ, ययोर्दर्शनं कदापि शत्रुभिर्न कृतम्। तूणीरौ हि पृष्ठतो बध्येते यदि समरे योद्धा पलायेत, तदा तूणीरौ शत्रुभिर्दृश्येताम्, न ह्यर्जुनः कदापि समरान्निवृत्त तेनास्य तूणीरौ शत्रुभिर्न दृष्टौ। तूणीरपार्श्वं एव खड्गोऽप्यर्जुनेन बद्ध।

५८

कवचमप्यर्जुनेन धृतम्। तस्मिन् कवचे रत्नानि तत्र तत्र निवेशितान्यासन्। अतएव सरत्नकवचमर्जुनस्य शरीरे स्थितान् तान् व्रणान् तेजसा तिरोधत्ते स्म, ये खाण्डवदाहे इन्द्रेण सह युध्यमानस्य तस्येन्द्रायुधेः कृता। तत्र सादृश्यमुच्यते—यथा इन्द्रेण सह कृतसङ्गरोऽयम्, तदस्त्रप्रहारानपि सोढ्वा खाण्डवदाहं चकारैव। अर्जुनस्य प्रथितेन यशसा व्रणा तिरोहिता—जनानां मनस्सु न गण्यन्ते स्म, तथैव कवचेनापि ते तिरोहिता इति। किं च कवचमिदं रत्नैस्तथा प्रतीयते स्म

अथाभिपश्यन्निव विद्विष पुर पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसंहति।
बभार रम्योऽपि वपु स भीषणं गत क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम्॥ ५६॥
अविलङ्घ्यविकर्षणं परै प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम्।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी॥ ५७॥
यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षती।
कवचं च सरत्नमुद्वहञ्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिव॥ ५८॥

यथा तारकाकलितो नभसो मध्यभागो भवेत्। लोहनिर्मितस्य कवचस्य कृष्णवर्णतया प्रतीयमानेनाकाशैकदेशेन साम्यम्, रत्नानां च तारकाभिः। कवचस्यैकदेशसाम्योक्त्या अर्जुनस्य कृत्स्नस्य साम्यं प्रतीयते।

५९

कुबेरस्य भृत्यो गुह्यकोऽर्जुनं प्रति मार्गं बोधयति स्म, तेनैव मार्गेण पूर्वोक्तवेषोऽर्जुनो हिमालयस्य इन्द्रकीलनामक शिखरं प्रति प्रस्थितः। अभिज्ञेन गुह्यकेन शिवः पन्थास्तदर्थं निर्दिष्टः, यत्र गच्छतोऽस्य न कापि बाधा भवेत्। तदा तपस्विनः सर्वेऽपि तद्विरहेण तद्गतमनस्का बभूवुः। तद्वियोगेन च तेषां बाष्पोद्गमोऽप्यभूत्, परं तपस्वितया क्षणेनैव बाष्पवेगः स्तम्भितः।

६०

अथ प्रस्थितेऽर्जुने तद्विजयनिश्चयप्रहृष्टाः, मङ्गलमाचरयन्त इव देवाः स्वर्गे दुन्दुभीर्वादयामासुः, तस्य शब्दस्य प्रतिध्वनिः सर्वासु दिक्षु श्रूयते स्म। किं च पुष्पाण्यपि देवा ववृषुः, तेनाभ्रं शोभान्वितमभूत्। अथाभिज्ञानामसुरपक्षपातिनां दुर्योधनादीनां विघातो देवकार्यमेवार्जुनेन साध्यमिति तेषां हर्षः। किं च भाविमहासमरसूचनाय भूमिप्रकम्पे, समुद्रश्च प्रवृद्धउत्तरङ्गमाल आसीत्। तत्र कविरुत्प्रेक्षते—प्रियं समुद्रः स्वप्रियां पृथ्वीम् 'मा बिभीहि, भारस्ते क्षिप्रमपनेष्यते' इति प्रियं सन्देशमाख्यातुं वीचिभिर्भुजदण्डैरालिलिङ्ग, सा च सात्त्विकभावोदयेन प्रकम्पिता, हर्षोल्लसिता चाभूदिति। यथा कश्चित्कान्तः प्रियं सन्देशमाख्यातुं कान्तां भुजाभ्यामालिङ्गति, सा हर्षोल्लसिता वेपमाना च भवति, तद्वदिति। समुद्रकर्तृकमालिङ्गनं भारत स्वर्ग एव। सर्गसमाप्तिसूचके लक्ष्मीपदं यद्भूतदाकाश शैलीलक्षणाय।

इति किरातार्जुनीये तृतीयः सर्गः।

अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म सम्प्रयान्।
हृदयानि समाविवेश स क्षणमुद्बाष्पदृशां तपोभृताम्॥ ५९॥

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्ती
भुवमनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः॥ ६०॥

किरातार्जुनीयस्य एकादशः सर्गः

कथासम्बन्धः

इन्द्रकील नाम हिमालयस्यान्यतमं शिखर गतोऽर्जुन इन्द्रप्रसादनाय दुश्चर तपस्तेपे। वनरक्षकमुखेन श्रुततद्वृत्तान्त इन्द्रः परीक्षार्थं तपोविघ्नायाप्सरोगणमादिदेश। गन्धर्वैः सहिता अप्सरसोऽर्जुनाधिष्ठितपर्वतसमीपमेत्य विविधान् विहाराश्चक्रु। अनुकूलर्तुसहायाश्च विविधाभिश्चेष्टाभिरर्जुनं प्रलोभयितु प्रयेतिरे। किन्त्वर्जुनस्यासाधारण धैर्यमालोक्य विफलप्रयासा स्व स्व धाम प्रतिजग्मुरिति दशमे सर्गे गतम्।

तदनन्तर वृत्तमुच्यते—

१

प्रतिनिवृत्य ताभिरप्सरोभिस्तद्वृत्तमिन्द्राय निवेदितम्। इन्द्रश्चार्जुनस्य स्वाभाविकीमागन्तुकीं चोभयविधामपि जितेन्द्रियतामाकर्ण्य प्रससाद, अर्जुनो हि स्वभावेन जितेन्द्रिय आसीत्, इदानीं चाप्सुनितामर्षेण विशेषतो जितेन्द्रियता सपादिता, न ह्यमर्षवशीकृते मनसि किल सेच्छा स्थान लभते। ततश्चेन्द्र स्वयमेव तद्दर्शनपरीक्षार्थं छद्मवेषेण तदाश्रम जगाम।

२.

स्वाश्रमे समागत मुनिवेषधारिणमिन्द्रमर्जुन साक्षाच्चकार, तेन स वृद्धो मार्गश्रान्तश्च मुनिरिति विज्ञात। अर्जुनो हीन्द्रस्यैव सुत, पर कर्मवयमादिना योग्यश्चेति दर्शनयोग्यतामाकलय्य इन्द्रेण तस्मै दर्शन दत्तम्।

३.

वृद्धमुनिरूपेणार्जुनसमीपमुपागतस्येन्द्रस्य शिर श्वेतकचनिबद्धजटाजालमण्डितमासीत्, तेन शोभमान इन्द्रस्तदानीं चन्द्रकिरणसंपृक्तया सन्ध्यया शोभितस्य दिनान्तस्य सादृश्यमुवाह।

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया।
आजगामाश्रम जिष्णो प्रतीत पाकशासन ॥ १ ॥
मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुर।
द्राघीयसा वयोतीत परिक्लान्त किलाध्वना ॥ २ ॥
जटानां कीर्णया केशै संहत्या परित सितै।
पृक्तयेन्दुकरैरह्न पर्यन्त इव सन्ध्यया ॥ ३ ॥

परिणतरश्मि द्रदिनात्तयो स दृश्यम् । कृष्णा तमसा श्यामापि चन्द्रकिरणै श्वेता भवन्ति, तथैव केशा स्वभावेन श्यामा अपि जरसा तुषारस्या स्थैर्य नीता इति तयो साम्यम् ।

४

इन्द्रस्य नेत्रे कमलसदृशे, वृद्धत्वात् तस्य भ्रुवौ पालित्य प्राप्ते, लम्बमानाश्च तयोर्लोमा नेत्रे आच्छादयन्ति स्म । मांसस्य स्पर्शाल्पभागात्माभागावपि वलिविशिष्टौ, किञ्चितौ अत एव ■ तदानीं तस्य शरत्काल प्राप यस्मिन् निरन्तरतुषारपातेन कमलानां दलानि म्लानानि स्यु । तुषारसमा श्वेता भ्रूवाला, म्लानता च वलितत्वादिति ।

५

यद्यप्यतिवृद्धस्य तस्य पाणिपादाद्यवयवा अनिकृष्टा तथापि स निर्बलत्वात्म तान् वोढुं प्राभवत्, तेन ते भारयुक्ता इव प्रतीयन्ते स्म, निर्बलस्य स्वशरीरमपि भारायते इति भाव । अत एव स प्राय शरीरोपष्टम्भाय यष्टिमवलम्बते स्म । यथा पतिव्रता स्त्री अनुयोग भोजनपरं भर्तारं स्वयं भोजनार्थमवलम्ब्य ददती धरति तथैव यष्टिरपि धरति स्म । अवलम्बने यष्ट्या कर्तृत्वप्रतिपादनेन वृद्धस्य स्वशक्त्यभावो द्योतित, न हि स यष्टिं धरति स्म, अपि तु यष्टिस्तं धरति स्मेति ।

६

यद्यपि मुनिवर्येणेन्द्र स्वस्वरूप गोपयामास, तथापि लोकातिशायि तस्य तेजो बोधयति स्म यदयं कश्चन महापुरुष इति । यथा वर्षासु स्वल्पेन मेघमण्डलेना वऊन्नेनापि किरणसहस्रेण दुरभिभवेन स्वतेजसा दीप्यत एव, तथैव सोऽपि दीप्यते स्म । अंशुमानिति लोकाभिभाविना इति च आच्छादनेऽपि प्रकाशनयोग्यतां व्यनक्ति ।

७

यद्यपीन्द्र शरीरेण वृद्धो लक्ष्यते स्म तथापि तस्य दिव्या मूर्तिराश्रमस्य शोभामतिशेते स्म, तदानीमतिथेरिन्द्रस्यागमने तत्सम्भाषणाक्षमो नीरवस्तब्धतया

विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचन ।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रद ॥ ४ ॥
आसक्तभरनीकाशैरङ्गै परिकृशैरपि ।
आद्यून सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बित ॥ ५ ॥
गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना ।
अंशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रह ॥ ६ ॥
जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृति ।
चकाराक्रान्तलक्ष्मीकं ससाध्वसमिवाश्रमम् ॥ ७ ॥

समुत्पन्नभीतिरिव दृश्यते। तेन स्वदर्शनाद्धि भयं भवति, भयाच्च नीरवता जायते इति। अत एव कविना सवाध्वसमिवेरितुं प्रक्षिप्तम्। यद्वा इवशब्दोऽपूर्णार्थः। भयं प्रतीयते स्म, परं तु स्वदं नाभूत्। तस्मात् वास्तवं भयमिति।

८

स्वाश्रमे समागतमिन्द्रं दृष्ट्वा तद्विषयेऽर्जुनस्य मनसि महान् स्नेहोदयो जातः। यतः इन्द्रस्तस्य जनक आसीत्। यद्यपीन्द्रस्य रूपम्मुनिवशादर्जुनेन न ज्ञातं यदेष मम जनक इति, तथापि प्रकृतिरियं यद् बान्धवे अज्ञातेऽपि तत्सन्निधिमात्रेण चेतः स्वयमेव प्रसीदति। परितस्तरे इति पूर्णतया संदधे लाक्षणिकम्। व्याख्यान्तरे तु अतिप्रेम्णा अर्जुनस्तस्मा आसनादिकं ददाविति भावः।

९

अर्जुनेनातिथ्यं कृतम्। इन्द्रेण तद् गृहीतम्। यद्यपि वस्तुतस्तस्य न कापि आतिथ्यासीत्, तथापि तेजस्विनया तेन अन्तेवासिनयो नादृतः। ततश्च वक्तुमारेभे।

१०

इन्द्रः स्वस्यापरिचितता दर्शयन् अर्जुनं मुमुक्षुं मत्वा वक्ति—त्वया युवावस्थायामेव तपः प्रारब्धं साधु कृतम्, यत् तप एव वैराग्यमुत्पादयति, विषयवैराग्यमेव च जन्मनः साफल्यम्। लोके बहुलं दृश्यते यत् वृद्धाः सञ्जातवलीपलिताः शिथिलेन्द्रिया अतिवृद्धा अपि विषयैराकृष्यन्ते, यूनां तु का कथा। अतस्त्वादृशः साधुकारी प्रशस्य एव।

११

भद्र! त्वं न केवलमाकृत्या मनोहरः, अपि तु स्वरूपानुरूपा गुणा अपि त्वया लब्धाः, यतस्त्वं श्रेयस्करे तपसि प्रवृत्तः, एवम्भूतस्त्वमेव श्लाघ्योऽसि। लोके रमणीयरूपा बहवो भवन्तु, गुणार्जनपराः परं कश्चिदेव, त्वयि तु रम्यता गुणार्जनं चेत्युभयमप्यस्तीति सुवर्णसौरभयोर्योगः।

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥ ८ ॥
आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः।
विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥ ९ ॥
त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ॥ १० ॥
श्रेयसीं तव संप्राप्ता गुणसंपदमाकृतिः।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ॥ ११ ॥

१२.

यथा शरत्कालिकमेघाना छाया अस्थिरा भवति, तूर्णमेव नश्यति, तथैव यौवनशोभापीयमस्थिरा, न हि यौवन कस्यापि स्थिर भवति, येनोन्माद्यन्ति लोका । श्रीरप्यस्थिरेति व्याख्यान्तरे । तथा शब्दादयो विषया इमे उपभोगकाल एव रमणीया प्रतीयन्ते, परिणामे तु शरीरेन्द्रियादिशैथिल्यहेतुतया दु खदायिनो भवन्ति, अतो विषयान् विहाय तपसि मनो ददता त्वया साधु कृतम् ।

१३

किञ्च तपस्विन् ! सर्वथा जगदिद त्याज्यमेव, दु खाक्रान्तत्वात् । आदौ हि जन्मिनो गर्भवासादिदु खमेव महत्, (इद जन्मिपदेन ध्वनितम्) ततो बाल्यजीवनमप्यनेकसङ्कटाकीर्णम् । यदि सुखमपि क्वचित् कदाचिद्भवेत् तर्हि दु खाक्रान्तमेव तत् । (इद सततापद इति विशेषणेन व्यञ्जितम्) तदपि च कालाधीनम्, न जाने कदाम्रियेत । तस्मात् पण्डितजन ससारमिम त्यक्त्वा मुक्तिलाभायैव यतते ।

१४.

श्रेयस्करे तपश्चरणे तव मति विलोक्य निश्चीयते यत् तव चित्त विवेकशील अतोऽतिप्रशस्तम् । केवल तपस्विविपरीत तव वेष दृष्ट्वा मे मनसि सदेहो जायते, यद् भवान् मुमुक्षुरस्ति न वा ।

१५.

यथा कश्चन युद्धार्थी कवच धारयति, तथा त्वयापि धृतमस्ति, तत् कस्य हेतोः । कि युयुत्सुरसि ?, तपस्विनस्तु केवल मृगचर्म वृक्षत्वच च धारयन्ति । न तु शस्त्राणि, कवचस्य तु का कथा । अतस्तपस्विनस्ते कवचधारण सर्वथा विपरीतम् ।

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रिय ।
आपातरम्या विषया पर्यन्तपरितापिन ॥ १२ ॥

अन्तक पर्यवस्थाता जन्मिन सततापद ।
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जन ॥ १३ ॥

चित्तवानसि कल्याणी यत्त्वा मतिरुपस्थिता ।
विरुद्ध केवल वेष सदेहयति मे मन ॥ १४ ॥

युयुत्सुनेव कवच किमामुक्तमिद त्वया ।
तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥ १५ ॥

१६.

त्वया भयङ्कर धनु, महान्तौ तूणीरौ च धृतानि सन्ति, तद्धारण च शरीररक्षार्थं मृगयार्थं वोपयुज्यते, न हि शरीरे तेऽनुराग, शरीरनिरपेक्षतयैव तपसि प्रवृत्तत्वात्। न वा त्वं प्राणिहिंसक, मुमुक्षुत्वात्, अत एतद् धनुरादिधारण किमर्थमिति न प्रतीयते।

१७.

तव स्थितेनापि त्वया धृता प्राणिभयङ्करीयमसिलता मृत्यो (प्रसिद्धभुजाति रिक्त) भुज इव दृश्यते। अनयापि ज्ञायते तव चेतसि शमो नास्तीति। शान्तिमेतः शस्त्रानुपयोगात्।

१८.

शत्रुविजिगीषयैव त्व तपश्चरसीति तर्कयामि, यदि त्वं मुक्तये तपोऽतप्स्य, तर्हि शस्त्र नाधारयिष्य। इमानि शस्त्राणि तव चेतसि क्रोधमनुमापयन्ति, मुमुक्षवस्तु शान्तिप्रधाना भवन्ति, यथा नैकत्र शान्तिक्रोधयो सम्भव, विरोधादेवेति। तस्माद् आयुधधारिणस्ते तप इद गौणमेव।

तपोधना —इत्युक्तया तप एव तेषां धनम्, न हि प्रयोजनान्तरसिद्धये तपस्तेषाम्, तव तु प्रयोजनान्तरार्थं तप इति न त्व तपोधन इति द्योतितम्।

१९.

ननु जयार्थमेव तपश्चेत् को दोष इत्येव शङ्कायामुच्यते यथा पिपासानिवृत्ति हेतूनां महारत्नानां रत्नाज्ञानामया कर्दमकरणे विनियोगो विद्वद्भिर्गर्ह्यते, तथा मोक्षरूपमहाफलसाधनीभूतस्य तपस परहिंसारूपे तुच्छे फले विनियोगोऽपि गर्ह्य एव, तस्मात् परहिंसामात्रार्थं नियुंक्ते तव तपस्युद्योग सुतरामविवेकपूर्ण एवेति।

प्रविरुद्धौ किमु ते मुक्ति निःस्पृहस्य कलेवरे।
महेषुधी धनुर्भीम भूतानामनभिद्रुह॥ १६॥

भयङ्कर प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापर।
असिस्तव तपस्यस्य न समर्थयते शमम्॥ १७॥

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुक।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्त क्वायुध क्व तपोधना॥ १८॥

य करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरी क्रिया।
ग्लानिदोषच्छिद स्वच्छा स मूढ पङ्कयत्यप॥ १९॥

२०.

यद्यप्यर्थकामावपि पुरुषार्थमध्ये गणिताविदुच्येते तत्र समावेशाम, तथापि अर्थकामयोरत्यन्तमासक्तिर्निषिद्धैव। यत , अर्थकामौ खलु हिंसानृतस्तेयादीनां प्रबलानां दोषाणां मूलकारणं स्त , तदुक्तमर्मियुक्तैः—'स्त्रीकामा धनकामाश्च किं न कुर्वन्ति पातकम्' इति। किं च, तौ मोक्षसाधनस्य तत्त्वज्ञानस्यान्तरायभूतौ, न ह्यर्थकामसक्तयोस्तत्त्वजिज्ञासाप्युदेति। परिपन्थित्वादर्थकामयोरासक्तिरसमाध्येयेति।

२१.

अर्थकामयोर्हेयत्वमुक्तम्। तत्रार्थस्य विशेषेण दोषा उद्घाट्यन्ते—न हि अन्येषां प्राणिनां विद्रोहेण विना संपल्लभ्यते—इति प्रसिद्धमेतत्। यैश्च संपदर्जने विरोधः कृत , ते प्राप्तेऽवसरे एतं दोषभारमपि पातयिष्यन्त्येवेति सुलभा श्रीपरस्यापद। यथा समुद्रे निरवच्छिन्नप्रवाहा नद्यः पतन्ति तथैव तस्मिन् पुरुषे निरन्तरं विपद आपतन्ति य ऐश्वर्याय प्राणिहिंसां विधत्ते। भूतानामिति श्रिय इति च बहुवचनोपन्यासेन श्रीमाकान्तेन बहुविधसंपदर्जने बहुभिर्भूतैरनेन विद्रोहः कृत , ते सर्वेऽपि क्रमेण निर्यातनं कुर्युरिति आपदां सातत्यं व्यञ्जितम् , तदेव चोदन्वदुपमया दृढीकृतम्। न च संपद गत्वरं—गमनशीला नैकत्र तिष्ठन्ति, ता विनङ्क्ष्यन्ति, आपदश्चागमिष्यन्तीत्यनर्थोदर्कता दृढीकृता।

२२

विचारे क्रियमाणे प्रतीयते—संपदो विपदश्च तुल्या एव। तथा हि यथा विपदः प्रशस्तान् सहायान् विना सर्वथा अगम्या (अनिस्तीर्या) तथैव संपदोऽपि तान् विना अगम्या (अप्राप्या) इति। सहायान्वेषणे च क्लेशो जायत एव, न हि सहायाः सर्वदा सुलभा भवन्ति, तदानुगुण्ये च स्वातन्त्र्यहानिरित्यपरं कष्टम्। किं च यथा विपत्सु सतीषु खेदो जायते, तथा संपत्स्वपि रक्षणादिक्लेशो दुर्निवार , यथा च विपदः स्वरूपतो भयहेतव , तथैव संपदोऽपि चोरादिभयं नित्यमेवावहन्ति। अतो विपदो यथा लोके दुःखदा इति हेयतया प्रसिद्धा , तथैव संपदोऽपि मन्तव्या।

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥ २० ॥
अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरी श्रियः।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥ २१ ॥
या गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव संपदाम् ॥ २२ ॥

२३

पूर्वं तु धने दुर्लभमेव, दैवाद् बहून् क्लेशान् सोढ्वा लब्धमपीदं विश्वासधैर्ययोर्नाशकं भवति, यत्तद्रक्षार्थं चेतश्चञ्चलं भवति, अत्र वा रक्ष्यं तत्र वेति निरन्तरं सङ्कल्पयति, न क्वापि स्थितिं लभते, धनिकस्य सर्वत्राविश्वासात् । अविश्वस्तस्य च शान्तिसुखं दूर एव । तथा च यथा सर्पस्य फणायां स्वयं स्थितेन पुरुषेण मरणं प्राप्यत एव, तथा धनार्जनपरेणाप्यापत्प्राप्यत एव, स्वरूपेणैव धनमापद्रूपमेवेति । दुरासदादिविशेषणं सर्पपक्षेऽपि योज्यम् , सर्पफणापि दुरासदा (दुर्ग्रहा) भवति, गृहीतापि च दशनभिया स्वान्तमधीरं विधत्ते, न जाने कदावसरं गृहीत्वा दशेदित्यविश्वासश्च तत्र ।

२४.

खलोऽपि हेतोः सम्पदो हेयाः—तथा हि इमा विवेकशून्या योग्यायोग्यविशेषं न परिचिन्वन्ति, योग्यं विहायायोग्याश्रयणात् , अयोग्यवत् योग्यस्यापि त्यागाद् वा । नापि इमाः कुत्रचिदेकस्मिन् बद्धानुरागा भवन्ति, यः पुरुषोऽद्य श्रीभिः सेव्यते, स एव परेद्युस्ताभिरेव तृणवत्त्यज्यते, तथा च चपलस्वभावासु श्रीषु मूढा एव पुरुषा आसज्जन्ते, न बुद्धिमन्तः । ये आसक्ताः, तेषां विपरीतस्वभावजन्यो दोषः ।

२५.

ननु दुष्टेभ्य एव पुरुषेभ्यः श्रियोऽपयान्ति, न तु शिष्टेभ्य इति चेद् , नैवं वाच्यः । तथा सति श्रियो चाञ्चल्यापवादो लोके न स्यात् । दुर्वृत्तं पुरुषं त्यजन्त्यः श्रियः केन वा न प्रशस्यन्ते, अपात्रत्यागस्य सर्वैरपि प्रशंसनात् । किन्तु क्षुद्रा विवेकशून्या इमाः श्रियः दुर्वृत्तमिव सद्वृत्तमपि दूरतस्त्यजन्ति, अत एव इमाः निन्द्यन्ते, तस्मात्त्याग आसां स्वभावसिद्ध एवेति हेया एवेमाः । अनेन संदर्भेण अर्थो न पुरुषार्थं इति दृढीकृतम् ।

२६.

यदि कथयसि—वैरनिर्यातनार्थं तपस्तपस्यसि इति तदपि नोचितम् , अप्रिय-

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः ।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा ॥ २३ ॥
नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ २४ ॥
कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः ।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव संपदः ॥ २५ ॥
कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मनः ।
अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ॥ २६ ॥

करणेन यत्रणा पीडोत्पादनं विना वैरनिर्यातनादिके, अप्रियं संपाद्य कस्यचित् पीडोत्पादनं च सर्वथा त्याज्यम्, यतः तव मनोऽपि अप्रियसयोगप्रियवियोगाभ्यां पीडितमभूत्, भविष्यति, वर्तमाने भवति च, तथा च 'अतो यदात्मनेऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत्', इत्यमियुक्तोक्त्या आत्मदृष्टान्तेन त्वया पराप्रियकरणाद् विरमणीयमेव। यद्वा अर्थनिन्दा प्रपञ्चिता, कामनिन्दा प्रारभ्यते। कामे जीवातुः प्रियसंयोगः, स एव निन्द्यते—विरहदु खमीतेः सद्भावात् प्रियसंयोग एव नाभिलषणीय इति।

२७.

प्रियसमागमस्य सुखैकहेतुता लोकैर्मता—इति प्रपञ्च्यते—प्रियसमागम एव लोकैः सर्वत्र मन्यते, प्रियेण सह स्थितो सत्या शून्यमपि स्थानं समृद्धं प्रतीयते, दुःखमपि प्रियेण सह भुज्यमानमुत्सव इव मन्यते, प्रियो यदि वञ्चनामपि कुर्यात्, तदापि लाभ एव मन्यते लोकैः।

२८.

यथा प्रिययोगः सुखैकनिदानम्, तथा प्रियविरहो दु खैकनिदानं लोकानां मत इत्याह, स्पष्टो भावार्थः।

२९.

प्रियसयोगविप्रयोगयो सुखदु खैकहेतुतां लोकदृष्ट्या व्याख्याय तत्त्वदृष्ट्या हेयतामाह—यदि जनः प्रियेण संयुक्तो भवेत्, तदा कामवशगो हिताचरणे न प्रवर्तते—इत्यनर्थं, यदि तु वियुक्तो भवेत्, तदा वियोगदुःखेनाकर्मण्यतां याति। तदुभयथाप्यनर्थसद्भावादयमेव दुःखविघातक उपायो यत्केनचित्सङ्ग एव न कर्तव्यः। तेन न हितप्रमादो न वियोगदु ख च स्यात्।

३०.

यथा लक्ष्मीरस्थिरा, तथैव जीवनमप्यस्थिरमिति त्वं सम्यग् वेत्सि, अतोऽस्थिरवस्तुकृते त्वया परपीडनेन न्यायमार्गो न त्यक्तव्यः। साधव खलु न्याय्यमेव कर्म विदधते, नान्याय्यम्, यदि त्वं परान् पीडयसि, तर्हि लोकैरसाधुरिति व्यपदेक्ष्यसे।

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ॥ २७ ॥
तदा रम्याण्यरम्याणि प्रिया शल्य तदासवः।
तदैकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ॥ २८ ॥
युक्तः प्रमाद्यसि हितादपेतः परितप्यसे।
यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने ॥ २९ ॥
जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वाँल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम्।
भवान्मा स्म वधीन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधवः ॥ ३० ॥

३१

अतो हे तपस्विन् ! त्वं रणोत्साहं त्यज, मोक्षसाधकस्य तपसो वैरनिर्यातन रूपायान्तरफलाय दुरुपयोगं मा कार्षीः। मोक्षप्राप्तये शान्तिं धरस्व। तत एव ते तपोधनत्वं सम्यक् समर्थितं स्यात्।

३२.

यदि सर्वथा शत्रुविजिगीषां त्यक्तुमसमर्थोऽसि, तर्हि देहे वर्तमानान् इमांश्च क्षुरादीन् शत्रून् विजयस्व, इमे खलु देहधारिशत्रूणामपेक्षया दुर्जयाः सन्ति। देहे इति पदेन तेषां नित्यसान्निध्यमुक्तम्, सदा सन्निहितेभ्य एभ्यो यथा भयं तथेतरेभ्यो शत्रुभ्यो नास्ति। [illegible] एषां स्वायत्तीकरणेन सर्वोऽपि लोकः स्वायत्तीकृतः स्यात् जितेन्द्रियस्याधीने [illegible] वैरानुदयात् सर्वं एव मित्राणि उदासीना वा भवन्ती त्येतावता तस्य सर्वविजयव्यपदेशः।

३३

यः पुरुषः इन्द्रियाणि विजित्य स्ववशे न करोति, स्वयमिन्द्रियवशो भवति, स इन्द्रियपराधीनः पुरुषो यदा स्वाभिलषितं स्वयं न प्राप्तुं शक्नोति तदा परमुख निरीक्षते, तत्प्राप्तये स कर्षणवहनादि नीचान्नीचमपि कर्म कर्तुं सन्नद्धो भवति, तथा कुर्वतस्तस्य लज्जापि न जायते। केवलं स्वेन्द्रियतुष्ट्यै स बलीवर्द इवान्येषां दासभावं प्राप्नोति।

३४.

किं च हे तपस्विन् ! योऽयं विषयानन्दोऽद्यानुभूयते, परेऽहनि स न तिष्ठति, तस्य स्मरणमात्रं जायते, न त्वनुभवः, तस्य क्षणिकत्वात्, ईदृशेषु का प्रीतिः ? तथा चेन्द्रियाश्रयान् स्वप्नवत् क्षणिकसुखान् मत्वा त्वया तदासक्तिर्न कर्तव्या, न हि स्वप्ने कश्चिद् बुद्धिमान् भक्तो भवतीति।

विजहीहि रणोत्साहं मा तपः साधु नीनशः।
उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन ॥ ३१ ॥
जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः।
जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः ॥ ३२ ॥
परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम् ॥ ३३ ॥
श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी।
इति स्वप्नोपमान्मत्वा कामान् मा गास्तदङ्गताम् ॥ ३४ ॥

३५.

अपि च हे तपस्विन्! इमे विषया अतिकष्टदा दुःखिता शत्रव सन्ति, तथा हि सुखदतया लोकैरेषु विश्वास क्रियते, परमिमे लोकान् वञ्चयन्ति, सर्वदानुपलम्भ एव तेषा वञ्चनम्, चिर स्थाना वञ्चनमतीव कष्टप्रदम्। लोकस्तेषु प्रेम विदधते, पर ते सेव्यमाना अनेकरोगशोकप्रदानेन विप्रियमाचरन्ति, वृद्धावस्थाया जराजीर्णतया स्वसेविभि स्वय परित्यज्यन्तोऽपि लोकैर्दुस्त्यजा भवन्ति, चेतसस्तत्रासक्तत्वात्। अत इमे परिहरणीया एव। प्रसिद्धा शत्रवस्तु श्रद्धेया प्रिया, दुस्त्यजा वा न भवन्तीति तदपेक्षया वैलक्षण्यमेषाम्।

३६

देशकालसम्पत्कार्यसिद्धौ मुख्य कारण भवति। तत्र भूमि गङ्गाद्वारप्रदेशरूपातिश्रेष्ठा प्राप्ता। एकान्ते सुरसरिद्वारिसेकादतिपवित्रितेऽस्मिन् पर्वते शान्तो भूत्वा तप कुरु, तथा सति मुक्तिस्त्वयातिसुलभा शक्यलभ्या। 'मुक्ति' स्वय त्वां प्राप्नोतीति कर्तृप्रथमया पुरेतिनिपातप्रयोगेण च मुक्तेरतिसौलभ्य द्योतितम्।

३७

इन्द्रोपदेश आकर्ण्यार्जुनो विनयनिकुञ्चित गम्भीरार्थं प्रत्युत्तर दातुमारभत।

३८.

पूर्वमर्जुनस्तद्वाक्य शालीनतया प्रशसति—हे मुने! भवद्वाक्य स्फुटार्थप्रतिपादकतया प्रसादगुणयुक्तम्, अत एव श्रोतुर्हृदयावर्जकम्, यद्यपि पदार्थविशदीकरणे पुनरुक्तिर्भवति, अर्थगौरव च नश्यति, पर भवता साभिप्रायपदप्रयोगेण पुनरुक्तिरपि न कृता, अर्थगौरव च रक्षितम्, श्रोतुरुद्वेगकर शब्दविस्तारोऽपि परिहृत, असम्बद्ध किमपि नाभिहितम्, आवश्यकसर्वशब्दप्रयोगाद् अध्याहारोऽपि परिवर्जित, उपदेशस्य मिताक्षरत्वेऽपि वक्तव्याशो न त्यक्त, अनेकार्थकशब्दाप्रयोगादर्थसदेहोऽपि निरस्त इत्यहो अभिनन्दनीया वचनचातुरी भवत!

अश्रद्धेया विप्रलब्धार प्रिया विप्रियकारिण।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामा कष्टा हि शत्रव॥ ५॥
विविक्तेऽस्मिन्नगे भूय प्लाविते जह्नुकन्यया।
प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वा पुरा मा भूदुदायुध॥ ३६॥
व्याहृत्य मरुता पत्याविति वाचमवस्थिते।
वच प्रश्रयगम्भीरमथोवाच कपिध्वज॥ ३७॥
प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम्।
साकाङ्क्षमनुपस्कार विष्वग्गति निराकुलम्॥ ३८॥

३९

हे मुने ! भवद्वचो वेदवाक्यतुल्यम्, तथा हि यथा वेदवाक्य मीमांसाशास्त्रेण निर्धारिते स्वार्थे स्मृत्यादिप्रमाणान्तर नापेक्षते, स्वत प्रमाण स्यात्, तथैव भवद्वचोऽपि युक्तिभि साधिते स्वार्थे उपोद्बलक शास्त्रान्तर नापेक्षते, युक्तानामतिदार्ढ्यात्। किं च यथा वेदार्थ प्रत्यक्षादिभिर्न बाध्यते, तथैव भवत्प्रतिपादितोऽर्थोऽपि प्रतिवादिभिर्विरुद्धयुक्त्युपन्यासेन खण्डयितु न शक्यते। इवशब्देन सम्भावनायाम्, युक्तिदार्ढ्यादागमनिरपेक्ष समाख्यते इति। वस्तुतस्तु आगमसिद्धार्थकथनमेवेदम् इति तेन द्योत्यते।

४०.

यथा समुन्नमोत्तालतरङ्गवारिधिरूर्जितो भवति, न केन प्युल्लङ्घितु शक्यते, तथैव भवद्वचोऽपि ऊर्जितमनुल्लङ्घनीय चास्ति, एव यथा स्यात्शीलनप्रेमादिसिद्धिसम्पन्न च श्रुधेभिस्त शान्त भवति, तथैवोक्तिवैचित्र्ययुक्त सदर्थप्रतिपादक (प्रयोजनवद् वा) च भवद्वचोऽपि शान्तमाल्क्ष्यते।

४१

साम्प्रतमिन्द्रवाक्यमशसामुपसहरति, एतादश प्रसादादिगुणयुक्त कालोचित साधनबोधक गुणत्रयोपेत च वाक्य भव त विहायान्य को वक्तुमर्हति। यद्यपि लोके वक्तारो न दुर्लभा, तथापि भवत्सदृशो गम्भीराशयो न सुलभ इति।

४२.

परन्तु हे माननीय मुने ! मह्य मोक्षप्राप्तिहेतु मुनिधर्ममुपदिशता भवता 'केन प्रेरित किमुद्दिश्य वाह तप करोमि' इति न विदितम्, यदि तद् भवान् अवारयत् तर्हि नैवमनधिकारिण मा मोक्षधर्ममुपादेक्ष्यत्।

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे ।
अप्रकम्प्यतयाऽन्येषामाम्नायवचनोपमम् ॥ ३९ ॥

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वतूर्जितम् ।
औदार्यादर्थसम्पत्ते शान्त चित्तमृषेरिव ॥ ४० ॥

इदमीदृग्गुणोपेत लब्धावसरसाधनम् ।
व्याकुर्यात्क प्रिय वाक्य यो वक्ता नेदृगाशय ॥ ४१ ॥

न ज्ञात तात यत्नस्य पौर्वापर्यममुष्य ते ।
शासितु येन मा धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि ॥ ४२ ॥

४३

प्राञ्जलिक एव उपदेशः सर्वेषामपि, वाचस्पतिरपि यदि प्रसङ्गनिरपेक्षेण दिशेत् तर्हि तस्य स प्रयासो धनेनर्हिनं स्यात्। यथा नीतिविरुद्धकारिणामुद्योगो व्यर्थ एव भवति, तथा। तथा च महाविदुषोऽपि तव वाक्यमप्रासङ्गिकत्वान्न फलं भवितुमर्हति।

४४.

यद्यपि मोक्षधर्मप्रतिपादकत्वाद् भवद्वचः प्रशस्ततरम्, तथापि मोक्षेच्छाभावादहं तस्यानधिकारी। अहं वैरनिर्यातनार्थी, कुतो मे मोक्षाधिकारः। यथा तस्करेण नवाभिषिक्तो भवन्, परं दिव्यवस्तुन्यधिकारी न भवति, तथेति। दिनकरस्योपमानतया कथनात्तस्य दुष्प्रदीनता व्यञ्जिता।

४५.

काशीश केन प्रेरितः किमुद्दिश्य वा तपः करोमीति स्ववृत्तान्तादिवर्णनपुरस्सरमर्जुनः कथयति—हे मुने! क्षत्रियकुले मम जन्म जातम्, (विनाऽमर्षयोग्यता दर्शिता) तत्रापि न साधारणे, पाण्डोरहं पुत्रः, अत एव महाकुलप्रसूतोऽस्मि, (तेन वा हठीकृता, पाण्डुपुत्रेष्वप्यहं पार्थः—पृथापुत्रोऽस्मि, न तु माद्रीपुत्रः (तेन क्षतिः हठान् नीता) पृथापुत्रेष्वपि महावीरोऽर्जुनोऽस्मि य उत्तरकुरून् विजित्य धना हृतवान् धनञ्जय इति लोके प्रसिद्धः। (एतेन मर्षयोग्यताऽपि भूमिं नीता) तथा देवदुर्योधनादिभी राजन्यैर्नाद् मम ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिरो राज्यच्युतस्तु, अस्मान प्रतीकारार्थिनस्तस्यावनाहं तपस्या करोमि, न तु मोक्षेच्छया, तदागानन्तरं मानहानि, ज्येष्ठभ्रातृपूज्यपूजा—व्यतिक्रमश्च भवति, तथाचैवमनवंपूर्तस्य वैरनिर्यातनार्थिनो—न्यायादेकमात्रचेतसो मम न सर्वथा मोक्षेऽधिकारः। अत्र धनञ्जय इत्युक्ते शरीरस्थो वायुः सर्पविशेषो वा स्यात्तद्व्यतिरेकार्थं पार्थ इति, पृथापुत्रोऽपि कश्चित् पृथापुत्रोऽस्तु, तदर्थं पाण्डोस्तनय इति, नैमित्तिकार्थे पाण्डुविप्र इत्यनन्तरं पृथा नाम काचिद् दासी तत्पुत्रोऽपि सम्भाव्यते, तदर्थं क्षत्रिय इति विशेषणानीति मल्लिनाथः। एषा व्यङ्ग्यार्थस्तु दर्शित एव।

अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम् ॥ ४३ ॥
श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम्।
नभसः स्फुरतोऽस्य रात्रेरिव विपर्ययः ॥ ४४ ॥
क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनञ्जयः।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ॥ ४५ ॥

४६.

यच्चोक्तं 'विरुद्धः केवलं वेषः' इत्यादि, तदुत्तरयति—'समाचारमुपात्तशस्त्र.' इत्यादि भगवतो व्यासस्योपदेशेन विरुद्धवेषधारणादितपोनियमो मया पाल्यते, न तु स्वेच्छया, विज्ञानेन तपसाहमिन्द्रमाराधयामि, क्षत्रियदेवतात्वेन तस्यैव सुखाराध्यत्वाद्, अथवा वैरशोधनार्थिना मया तपस्तप्यते इति पूर्वमुक्तम्, वैरशोधनं च बलवतैव कर्तुं शक्यते, बलप्राप्तिश्च देवताप्रसादाद् भवति, बलाधिष्ठातृदेवता चेन्द्रः तदुक्तं निरुक्ते 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति। तथा च बलार्जनकामस्य ममेन्द्र एव सुष्ठुतयाराध्यः।

४७.

भवादृशो वीरभ्रातरि युधिष्ठिरस्य कथमेवं विनिपात इत्यत आह—द्यूतं कुर्वता राज्ञा युधिष्ठिरेण राज्यादि सर्वमपि पणीकृत्य हारितम्, नात्र राज्ञः कश्चिद् दोषः भवितव्यतैवेदृश्यासीत्।

४८.

युधिष्ठिरादिषु यथा तवानुरागस्तथा तेषां त्वयि नास्तीत्यपि न शङ्कनीयम्, युधिष्ठिरादयश्चत्वारो भ्रातरः, द्रौपदी च मद्वियोगेऽतितरां खिद्यन्ते, यद्विरहार्तानां तेषां कृते रात्रयोऽप्यतिदीर्घा दुर्यापणीयाश्च भवन्ति। वैरनिर्यातनस्यावश्यंभावद्योतनाय चतुर्भिररिनिकारं वर्णयति।

४९.

शत्रवो मध्येसभं बलाद् द्रौपद्या उत्तरीयं हृत्वास्मान् ह्रेपितवन्तः, किं च तत्रैवारुन्तुदैः मर्मच्छेदकैर्वाक्यैरस्माकं हृदयं व्यथयामासुः।

५०.

शत्रुणा हृदये भीष्मादिगुरुजनसंनिधौ साध्वीं द्रौपदीमानेतुं योऽयमभिलाषः

कृष्णद्वैपायनादेशाद्बिभर्मि व्रतमीदृशम् ।
भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः ॥ ४६ ॥
दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः ।
नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता ॥ ४७ ॥
तेनानुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना ।
भृशमायामियामासु यामिनीष्वभितप्यते ॥ ४८ ॥
हृतोत्तरीयां प्रसभं सभायामागतह्रियः ।
मर्मच्छिदा नो वचसा निरतक्षन्नरातयः ॥ ४९ ॥
उपाधत्त सपत्नेषु कृष्णाया गुरुसंनिधौ ।
भावमानयने सत्याः सत्यङ्कारमिवान्तकः ॥ ५० ॥

समुत्पन्न, स पापाभिलाष एव तान् प्रति मृत्योरन्तर्धाय सायङ्क स्थितश्च आसीत्। अयमभिसन्धिः चिकीर्षितस्य कार्यस्यारम्भ क्रियाम्प्रारम्भनार्थं परदानं यद्दीयते स सत्यङ्कार उच्यते, मृत्युना स्वचिकीर्षितस्य धार्तराष्ट्रनाशस्यावश्यकर्तव्यतासूचनार्थं तेषां हृदये सभामध्ये द्रौपद्यानयनाभिलाष उत्पादित, तद्विनाशाय तेषां विपरीतां बुद्धिमुत्पादितवान् इति तत्त्वम्।

५१.

दुःशासनो द्रौपदीं मन्देषु समानेषु वस्त्रे गृहीत्वा आकर्षति स्म, आकर्षणकाले अग्रेस्थे दुःशासने, पश्चाच्च पराङ्मुखीभूय स्थिता द्रौपद्यासीत् तदानीमग्रस्थितेन दुःशासनेनाकृष्यमाणा द्रौपदी तथा प्रतीयते स्म यथा सायंकालिकसूर्याभिमुखं स्थितस्य कस्यचित् महावृक्षस्य पृष्ठवर्तिनी छाया प्रतीयते, सूर्याभिमुखं स्थितस्य छाया पृष्ठवर्तिनी भवतीति निसर्गः। आकृष्यमाणाया द्रौपद्या आकर्षकं प्रति पराङ्मुखत्वाद् आकृष्टच्छायोपमम्, तथापि तां न मुञ्चतीति दुःशासनस्य दुष्टाभ्यम्, न तु त्विषम् पापदर्शनस्य जुगुप्सितत्वात्। नापि दुःशासनमनाचारात् निवर्तयितु किञ्चिदवदन्, किं तु माध्यस्थ्यमवलम्बिय सर्वं तत् साक्षिरूपेण स्थिता इतिमल्लिनाथः। सूर्यस्य सायमितिविशेषणं यथास्तमुपगच्छन् सूर्यो हतप्रभो भवति तथा स्वसम्मुखे पतिनामपमानं पश्यन्त्या तस्या अपि हतप्रभा अभवदिति द्योतनाय।

५२.

हाय स्वपतीनां पश्यतां परैः परिभूयमाना द्रौपदी स्वामशरणां विभाव्य करोद, कदाचित्तस्या नेत्रे अश्रुभिरावृते अभवताम्, तत्र कविरश्रुभिर्नेत्रावरणे हेतुमुत्प्रेक्षते, स्वपत्नीं परदारमिवाक्रान्तां विलोक्यापि पाणिपादमसंदर्शयित्वा सहमानानां पत्नीरक्षणरूपं पतिधर्मं विस्मरतामेषामुपरि दृष्टिपातेन किं फलम्? कातरया दृष्ट्या निरीक्षिता अपीमे क्लीबकल्पा अप्रतीकारास्तिष्ठेयुः, अतो निरर्थकमेषां दर्शनमिति विचार्य बाष्पवारिभिर्नेत्रावरणं कृतम् इति।

५३.

ननु भवद्भिः किमर्थमेतत् सोढमितीन्द्राशङ्कायामर्जुनः समाधत्ते—वस्तुत इमा

तामैक्षन्त दृश्यमानां दुःशासनपुरःसराम्।
अभिसायार्कमावृत्तां छायामिव महातरोः ॥ ५१ ॥
स्वपक्षार्थक्रियारम्भे पतिभिः किं तवर्द्धिनै।
अदृष्टेयामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ॥ ५२ ॥
सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रिय।
सुलभो हि द्विषां भङ्गो दुर्लभा सत्त्ववाच्यता ॥ ५३ ॥

नो निकृष्ट दशां ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर एव सहते स्म, न तु वयम्, अस्माभिस्तु तदाज्ञाप्रतिबद्धै प्रतीकार कर्तुमपारितमत सोढमिव, ■ एव महामना कथ सहते स्मरयत्रोच्यते युधिष्ठिर एतु क्षम सत्यभाषणादिगुणसम्पन्नाती लोकापवादाद् बिभेत, प्रतीकारचेष्टाया शत्रूणामङ्गीकृताया प्रतिज्ञाया उल्लङ्घनस्य दुर्निवारतया तदुल्लङ्घने कदाचित् ■ पुरुषा अपवदेयुर्यद् युधिष्ठिर सत्याद् भ्रष्ट इति, अस्ना दवापवादाद् बिभ्यता याच्छ्रणापि सोढम्, शत्रूणा परिभवस्तु कालान्तरेऽपि कर्तुं शक्यते, पर जना मध्येऽपि यता दुर्लभा, सकृदप्युदिताया निन्दाया दुष्प्रानसमाधेयत्वात् ।

५४

मनस्विपुरुषाणां मनासि समुद्राणा जलानि च तुल्यधर्माणि भवन्ति, तथाहि उभयान्यपि मर्यादातिक्रमाद् बिभ्यति, वृद्धौ हानौ वा आनया न जातु मर्यादा त्यजन्ति, किं च जातेऽपि सक्षोभे न कदापि कालुष्य प्राप्नुवन्ति, यद्यपि मनस्विनि मर्यादाया आशयान भ्रुतिस्मृतिसदाचारानुमोदितपथानुसरणम्, समुद्रे च वलाया अनतिक्रमणम्, मनस्विन सक्षोभ परकृतापकारादि, अकालुष्य चाविकार, एव समुद्र सक्षोभो वात्यादिना तरङ्गमालाकुलत्वम्, अकालुष्य च अपङ्किलत्वम्, इत्युभयेषा धर्मभेदान्न समानधर्मता, तथापि एकशब्दप्रतिबिम्बभावाच्च समान धर्मता बोध्या ।

५५

अस्माभिर्धार्तराष्ट्रै सह सौहार्देन वर्तितम्, पर तैस्तत्परिवर्तं अस्मासु द्रुह कृत, परमेतन्नातिविस्मयकरम्, कुत ? नदीतटच्छायावद् असतां मैत्री अनर्थमेव जनयति । नदीतट हि भूयो भूयो नदीजलाघातेन जर्जर भवति, छायार्थं तत् सेवमानस्याद्य श्वो वा नदीपातो दुर्निवार, एवमेवासता हृदयमपि दुर्भावनाभि कलुषित भवति, तै सह सम्पर्केऽनर्थोत्पत्तिर्नाश्चर्यकरी ।

५६

ननु तेषा वृत्तमविज्ञाय कुतस्तै सह मैत्री कृतेत्याह—ब्राह्मण इव दुराचारस्यापि समीहित कार्यानन्तरमेव विज्ञायते, न तु पूर्वम्, दुर्विज्ञयत्वात्, किं च यथा

स्थिरतिकातिमीरूणि स्वच्छायाकुलिता याप ।
तोयानि तोयराशीनां मनासि च मनस्विनाम् ॥ ५४ ॥
धार्तराष्ट्रै सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत ।
असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता ॥ ५५ ॥
अपवादादभीतस्य समस्य गुणदोषयो ।
असद्वृत्तरहोवृत्त दुर्विभाव विधेरिव ॥ ५६ ॥

स्वस्वकर्मानुसारेण लोकान् शुभाशुभफलमुपभोजयतो ब्रह्मणः लोकापवादात् भयं नास्ति, तथा स्वदुर्बोधनानुरूपमाचरतो दुर्वृत्तस्यापि लोकापवादाद् भीतिर्न भवति, अपि च यथा विधिर्निग्रहानुग्रहौ कुर्वन् तात्कालिकगुणदोषौ नानुसन्धत्ते तथैव दुराचारोऽपि एतेन मात्मोपकृतमपकृतं वा' इति गुणदोषौ न पश्यति, किं तु यदृच्छं व्यवहरति।

५७.

अहं शत्रुभिरप्रतीकारेणैव जीवामि, यदि मम क्रोधः प्रतीकारेच्छां नोदपादयिष्यत्, तर्हि मम हृदयं तत्कालमेवाध्वंसिष्यत।

५८.

ननु तवैव मनसि कुतोऽयमस्माकममर्षः, नान्येषाम् इत्यत आह—शत्रुभिः तिरस्कृता वयं पलाय्य वनाद् वनमटन्तो हरिणवद् वन्याहारैर्जीवितं निर्वहाम, इमां निकृष्टां दशां प्राप्तानामस्माकं परस्परस्मादपि लज्जोत्पद्यते, नैकस्यापि परस्परमपि नयनं व्रीडादुन्नमयितुं शक्नोति। सहवासिनां सकाशाल्लज्जोत्पत्तौ तु किमु वक्तव्यम्, तथा च वयं पञ्चापि तुल्याभिमानाः, इदं तु मदेकसाध्यं कर्मेति मुनिशासनान्मयैवानुष्ठीयते।

५९.

यः केवलमुदराहारादिशरीरभावात् परेषामग्रे नम्रो भवति, अन्येषामपकृतं दुरुक्तं वा तूष्णीं सहते, यस्य च दुर्नयतया परैरभ्युत्थानादिना गौरवं न क्रियते प्रत्युत सति समये तिरस्कारो विधीयते, यश्चात्माभिमानशून्यः, स पुरुषरूपेण तृण्यः, तृणसादृश्यं च श्लिष्टानां जन्मिविशेषणानां तृणेऽपि योजनेन व्याख्यया दर्शितमेव। यथा तृणं सुखेनोच्छिद्यते तथा मानहीनोऽपीति तात्पर्यम्।

६०.

पर्वतेषु शृङ्गाणि वृक्षा वा यदेवोन्नतमस्ति तत् सर्वमप्यलङ्घ्यं भवति, इति दृष्ट्वा महात्मनां मानोन्नतिं केन प्राप्तुं नेष्यते, सर्वैरपीष्यते। पर्वतदृष्टान्तेन

ध्वंसेत हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः ।
यद्यमर्षः प्रतीकारं भुजालम्बं न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥
अवधूयारिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।
अन्योन्यस्यापि जिह्रीमः किं पुनः सहवासिनाम् ॥ ५८ ॥
शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ५९ ॥
अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम् ।
प्रियतां ज्यायसीं मागान्महतां केन तुङ्गता ॥ ६० ॥

तस्या अप्यलङ्घ्यत्वात्। उन्नतेरलङ्घ्यत्वहेतुतया तत्कामैः सर्वैरप्युन्नतये यत्नः क्रियते इति तत्त्वम्।

६१.

आत्माभिमानिन पुरुषस्यैव श्रियो यशांसि च भवन्ति, किं च स एव पौरुषाद् हेतो पुरुषत्वेन गण्यते, अभिमानशून्यस्य तु श्रियो विनश्यन्ति, यशांसि क्षीयन्ते, पौरुषाभावाल्लोकास्त क्लीबमाचक्षते।

६२.

उत्तमपुरुषगणनाप्रसङ्गे यस्य नाम्नि प्रथम समुत्थिताङ्गुलि द्वितीयामङ्गुलिं न प्राप्नोति, द्वितीयस्योत्तमपुरुषस्याभावाद् द्वितीयाङ्गुलेस्त्थानाप्रसङ्गाद्, तस्यैव जन्म सफलम्, एतद् मानिन एव सम्भवति, नान्यस्य; अतो मानो न त्याज्य।

६३.

आयुष्मतो गहनवनाकीर्णोऽपि गिरि कथञ्चिल्लङ्घितु शक्यते, परमोच्छ्रितं मानोन्नत पुरुष न कोऽप्युल्लङ्घितु शक्नोति, स खलु सर्वैरपि दुष्प्रधृष्यो भवति।

६४

येषां यशो निष्कलङ्कतया चन्द्रमण्डलमपि लज्जयति, त एव पुरुषाः इक्ष्वाकुरघ्वादिवत् स्वनाम्ना 'इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नोऽयम्' इत्येव स्ववंशमान् लोके प्रख्यापयन्ति, किं च वसु रत्नमुच्यते, तद्रूपाणा तेषा पुरुषाणा धारणादेव पृथ्वी वसुधरति यथार्थनामवती अस्ति। इन्दुमण्डलमित्यत्र मण्डलपद पूर्णचन्द्रोपस्थाप नाय, तस्यैव सकलङ्कत्वेन ह्रेपणीयत्वात्। शुभ्राणीति विशेषण च समान्येवेत्यव-धारणविधया यशसा सकलङ्कत्व परिहाराय।

तावदाभीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः ।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥ ६१ ॥

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते ।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति संख्यायामुद्यताङ्गुलिः ॥ ६२ ॥

दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः ।
न जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता ॥ ६३ ॥

गुरून्कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा ।
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

६५.

ये वीरा शुष्कवनसदृशेषु शत्रुषु तद्विनाशायाशनिसदृशं स्वक्रोधं पातयन्ति, त एव मानवतामग्रगण्या, त एव च 'त्वमेव भूयाः' इत्याद्याशीः प्रदानप्रसङ्गे आदर्शतामुपयन्ति, यथा 'त्वं रामवद् वीरकर्मा भूयाः' इत्यस्यामाशिषि राम उदाहरणम्, तथैव रामादिष्वपि उदाहरणं भवतीत्यभिसन्धिः । यथा नीरसतया शुष्कवनवृक्षा अनम्रा भवन्ति, तथाहङ्कारितया शत्रवोऽप्यनम्रा — अविनीता — इत्यनम्रत्वमुभयेषां साधर्म्यम् । क्रोधेऽशनिसाधर्म्यं च विनाशकरत्वरूपम्, क्रोधपातनकर्तॄणामिन्द्रसादृश्यं व्यङ्ग्यम् ।

६६.

अहं सुखं श्रियं च न कामये, तयोः समुद्रतरङ्गवदस्थिरत्वेन क्षयित्वात्, नाप्यनयोः क्षये वज्रपातवत् दुःखं जायत इति भीतः सन् निर्मलं निर्बाधमक्षय्यं मुक्तिपदमभिलषिष्यामि, रागद्वेषकषायितचेतसो मम तत्रानधिकारात् ।

६७

ननु सांसारिकपारमार्थिकसुखातिरिक्तं किं तव काम्यमित्यत्राह—शत्रुभिः कपटद्यूतं विधाय यदिदमस्माकमकीर्तिरूपं पङ्कं क्षिप्तं तत् प्रक्षालनमेवाहमिच्छामि, नान्यत् किमपि सुखादिकम्, पङ्कप्रक्षालनं च जलेनैव भवितुमर्हति, तदपि जलं न साधारणम् अपि तु पतिवियोगेन दुःखितानां शत्रुनारीणां नेत्रेभ्य उद्गतम्, तेनैव अस्मदपकीर्तिपङ्कस्य क्षालयितुं शक्यत्वात् ।

६८

शत्रुविजिगीषया तपस्तपन्तं मां दृष्ट्वा सन्तः कामं हसन्तु, अत्र विषये मम बुद्धिर्भ्रान्ता वा किं न भवेत्, परं नाहं स्वोद्देश्यात् पदमपि चलेयम्, समीपस्थागतस्य भगवतो विषये मनसा चिन्ता न कार्या, इदं तु प्रार्थ्यते यदपात्रे मयि मोक्षोपदेशस्य वैफल्येन भवता लज्जा न कर्तव्या । अर्जुनस्य सोत्प्रासोक्तिरियम् ।

उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥ ६५ ॥
न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम् ।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ॥ ६६ ॥
प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम् ।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ॥ ६७ ॥
अपहस्येऽथवा सद्भिः प्रमादो वास्तु मे धियः ।
अस्थानविहितायासः कामं जिह्रेतु वा भगवान् ॥ ६८ ॥

६९

यावत् शत्रून् विनाश्य जयश्रिय उद्धारो न कृत, तावदह मोक्षमपि जयश्रियो विघ्नरूप मन्ये, मोक्षस्य शमप्रधानतया विजिगीषायामकरत्वात् । अन्योरत्ववादीनां तु कथैव का ।

७०

पुरुषो यावद् रणे शत्रून् निपात्य तैर्ह्लेपित स्वकीय यश पुनर्न प्राप्नोति तावत् ■ जातोऽपि अजातप्राय, तस्य जन्मनो निष्फलत्वात्, अन्यजातस्य जन्मान्तर उपयोग सम्भवति इति न विफलत्वम्, इत्यत आह—गतासुरिति, जातोऽपि मृततुल्य स, जीवतःप्रयोजनायोगात्, मृतोऽपि पूर्वजन्मन्युपयुज्यते इमेत्यत आह—'तृणमेव स इति' यथा तृण निरन्तरम् पादाभ्यामुपहन्यमानमपि न प्रतीकाराय समर्थम्, तथैव सोऽपि, इति तृणतुल्य स ।

७१

हे तपस्विन्! विदितवेदितव्यस्त्वमेव कृपया ब्रूहि यद् यस्य क्रोधो द्विषतां जयमविधायैव शान्तो भवति, तस्मिन् पुरुष इतिशब्द कथ सङ्गच्छते, तत्प्रवृत्ति निमित्तस्य पौरुषस्य तत्राभावात् ।

७२

ननु पौरुषभावेऽपि पुरुषत्वजातेस्तत्र सत्वे पुरुषे पुरुषशब्दप्रवृत्तिस्तत्रेत्यत आह—जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन न किञ्चित् साध्यते, अथवा य केवल जातिमात्रेण पुरुष इति व्यवह्रियते, न तु तत्र पौरुष विद्यते, काष्ठमयहस्तिनेव तेन न किञ्चित् साध्यम्, लोके स एव श्लाघनीय पुरुषो य स्वपौरुषेण गुणिनां विस्मयमुत्पादयति, अत एव तति प्रसङ्गे तैः साश्चर्यमुदाह्रियते ।

अनाहृतामनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तराय जयश्रिय ॥ ६९ ॥

अजन्मा पुरुषस्तावद् गतासुस्तृणमेव वा ।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यश ॥ ७० ॥

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।
पुरुषोक्ति कथ तस्मिन् ब्रूहि त्व हि तपोधन ॥ ७१ ॥

कृत पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।
योऽङ्गीकृतगुणै श्लाघ्य सविस्मयमुदाहृत ॥ ७२ ॥

७३.

सभासु कथाप्रसङ्गेन सबहुमानमुच्चारितं तन्नाम शत्रवोऽप्यनुमोदन्ते, किं च यन्नामश्रवणसमनन्तरं तत्पराक्रमाद्यतिशयस्मरणाच्छ्रोतारस्तथा निस्तेजस इव प्रतीयन्ते, यथा मन्ये तन्नाम्ना तेषां तेजो निगीर्णं भवेत्, स पुमान् वस्तुतः पुमान् पौरुषापरपर्यायपुंस्त्वादिविशिष्टोऽस्ति, इतरे तु जातिमात्रवाहकाः काष्ठमयहस्त्यादिवदप्रयोजका एव ।

७४

ननु सत्सु भीमादिषु वैरनिर्यातने तवैवाय कोऽभिनिवेश इत्यत आह—प्रतिज्ञानुसारेण संग्रामे शत्रून् जिघांसुः युधिष्ठिरो नृपतिर्मामेव स्मरति, नान्यम्, यथा तृषार्तो जलाञ्जलिं स्मरति, अत्रात्मनो जलाञ्जल्युपमया यथा जलाञ्जलिरेव तृषायाः प्रतीकारः, नान्यत् किमपि तथैव वैरनिर्यातनमपि मदेकसाध्यम्, तथा च यत्र यस्योपयोगः, तत्र तस्यैव नियोग उचित इति राज्ञाहमेव नियुक्त इति बोध्यते, किं च युधिष्ठिरस्य नृपतिपदेनाभिधानं राजाज्ञयाऽहमायातोऽस्मि, राजाज्ञायां तु 'अहमेव किमर्थं नियुक्तो नान्यः' इति विचारानवसर इति बोधनार्थम् ।

७५

स पुरुषश्चन्द्रमस्तुल्ये स्वच्छे स्ववंशे कलङ्करूपोऽस्ति, यो विपत्सु भर्तुराज्ञां न पालयति । तथा च मया विपद्ग्रस्तस्य भर्तुर्युधिष्ठिरस्याज्ञावश्यपालनीया । न पुनः स्वार्थपरेण भवितव्यम् ।

७६

अहमिदानीं गार्हस्थ्यधर्ममाश्रितोऽस्मि, तमनिर्वाह्य पूर्वमेव कथं वानप्रस्थतां सन्यासाश्रमं वा स्वीकरवाणि, गार्हस्थ्यमसमाप्याश्रमान्तरस्वीकारे धर्मविरोधः स्यात् यतो धर्मशास्त्राचार्यैराश्रमाणां क्रमः प्रतिपादितः, पूर्वं ब्रह्मचर्यम्, ततो गार्हस्थ्यम्, ततो वानप्रस्थता, तदन्ते सन्यास इति न तु व्युत्क्रमः येनाहं स्वीकृतगार्हस्थ्यमपरिपक्वेऽपि वैराग्ये परित्यज्य वानप्रस्थः सन्यासी वा भवेयम् ।

प्रथमानमिनोनासि सदसा गौरवस्थितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥ ७३ ॥
यथाप्रतिज्ञं द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया ।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ॥ ७४ ॥
स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम् ।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥ ७५ ॥
कथं वादीयतामर्वाक्मुनिता धर्मरोधिनी ।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥ ७६ ॥

७७.

इतोऽप्यहं भवद्वचनेनाश्रमान्तरं नैव स्वीकर्तुं शक्नोमि, यदेष वैरनिर्यातन-भारो राज्ञा मय्येव निक्षिप्त इत्यवश्यकर्तव्य, किं च स्वजनेष्वेतत् प्रसिद्धं यदर्जुनो वैरनिर्यातनोद्देशेन तपस्तप्तुं गतः, तथा च स्वोद्देश्यत्यागे, ममाकीर्तिः स्यात्, संभा-वितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते, अपि चाहं मातुराज्ञां विना किमपि कार्यं न करोमि, नचेदानीमहं तदाज्ञां ग्रहीतुं शक्नोमि, तस्या दूरस्थितत्वात्, किं चाहं ज्येष्ठभ्रातुराज्ञया तपसि प्रवृत्तः, तदाज्ञोल्लङ्घने चाधर्मः स्यात्, ज्येष्ठस्यापि दुर्वृत्तस्याज्ञोल्लङ्घनं तु उचितं, न च मे ज्येष्ठो दुर्वृत्तः, अपितु प्रशस्ताचारः, प्रशस्ताचारस्यापि स्वार्थहानिपरिहाराय शक्यमुल्लङ्घनम् । परं न युधिष्ठिरस्य, कुतः ? तस्य तपस्वित्वात्, धार्मिकवरस्य वचनविरोधोऽवश्यमनर्थमुत्पादयेत् इति परतन्त्रोऽहं न आश्रमान्तरस्वीकाराय प्रभवामि ।

७८.

मानिनः क्षत्रियाः सर्वथा स्वधर्ममनुरुन्धन्ते, कदाचिदपि तदुल्लङ्घनं न कुर्वते, अत एव ते शत्रुभिः कृतापकाराः संग्रामात् पराङ्मुखा न भवन्ति, किन्तु तान् संग्रामे पराजित्य स्वापकारप्रतीकारेण स्वधर्मं पालयन्ति ।

७९.

किं च हे मुने ममायं दृढो निश्चयः यद् यथा मेघा वाताघातेन विशीर्णा भूत्वा विलयं प्राप्नुवन्ति, तथैवात्र पर्वतेऽहमपि विलयं प्राप्स्यामि, अथवा भगवन्तमिन्द्रम् आराध्य तत्प्रसादेन शत्रुभिरस्माकं हृदये निखातमकीर्तिशल्यमुद्धरिष्यामि, एतदतिरिक्तं नाहं किमपि वाञ्छामि ।

८०.

एवं स्वसुतस्यार्जुनस्य वचनेन परमां प्रीतिमाप्त इन्द्रः स्वं दिव्यं रूपं प्रकटय्य सुतमालिलिङ्ग । तदनु विभूतिप्राप्तये सर्वदुःखनाशिनं जगत्कारणस्य श्रीमद्धरस्याराधनमस्मा उपदिदेश ।

आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे ।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृपः ॥ ७७ ॥
स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभिः ।
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः ॥ ७८ ॥
विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि ।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशःशल्यमुद्धरे ॥ ७९ ॥
इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः ।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥ ८० ॥

८१.

हे अर्जुन ! तपसा प्रसादितो भगवान् शङ्करः, अहं लोकपालाश्च तुभ्यं तथाविधां शक्तिं वितरिष्यामः, यां त्रिलोक्यां कश्चिदप्यतिक्रमितुं न शक्नुयात् । तथैव च त्वं संग्रामे शत्रून् पराजित्य शत्रूणां राजलक्ष्मीम् आत्मसात् करिष्यसि । इत्युक्त्वेन्द्रस्तिरोबभूव । अत्र 'समुत्सुकयितासि' इति पदेन यथा परकीयाऽपि कानन नायिका गुणवति नायकान्तरे स्वयमेवानुरज्यति तमभिसर्तुं यतते च, तथैव तथाविधं शक्तिमन्तं त्वामभ्यवलोक्य परेषां राज्यलक्ष्मीरुत्कण्ठिता भविष्यति, तदधिगतये त्वया न कश्चन यत्नः कर्त्तव्यो भविष्यति स्वयमेव सा त्वामुपैष्यति, यतः सम्पदो वीरभोग्याः, वीरमेवाश्रयन्ते' इत्यभिव्यञ्जितम् । किं च पिनाकीति पदम्–'तपोमात्रेण भगवतः शङ्करस्य सतोषो न स्यात्, त्वया तेन सह योद्धव्यमपि, पिनाकधारिणो वीरस्य वीरकर्मणैव संतोषोदयात्, इति किरातरूपस्य शिवस्यार्जुनेन भविष्यत् युद्धमभिव्यनक्ति ।

इति किरातार्जुनीये एकादशः सर्गः ।

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालैर्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः ।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥८१॥

,

शिशुपालवधमहाकाव्ये प्रथमः सर्गः

कथासम्बन्धः

१

अस्मिन् महाकाव्ये शिशुपालस्य राज्ञः कृतो वधो वर्णनीयः, अत एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारात् 'शिशुपालवधम्' इति काव्यस्य नाम। तद्भूमिकारूपेण 'शिशुपालो हन्तव्यः' इतीन्द्रस्य सन्देशं निवेदयितुं भगवतो नारदस्य कृष्णसमीपं आगमनं वर्ण्यते। भूभारहरणाय पृथिव्या देवैश्च प्रार्थितो भगवान्नारायणः स्वयं कृष्णरूपेण प्रादुर्बभूव स स्वकार्यं दुष्टानां दमनं शिष्टानां पालनं च क्रमेण कुर्वन् विलासेन स्वीकृतस्य दशपूर्वरथस्य कश्यपावतारस्य वसुदेवस्य गृहे निवसति स्म। यद्यपि नारायणोऽयं विभुः अस्यैव कुक्षौ सर्वाणि भुवनानि कल्पान्ते निवसन्ति, तथापि स्वेच्छया स्वीकृतविग्रहस्य तस्य कस्मिंश्चिद् गृहे निवास उपपन्न एव। तत्रैव रुक्मिणीरूपेण प्रादुर्भूय लक्ष्मीरपि विराजते, श्रियाः पत्युः श्रियमन्तरेणावस्थानस्यायोग्यत्वात्, पतिव्रताशिरोमणिभूतया श्रियः पतिं विरहय्य स्थितेरसम्भवाच्च। यत्र साक्षाल्लक्ष्मीर्निवसति, किमु वक्तव्यं तस्य भुवनस्य शोभाविषये। तेनानेन भगवता कृष्णेन सभायां तिष्ठता कदाचिद् दृष्टम् यत् स्वर्गादागच्छन्नारदो देवर्षि राकाशमार्गेणागच्छतीति।

२.

तेन पुरो नारदमाकाशादवतरन्तं दृष्ट्वा तेजसोऽभिभवाद् दूरस्थतया चाकृतेः प्रत्यभिज्ञाभावाज्जनानां मनस्येवं संशय उदभूत् यत् किमिदं तेजः? किं सूर्यं एकेन रूपेण दिवि तपन्नपि रूपान्तरं धृत्वा इहागच्छति, वा धूमं परित्यज्य प्रज्वलन्नग्निरायाति? ततस्तैर्विचिन्तितम् सूर्यो हि तिर्यग्गच्छति, (अनूरुसारथेरिति पदेन तस्याश्वप्रकाशोऽपि भवति, अत्र तु न तथेत्यपि द्योतितम्) अग्निश्च ऊर्ध्वज्वालः, (किं च स हविर्भुक् हवींषि इन्धनानि विना न ज्वलति, अत्र तु नेन्धनं किमपि) इदं तु तेजः ऊर्ध्वदिशातोऽध आयाति, सर्वतः प्रसरणशीलं च (प्रसरणशीलोऽकाशा

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥ १ ॥
गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥ २ ॥

कदाचिदुल्का स्यादिति संशयोऽपि निरस्तः)। तस्मान्न सूर्यः, नापि अग्निः, एतच्च किमिदमिति विचिन्तयन्तो निर्धारणाभावे विस्मयस्तिमिता बभूवुः।

३

भगवानपि पूर्वं दूरान्नारदं दृष्ट्वा तेजःपुञ्ज इत्येवाजानात्, ततः क्रमेण सन्निहिते तस्मिन्, अवयवसंनिवेशे दृष्टिगते कश्चित् शरीरधारीति बुध्यते स्म। ततोऽपि सन्निधाने विशेषेणावयवेषु पुरुष इति ज्ञातम्। अतिसन्निधाने च नारद इति स्पष्टं बुद्धम्। सर्वज्ञेऽपि भगवति लोकदृष्ट्यायमुपन्यास इति मल्लिनाथः। यद्वा विभुत्वेन क्रमेण ज्ञातुं शक्तोऽभूदिति नारदस्य तेजोऽतिशयनिबन्धनं माहात्म्यं व्यक्तीकृतम्।

४

आकाशादवतरन् नारदो यदा सजलानां महतां नीलवर्णानां मेघानामधःप्रदेशे आजगाम, तदा तस्य तथा कान्तिरभवद्, यथा ताण्डवनृत्यसमये गजेन्द्रचर्मणा मेघानां सादृश्यम् श्रीशिवः श्वेततर-विभूत्या चापि श्वेतो भवति, नारदोऽपि स्वयमेव कर्पूरसदृशः स्वच्छश्वेतवर्णः इति। नवान् इति सजलत्वं मेघानां, बृहत इति निबिडत्वम्।

५

नारदस्य शिरसि स्वर्णवर्णाः (कृष्णपीताः) जटा विराजन्ते, स्वयं च स्वच्छश्वेतो नारदः, तेन तस्य तादृशी कान्तिः, यादृशी हिमप्राचुर्येण श्वेतवर्णस्य परिणतं ईषत्पीतवर्णाः (हरितपीताः) लता उपरि बिभ्राणस्य हिमवतो दृश्यते। जटाभिर्लतानां सादृश्यम् पीतवर्णत्वेन उभयत्र, कृष्णहरितयोश्चैक्यमेव कविसम्प्रदाये। शिरःस्थानीये उपरिभागे च लतानां स्थितिः।

६.

नारदेनाथ पिहितस्य वस्त्रस्योपरि मौञ्जी मेखला निबद्धा, कृष्णमृगचर्म च उत्तरीयरूपेण धृतम्, स्वयं च नारदः शुभ्रवर्णः, तेन स भगवतः कृष्णस्य ज्येष्ठ

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥ ३॥
नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान् समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना॥ ४॥
दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव॥ ५॥
पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम्॥ ६॥

भ्रातरं बलभद्रमनुकरोति स्म । बलभद्रोऽपि 'शुभ्रवर्णः' अथ पिहितस्य वस्त्रस्योपरि सुवर्णमेखलां धारयति स्म, नीलं चोत्तरीयं धत्ते स्म । तदत्र सुवर्णमेखलायाः मौञ्ज्याश्च पीतवर्णेन सादृश्याद् बिम्बप्रतिबिम्बभावः । नीलाम्बर—कृष्णमृगचर्मणोश्चापि सादृश्यात्तथैवेति बलभद्रनारदयोः सादृश्यमुपपन्नम् ।

७.

नारदेन पीनं यज्ञोपवीतं धृतम् तच्च कुतः पीतमित्याशयेनोच्यते, सुमेरुप्रान्ते सुवर्णमय्यां देवभूमौ याः कार्पास्यो लता उत्पद्यन्ते ता अपि कारणगुणानुसरणात्सुवर्णमय्यः, तासूत्पन्नस्य कार्पासस्य तन्तवोऽपि तथैव सुवर्णमया इति तन्निर्मितस्य यज्ञोपवीतस्य युज्यत एव पीतत्वम् । गरुडलोमानीवायताश्च यज्ञोपवीततन्तवः । केचित्तु दीर्घैर्लतावत्प्रसृतैर्लतातन्तुभिरेव शोभार्थमपरं यज्ञोपवीतं निर्माय नारदेन धृतमिति व्याचक्षते । ततश्च तेन यज्ञोपवीतेन शुभ्रस्य नारदस्य तथा रुचिर्दृश्यते स्म यथा शरत्काले शुभ्रस्य मेघस्य विद्युद्गणैर्दृश्यते ।

८.

नारदेन स्वीये स्कन्धप्रदेशेऽङ्के चमूरुमृगस्याजिनं धृतम्, तस्याजिनस्य लोमानि नानावर्णानि, सूक्ष्माणि, कोमलानि च, तेन तदजिनं बहुमूल्यराजोचितगजपृष्ठास्तरणमिव शोभते स्म । तेन च परिहितेनाजिनेन धृतमहार्हपृष्ठास्तरणस्य शुभ्रवर्णस्यैरावतापरगजेन्द्रस्येव नारदस्य शोभासीत् ।

९.

नारदो हि करे जपार्थं स्फटिकनिर्मितां मालां धत्ते, न हि स कामाय मन्त्रान् जपति, अपि तु मोक्षाय, मोक्षार्थिना च 'स्फटिको मोक्षदः परम्' इति स्फटिकमाला विहिता । वीणावादने च दृढतरस्वरस्यान्याय इति वीणासौष्ठवपरीक्षणाय अङ्गुष्ठनखेन मुहुर्वीणातन्त्रीं ताडयति । ताडयतस्तस्य तन्त्रीणां मुहुः संघर्षेणाङ्गुष्ठनखस्य भास्वरा रक्ता जायते । सा चारक्ता स्वच्छेषु स्फटिकेषु संक्राम्यतीति यस्मिन् भागेऽङ्गुष्ठनखांशुसंबन्धेन रागसंक्रमसंभवः, तस्मिन् भागे रक्ता एव, तेन सा मालार्धभागे प्रवालैः, अर्धभागे च स्फटिकैर्ग्रथितेव विच्छित्तिं दधाति । तयाद्भुतया मालया नारदो विराजते स्म ।

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः ।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकैर्घनं घनान्ते तडितां गणैरिव ॥ ७ ॥
निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥ ८ ॥
अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

१०

गान्धर्वशास्त्रविषयोऽत्र स्वीयै पारिभाषिकै शब्दैर्निबद्ध । स च मल्लिनाथेनैव स्पष्टीक्रियते । गायकस्य कण्ठनालवायुभिघातेन वीणादिवाद्येषु हस्ताङ्गुल्याद्यभिघातेन वा य प्रथम शब्द उत्पद्यते, स श्रुतिनाम, तस्या सनन्तराद् अनुरणनरूपश्चिर जायमानो मनोहरो ध्वनि स्वर इत्याख्यायते, अनेकाभि श्रुतिभिरेक स्वर उत्पद्यते, ता श्रुतय स्वरस्यावयवा भवन्ति । अनेका श्रुतय स्वरमवयविनमुत्पादयन्ति —तन्तव इव पटम् । तत्र नास्ति सख्यानियमोपि—कियतीभि श्रुतिभिरेक स्वर उत्पद्यत इति, त इमे स्वरा सप्त प्रसिद्धा —षड्ज , ऋषभ , गान्धार , मध्यम , पञ्चम , धैवत , निषाद इति, एत एव सक्षेपेण स रि ग म प ध नी इत्याख्यायन्ते । एषा विभिन्नया रीत्या भिन्ना भिन्ना सघाता ग्रामा इत्युच्यन्ते, ते च त्रय षड्ज ग्राम , मध्यम ग्राम गान्धारग्राम इति । अन्येपि तच्छास्त्रप्रवर्तकजीमूतसुभद्राख्या । ग्रामेषु निविशमानाना स्वराणाम्—आरोहावरोहक्रमभेदा "मूर्च्छना " इत्याख्यायन्ते, ताश्च प्रतिग्राम सप्त सप्तेत्येकविंशतिर्भवन्ति । सर्वमेतत्पुरुषप्रयत्नेन गाने वाचा, वाद्ये तु हस्तादिव्यापारेण सपाद्यते, पर नारदस्य वीणाया तादृशेन लोकातिशायिना शिल्पेन तन्त्रीयोजना कृता यदन्तरिक्षे गमनकाले वायोराघातेनैव सा त्रिभिन्नेषु स्वरस्थानेषु स्वनन्ती असकीर्णान् स्वरान् , ग्रामान् मूर्च्छनाश्च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैव प्रकाशयति । तादृश च विलक्षण स्वन श्रुत्वा 'केनेयवादिता' इति सकौतुक नारदेना विलोक्यते ।

११

अन्तरिक्षे नारदेन सह सद्गौरवाय बहवो देवा अनुचररूपेण व्रजन्ति स्म, भूलोकसन्निधाने सति नारदेन ते स्वर्गं प्रति प्रेषिता प्रणाम कृत्वा निवृत्ता । ततश्च नारदो भगवत कृष्णस्य सदन प्राप्त । इन्द्रसदना नारद आगत , इदमपि सदनमिन्द्रसदनसदृशमेवेति तस्य पृथिव्या गमनेऽपि न कोऽपि विशेष इति महेन्द्रालयचारु विशेषणेन द्योतितम् । सादितदैत्यसम्पद इति चक्रिविशेषणेन स्थाने समृद्धिबाहुल्य व्यञ्जितम्, दैत्यानां सम्पदो विनाश्य स्वीया समृद्धिर्वृद्धि नीतेति । चक्रिण इति दैत्यनाशनयोग्यता व्यनक्ति । अतीन्द्रियज्ञाननिधिरिति विशेषणेन नारदस्य देवदर्शनसम्भाषणादियोग्यता स्फुटीकृता ।

रणद्भिराघट्टनया नभस्वत पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलै स्वरै ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाण महतीं मुहुर्मुहु ॥ १० ॥

निवर्त्य सोऽनुव्रजत कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभ सद ।
समासदत्सादितदैत्यसम्पद पद महेन्द्रालयचारु चक्रिण ॥ ११ ॥

१२.

गृहागतः श्रेयान् पुरुषोऽभ्युत्थानेन सत्कर्तव्य इति शास्त्रमर्यादा । तदुक्तं मनुना—'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते' इति । तामेतां मर्यादां रक्षन् भगवान् हरिः, यावन्नारदोऽम्बरादवतीर्य भूम्यां स्थितोऽपि न, तावदेव सिंहासनादुत्थितः । उन्नतसिंहासनादुत्थितो घनश्यामस्य हरेः पर्वतादुत्थितः (ऊर्ध्वमागतः) मेघस्येव सुषमाभूत् । सूर्यस्य स्तम्भन पतनशब्देन कविभिर्यद्वर्ण्यते, तस्मिन् काले च (सन्ध्यायाम्) मेघ उत्तिष्ठन्तीति तदाकृतिरिह प्रतीयते, परमत्र सन्ध्या सूर्यस्य नारदेनमान स्थानेऽचिरम् त्, सन्ध्यामेघानां श्यामत्वाभावाच्च न सा हृदयङ्गमा ।

१३

भगवति श्रीकृष्णे आसनादुत्थित एव नारदोऽपि सत्वरम् एव भूमिष्ठोऽभवत् । तेन पादन्यासे कृते तन्निरवद्यनिर्मितं श्रायान्, भूमिं धर्ष शेषस्य फणा भुग्ना नता बभूवुः, तदस्तदाश्रयार्थं बहूनि फणाभृतां फणिभिः धर्तुं फणा भूमेरधः स्थापिताः, अथापि चालनन्तरं फणा कथाचिदपि परिश्रान्ता कृता, तेन कथमपि भूमण्डलं स्थिरमभूत् ।

१४.

पूजायोग्यं नारदमागतं दृष्ट्वा मर्यादापुरुषोत्तमः पुराणपुरुषो भगवान् यथाविधि अर्घ्यादिभिस्तं पूजितवान् । पुण्यजन्म हृदयालाः महात्मनां दर्शनम्, पुण्यकृतामेव भवन्ति ते गच्छन्ति, ये तु श्रेयांसं पूजयन्ति, न ते पुण्यकृतः, न च तत्सदन महान्तो यान्ति । तस्मात्पूज्या एव ते इति भावनया पूजितो देवर्षि नारदः ।

१५.

आभिमुख्येन स्थितावेतौ कृष्णनारदौ सम्यक् द्रष्टुमपि यावत् जनस्याऽऽलोका नावारयन्, तावदेवाऽऽसीनमप्यर्थयित्वा निजं कृष्णेन मुनिमासनेऽन्यवेशय

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥ १२ ॥
अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथंचित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥ १३ ॥
तमर्घ्यमर्घ्यादिकयाऽऽदिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् ।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ॥ १४ ॥
न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव ।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ॥ १५ ॥

स्वहस्तेनैव सिंहासनमग्रत कृत्वा तत्र नारद उपवेशित अथवा इदानीमयमागत, अयमुत्थास्यति, पूजयिष्यति—इति सभावनापि यावल्लोकस्य नाभूत्, तावदेव भगवता पूजा समाप्य नारद उपवेशित। यद्वा—नारदकृष्णौ श्वेतकृष्णवर्णतया तुषाराञ्जनपर्वतसदृशौ, तयो सादृश्यमूलिका तुषाराञ्जनपर्वतत्वसभावना याव लोकेन न कृता तावदेवोपवेशितो नारद।

१६

नीलमणिसवर्णो घनश्याम कृष्ण सम्मुखे विद्यात स्म, तदभिमुख स्वच्छश्वेत कान्तिर्नारद उन्नते सिंहासन उपविष्ट, तत्र तस्य तादृशी शोभा लक्ष्यते स्म, यादृशी कृष्णवर्णं सायङ्कालमभिमुखीकृत्य स्थितस्य, उदय पर्वतमारूढस्य चन्द्रस्य लक्ष्यते। तेनेद भाति तथाविधस्य चन्द्रस्येव शोभा नारदेन चोरिता। चुरधातुस्वार्थेन स्तयेन प्राप्तिर्लक्ष्यते, सैव शोभेति तद्व्यङ्ग्यम्। सायङ्कालोद्भूततमोबाहुल्यात् सायङ्काल कृष्णवर्ण कविभिर्वर्ण्यते। श्रितोदयाद्रेरिति विशेषणेन उदित एव चन्द्रो नेदानी यावत्तम कृत्स्नं निरोद्धुमशक्नत्, अग्निधौ तमस्तेन विनाशितम्, प्रतीच्यान्तु तद्वर्तत एवेति तमसोऽभिमुख स्थितश्च द्रष्टव्योपपादिता।

१७

पूजामर्घ्यादिभि पूजितस्य प्रसन्नता गतस्योपविष्टस्य नारदस्य पुनरपि गन्धपुष्पमधुपर्कादिभि पूजा भगवता कृष्णेन कृता। नात्र किमप्याश्चर्यम् स्वभाव एष महानुभावानाम्, यत्ते श्रेष्ठान् पुन पुनस्तथा पूजयन्ति, यथा पूजया तया सन्तुष्टा एते श्रेष्ठा पूजकस्य वशगा एव भवन्ति। एषा च पूजा न केनचिदभिलाषेण कस्यचित् प्रेरणया वा महानुभावै क्रियते, यतस्ते स्वय महानुभावा कस्तेषां प्रेरक स्यात्, को वा तेषामभिलाष, पर प्रकृतिरेव तथा तथाविधा यत्पूज्यपूजा कर्तुमुत्कटोऽभिलाषस्तेषा मनसि सतत जागर्ति। यज्वनां प्रिय इति कृष्णवाचकाभ्या पदाभ्यामिदमभिप्रेतम् यन्नित्यान यागादिकर्म कृतवता मनसि भगवति कृष्णे परमा प्रीतिरुदेति, त एव भक्ता उच्यन्ते तेष्वग्रगण्योऽय नारद, अस्य भगवान् कृष्ण परमप्रेमास्पदम्। एवविधाश्च भक्ता स्वय कृष्णेन समर्च्यन्ते इति तस्य स्वभाव।

महामहानीलशिलारुच पुरो निषेदिवान्कसकृष स विष्टरे।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १६ ॥
विधाय तस्यापचितिं प्रसेदुष प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रिय।
ग्रहीतुमार्यान्परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिन ॥ १७ ॥

१८

यथा जगदधिपतिनापि भगवता कृष्णेन लोकमर्यादा पालिता, तथा त जगन्नाथ विदन्नपि नारदो लोकमर्यादां पालयामास। नारदस्य कमण्डलौ सर्वेषा तीर्थानां जलमासीत्, तस्य सर्वत्र भ्रमणशीलत्वात्। तीर्थेभ्यश्च जलग्रहणमित्याहितक सम्प्रदायात्। तस्य जलस्यान्तो नारदेन कमण्डलोरुद्धृत्य स्वपाणौ स्थाप्य माङ्गल्याभिषेकाय भगवत कृष्णस्य शिरसि क्षिप्त भगवतापि मूर्धानमवनमय्याभिषेकजल गृहीतम्। इद हि तीर्थोदक सर्वपापापहारि विशेषतश्च नारदहस्तात्प्राप्तमिति सत्कारपूर्वक तस्य ग्रहण युक्तमेव।

१९

अभिषेकानन्तर नारदेन कृष्णायोपवेशनानुमतिर्दत्ता अनुमतश्च भगवान् कृष्ण स्वर्णमयसिंहासन उपविष्ट। स्वर्णमयस्य सुमेरो पर्वतस्य शृङ्ग यथोपरि स्थितश्यामलेन श्यामेन जम्बूवृक्षेण शोभते, तथैवाभिनव घनश्यामेन महाप्रभुणा भगवता कृष्णेनाधिष्ठित विशाल तत्स्वर्णमय सिंहासनमशोभत। तेन तस्यापि शोभत्वेन शिरसेति प्रतीयते स्म। स्वर्णमयत्वेनोन्नतत्वेन च सुमेरुशृङ्गसिंहासनयो साम्यम्, श्यामत्वेन जम्बूकृष्णयो वृक्षेषु ह्येतयोरभेदानानुपपत्ति, जम्बूवृक्षस्य श्यामताप्रधानत्वाच्च। सुमेरो शृङ्गविशेषे जम्बूवृक्ष, तस्य मूलाज्जम्बूनदी प्रवहति तत्सम्बन्धादेव च जम्बूद्वीपमिदमिति पौराणिकवचनमस्या उपमाया मूलम्। मल्लिनाथेन तु जम्बूफल कृष्णस्योपमानतया व्याख्यातम्। तथोपमानस्य परिमाणकृतात्पतादोषो दुर्निवार। न च जम्बूफल सुमेरुशृङ्गे तिष्ठतीति क्वचित्प्रसिद्धमित्यास्ता तावत्।

२०

भगवान् कृष्ण स्वय श्याम वर्ण, पूर्णे चन्द्रमसि प्रतीयमानस्य श्यामवर्णस्य कुरङ्गस्येव तस्य कान्ति तप्तस्वर्णसदृश भास्वरपीत च वस्त्र तेन धृतम्। ततस्तस्य तथा शोभा प्रतीयते स्म यथा अभितो वाडवाग्निना सश्लिष्टस्य समुद्रस्य प्रतीयते। समुद्रोऽपि स्वय श्याम, वाडवजातवेदस शिखाश्च पीता इति।

अशेषतीर्थोपहृता कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिता।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदप ॥ १८ ॥
स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया नवाम्बुदश्यामतनु र्न्यविक्षत।
जिगाय जम्बूजनितश्रिय श्रिय सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥ १९ ॥
स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बर कठोरताराधिपलाञ्छनच्छवि।
विदिद्युते वाडवजातवेदस शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसा निधि ॥ २० ॥

२१.

श्यामस्य भगवतः कृष्णस्य मूर्तीरनुस्यूतया स्निग्धकृष्णप्रभया उपरि अभिदूरस्थितस्य नारदस्य शुभ्राः रश्मयः पतिताः, तयोः संमिश्रणेन तथा च्छविर्दृश्यते स्म, यथा रात्रौ घनस्य वृक्षस्योपरि यदा चन्द्ररश्मयः पतन्ति, तदा श्यामाना वृक्षपत्राणां रुचेः अंतराले दृश्यानां चान्द्ररश्मीनां च संमिश्रणेन दृश्यते । उभयोर्भास्वरप्रभावच्छुरीत्वमनेनोक्तं भवतीति ।

२२.

कृष्णनारदयोः परस्परसम्मुखे स्थितत्वाद् भास्वरकान्तितया चैकैकस्य रश्मयोऽन्यस्य शरीरच्छवौ संसक्ताः, तेन च यद्यपि कृष्णनारदौ श्यामशुभ्रतया अत्यन्तं भिन्नवर्णौ, तथापि एकवर्णाविव प्रतीतौ । कृष्णोऽपि नारदशरीररश्मिसम्बन्धाच्छुभ्रसङ्कीर्णकृष्णवर्णः, नारदोऽपि कृष्णशरीररश्मिसम्बन्धात्कृष्णसङ्कीर्णशुभ्रवर्णः इत्येकवर्णता द्वयोः समापिता । उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गङ्गायमुनासङ्गम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्राय कश्चिदेको वर्णः प्रादुर्बभूव" इति मल्लिनाथः । छुरितयोरभीषूणां चावयवावयविभावाद्भेदनिर्देश इति मल्लिनाथः । वस्तुतस्तु "मूर्तेर्बहिर्निर्गत्य प्रसरन्तस्तेजोऽवयवा अभीषवः मूर्त्यनुस्यूता तु कान्तिः रोचिः छविः" इति भेदः विमर्शनीयम् । एकस्य च्छवौ परस्य रश्मिसम्बन्धः, तेन च्छुवेरन्यथाभाव इति ।

२३

यदाय भगवान् कृष्णः स्वलीलया प्रलये स्वस्वरूपमूर्तं जगदुपसंहरति, तदा सर्वाण्येतानि दृश्यानि जगन्ति अस्यैवोदरे (शरीरान्तः तिष्ठन्ति) न च तत्र तिष्ठतामनन्तब्रह्माण्डानां कोऽपि सम्बाधो भवति सावकाशं सर्वाणि जगन्ति तत्र शेरते, ततोऽपि बहुतिरिच्यते तदुदरम् । (एतेन तनोरतिविशालत्वम्–अनन्तत्वं व्यापित्वम्) पर तस्यामेव तनौ नारदागमनजन्यो हर्षो न कथमपि समाविशेऽभूत् । स तु तनोरतिरिच्य बहिरपि प्रवहति स्मेव । अनेन हर्षस्यानन्तब्रह्माण्डानि रेकत्र्यनादतुलत्वमुक्तं भवति ।

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे ।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥ २१ ॥
प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः ।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥ २२ ॥
युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥ २३ ॥

२४

भगवतः कृष्णस्य 'पुण्डरीकाक्ष' इति नाम प्रसिद्धम् तत्तस्मिन् काले अनुगतार्थमभूत् । कमलसदृशे नेत्रे यस्येति तदर्थं, कृष्णनेत्रयोश्च कमलसादृश्य तदा अनुभूतम् । कमलं हि सूर्ये सम्मुखमागते विकासं प्राप्य कामपि श्रियं धत्ते, कृष्णनेत्रे अपि सूर्यसदृशे तेजस्विनि नारदे सम्मुखस्थिते हर्षेण विकासं प्राप्य विशिष्टां शोभां गते इति ।

२५

अथ सुखोपविष्टे नारदे तदागमनकारणजिज्ञासया भगवान् कृष्णो वक्तुमारभत । स्मितपूर्वाभिभाषी हि भगवानिति । शुचि स्मितं तस्य तदा प्रादुर्भूतम्, तेन दन्तकिरणा निःसृता । अत्युज्ज्वलत्वादेव समाभ्यते स्म, भगवतो दन्ता इमे न दन्ता, अपि तु दन्तव्याजेन चन्द्र एवात्र स्थितः । ततश्चात्युज्ज्वलैर्दन्तकिरणैः स्वभावात् स्वभावशुभ्रमपि मुनिशरीरं भगवता कृष्णेनातितरां शुभ्रतां नीतमिति ।

२६

भगवान् कृष्णो वक्ति । भगवन्नारद ! भवादृशां दर्शने असाधारणं किमपि महत्त्वम् । अनेन हि भवद्दर्शनेन दर्शनकाले दुष्टानि पापानि नाश्यन्ते, पुण्यं चोत्पाद्यते । अग्रेऽपि शुभयोगः सूच्यते । पूर्वं यैः पुण्यं कृतम् तैरेव दर्शनं लभ्यते । तेन भूते वर्तमाने भविष्यति चेति त्रिष्वपि कालेषु पुण्ययोगो ज्ञापितो भवति भवद्दर्शनेन ।

वर्तमाने भविष्यति च पुण्यजनकत्वम्, ज्ञापकत्वं च । भूते तु ज्ञापकत्वमेव दर्शनस्य । "अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा" इत्याद्या भारवेरुक्तिरत्रोपजीवितेत्यालोच्यम् ।

२७

भगवन्नारद ! सूर्येण केवलं बाह्यान्धकारं एवापसार्यते आन्तरं मोहाख्यमन्धकारमपनेतुं तु न सूर्यः शक्तः, भवता तु आन्तरमपि तमो बलान्नाशितमिति

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी ।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥ २४ ॥
सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन् ।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः ॥ २५ ॥
हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ २६ ॥
जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना ।
प्रसह्य तेजोभिरसंख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः ॥ २७ ॥

सूर्यापेक्षयाप्युत्कृष्टो भवान्। तत्र हेतुरुच्यते—सूर्यस्य किरणा यद्यपि बहव, तथापि ते सहस्रमिति परिच्छिन्ना एव, अत एवानन्ते जगति सर्वत्र पर्याप्तु न शक्नुवन्ति। भवतस्तु तेजांसि असंख्यातानीति भवान् सर्वमन्धकारं निवर्तयितुं शक्तः। मोहात्मकतमोविनाशकत्वादिह ज्ञानस्यैव तेजस्त्वमुक्तं द्रष्टव्यम्। तस्य चासंख्यातत्व-मनन्तत्वमेव। तथा चानन्तेन ज्ञानेन समूलो मोहस्त्वयापसारित इति फलति।

२८.

यदा कश्चिद्बहुसन्ततिः पुरुषो भवेत्, स च स्वपुत्राणां क्षेममिच्छेत् स दक्षतया तावन्तमर्थराशिम् (निधिम्) अर्जयति, यस्य तत्पुत्रैः सततं दानभोगादिषूपयोगे क्रियमाणेऽपि न क्षयो भवेत्। तं च निधिं स दृढे कटाहादौ निक्षिप्य सुस्थाने स्थापयित्वा निश्चिन्तो भवति, तथैव भगवता ब्रह्मणापि सर्वासां स्वप्रजानां हितमिच्छता तदर्थं श्रुतिसमूहरूपा सम्पदर्जिता, (तपस्तप्त्वा परमेश्वरात्प्राप्ता) सेयं श्रुतिसम्पदपि तादृशी या सर्वाभिः प्रजाभिरुपयुज्यमानापि न क्षयं याति, यास्यति वा (विद्याया उपयोगे वर्धनशीलत्वात्) तस्या निधानार्थं भवानेव (नारद एव) पात्रत्वेन ब्रह्मणाङ्गीकृतः, त्वयि च तां सम्पदं निधाय स निश्चिन्तोऽभूत्, अयमेव सम्प्रदायप्रवर्तनेन श्रुतिसम्पदमिमां सम्यक् पास्यतीति। (निधिस्थाने निधिशब्दप्रयोगः तादर्थ्यलक्षणामूलकः। (यद्वा निधीयतेऽस्मिन्निति निधिरित्य-धिकरणसाधनो द्रष्टव्यः)। एवं च श्रुतिसम्प्रदायप्रवर्तनेन धर्माधर्मव्यवस्थापको भवान् दुर्लभदर्शन एव लोकानामिति।

२९.

भगवान् कृष्णो वक्ति—मुने! नारद! भवद्दर्शनेनैवाहं कृतार्थः, यतो दर्शनमिदं सर्वाणि दुरितानि दूरीकरोति तथापि मम सन्तोषो नास्ति, यतोऽहं गौरवयुता भवद्वाचोऽपि श्रोतुमिच्छामि। नात्र मम दोषः। स्वभाव एवायं जनानाम्, यत्ते श्रेयःप्राप्तौ न तृप्यन्ति, अधिकमधिकं श्रेयो वाञ्छन्ति इति। तथा च यथा आगमनकृपा भवता कृता तथा किमप्युपदिश्य कृतार्थनीय इति।

३०.

भगवन् नारद! भवन्तं प्रति यदहं पृच्छामि 'अत्रभवत आगमने किं

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव॥ २८॥
विलोकनेनैव तवामुना मुने! कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते॥ २९॥
गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम्॥ ३०॥

प्रयोजनम्! तन्निगद्यताम्' इति, सैषा अस्माकं धृष्टता। यतो भवान् वीतरागः। न किमपि जगति भवतः करणीयम् अतो ■ भवतः प्रयोजनं संभाव्यते। वीतरागं प्रति प्रयोजनप्रश्नोऽप्यय धृष्टतैव, परं क्षम्यताम्, सेयं धृष्टता त्वदागमनेनैवोत्पादिता, वीतरागाणां प्रयोजनशून्यानाम् क्वचिद्गमनमप्याश्चर्यकरम्। ततश्च महत्त्वास्पदेन मद्दागमनेन यदस्मासु गौरवं जनितम् बोधितं वा, तेन वयम् तथा प्रगल्भा जाताः यत्प्रयोजनम् प्रष्टुमस्माकं जिह्वा प्रवर्तते। ज्ञातेऽपि निःस्पृहत्वे न प्रयोजनशून्या प्रेक्षावत्प्रवृत्तिरिति आगमने किमपि प्रयोजनं स्यादेव इति विचारेण प्रश्ने प्रवृत्तिर्जीवन एवेति मल्लिनाथः।

३१.

भगवतः कृष्णस्य पूर्वोक्तं वचनजातमाकर्ण्य नारदेनोक्तम्—भगवन्! भवत इयमुक्तिर्न योग्या। अन्ये मनुष्याः कथयन्तु तावदित्यम् भवान्तु पुरुषोत्तमः—परः पुरुषः—साक्षान्नारायणः। वीतस्पृहा महात्मानो योगिनोऽपि त्वद्दर्शनमभिकाङ्क्षन्त्येव। त्वद्दर्शनार्थमन्यत्र स्पृहा निवर्तते, त्वद्दर्शने तु स्पृहा न कदापि कस्यापि निवर्तते इति। किं च दृष्टे त्वयि सर्वः पुरुषार्थः सम्प्राप्यते, न तत्र प्रयोजनान्तरमवशिष्यते यदर्थं प्रश्नः स्यात्। तस्मात्त्वद्दर्शनार्थमेवाहमप्यागतः। इति ब्रुवन्तं त्वमिति वर्तमानार्थकप्रत्ययेन स्वप्रशंसा कृष्णमुखाच्छ्रोतुमनुत्सहमानो नारदो मध्य एव तद्वाक्यमाक्षिप्य वक्तुमारभतेति बोध्यते।

३२.

यथा कश्चित्कश्चित्क्वचित्कान्तारमार्गं गच्छेत्, स मार्गः पाटच्चरैराक्रान्तः स्यात् जनानां गतागताभावेन दुर्गमश्च स्यात्, स तत्र संकटापन्नो बिभ्यत् कथंचित् निस्तीर्णः स्व प्राप्यस्थानं प्राप्य निर्भयो भवति तथा मोक्षमार्गं च आश्रयन्ते, यत्र उद्रिक्तो विषयाभिलाष एव प्रतिबन्धकत्वात् पाटच्चरः, न च संसारिणां यत्र बाहुल्येन गमनम् तन्मार्गगास्ते (योगिनः) त्वामेव प्राप्यस्थानं प्राप्य निर्भया भवन्ति, न च ततस्तेषां वियोगः, 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतेः, तथा च फलकाले भवत्प्राप्तिरेव, उपायकालेऽपि त्वमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय, इति श्रुत्या त्वद्दर्शनोपासनाज्ञानान्येव मुख्यानीति तत्रैव योगिनो रमन्ते। पूर्वश्लोकोक्तस्य समर्थनम्।

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम! त्वया।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि॥ ३१॥
उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽतिदुर्गमम्।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया॥ ३२॥

—२९ च० सं०

३३

भगवन् कृष्ण ! कपिलाद्याः, सांख्याचार्याः ये त्रयोविंशतेर्विकारेभ्यः मूलकारणाच्चतुर्विंशात्प्रकृतिपदवाच्यात् प्रधानाच्च पृथग्भूतं पञ्चविंशं विज्ञानघनं पुरुषं यं निरूपयन्ति, यं च योगिनो बाह्यविषयेभ्यो मनः आकृष्यात्मनि संयोज्य चातिक्लेशेन जानन्ति, स सर्वात्मभूतो भवानेव। यद्यपि सांख्याः पुरुषबहुत्वमिच्छन्ति, तथापि न तु तेषां दर्शनं सम्यक्। भिन्नत्वेन भासमानाः पुरुषा वह्निविस्फुलिङ्गन्यायेन भवत एव निर्गता भवदंशभूता इति भवानेव सर्वकारणं सर्वेभ्यः प्राक्तनः। तदेतत् 'पुरातनम्' इति पदेन द्योतितम्। यद्वा—उत्तरशास्त्रे यथा योगाचार्याः पतञ्जलिप्रभृतयः पुरुषेभ्योऽपि परं यं षड्विधक्लेशकर्मविपाकाशयैरस्पृष्टं पुरुषविशेषं पुरातनं पुरुषं निरूपयन्ति, स भवानिति योऽर्थः। तस्माद्योगिजनदर्शनीय एव भवानिति। अत्र स्वभक्तिरसात् भगवत्स्वरूपनिरूपणम्।

३४.

य एव सांख्यादिभिर्निर्गुणः पुरुष इति निरूपितः, तमेव त्वां पौराणिकाः सृष्टिकर्तारमामनन्ति। अस्य दृश्यस्य लोकत्रयस्य त्वमेव शिल्पी। यथा शिल्पी गृहं निर्माय तदाच्छादनायोपरि तृणादिनिर्मितं भित्तिकाप्रस्तरादिनिर्मितं वा आच्छादनम् छप्पर इति या भाषाया प्रसिद्धं, स्तम्भाग्रेषु निधत्ते तथा भवतापि आच्छादनरूपं भूमण्डलमिदं स्वयमेव वराहरूपेण जलादुद्धृत्य पातालस्य आच्छादनीयं शेषनागरूपस्य स्तम्भशिरःसु निहितम्।

३५

भगवन्! यन्निर्गुणं सांख्यादिभिः प्रतिपादितं पूर्वमुक्तम्, यच्च सर्वनियामकं जगत्स्रष्टृ पूर्वस्मिन् पद्ये निरूपितम्, तस्य तस्य च महत्त्वं को वक्तुं ज्ञातुं वा समर्थः, न कोऽपि तज्जानाति, न च वक्तुं शक्नोति। एकत्र गुणाभावेन वाङ्मनसयोरप्रवृत्तेः, अपरत्र च गुणानामानन्त्येन कृत्स्नपरिच्छेदासम्भवात्। आस्तां तद्रूपद्वयम्, परं मनुष्यरूपेणावतीर्णस्यापि ते गुणाः सुरासुरातिशायिनः, अपरिच्छेद्या एव। एतेषामेव च स्मरणेन गानेन च भक्ता भवाब्धिं तरन्ति।

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥ ३३ ॥
निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥ ३४ ॥
अनन्यगुर्व्यास्तव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते।
मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान् गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥ ३५ ॥

३६

भगवन्! भाराक्रान्ताया पृथिव्या भारापनयनेन लघूकरणं तवावतार-स्योद्देश्यम्, परमहं विपरीतं पश्यामि, भवानिदानीं भुवि स्थितोऽसि, भवतश्च कुक्षौ त्रिलोकी तिष्ठति, तदा पृथ्वीयं लोकत्रयाश्रयाश्रयभूता सती कथं लघुर्जाता, प्रत्युतातिशयेन भाराक्रान्ता जातेति समाभाति। पक्षे गुरुशब्दस्य पूज्येत्यर्थं, तेन लोकत्रय दधानोऽपि भवान् पृथिव्यां स्थित इति पृथिव्या परं पूज्यत्वं त्वया सम्पादितमिति मुख्योऽभिप्राय। तेनैव विरोधपरिहार।

३७

भगवन्! कृष्ण! त्वं पृथिव्यामवतीर्णोऽसि, अत एव मादृशा अपि साधारणा जना स्वचक्षुषा भवन्तं द्रष्टुं समर्था जाता स्वे महिम्नि स्थितं तु त्वां वशीकृत चित्ता योगिनोऽपि सम्यग्द्रष्टुं न शक्नुवन्ति, किं पुनर्मादृशा। यद्यपि नारद परमो योगी, तथापि विनयप्रदर्शनार्थं स्वस्य साधारणत्वमुक्तवान्। न केवलं जगत परिपन्थिनां नाश एव तवावतारस्योद्देश्यम्, अपि तु भक्तान् दर्शनदानेनानुगृह्य स्वस्मिंस्तेषां चेतस आकर्षणमपीति।

३८

यथा सूर्यस्यैव नैशतमोऽपसारणे सामर्थ्यम्, नान्यस्य, तथैव जगदुपद्रव कारिणामुद्धतानां बलाधिकानां दुष्टानां शासने तेभ्यो जगतां रक्षणे च तवैव सामर्थ्यम् नान्यस्य। तेषां मदोद्धततया इन्द्रादिभि शासितुमशक्यत्वात्। ननु तथापि जगदीश्वरेण किमिति ते शासनीया, तस्य द्वेषाभाव इति, तत्रोक्तम्—विश्वम्भर इति। विश्वरक्षा तव स्वभाव, ततो विश्व पीडयन्त शासनीया एव तवेति।

३९

भगवन् लोक 'कंसादयस्त्वया हता' इति त्वां स्तौति, परमहं तु न तन्मन्यामि, यतो हि मत्तगजगण्डविदारणदक्ष केसरिणं यदि कश्चिद् 'मृगहन्तायम्' इति

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुरामसूं किल त्वं त्रिदिवादवातर।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया॥ ३६॥
निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशः स्याः कथमीश! मादृशाम्॥ ३७॥
उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर! विश्वमीशिषे।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः॥ ३८॥
करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम्।
हरे! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया॥ ३९॥

स्तुवीत, तर्हि न सा सिंहस्य स्तुतिः प्रत्युत अपमानस्तस्य। तथैव येन त्वया हिरण्याक्षप्रभृतयो दैत्या हताः, तस्य कंसादिवधेन का स्तुतिः। (हिरण्याक्षप्रभृतयो मत्तगजेन्द्रतुल्याः, तदग्रे कंसाद्या मृगतुल्या एव) प्रत्युत अपमानमेवेति।

४०.

इदानीं नारदः स्वस्यागमनप्रयोजनं विवरीतुमारभते। नारदो हि शिशुपाल-हननाय इन्द्रस्य संदेशं वक्तुमागतः, तत्र वक्तव्ये भूमिकामारचयति–भगवन्! यदा त्वं विनैव कस्यचित्प्रेरणां स्वावतारप्रयोजनं पूरयितुं दुष्टानां हननं क्रमेण यथावसरं कुर्वन्नेवासि, न हि तत्र ते श्रमोऽपि भवति, एवंविधाना कार्याणां तव लीलामात्र-त्वात्; ततश्च व्यर्थप्रायमेव त्वां प्रति दुष्टहननप्रार्थनम्–इति मम वाक् पिष्टपेष-णमात्रं स्यात्। परमनेनैव व्याजेन कियन्तं कालं त्वया सहालापगोष्ठीप्रमोदः स्यादिति तव लुब्धं मे मनो मां कथने प्रवर्तयत्येव। क्रमेणेत्युक्त्या अवसरप्राप्त्य-पेक्षयावधि शिशुपालो न हतः, न तूपेक्षयेति सूचितम्। वाचालतया पुनरुक्तिरूपकथा वाचालता मम न निसर्गसिद्धो धर्मः, अपि तु लोलुपेन मनसैवेदानीं संपाद्यते इति सूचितम्। तेनालापगोष्ठीमहत्त्वं व्यञ्जितम्।

४१.

भगवन् कृष्ण! पूर्वोक्तात् त्वद्गोष्ठीविनोदरसिकत्वाद् हेतोरिदानीमहमिन्द्रसंदेशं ब्रवीमि। तच्च मे वाक्यं नेन्द्रस्यैव स्वार्थसाधकम्, अपि तु लोकहितकरम्, संक्षेपेणैव च स्वल्पेन कालेन मया वक्ष्यते। भवतश्चेन्द्रोपरि तथाविधा कृपा, यया तत्कार्य-साधनाय तदनिष्टवर्मपि भवता कश्यपाददित्या प्रादुर्भवता स्वीकृतम्। सतत च तस्य सर्वाणि कार्याणि भवतैव निर्व्यूढानि। तस्मात्तत्संदेशवाक्यमधुनाप्यवधानेन श्रोतव्यमेवेति।

४२.

'शिशुपालो हन्तव्य' इति नारदस्य संदेशाभिप्रायः। तदुपयोगितया शिशुपालस्य प्रबलत्वख्यापनाय नैसर्गिकोद्दण्डत्वख्यापनाय च तदीयं पूर्वजन्मद्वयवृत्तमप्युपन्यस्यति नारदः। तत्र प्रथमं जन्माह—पूर्वस्मिन् हि कृतयुगे कश्यपाद् दित्यां हिरण्यकशि-

---

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥ ४० ॥
तदिन्द्रसंदिष्टमुपेन्द्र! यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद्भवता निशम्यताम् ॥ ४१ ॥
अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

पुरिति वशात् एको दैत्योऽभवत् । सूर्यस्येव तस्य तेज आसीत्, शत्रुसंहारसामर्थ्यं तस्य कदापि न जातम् । इन्द्रस्य हि परमैश्वर्यं यद्यपि नैसर्गिकम्, अत एव तदिन्द्र इत्यभिधाने प्रवृत्तिनिमित्ततां गतम्, 'इदि परमैश्वर्ये' इति धातुना इन्द्रशब्दस्य व्युत्पादनात् । मत्त्वेन पूर्वं परमैश्वर्येणेन्द्र कदापि विरहितोऽभूत् । परं हिरण्यकशिपुना तत्परमैश्वर्यमपहृतमेव । तेनैव हिरण्यकशिपोरसाधारणं प्राबल्यं प्रकटीभूतम् ।

४३.

अनेनैव हिरण्यकशिपुना देवैः सह द्वेषं कुर्वता मत्सरं पूर्वं प्रकटितं, नेतः पूर्वं कस्मिन्नपि तस्मिन् युगे मत्सरोऽभूत्, रागद्वेषशून्या एव प्रजा आदियुगे उत्पद्यन्ते इति । किं च असुर इति शब्दमात्रं यद्यपि सृष्टेरारम्भात् प्रवृत्तमासीत्, परं चिरकालपर्यन्तमयं शब्दो रूढ एव गण्यते स्म, हिरण्यकशिपुस्तु सुरविरोधात्, सुराणामसनात् स्वस्थानात् क्षेपणात् निष्कासनाद्वा असुरशब्दस्य मुख्यार्थतामगमत् । यद्वा—इतः पूर्वमसुरशब्दस्य प्रवृत्तिरेव नासीत्, अयमेव सुरविरोधात् प्रथममेव असुर इति ख्यातिं गतः, सोऽयं सुरविरोधश्चिरकालपर्यन्तमनेन दैत्यकुले प्रचारितः, ततः प्रभृति सर्वेऽपि दैत्या देवविरोधमकुर्वन् । किं च देवानां मनस्सु कदापि इतः पूर्वं कुतोऽपि भयं नासीत्, अनेनैव प्रथमं देवान् पराजित्य तेषां मनस्सु प्रथममेव भयं स्थापितम् ।

४४.

सम्पदस्तथा तस्मिन् हिरण्यकशिपौ समाश्रिता अनुभूयन्ते स्म, यथा लोके 'अस्य सर्वातिशायि बलं दृष्ट्वा बलानुरागादेवैतदाश्रयं श्रीभिः स्वीकृतं, ननु बलेनापहारात्' इति प्रतीयते स्म । श्रीषु स्त्रीत्वमारोप्यते, स्त्रियश्च रागहृता एव सुखं निवसन्ति, बलहृतास्तु अस्थिरा भवन्तीति सम्पदां सुस्थिरतामालोक्य रागहृतत्वमुत्प्रेक्षितम् । यतश्च यत्र पूर्वं श्रियो न्यूषुः, तान् चतुरो दिगीशान् परित्यज्य तदाश्रयत्वाभिस्वीकृतं, तत एव लोके श्रिया चलत्वप्रवादः प्रवृत्तोऽभूत् । स चायं प्रवादः श्रियामकीर्तये, स्त्रीणां परपुरुषाश्रयप्रयोजकं चाञ्चल्यं सर्वथाप्यकीर्तिकरं भवतीति । इतः पूर्वमिन्द्रादिषु लोकपालेष्वेवासाधारण्येन श्रिया निवास आसीत्, हिरण्यकशिपुना सर्वथा लोकपालानां श्रीरपहृता इति तात्पर्यम् ।

समस्तरेणासुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ॥ ४३ ॥
दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरानपास्य तं रागहृताः सिषेविरे ।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः ॥ ४४ ॥

४५

हिरण्यकशिपोः पूर्वं देवानां पुरैरायुधैः सैन्यैर्लौहवर्मभिर्वा किमपि प्रयोजनं नासीत् शत्रोरभावाद्रक्षार्थमप्रवृत्तेः। तस्मात् केवलमैश्वर्यख्यापनाय, स्वरूपसौन्दर्यवर्धनाय, आधिपत्यादि स्वस्वाधिकृतपदप्रतीक्षणाय वा तैरेतानि कथंचिद् ध्रियन्ते स्म। हिरण्यकशिपुस्तु यदा तान् बाधितुं प्रवृत्तः, तदा एषां स्वरूपशोभाख्याने रक्षा मुख्यं प्रयोजनं बभूव, इति तदनुकूलार्थं तानि तानि वस्तूनि तथैव तैः सज्जीकृतानि। पुराणि दुर्गरूपतां नीतानि (केचित्त्वाहुः पुराणां स्वरूपशोभैकफलत्वं न सम्भवति, शत्रोरभावेऽप्यन्तस्तेषां शीतोष्णादिनिवारणार्थत्वात्। तस्माद् दुर्गाणि पुराणि चक्रिरे इति वैपरीत्येन व्याख्येयम्। दुर्गाणां पूर्वं प्रयोजनं नासीद्, इदानीन्तु मयास्तान्येव वसतिरूपाणि कृतानि, तत्रैव निवासं देवाश्चक्रुरिति) शस्त्राणि तीक्ष्णतां नीतानि, सेनासु शूराः सन्निवेशिताः, लोहवर्माणि च दुर्भेद्यानि परिधीयन्ते स्म इति। इत्थं तद्भयाभिशङ्कया देवा व्यतिष्ठन्।

४६

देवास्तस्मो दैत्यादेव भीता बभूवुः यत्र तस्य दर्शनम्, यस्मिन् स्थाने वा तस्य स्थितिः, तत्र तद्वन्दनविषये तु वक्तव्यमेव किम्, किन्तु सञ्चरणशीलतया स्वैरं क्रीडयाऽपि स यस्यां दिशि जगाम, तस्यै दिशे अपि देवास्तिसृषु सन्ध्यासु शिरसि बद्धाञ्जलयः प्रणेमुरिति न, किन्तु तत्सम्बन्धाश्रिततद्गौरवात् तां दिशमपि प्रणेमुः। तदपि नैकवारम्, किन्तु प्रत्यहं तिसृषु सन्ध्यासु। सन्ध्यासु इत्युक्त्या सन्ध्यावन्दनकालेऽपि दिङ्नियमं त्यक्त्वा तदधिष्ठितां दिशमेव प्रणमन्ति स्म इति द्योतितम्। स्खलत्करैरित्युक्त्या प्रणामे सम्भ्रमो व्यज्यते। मुकुटोपलस्खलत्करैरिति च मुकुटमणीनामपि विलसनपतनादावधानं नास्ति, भयाधिक्यादिति ध्वनितम्। यस्यां दिशि सूर्यो भवति, तद्दिगभिमुखा देवमनुष्याः सन्ध्यासु सूर्यं प्रणमन्ति, एतदाश्रिता तु दिगेव प्रणम्यते स्म। किं च सूर्यस्य तत्तद्दिगवस्थानं नियतम्, अयं तु स्वैरचारी, यथेच्छं यस्यां कस्यामपि दिशि विहरतीत्यादिना सूर्याद् व्यतिरेको व्यज्यते।

४७

भगवन् कृष्ण! तस्य हिरण्यकशिपोर्विनाशाय त्वयैव नृसिंहरूपं धृतम्। तद्धि

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥ ४५ ॥

स संचरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥ ४६ ॥

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह! सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥ ४७ ॥

तत् रूपमतिविशालं भयङ्करं चासीत्। यस्य सिंहरूपस्य स्कन्धस्थितानां केसराणां सङ्घर्षेण मेघा अपि विदीर्णा बभूवुः। तेनैव रूपेण नखैर्वक्षो विदार्य ■ दैत्यस्त्वया हतः। अहो! ये ते नखा विलासे कान्तानां कठोरस्तनविमर्दनेऽपि कुण्ठ्यन्ति (वक्री भवन्ति वा) तैरेव वज्रसारस्य तस्य दैत्यस्य वक्षो विदारितमिति विलक्षणस्ते महिमा।

४८

अथ तस्य द्वितीयं जन्म प्रस्तूयते। यद्यपि हिरण्यकशिपुना देवैः सह बहवः संग्रामाः कृताः, तथापि तस्य भुजयो रणकण्डूतिर्न शान्तिं गतेति मन्ये। नृसिंहनखै रपि न कण्डूरपनुन्नेत्याश्चर्यं द्योतयति कविः। गर्वोऽतिशयस्तत्र हेतुः। तत एव स पुनर्देवैः सह योद्धुं रावणनाम्ना पुनर्जन्म गृहीतवान्। अस्मिन् जन्मन्यय पूर्वापेक्षयाऽप्यधिको भयङ्कर आसीत्। अनेन स्वर्गस्य रक्षैव विध्वस्ता। देवसर्वस्वमपहृतमिति यावत्।

४९.

सोऽयं रावणो लोकत्रयाधिपतित्वप्राप्तये भगवन्तं शिवमाराधयत्। तदाराधने चैतादृशं साहसं कृतवान् यत् स्वस्यैव शिरांसि कर्तं कर्तं पुष्परूपेण शिवाय न्यवेदयत्। इदं चातिमहत्कर्म न तेन फलप्राप्तिविलम्बनिर्वेदात् कृतम्, अपि तु भगवति शिवे प्रेमातिशयात्, स्वस्य साहसैकरसत्वाच्च। नव शिरांसि निकृत्य यदार्पितानि, दशममपि च कर्तितुमुद्यतोऽभूत्, तदा तुष्टः शिवः इष्टं लोकत्रयीशपदाधिपत्यं वरमस्मै प्रायच्छत्। किन्तु स प्रसादमप्यमुं स्वसाहसे विघ्नमिवामन्यत। 'मया दशमं शिरश्छेत्तुं न पारितम्, कुतो मध्य एव भगवता प्रसादं कुर्वता ममेच्छया विघ्न उत्पादित' इति।

५०.

महादेवाद्वरं प्राप्य भुजबलदर्पेण रावणेन कैलासपर्वत एव लङ्कां नेतुं समुत्पाटितः। तत्र निगूढमुत्प्रेक्ष्यते—यद्रावणेन इदं कर्म शिवस्य प्रत्युपकारचिकीर्षया

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः॥ ४८॥

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः॥ ४९॥

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम्॥ ५०॥

कृतम् । रावणो हि मनस्वी न शत्र्वादैन्यं सहते, ततश्च शिवेन यदस्मै त्रैलोक्याधिपत्यं दत्तम्, तस्य मूल्यमनेन दातव्यमेव । यदा चानेन कैलास उत्पाटितः तदा अकस्मादुत्पातशङ्किन्या पार्वत्या भयमभूत्, भीतया च तया स्त्रीस्वभावेन भगवान् शिवः स्वयमालिङ्गितः । तेन शिवस्य यत्सुखमभूत् तत् त्रैलोक्यराज्यप्राप्तेरप्यधिकमिति तेन रावणस्य प्रतिदानं सिद्धमिति ।

५१

भगवतः शिवाद्वरं प्राप्य स्वर्गं जेतुं रावणेनेन्द्रोपर्याक्रमणं कृतम् । तदा चैकहेलयैव तेनामरावती देवपुरी समाक्रम्य भग्ना, नन्दनं देववनं छिन्नम्, रत्नानि हृतानि, देवाङ्गनाश्च हृताः । युगपत् सर्वमिदं कुर्वाणेन स्वर्गे महानुपद्रवः प्रादुर्भावितः ।

५२

रावणात्पराजित इन्द्रः कदाचिदैरावतं गजं कदाचिदुच्चैःश्रवसमश्वं च समारुह्य यदा समरात्पलायितोऽभूत्, रावणश्च तं ग्रहीतुं पृष्ठतोऽनुदुद्राव, तदा रावणभयात् दन्तिद्वीप वाहनमिन्द्रस्याभिलाष आसीत् । मन्दगमने रावणो गृहीष्यतीति । ततश्च यद्यप्यैरावत उच्चैःश्रवाश्च विविधा विलासगतीर्जानाति, परमिन्द्रस्य तदा तासु गतिष्वनुरागो नाभूत् । फलं तयोः शीघ्रगमनमेव तस्येष्टमासीत् । भयेनोद्विग्नत्वादिति । येनेन्द्रेण बलाद्या असुरा नाशिताः, सोऽपि रावणादेव भीत इति रावणस्य माहात्म्यातिशयो बलस्य शत्रुरित्यनेन व्यज्यते ।

५३

इन्द्रस्य रावणात्तथा भयमासीद् यथा रावणस्य दर्शनमपि तस्योद्वेगकरं बभूव । तस्य दर्शनाय तन्नेत्रयोर्धैर्यं नासीत् । ततः नाहं रावणं पश्येयम् न वा रावणो मां पश्येदिति, स मेरोर्गुहायामन्तर्निवासं कृतवान् । तत्रापि च भयेन कम्पमान आसीत् । यथा उलूकः सूर्यस्य दर्शनं कर्तुं न शक्नोति, (तस्य नेत्रयोस्तद्दर्शनशक्तिर्नास्ति) इति दर्शनं परिहरन् दिवसं पर्वतगुहायां तिष्ठति, तद्वदेवेति ।

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥ ५१ ॥
सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥ ५२ ॥
अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ॥ ५३ ॥

५४

न केवलमिन्द्रस्यैव दुर्दशानेन रावणेन कृता अपि तु अन्येऽपि पराभूता । तथा हि यदानेन जगत्प्रभुत्वमधिकृत्य सुरद्वेष आरब्ध तदा सुरपक्षपातिना विष्णुनाप्यनेन सह संग्राम कृत, तत्र च सुदर्शनं चक्र तेनास्य शिर कर्तितु क्षिप्तम् । यच्चक्र कदाचिदपि क्वचिदपि मोघ न दृष्टम् , तदेवास्य ग्रीवा प्राप्य नैष्फल्यमलभत । शिलेव निष्ठुरा रावणस्य ग्रीवा, चक्रस्य सङ्घर्षात् प्रस्तरादिव ततोऽग्निकणा निरगैतु , न तु चक्र तां कर्तितु समर्थमभूदिति ।

५५

इदानीं कुबेरपराभवो वर्ण्यते—यथा कश्चिन्मत्तो हस्ती मानसाख्यमतिविशाल कुबेरस्य सर प्रविश्य भूयोभूयस्तद् विक्षोभयेत् , तथा रावणेन कुबेरस्य मानस (मन) भूयो भूयस्त्रासाकुलमक्रियत । हस्ती हि शिरसि शङ्खान् भिनत्ति, रावणेन च कुबेरस्य शङ्ख इत्य परमो निधिर्भिन्न —नाशित । (कुबेरो हि देवाना निधिप , निधिनामसु शङ्ख इति परमो निधिरुच्यते एकदशशतादिषु गणिताङ्केषु शङ्ख इति चरमा सख्या सङ्कुते, तत्परिमितो निधि शङ्ख । रावणेन कुबेरस्य निधिरप हृत इति शङ्खो भिन्न इत्युक्त्या तथा कुबेर पराभूतो यथा स मनसापि शङ्खाख्यो निधिर्विस्मृत न तन्ननस्यपि शङ्खस्य पुन प्राप्तेराशाऽवशिष्टाभूदिति द्योतितम् । किं च हस्ती मदजलेन सर कलुषता नयति, रावणेनापि कुबेरमानस मदेन कलुषतां नीतम् । य एव कुबेरस्य मद स्त पूर्वं चित्तसमुन्नतेर्हेतुरभूत् , स एव पराभवे सति चेत कलुषीचकार, 'अहो ईदृशोऽहमप्यनेन पराभूत ' इति विशेषेण खेदोदयात् । हस्तिना चालोड्यमानस्य सरसो गाम्भीर्यमपयाति, यदेव सरो जनैर गाधमिति मन्यते, तस्यैवाविलतां दृष्ट्वा गाधता सर्वेऽपि जानन्ति । रावणेनापि कुबेरमनसो गाम्भीर्यं नामाविकारित्व दूरीकृतम् । कुबेरचेतस्यपि अधैर्यलक्षणा विकारता सर्वैर्दृष्टा । किं च हस्ती सरस पुष्पाण्यपहरति, रावणेनापि कुबेरस्य पुष्पकमपहृतम् । (अत्रापि कुबेरमनसोऽपि पुष्पकमपहृतमिति व्यङ्ग्य पूर्ववदनुसन्धेयम्) । कुबेरो हि महामहिमशालीनि तस्य मयाभावसमात्मना समुदयेत, तन्निरसनाय नन्वद्यम । कदाचित् शङ्खो भिन्न कदाचित् पुष्पकमपहृतम्—इत्येव मादिरीत्या भूयो भूय प्रकम्पनं सम्यङ् निबद्धम् ।

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥ ५४ ॥

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः ।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः ॥ ५५ ॥

५६.

वरुणोऽप्येवं पराभूतः। संग्रामे यदा वरुणेन स्वीयो नागपाशो रावणं बन्द्धुं क्षिप्त, तदा रावणेन सक्रोधं हुंकारः कृत। तेन भीता नागा रावणस्य समीपं गन्तुमशक्नुवन्तः परावृत्य वरुणस्यैव कण्ठे पतितास्तमेव बबन्धुः। अमोघानां तेषां क्वचित्साफल्यस्यावश्यभावात्। अनेन रावणस्यालौकिको महिमाविष्कृतः, दिव्या-न्यायुधान्यपि ततो भयमासादितवन्तीति।

५७.

यमपराभवो वर्ण्यते—यदा स्ववाहनं महिषमारुह्य यमो रावणेन युयुधे, तदा तं पराजित्य रावणेन विचारितम् 'एतन्महिषस्य शृङ्गयोर्धनुः श्रेष्ठं निर्मीयेत, विष्णोः शार्ङ्गं धनुः श्रूयते, ममापि तथास्तु' इति। इत्थं विचार्य तेन यमवाहनस्य महिषस्य शृङ्गमण्डलमुत्पाटितम्। यद्यप्येवं शृङ्गभारापनयेन महिषस्य शिरः सुस्थितं समुन्नतम् भवेदिति संभावितमासीत् परं लज्जारूपो भारस्तथा तच्छिरसि पतित. येन तत्पूर्वा-पेक्षयाप्यवनततमभूत्। कृच्छ्रेण च धारणं महिषेणाक्रियत। 'पराभूतस्य मे धिक् शिरः प्रदर्शनम्' इति तन्मनसि निर्वेदोदयात्।

५८.

'तेन पराभूतो भीतः सूर्योऽपि तदनुगतिं चक्रे' इत्युच्यते। ग्रीष्मेऽपि काले तदन्तःपुरे सूर्यं उद्दण्डं न तपति स्म, रावणस्य वधूनां तापानुभवो मा भूदिति। किन्तु स्वस्वभावोऽपि यथा न विरोधितः स्याद्, रावणस्यापि च यथा प्रियं भवे-दिति विचार्य भीतभीतः कथंचित्किरणैस्तथा तद्वधूः स्पृशति स्म-यथा स्वेदकणा मौक्तिकवत्तच्छरीरभागान् मण्डयेयुः, तापानुभवश्च कथंचिदपि तासां न भवेदिति। अत्र च पद्ये राजावरोधे प्रवाधकस्य पुरुषविशेषस्य वृत्तान्तोऽपि श्लिष्टैः विशेषणैः प्रतीयते, स हि शुचौ समये पवित्र आचारे स्थितोऽपि भूषणार्थं मया स्पृश्यमानानि वधूनामङ्गानि दृष्ट्वा प्रभोर्वधूनां वा अविश्वासो मा भूदिति भीत एव पूर्णं करस्प-र्शमकृत्वैव चातुर्येण मौक्तिकैर्वधूनां मण्डनं करोतीति।

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥ ५६ ॥

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥ ५७ ॥

स्पृशन् सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥ ५८ ॥

स्युः, परं रावणेन न तस्यापराधोऽपि गण्यते गणित इति देवेषु दण्डोऽपि न पातितः, इयमेव देवेषु मरुतोऽनुकम्पाऽभूत्, यत्तेषां दण्डनं नाभूदिति।

६२.

अग्निपराभव आख्यायते। यद्यप्यग्निरतितेजस्वी, तथापि रावणस्य लोकातिशायिनस्तेजसोऽग्रे तस्य तेजोऽभिभूतमिति पराभवशोकेनाग्निः कृशतां गतः, शोकजनितैरश्रुभिश्च धूममण्डलं तस्य प्रवृद्धम्, तथा च तदग्रेऽग्निर्न प्रचण्डं ज्वलति स्म, धूमायमान एव दृश्यते स्म।

६३

सर्पा अपि रावणभयात् स्वीयं सर्पवेषं सर्पधर्मं च विहाय मनुष्यवद्विग्रहं विधाय विचेरुः। द्विजिह्वता, कुटिला गतिः मुखगमनं, कर्णाभावश्च तेषां शारीरा धर्माः, ते तैस्त्यक्ताः, मनुष्यवद्विग्रहो धृतः। दर्शनेन परस्य मर्मणि विषसङ्क्रमः तन्मारणं तेषां जातिधर्मः, सोऽपि तैः परित्यक्तः, न कमपि सर्पा दशन्ति स्मेति। अत्र पद्ये सर्पवर्णनपरे विशेषणसाम्यात् खलवृत्तमपि प्रतीयते। खला अपि स्वीयेन पिशुनतादिना प्रमुखविधेः तत्तदुक्त्वा च सत्वरं परस्य मर्मसु कुलाचारमतादिषु प्रहरन्ति तानि दूषयन्ति, कुटिलव्यवहाराश्च भवन्ति, परस्त्रीषु प्रवृत्तिरूपं विगर्हं च तेषां स्वाभाविकम्। तानेतान् दोषान् रावणभयाद्विहाय वेषेण व्यवहारेण च तेऽपि ऋजवो बभूवुः। रावणेन खलानामीदृशानां निमन्त्वार स्थापिता, तद्भयात्ते न कदाप्यन्यथाकर्तुं प्रबभूवुरिति।

६४.

ऐरावतादीनां दिग्गजानां पराभव उत्प्रेक्षामुखेन वर्ण्यते। नन्वेते गजाः सदा दिगन्तेष्वेव स्थिता भवन्ति, न कदाप्यत्रागच्छन्ति, न च कस्यापि दृष्टिपथमवतरन्तीति को हेतुः। एवं सम्भाव्यते रावणस्य गजघटाभिरेते युद्धेषु कदर्थिताः। तत एव पराभवदुःखेन एषां मदजलमपि शुष्कम्। भयाच्च पलायिता एते दिगन्तान् श्रिताः। तथा च भयं जातम्, यदद्यापि न निवर्तन्ते। अत एव नाममात्रप्रय-

---

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम्।
बभार बाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः॥ ६२॥

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न मेने फणिनां भुजङ्गता॥ ६३॥

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः॥ ६४॥

मेखिलॅचम् । दिगाश्रिताः गजा—दिग्गजाः—इति दिगाश्रयणेन नाम्नोऽनुगतार्थता जाता ।

६५.

रावणः सततं गर्वोष्मणाभिपरीतः, तस्य चोष्मशान्तिर्न चन्दन—जलार्द्रतालवृन्तपवनैर्बभूव, अपि तु वन्दीकृताना सुरस्त्रीणामुष्णोर्निश्वासमारुतैर्बभूव । निश्वसतीः शत्रूणां स्त्रियो दृष्ट्वा तस्य मनसि कापि शान्तिरुदियायेति । गर्विष्ठाना स्वभावसिद्धमिदम् यत्ते पीडितान् दृष्ट्वा कमप्यानन्दं विन्दन्तीति ।

६६.

षड्तुषु त्रये कुसुमसम्पत्तिर्भवति, त्रये च न, परमृतुभिरपि रावणस्यानुगतिः कर्तव्यासीदिति कुसुमवता त्रयेण कुसुमाभाववत्त्रयं स्वस्वरूपेऽनुप्रवेशितम् । यथाहि कुसुमसमृद्धि', ग्रीष्मे च नेति वर्षा ग्रीष्मेण संगताः, तथैव पुष्पसमृद्धिमती शरद् हेमन्तेन, तथाभूतो वसन्तश्च शिशिरेण सङ्गत', एव च रावणस्य पुरे सर्वेषु ऋतुषु पुष्पादिसमृद्धिरविच्छिन्नासीत् । सततं च ऋतव इमे नगरवासिन इव पूर्णसमृद्धया लङ्कायां न्यवात्सुः । इह एकैकस्य ऋतोर्नाम पुँल्लिङ्गमभिहितम् तस्यङ्गतस्यापरस्य च स्त्रीलिङ्गम्, तदर्थमेव पुंल्लिङ्गस्यापि वसन्तशब्दस्य लक्ष्मीशब्दसामानाधिकरण्यं प्रकल्प्य स्त्रीत्वमुपकल्पितम्, तत्रापि न पुष्पादिसमृद्धिमर्ती सुकुमाराणां स्त्रीत्वम्, कर्कशप्राणानाञ्च पुस्त्वं विन्यस्तम् । प्रसूनशब्दश्च पुत्रं स्मारयति, तेन कृतविवाहा इमे पुत्रपौत्रादिकुटुम्बमुत्पादयन्तस्तत्र निवसन्ति स्मेति सचमत्कारं स्थिरनिवासिता सिध्यति, सोऽयमर्थ'—वासतया कुटुम्बिता यथुरितपदेन स्फुटतां नीत इति गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ।

६७.

भगवन् कृष्ण ! यदा भवान् अमानुषोऽपि अजन्मापि देवैरभ्यर्थितस्तस्य रावणस्य वधाय मायामधिष्ठाय वैवस्वतस्य मनोर्वंशे समवतीर्णस्तदा रावणो भवत्प्रियां जानकीं जहार । भवताभियुक्तश्च स सर्वैः प्रबोधितोऽपि तां न प्रत्यार्पयत् ।

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैर्यया ।
स चन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ॥ ६५ ॥
तथैव वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च ।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥ ६६ ॥
अमानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाऽभिमानैकधना हि मानिनः ॥ ६७ ॥

यद्यपि भवतो नारायणावतारत्वं स्वस्यैव च वधायावतरणं तस्य विदितमासीत्तथापि द्वन्द्वस्य वस्तुनः प्रत्यर्पणे भीरुप्रतीत्या–मानहानिः स्यादिति मान एव तेन मुख्यतया रक्षितो न तु तदग्रे प्राणा अपि गणिताः, इदमपि तस्य परममहत्त्वं यन्मानस्य प्राणाधिक्येन गणनमिति । अबोऽपि कथं जात इति विरोधपरिहाराय प्रभाविनमिति विशेषणमुक्तम्, महानुभावानां विरुद्धधर्माश्रयणेऽपि न काचिदनुपपत्तिरिति ।

६८.

भगवन् कृष्ण ! जानकीनिमित्ते वैरे त्वयैवासौ रावणोऽपि समुद्रे सेतुं बद्ध्वा निहत इति मन्ये त्वया विस्मृतं न स्यात् ।

६९.

यथा कश्चिन्नटो रङ्गशालायां पूर्वं रूपं परित्यज्य रूपान्तरं गृह्णाति, तदा च स रूपवेषभाषादिभिः–अन्य एव लोकानां प्रतिभाति, तथा रावणोऽपीदानीं रूपान्तरं स्वीकृत्य पुनर्भूम्यां जातः, स इदानीं शिशुपाल इति नाम्ना प्रसिद्ध्यति । व्यापारैर्गुणैश्च रावणादन्य एव प्रतीयते । परन्तु रहस्याभिज्ञास्तु जानन्ति यदयं रावण एवेति । एतेन शिशुपालस्य वधार्हता सूचिता ।

७०.

यदा शिशुपालो जन्म लेभे, तदा तस्य चत्वारो भुजाः, त्रीणि लोचनानि आसन् मुखं चापि गौरं पूर्णचन्द्रतुल्यमासीत् । अत एव स तदानीं हरिहरसदृशः प्रतीयते स्म (हरः चतुर्भुजत्रिलोचनपदाभ्यां लक्षितम्) परं पश्चात् तस्य भुजद्वयमेकं नेत्रं चान्तर्हितम् । इदानीं तु स द्विभुजद्विनेत्रोऽपि यौवनावस्थां प्राप्तः स्वप्रतापेन सूर्यसदृशो लक्ष्यते, यथा सूर्यः स्वकरैः (किरणैः) सर्वान् महीभृतः (पर्वतान्) व्याप्नोति, तथैवैतेनापि करैः सर्वे महीभृतः राजानः आक्रान्ताः सर्वे राजानस्तदधीनतां स्वीकृत्य तस्मै करं ददति ।

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥ ६८ ॥

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः ॥ ६९ ॥

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ॥ ७० ॥

७१.

अयं शिशुपालः पराक्रमविषये रावणादीनप्युपहसति स्वापेक्षया तान् निकृष्टान् मन्यते । ते हि सुचिरं तपस्तप्त्वा देवताप्रसादेन पराक्रमातिशयं प्राप्तवन्तः, अयं तु स्वभावेनैव पराक्रमशाली यथा कामयते तथा देवान् दानवान् यातुधानांश्च, अनुकम्पते, दण्डयति च । तथा च देवतायाचकैर्दैवशासकस्यास्य कथं तुल्यता ।

७२.

स्वबलदर्पाध्मातः स शिशुपालः सकललोक-पराभवेच्छया यथा पूर्वजन्मनि हिरण्यकशिप्वादिरूपेण प्रजाः पीडयति स्म, तथैवेदानीमपि पीडयति, एष एवार्थ उत्तरार्धेन समर्थ्यते, यथा पतिपरायणा स्त्री अन्यजन्मन्यपि तमेव पतिं प्राप्नोति, तथैव सुस्थिरः स्वभावः जन्मान्तरेऽपि पुरुषमनुगच्छत्येव । अतः शिशुपालस्य पूर्वजन्मवद् जगत्पीडनं नाति विस्मयकरम् ।

७३.

हे भगवन् ! अनेन शिशुपालेन विधेः शासनमुल्लङ्घितम्, यतोऽयं सुरासुराणां स्वयमेव शासकः संवृत्तः, यथेच्छं व्यवहरति, प्रजाः पीडयति च, तदेनं जहि । नचैतत् प्राघुणिकहस्तेन सर्पमारणम्, कुतः ! परपीडनपरा दुष्टा भवादृशां लोकरक्षणदीक्षितानां हन्तव्या एव भवन्ति । अतस्त्वयायं मारणीय एव । किंच तादृशदुष्टविनाशे तव निमित्तमात्रत्वं स्यात्, वस्तुतस्तु तेषां दुष्कर्मविपाक एव तद्विनाशहेतुः ।

७४.

नारदः स्वामुक्तिमुपसंहरति—इत्थं शिशुपालोपद्रवैरिन्द्रस्य हृदयं सर्वदा चिन्तातुरं चञ्चलं च वर्तते । चित्तविक्षेपाच्च मनागपि राज्योपभोगेऽस्य प्रवृत्तिर्भवति । वयं त्वाशंसामहे—यद् भवता शिशुपाले हते शत्रुविनाशाद् इन्द्रस्य हृदयं चिन्तात्यागेन दृढतां प्राप्नोतु, पुनरपि चायं पूर्ववद् ऐश्वर्योपभोगे सामर्थ्यमासादयतु ।

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया ।
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्हसत्यसौ ॥ ७१ ॥
बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥ ७२ ॥
तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम् ।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो निपातनीया हि सतामसाधवः ॥ ७३ ॥
हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य ।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥ ७४ ॥

७५

नारदः श्रीकृष्णाय इन्द्रसन्देशं श्रावयित्वा आकाशमार्गेण प्रतस्थे, प्रस्थिताद् तस्मै कृष्णोऽपि इन्द्रसन्देशानुकूलं शिशुपालहननं प्रतिश्रुतम्। प्रतिनिवर्तितुमना नारदो यदाकाशमुद्गत तदानीं प्रकृत्या स्वच्छशुभ्रः स चन्द्रवच्छोभते स्म। चन्द्रशोभां दधति नारदे व्योममार्गेण प्रस्थिते सति तदनुपदमेव चैद्यापकृतानि श्रुत्वा तदुपरि समुत्पन्नक्रोधस्य भगवतः कृष्णस्य मुखे भ्रुकुटिरुत्थिता। सा च तदानीं तथा प्रतीयते स्म यथाकाशे चन्द्रमसमनूत्थितः शत्रुनाशसूचकः केत्वाख्य उत्पातग्रहो भवेत्। तदुक्तं 'चन्द्रमस्युत्थितः केतुः क्षितीशानां विनाशकृत्' इति।

इति शिशुपालवधे महाकाव्ये प्रथमः सर्गः।

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम्॥ ७५॥

शिशुपालवधमहाकाव्ये द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

१.

भगवान् कृष्णो यावद् इन्द्रसन्देशेन प्रजोपद्रवकारिणं शिशुपालमभियोगयितुमिच्छति तावत् राजसूयेन यष्टुमिच्छता युधिष्ठिरेण यज्ञे सन्निधातुं निमन्त्रितः, ततः स युगपदावश्यककार्यद्वयप्रसक्ततया शिशुपालो वा निहन्तव्यः, यज्ञे वा सन्निधातव्यमित्येवं निर्धारयितुं नाशकत् । तन्मनः सन्देहदोलायितमभूत् ।

२.

तदनन्तरं कृष्ण उद्धवबलभद्राभ्यां सह मन्त्रणार्थं सभामन्दिरमविशत्, अग्रे कृष्ण आसीत्, पश्चाच्चोद्धवबलभद्रावास्ताम् । तदानीं ताभ्यामनुगम्यमानः कृष्णः आकाशे बृहस्पतिशुक्राभ्यामनुगम्यमानस्य चन्द्रस्य शोभामुवाह ।

३.

असुरोपद्रवपरिहारेण प्रजासु शान्तिप्रचाराय समवेता अतितेजस्विन इमे रामकृष्णोद्धवाः सभायामुपविविशुः, सभायां तिष्ठतां तेषां तथा शोभाभूत्, यथा यज्ञवेद्यामाहितानां प्रज्वलतां त्रयाणां गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नीनां शोभा भवति ।

४.

तत्र सभायां रत्नखचिता भूयांसः स्तम्भा आसन्, तेषु रत्नानामतिस्वच्छतया तदाकृतयः प्रतिफलिताः, अत एव स्तम्भानां मध्ये स्थितास्ते केवलं त्रयोऽपि स्वचतुर्दिक्षु प्रतिबिम्बबाहुल्यात् तथा प्रतीयन्ते स्म यथेमे पुरुषसमूहेन आवृता भवेयुः ।

यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाथ मुरं द्विषन् ।
अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत्कार्यद्वयाकुलः ॥ १ ॥

सार्धमुद्धवसीरिभ्यामथासावासदत्सदः ।
गुरुकाव्यानुगां बिभ्रच्चान्द्रीमभिनभः श्रियम् ॥ २ ॥

जाज्वल्यमाना जगतः शान्तये समुपेयुषी ।
व्यद्योतिष्ट सभावेद्यामसौ नरशिखित्रयी ॥ ३ ॥

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ ४ ॥

५

इमे रामकृष्णादयस्तत्र सभायां सन्निवेशितेषूच्चेषु स्वर्णसिंहासनेषूपविष्टाः। तदधिष्ठितानां तेषां सिंहासनानां तदानीं तादृशी शोभाऽभवत्, यादृशी सिंहाधिरूढानां त्रिकूटपर्वतशिखराणां भवति। त्रिकूट इति पर्वतस्यास्य वर्णना, यस्यास्य त्रीणि कूटानि शिखराणि सन्ति। सिंहासनानां त्रिकूटशिखरोपमया तत्समुदायस्य त्रिकूटसादृश्यं व्यङ्ग्यम्, एवं रामादीनां सिंहसादृश्यमपि।

६

सभायामुपवेशनानन्तरं वचनोपन्यासपटुर्भगवान् कृष्णः क्रमशः पितृव्यत्वेन ज्येष्ठभ्रातृत्वेन च स्वगुरुवयोरुद्धवबलभद्रयोरग्रे पूर्वोक्तयोर्महतोः कार्ययोर्विरोधमुपन्यस्यति स्म। उभयोर्युगपदसम्भव एव विरोधः, न चैकतरमप्युपेक्षितुं शक्यम्।

७

भगवतः कृष्णस्य दन्ताः कुन्दकुसुमकलिकावत् स्वच्छशुभ्रा आसन्, किं च स प्रकृत्या स्मितपूर्वाभिभाषी आसीत्। स्मितमपि कविसम्प्रदाये स्वच्छशुभ्रमुच्यते, अतो वचनसमये स्वच्छशुभ्रैस्तस्य स्मितैर्दन्तकान्त्या च सभामध्यभागो नितरां प्रकाशितः, किं च यद्यपि तद्वाणी यथास्थानप्रयत्नोच्चारणेन स्वभावतः शुद्धवर्णा आसीत्, तथापि तत्र कविरुत्प्रेक्षते यत् स्मितप्रक्षालनेन तस्याः शुद्धवर्णत्वं जातम्।

८

कृष्णः कथयति यद् यथा नाट्यादौ क्रियमाणः पूर्वरङ्गः केवलमभिनेष्यमाणवस्तुप्रसञ्जनाय भवति तथैवादौ प्रयुज्यमानं मद्वचनमपि भवद्वचनोपन्यासप्रसङ्गोत्थापनायैव न तु सिद्धान्तरूपम्। यतोऽहं कर्तव्यार्थे सांशयिकः सिद्धान्तं निर्णेतुमिच्छामि।

अध्यासामासुरुत्तुङ्गहेमपीठानि यान्यमी।
तैरूहे केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा॥ ५॥

गुरुद्वयाय गुरुणोरुभयोरथ कार्ययोः।
हरिर्विप्रतिषेधं तमाचचक्षे विचक्षणः॥ ६॥

द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती॥ ७॥

भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः।
पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः॥ ८॥

९.

युधिष्ठिरस्य भीमादयो भ्रातरः स्वपराक्रमेण दिग्विजयिनः सन्ति, तत्साहाय्येन च सर्वान् राज्ञः स्वाधीनान-करोत् । अत एव ते तस्मै करं ददति । तथा च सः अस्मत् साहाय्यं विनापि स्वभ्रातृणां साहाय्येनैव यज्ञं निर्विघ्नं सम्पादयितुं समर्थः । तदधीना राजानोऽपि तत्साहाय्याय यज्ञ उपतिष्ठेरन्नेव । अतो यज्ञेऽस्माकं सन्निधानं नात्यावश्यकम् ।

१०.

यज्ञगमनस्यावश्यकत्वं निरस्य शिशुपालाभियोगनं सामान्येनाह–हितमिच्छता पुरुषेण वर्धमानः स्वशत्रुः कदापि नोपेक्ष्यः । यथाल्पीयसोऽपि वर्धमानस्य रोगस्य यदि समये चिकित्सा न क्रियते तर्हि स पश्चाद् वृद्धिं प्राप्तो रोगिणं हिनस्ति, तथैव प्रारम्भे स्वल्पबलोऽपि शत्रुर्यदि न प्रतिक्रियते तदा ॥ क्रमशो दृढबलो भूत्वा महान्तमनर्थमुत्पादयति । अत एव नीतिविदो वृद्धिशीलं शत्रुं रोगं च तुल्यावाहुः ।

११.

शिशुपालो मामभिद्रुह्यति—इत्यतो नाहं मनागपि खिद्ये । यतः स सात्वत्या मत्पितृष्वसुः पुत्रः अतो बन्धुत्वस्यतया स्वापकारविषये कथंचित् क्षन्तुं शक्यते । परं यत् स प्रजापीडनं करोति तदतिगर्हितम् , तेन च मम दुःखं जायते । बन्धुरपि यदि प्रजापीडकस्तर्हि स दण्डनीय एव ।

१२.

इदं पूर्वपक्षरूपेण मम मतमस्ति, सिद्धान्तरूपेण युवयोरपि मतं मया श्रोतव्यमेव । अन्यथा मम संदेहो न निवर्तिष्यते । एकाकिनो विदुषोऽपि पुरुषस्य कर्तव्यार्थेषु संदेहो जायत एव, मादृशोऽविद्वान् संशेत इत्यत्र किमु वक्तव्यम् ।

करदीकृतभूपालो भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम् ।
विनाऽप्यस्मदलं भूष्णुरिज्यायै तपसः सुतः ॥ ९ ॥

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च ॥ १० ॥

न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति ।
यत्तु दन्दह्यते लोकमदो दुःखाकरोति माम् ॥ ११ ॥

मम तावन्मतमिदं श्रूयतामङ्ग वामपि ।
ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि ॥ १२ ॥

१३

पूर्वोक्तरीत्या परिमिताक्षरैः स्वपक्षं स्थापयित्वा हरिस्तूष्णीं बभूव। महतामेष स्वभावो यत्ते यावदपेक्षितं तावदेव भाषन्ते।

१४.

कृष्णकथनानन्तरं बलभद्र उवाच। कृष्णोक्त्या शत्रुकृतापकारस्मरणेन बलभद्रहृदयमतितताप। (अथवा तस्य शत्रुविषये द्वेष उदभूत्) तेन च क्रोधोदयाद् वचनसमये तस्योष्ठः स्फुरति स्म।

१५.

कृष्णोक्त्यनन्तरं यावद् उद्धवो वक्तुमिच्छति, ततः प्रागेव वचनव्यग्रतया बलभद्रेण वक्तुमारब्धम् उद्धववचनं च सिद्धान्तत्वेन स्वीकरणाय अवशेषितम्। उद्धवस्तु बलभद्रानुरोधात् तूष्णीमतिष्ठत्।

१६.

कथनसमये रतिकाले रेवतीकृतचुम्बनेन तन्मुखोच्छिष्टमद्यलेशादिना पवित्रे बलभद्रस्य अक्षिणी मदिरापानमदेन रक्ते घूर्णमाने चास्ताम्।

१७

साहङ्कारवदतस्तस्योष्णैर्निःश्वासमारुतैर्वनमाला म्लानिमगात्, या कठिनाभ्यां रेवतीकुचाभ्यामालिङ्गनसमये नित्यं पीड्यते स्म।

१८.

भाषणकाले शत्रुक्रोधेन बलभद्रमुखं ताम्रवर्णमभवत्। स्वेदबिन्दवश्च तत्र

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः॥ १३॥
ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना॥ १४॥
विवक्षितामर्थविदस्तत्क्षणप्रतिसंहृताम्।
प्रापयन्पवनव्याधेर्गिरमुत्तरपक्षताम्॥ १५॥
घूर्णयन्मदिरास्वादमदपाटलितद्युती।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ॥ १६॥
आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम्।
म्लापयन्नभिमानोष्णैर्वनमालां मुखानिलैः॥ १७॥
दधत्सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः।
द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः॥ १८॥

प्रादुरभवन्। कोपोद्रक्ते तन्मुखे ते स्वेदबिन्दवः तथा भान्ति स्म यथा सन्ध्याकालिके स्वभावतो रक्ते व्योम्नि तारा भान्ति।

१९

बलभद्रेण कर्णयोः पद्मरागमणिजटिते कुण्डले धृते आस्ताम्, वपुषि च नीलवर्णमुत्तरीयमाच्छादितमासीत्। तत्र पद्मरागमणेः रक्तया कान्त्या सङ्कीर्णा नीलवर्णोत्तरीयस्य कान्तिर्नूतनाम्रपल्लवकान्तिसदृशी धूम्रवर्णा जाता।

२०

इदानीं बलभद्रमुखाद् गन्धविशेषो निःसरति स्म, यस्मिंश्च रेवत्या मदिरागण्डूषगन्धोऽपि संसृष्ट आसीत्। रतकाले प्रियागण्डूषग्रहणस्य कामशास्त्रविहितत्वात्।

२१

कथनसमये बलभद्रमुखात् सौरभं निःसरति स्म, तदाकृष्टा भ्रमरा मधुपानेच्छया कमलसदृशं तन्मुखं परितः समुच्चेरुः। किं च प्रकृत्या श्यामा अपि ते भ्रमरास्तदानीमतिश्वेतैर्बहिर्निःसद्भिर्बलभद्रस्य दन्तांशुभिः धावल्यमापुः।

२२

शिशुपालाभिषेणनविषये 'उत्तिष्ठमानस्तु परः' इत्यादिना कृष्णेन यदुक्तं तदोजस्वि निर्दोषं चास्ति, अतो विचारान्तरं नापेक्षते, तदेव सिद्धान्तत्वेनाभ्युपगम्य तदनुकूलमेव झटिति कार्यमारब्धव्यम्।

२३

यद्यपि कृष्णवाक्यमतिसंक्षिप्तम्, तथापि (अर्थगौरववत्त्वात्) अपुष्टार्थैः शब्दैरतिविस्तृतापि वाणी नैतदपेक्षया अधिका भवितुमर्हति। यथा महान्त

प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा ।
कृष्णोत्तरासङ्गरुचं विदधच्चौतपल्लवीम् ॥ १९ ॥
ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया ।
मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन् ॥ २० ॥
जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदंशुदशनांशुभिः ॥ २१ ॥
यद्वासुदेवेनादीनमनादीनवमीरितम् ।
वचसस्तस्य सपदि क्रिया केवलमुत्तरम् ॥ २२ ॥
नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचाऽतिशय्यते ।
इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम् ॥ २३ ॥

काष्ठराशिं दहन्नतिभूयानपि वह्निः स्वप्रभया सूर्यमतिशयितुं न क्षमः सूर्यस्यातितेजस्वित्वात् ।

२४

ननु यद्येव कृष्णवचनं सर्वातिशायि तर्हि तदग्रे त्वद्वचनोद्योगोऽपि व्यर्थ एवेत्यत आह कृष्णवाक्यं मिताक्षरत्वाद् अर्थगौरवाच्च सूत्रकल्पमस्ति, अतस्तत् सविस्तरं व्याख्यानमपेक्षते । यथा व्याख्याया मूलोक्त एवार्थो ह्यति सुदृयुपारोहाय विशदं प्रपञ्च्यते युक्त्यान्तरैः समर्थ्यते च, तथैव मद्वचसापि कृष्णोक्त एवार्थो विस्तृत्य विवरिष्यते समर्थयिष्यते च । न तु तद्विरुद्धमक्षरमपि वक्ष्यते, अत कृष्णवचसो व्याख्यानरूपा एव मद्वाचो भवेयु ।

२५

वेदियाशाविषये उद्धवविरोधं मनसि निधाय बलभद्र आह—ये पुरुषा भाषणेऽतिपाटवं दधते तेऽपि यदि विद्वद्वचनप्रतिकूलं किमपि वदेयुस्तर्हि लोकेऽज्ञा उच्यन्ते । अथ जडा अपि यदि विद्वद्वचनपक्ष एव भाषन्ते तर्हि लोके 'प्रवक्तार इमे, व्याख्याननिपुणा इमे' इत्येवं प्रसिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अत कृष्णवचनविरोधे न किमपि वक्तव्यम् । स हि विद्वान् , विचक्षणस्य तस्य विरोधो न सुकर , प्रत्युत महावत्यापक , अतस्तदनुकूलमेव भाषित्वा वाग्मित्वं किं न लभ्यताम् ? अनुकूलभाषणं हि सुगमम् ।

२६.

ननु हितमिच्छता राज्ञा दुराग्रहं परित्यज्य स्वप्रतिकूलमपि नीतिशास्त्रविदो वचनं ग्राह्यमेवेत्यत आह—मन्दबुद्धयोऽपि नीतिग्रन्थान् पठित्वा गुणशक्त्यादीना नामानि तत् सङ्ख्यां वा प्रतिपादयितुमीशते, परं न ते तावता नीतिशास्त्रपण्डिता ग्राह्यवचना वा भवितुमर्हन्ति । सन्धिविग्रहादीना यथार्थोपयोगे पटुरेव नीतिशास्त्रपण्डित इतिव्यपदेशमर्हति, तदुपदेश एव च ग्राह्य । सन्ध्यादिसङ्ख्यामात्रपाठका उद्धवादयस्तथाभूतत्वादुपेक्ष्यवचना एवेति बलभद्रस्य हृदयम् । प्रसङ्गत्वात् सन्धिप्रभृति गुणादीनां स्वरूपं लिख्यते—सन्धिर्विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रय , षड् गुणा शक्तयस्तिस्र प्रभावोत्साहमन्त्रजा । क्षय स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदि-

---

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयस ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥ २४ ॥
विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान्प्रवाचः कृतिनां गिर ॥ २५ ॥
षड्गुणा शक्तयस्तिस्र सिद्धयश्चोदयास्त्रय ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ॥ २६ ॥

नम् । तत्र अरिविजिगीषोर्मध्यस्थोदासीनयोश्च सन्धिः, विरोधो विग्रहः, अरि प्रति यात्रा यानम्, कालप्रतीक्षया तूष्णीमवस्थानम् आसनम्, बलिष्ठेनाक्रान्त-स्यार्धं द्वैधीभावः, अरिणा पीड्यमानस्य बलवदाश्रयणं संश्रयः । कोषदण्डोत्थं तेजः प्रभावः, स्वेषाम् प्रयत्न उत्साहः, वस्तुचिन्तनं मन्त्रः । शक्तिसिद्धोदय-क्षयवृद्धी, वृद्धिक्षयोर्मध्य स्थानम् ।

२७.

यो धानुष्कः वेधत्वम् आत्मनो लक्ष्यवेधचातुर्यं विकत्थते, लक्ष्यवेधावसरे च यदि वाणको लक्ष्याद्भ्रश्यते, यथा तस्य विकत्थनं निष्फलं तथैव यो वाग्मी मन्त्रणा-मात्रकारी कार्याकार्यविवेकसामर्थ्यं यस्य मनागपि न विद्यते, कार्यकाले च प्रमादपरो भवति, वाक्चातुर्यमात्रस्य तस्य वाग्जालमपि निष्फलम् । तस्मात् च वाक्चातुरपि कार्यदक्ष एवो भव न पुनर्वृथा वावदूकस्य ।

२८.

रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारा पञ्चस्कन्धा इति बौद्धाः, भूतायतनिकानि अमूर्तानि तत्त्वानि स्कन्धशब्देनोच्यन्ते, तत्र सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः, आलयविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः, प्रागुक्तस्कन्धद्वयसम्बन्धजन्यः सुखदुःखादि प्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः, गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसविकल्पप्रत्ययप्रवाहः [illegible]स्कन्धः, वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः । यथा बौद्धानां मते भौतिकेषु शरीरेषु प्रागुक्तस्कन्धपञ्चकव्यतिरे-केण ज्ञानसुखाद्याश्रयभूतः कश्चिदात्मनामा पदार्थो नास्ति, किन्तु स्कन्धान एवात्मन्ये नोच्यते, तथैव राज्ञामपि सन्धिविग्रहादिषु कर्तव्येषु सहायादिपञ्चाङ्गविनिर्णय एव मन्त्रः, नान्यत् किमपि । अत सहायादिपञ्चाङ्गं स्वो न केवलेन मन्त्रणा राजभिः कर्तव्या । यदि सहायादयो विद्यन्ते तर्हि कार्यसिद्धिर्भवति, इतरथा कार्यादिषु यथावसरं विमर्शं कृतम् स्वीकर्तुं नायाति । तथा च इदानीं सहायादिपञ्चा-ङ्गम् अतोऽत्र शिशुपालाभियोगनस्य समुचितं कार्यम् ।

२९.

मन्त्रणार्थं केषाञ्चिद्विश्वासो न कर्तव्यः, मन्त्रो हि भेदयोग्य एव भवति, यथा च

अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥ २७ ॥
सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ २८ ॥
मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ २९ ॥

कस्यचिदेव कारणेन स्वाङ्गेषु रक्षितेष्वपि कदाचिच्छत्रुर्ममाङ्गानि च्छिन्द्यादितिभिया संग्रामे स्थिरो न भवति, अपि तु तत पलायते, तथैव मन्त्रोऽपि उपायादिषु गोपितेष्वपि कदाचिच्छत्रवो जानीयुरिति भीत्या चिरमक्रियात्मकः स्थातुं नार्हति, मन्त्रज्ञानानन्तरमेव कार्यमारब्धव्यम्, विलम्बे तु कार्यारम्भात् प्रागेव मन्त्रप्रकाशे सत्यपि सावधानस्ययारीच्छद्रोपायानुष्ठानेन राज्ञो महती हानिः सम्भाव्यते।

३०.

इदमेव नीतेस्तत्त्वं यत् स्वस्याभ्युदयाय चेष्टनीयम्, तदन्तरायभूतस्य शत्रोश्च हानिः कर्तव्येति। एतदेव द्वयमवलम्ब्य नीतिविदः सन्धिविग्रहादीन् विविधं व्याचक्षते। तथा चाभ्युदयार्थिभिरस्माभिः स्वयम् शिशुपालस्तवरितमुच्छेत्तव्य।

३१

ननु प्राप्ताभ्युदयानामस्माकं स्वयं एव शत्रूच्छेदप्रयत्नः कथमत आह— प्राप्तमहैश्वर्या अपि महात्मानः ऐश्वर्ये अलंबुद्धिं न कुर्वते एतावदेवैश्वर्यमस्माभिरभिलाषितं नान्यदपेक्षितं इत्येवं न तुष्यन्ति, 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः' इति राज्ञां सन्तोषोदयस्य निन्दितत्वात्। किं तु यथा परिपूर्णोऽपि महार्णवः स्ववृद्धये चन्द्रोदयमपेक्षत एव, तथैव ते अमेऽपि स्वाभ्युदयाय यतमाना एव भवन्ति चन्द्रोदये समुद्रवृद्धिरिति निसर्गः।

३२.

प्रत्युत सन्तोष उजते मातव्यः, यः पुरुषः स्वल्पयापि सम्पत्त्या प्रसीदति, आत्मानं कृतकृत्यं मनुते, तस्य सा स्वल्पा सम्पत् वृद्धिं न प्राप्नोति दैवं हि सम्पदां वर्धकम्, तद्धि स्वल्पसम्पदापि सन्तुष्टं स्ववृद्धये पौरुषमकुर्वाणं नरं निरीक्ष्य आत्मानं कृतकृत्यं मन्यते, अयमेतावतैव सन्तुष्यति किमस्य मुधा सम्पद्वर्धनेन, यद्यस्य सम्पदाभिवृद्धिमभ्यलषिष्यत्, तर्हि तदर्थमुदयोक्ष्यत, पर नायुक्तो इति नास्य सम्पदं वर्धयति। दैवमप्युद्योगिन एव साहायकम्, अनुद्योगिनस्तु तदपि जुगुप्सत इति तत्त्वम्।

आत्मोदयः परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ३० ॥

तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महीयसाम्।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥ ३१ ॥

सम्पदा सुस्थिरम्मन्यो भवति स्वल्पयापि यः।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ३२ ॥

३३.

शत्रून् निर्मूल्यैव मानिनोऽभ्युदयं प्राप्नुवन्ति, शत्रवो हि तदुन्नतिपथे कण्टका विना, तेषां सन्दलनेनाकारणमत्यावश्यकम्, अन्यथा तेऽन्तरायमुत्पादयेयुः। सवितापि यदोदयते तदा स्वप्रसरबोधकमन्धतमसं विनाश्यैव, नान्यथा, अतोऽस्माभिरपि स्वशत्रुः शिशुपालो हन्तव्य एव।

३४

किं च लोकेऽस्मिंल्लब्धप्रतिष्ठस्य स्थैर्यमेव दुर्लभम्, उन्नतिस्तु दूरे। जीवन्त शत्रवस्तन्मूलं कलितुं घुणा इव प्रभवन्ति, अतस्तदुच्छेद आवश्यकः। स्वल्पमपि आत्मानं मलिनीकुर्वद् रजः अथ करणेन पङ्कतां नीत्वैव तिष्ठति। जडमपि जलं यदि रजोऽभिभावकं न सहते, तर्हि चेतनैरस्माभिस्तु सुतरां न सोढव्यम्।

३५.

शिशुपाल एक एवास्माकं शत्रुः किमयमेकाकी न करिष्यतीत्यपि न चिन्तनीयम्, यतः यावदेकोऽपि शत्रुर्जीवति तावत् सुखमाप्नोत्याशापि न कर्तव्या। यद्यपि देवैः स्वशत्रवोऽसुरा निहताः, पर तेषां मध्य एको राहुरवशिष्ट, स एव पश्यतां देवानां चन्द्रमसं (सूर्यं च) पर्वसु बाधते।

अत 'अग्नेः शेषमृणस्येव शत्रोः शेषं न शेषयेत्' इत्यभियुक्तोक्त्या एकोऽपि शत्रुरुच्छेत्तव्य एव। चन्द्रोपरागस्य प्राचुर्यात् सोमग्रहणम्।

३६.

कृत्रिमसहजप्रकृतभेदेन मित्राणि शत्रवश्च त्रिधा भिद्यन्ते, स्वरूपाणि चैषां स्फुटानि। एतयोः मध्ये कृत्रिमो मित्रशत्रू महान्तावुच्येते। उपकारापकारजन्य सौहार्दवैरभावस्य यावज्जीवमनपायाद् एतयोर्मित्रशत्रुभाव स्थायी, न जातु विपर्येति, एतदेवानयोर्महत्त्वम्।

सहज प्राकृतौ तु सुहृदावपि कदाचित्—स्वकार्यवशात्—अन्यभावम्, एव शत्रू

समूलघातमघ्नन्त परान्नाद्यन्ति मानिन।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः ॥ ३३ ॥
विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥
ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुत सुखम्।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम् ॥ ३५ ॥
सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यत।
स्यातामभित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

अपि स्वकार्यानुरोधेन मित्रभाव प्राप्नुत , कार्यों गाधिको हि तयोर्मित्रशत्रुभाव , अतो न नियत । कृत्रिमस्तु शत्रुश्चेत् शत्रुरेव, सुहृच्चेत् सुहृदेव । तथा च शिशुपालोऽस्माक सहजमित्रमपीदानीं परस्परापकारेण कृत्रिम शत्रुरिति नोपेक्षितव्य ।

३७

ननु शिशुपालोऽस्माकं पैतृष्वसेय इति सहजमित्रत्वात् कथ स्य एवेत्यत आह—सहज प्राकृतो वा शत्रुरपि यद्यात्मन उपकरोति तर्हि तेन सह संधि कर्तुमुचित । स हि तदानीमस्थायिशत्रुभाव परिहृत्य स्थायिनी कृत्रिममित्रता प्राप्त । एव सहज प्राकृतो वा सुहृदपि यद्यपकरोति तर्हि न स सधियोग्य , यत सोऽस्थायि मित्रत्व परित्यज्य स्थायिन कृत्रिमशत्रुभाव प्राप्त । उपकारापकारावेव मित्रामित्रयोर्लक्षणमस्ति। तथा च शिशुपाल सहजमित्रमपि साम्प्रत परस्परापकारेणास्माक शत्रुरित्यभियोगयितव्य एव, न पुन सधातव्य ।

३८

चैद्यस्य कृत्रिमशत्रुत्वसमर्थनायाह—हे कृष्ण ! रुक्मिणीहरणेन त्वया चैद्यस्य विप्रियमाचरितम्, अतस्त्वं तस्य कृत्रिम शत्रुरसि । स्त्रियो हि रूढमूलस्य (दृढीत मूलस्य) वैरपादपस्य प्रधान कारणम् । अत्र रुक्मिणी शिशुपालस्य वाग्दत्तासीत्, तां कृष्णो राक्षसविवाहेन उपयेमे इति पुरावृत्तमनुसंधेयम् । न चेद परस्त्रापहरण मिवानुचितम्, 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्मौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ' इति क्षत्रियस्य कृते राक्षसविवाहस्य धर्म्यत्वस्मरणात् ।

३९

यथा सूर्यसन्निधाने सुमेरो सानुमन्धकार आवृणोति, तथैव स शिशुपालस्त्वयि नरकासुरविजयव्यापृते सत्यन्तर लक्ष्मीमा द्वारकापुरी परित स्वम्नयावृणोत् । तथा च तस्य त्वमिव सोऽपि तव कृत्रिम शत्रु इति नोपेक्षणीय ।

उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्य लक्षणमेतयो ॥ ३७ ॥

त्वया विप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे ।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरो स्त्रिय ॥ ३८ ॥

त्वयि भौम गते जेतुमरौत्सीत्स पुरीमिमाम् ।
प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव ॥ ३९ ॥

४०.

अपकारान्तरमाह—शिशुपालो बभ्रोर्यादवविशेषस्य परदाराभिमर्शनं चकारेति नैतद्वाच्ये किमप्युच्यते, यत पापानां कथामात्रमप्यकल्याणजननाय पर्याप्तं भवति ।

४१.

एव शिशुपालो न सहजमित्रमपि परम्परापराधेन साम्प्रत कृत्रिम शत्रुरिति सर्वथानुपेक्षणीय एव ।

४२.

शुष्क तृणसमूहे गुल्मे वने वोद्दीप्ततेजसमग्निं प्रक्षिप्य पवनप्रवाहाभिमुखं शयाना पुरुषो यथा पवनप्रेरितया ज्वालया भस्मीभूय विनश्यन्ति, तथैव ये पुरुष स्वार्थादि कारणान्तरेण प्राप्तक्रुद्धस्य शत्रोरपकारानन्तरं विधायापेक्षितं—न—सावधानतिष्ठन्ति, तेऽप्याकस्मिकेन शत्रोराक्रमणेनाशु विनश्यन्ति । अत शिशुपाल नापेक्ष्य ।

४३.

क्षमाशीलोऽपि पुरुष अल्पम्, एकदैव कृत भूयांसमपि वापराध क्षन्तु शक्नोति, परं पुन पुनर्मुहु च क्रियमाणमपराधं सहिष्णुरसहिष्णुर्वा कोऽपि सोढु न शक्नोति, शिशुपालो बहवार बहुवारम् पुन पुनरपकरोतीति न स क्षन्तव्यतां भजितुमर्हति ।

४४.

ननु 'क्षमा पुंसो भूषणमि'ति कथमिदं वचः, इत्यत आह—अपरस्मिन् क्षमा भूषणमुच्यते, न पुन सर्वदा । शत्रुकृतपरिभवप्राप्तौ तु तत्प्रतीकाराय पराक्रम एव भूषणम् ।

आत्मप्रियमिद बभ्रोर्यस्य दारानपाहरत् ।
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यत ॥ ४० ॥
विरोध एव महता विरोधा बहुधा च न ।
निसर्गतेऽपि क्रियया स भूतश्च सुत ॥ ४१ ॥
विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते ।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम् ॥ ४२ ॥
मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु य क्षमी ।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत क ॥ ४३ ॥
अन्यदा भूषणं पुंस क्षमा लज्जेव योषित ।
पराक्रम परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ ४४ ॥

४५.

यः पुरुषः शत्रुतिरस्कारदुःखदग्धोऽपि जीवति, न तत्प्रतीकाराय किमपि चेष्टते। तस्य जीवनमतिगर्हितम्, स हि केवलं मातुर्गर्भधारणप्रसवादिवेदनादः, अप्रयोजकं तस्य जन्म, मातृजननदुःखनिवृत्तये तादृशस्यानुत्पत्तिरत्र प्रार्थ्यते।

४६.

यः पुरुषः शत्रुकृतापमानं निश्चिन्तस्तूष्णीं सहते, वृथापुष्टोऽसौ (इदं देहिन इति निर्धारणार्थमन्वर्थपदेन, प्रकृतस्या च गम्यते) तदपेक्षया तद् रजः (रजः, नपुंसकम् च) श्रेष्ठं यत् पुंभिः पादोद्धूतमुद्धूयमानमपि मस्तकमाक्रामति।

४७

यथा घटादयो जातिशब्दाः, शुक्लादयो गुणशब्दाः, पाचकादयः क्रियाशब्दाः स्वाभिधेयेषु घटत्वादिकं कञ्चन विशेषमपि प्रतिपादयन्ति, न तथा यदृच्छाशब्दः, स हि जात्यादिव्यतिरिक्तं धर्मिमात्रमेव बोधयति, व्यवहार एव तस्य मुख्यं प्रयोजनम्, तथैव यः पुरुषः स्ववर्णविहितब्राह्मणत्वादिजात्यनुरूपाध्ययनादिना, इज्यादिक्रियानुष्ठानेन वा, शौर्यौदार्यादिगुणैर्वा न कञ्चन शुक्लवीर्यादिरूपं धर्माद्यन्यतमं वा पुरुषार्थं साधयति, तस्य जन्म केवलं ब्राह्मणादिव्यपदेशधारणार्थमेव। व्यवहारसिद्धये नाममात्रेण स ब्राह्मणादिरुच्यते। यथा अकारादिषु वैयाकरणानां गुणपदप्रयोगः पारिभाषिकः, न च वस्तुतो गुणः, तथैव तस्मिन्नपि ब्राह्मणादिपदप्रयोगः, न च वस्तुतो ब्राह्मणादिः।

४८.

तुङ्गत्वमगाधता च लोकेऽलङ्घनीयताया हेतू मतौ, तत्र पर्वते केवलं तुङ्गत्वमेवास्ति, समुद्रे च केवलमगाधतैव, मनस्विनि तु पुरुषे तदुभयमपि विद्यते—इति स पर्वतसमुद्राभ्यामप्यतिदुर्लङ्घ्यः।

मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥ ४५ ॥

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥ ४६ ॥

असम्पादयतः कञ्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः।
यदृच्छाशब्दवत्पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ ४७ ॥

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता।
अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि ॥ ४८ ॥

४९.

मृदुस्तु मृदुत्वादेव सर्वैरपि पराभूयते—यद्यपि सूर्याचन्द्रमसोरुभयोः एवा-पराधस्तथापि राहुराधिक्येन चन्द्रमसमेव ग्रसते, न पुनः सूर्यम्, तत्र कारण-मेव, चन्द्रमाः खलु मृदुतेजाः, इति स सुखेन ग्रसितुं शक्यते, सूर्यस्तु प्रतापवान् इति न तत्र राहोः सहसा प्रवृत्तिः । तथा च मृदुपक्षे दोषस्यैव बाहुल्यम् ।

५०.

तेजस्विना गणनायां क्रियमाणायां यदि कश्चन तेजस्वी दूरस्थोऽपि भवेत् तदपि गण्यते, स हि दूरस्थितोऽपि स्वतेजसा लोकान् अभिभवितुं क्षमः । इममेवार्थमर्थान्तर-न्यासेनाह—पञ्चाग्निमध्ये तपतः पुरुषस्य अतिदूरस्थोऽपि सूर्यः पञ्चमाग्नित्वेन गण्यते ।

५१

दुर्दान्तेष्वपि शत्रुषु प्रतापेनाक्रम्य रोद्धुं शक्यते, तथा च यदि मस्तके पादन्यासः क्रियते तर्हि कीर्तिः स्वर्गं प्राप्नुयात्, नहि तदर्थमपि कश्चन सोपानादिरपेक्ष्य-ते । शत्रुशिरःस्वेव तस्याः उचितम् आलम्बनं भवितुमर्हति, तदैव सा द्यावी-पृथिव्योः सर्वमारोहति, नान्यथा । शत्रुनाशनमेव कीर्तिप्रसारस्य उपाय इति तत्त्वम् ।

५२.

चन्द्रमसा स्वस्य अङ्कमारोपितो मृगस्तस्य कृते कलङ्कायैव बभूव, तेनैव मृगेण लोकास्तमसौ मृगाङ्क इत्याचक्षते । परं यः सिंहो मृगान् निर्दयं पीडयति, स मृगाधिप इत्युच्यते । अतः शत्रुषु मार्दवं दुर्गतये भवति, तैक्ष्ण्यं तु कीर्तये इति भावः ।

५३.

यथा आत्मनः स्वभावेनैव शाम्यति, स्वामी तु किमपि प्रयुक्त उ प्रभु-

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम् ॥ ४९ ॥

स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि ।
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः ॥ ५० ॥

तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।
पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम् ॥ ५१ ॥

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम् ।
कथंकारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति ॥ ५२ ॥

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥ ५३ ॥

यति, तथैव क्रुद्ध शिशुपाल इदानीं दण्डेनैव (युद्धेन) वशीकर्तुं शक्यते, न सामादिना । शान्त एव सामादिप्रयोगः फलति, नाशान्ते, अतोऽभिषेणयितव्य एव स ।

५४.

यथा अतितप्त घृत जलप्रक्षेपेण शीत न भवति प्रत्युताधिक दीप्यते ज्वाला स्ततो निस्सरन्ति, तथैव प्रियोक्तय कोपकषायितचेतस शिशुपाल शान्त न करिष्यन्ति, किन्त्वधिक प्रकोपयिष्यन्ति, अतो दण्ड्य एव सः ।

५५.

ये सन्धिविग्रहादीनामुपयोग सम्यग न विजानन्ति, सन्धियोग्ये विग्रह विग्रहयोग्ये वा सन्धि विधाय राज्ञो हानिं कुर्वन्ति, ते मन्त्रिणो राजभिर्दूरतस्त्याज्याः, न ते वस्तुतो मन्त्रिणः, अपि तु मन्त्रिलिङ्गधारिणो राज्ञा शत्रव । उद्धवस्य युद्धपरिरोधो न मन्तव्य , युद्धकाल एवायम् इति बलस्य हृदयम् ।

५६

नीतिविद स्वशक्त्युपचय शत्रुपक्षव्यसन च पृथक यानकारणमाहु । तव तु दैवादुभयमप्यस्ति—इति त्वया योद्धव्यमेव ।

५७

स्वशक्त्युपचयमाह—यादवसैन्यमतिमहत् , न तत् केनाप्यतिक्रमितु शक्यते, स्वय च तच्छत्रुपक्षक्षय कर्तुमिच्छति पर वेला समुद्रमिव भवत , क्षमैव तत् तथा करणाद् व्यावर्तयति, अन्यथेन प्रागेव शत्रून् संहरेत् ।

५८.

साङ्ख्यदर्शने बुद्धिरेव वस्तुत कर्त्री सुखदु खयोरनुभवित्री च, पुरुषस्तु नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव कर्तृत्वादिधर्मशून्यो बुद्धे साक्षिमात्रम् , असङ्गो ह्ययं पुरुष

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञ कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ ५४ ॥
सामवादा सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपका ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दव ॥ ५५ ॥
गुणानामायथातथ्यादर्थं विप्लावयन्ति ये ।
अमात्यव्यञ्जना राज्ञा दूष्यास्ते शत्रुसंज्ञिना ॥ ५६ ॥
स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे ।
यानमाहुस्तदासीन त्वामुत्थापयति द्वयम् ॥ ५७ ॥
लिलङ्घयिषतो लोकानलङ्घ्यानलघीयस ।
यादवाम्भोनिधीन् रुन्धे वेलेव भवत क्षमा ॥ ५८ ॥

इति श्रुते । एवमेव सर्वथा तटस्थेऽपि पुरुषे यथा सुखदुःखादयो बुद्धिधर्मा अहं सुखी दुःखीत्यादिना व्यपदिश्यन्ते, तथैव हे कृष्ण ! यादवसेना शिशुपालं विजेष्यते, परं विजयं तटस्थस्यापि तवैव व्यपदेक्ष्यते भृत्यजयपराजययोः स्वामिगामित्वात्, तथा च वक्ष्यमाणेनैव विजयमात्रसम्मतं मा स्मोपेक्षिष्ठाः ।

५९

शत्रुव्यसनमाह—मगधेश्वरो जरासन्धः शिशुपालस्य मित्रमासीत्, स च भीमेन युद्धे हतः । अतोऽसौ मित्रव्यसनाक्रान्तत्वादिदानीं सुखेन पराभवितुं शक्यते ।

६०

व्यसनाद्युपचये परस्य व्यसने वा अभियोगः कर्तव्य इति पूर्वमुक्तम्, तत्रोत्तरपदेऽभ्युपेयवादेनोक्तं, वस्तुतस्तु प्रथमपक्ष एव मानिनामिष्टः, यतः आपदाक्रान्तः शत्रुरभियोगनीय इति नायं शूराणां पन्थाः, प्रत्युत विपदाक्रमणे शूराणां लज्जा स्यात्, हतस्य मृतस्य मारणे किं शौर्यम् । सर्वशक्तिसम्पन्न एव शत्रुः शूराणामभयं विषयो भवति, न तु विपदाक्रान्तो निर्बलः, यथा राहुः पौर्णमास्यां पूर्णमण्डलमेव चन्द्रमसं ग्रसते, न तु तिथ्यन्तरेषु क्षीणम् इन्दुवत् । तथा च साम्प्रतं बलिनो वयम्, बलवतामस्माकं शिशुपालोऽभियातव्य एव ।

६१

प्रकृष्टं परपीडनक्षमं बलं भिन्नमेव, तद्वतां कृते 'इदानीं शत्रुर्यातव्यः, इदानीं न' इति न कश्चन नियमः । सर्वदैव ते शत्रुमभियेमयितुं शक्नुवन्ति । परक्षणकाले प्रयोगयोग्यं मन्त्राद्युदाहृतं बलं तु भिन्नम्, साधारणत्वेन तस्य प्रबलशत्रुपीडनाक्षमत्वात् । प्रकाशातमसोरिव परस्परविरुद्धयोरनयोरेकाश्रयत्वं न घटते । अयं स्फुटो भावो बलवता शत्रोरभियाने 'तदा यायाद् विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः' इति व्यसनमस्ते रिपावभियानं प्रतिपादयन् मनुवचनं विरुध्येतेत्यपि न शङ्कनीयम्, कुतः ? ये स्वयं प्रशस्तबलहीनाः शत्रुं पराभवितुमक्षमास्तेषां कृते मनुवचनमस्ति । ये तु प्रबलाः परपीडनक्षमाः, तेषां कृते 'तथा विपक्षे व्यसनानपेक्षी क्षमो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात्' इति कामन्दकेन व्यसनानपेक्षयैवाभियोगः प्रतिपादितम् । तथा च यथा विभिन्नशाखाध्येतृविषयत्वेन उदितानुदितहोमयोः परस्पर

विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि ॥ ५९ ॥
हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि ।
चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः ॥ ६० ॥
नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये ।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥ ६१ ॥

विरोधो न बाधक । तथैव भिन्नविषयत्वेन व्यसनाव्यसनयोरभिधानं प्रतिपादयतोर्नन्तुकामन्दकवचसोर्विरोधोऽपि न बाधक ।

६२

युधिष्ठिरयज्ञे सन्निधानाय इन्द्रप्रस्थयात्रा न कर्तव्या, इदानीं तु अभिषेणयतामस्माकं हस्तिवृन्देन निखिलस्य चेदिराष्ट्रस्य उद्यानादिविनाशेन स्वयं एव प्राप्तकाल ।

६३.

यादवाना सेना माहिष्मतीं शत्रुराजधानीं परितस्तथा वृणोतु यथा शत्रवस्तत्रैव निरुद्धास्तिष्ठन्तु । न च बहिरागन्तुं शक्नुयु । किं च सर्वाणि प्रवेशद्वाराणि तथा रोद्धव्यानि यथा तत्र भोजनसामग्री, तत्साहाय्यार्थं सैन्यम्, पशूनां कृते घास काष्ठादिकं चावश्यकं वस्तु किमपि कथमपि प्रवेशयितुं न शक्येत । यथा रात्रौ दोहानन्तरं गावो गोष्ठे प्रवेश्य निरुध्यन्ते, न च तत्र तदानीं क्षीराद्याहरणार्थं विहङ्गिकावाहकानां प्रवेशनिर्गमौ भवत , तद्वत् । तथा सति बुभुक्षादिपीडित शत्रु सुजय स्यात् ।

६४

जगति सर्वो लोक स्वार्थसिद्धये यतते, इन्द्रस्य स्वगरक्षणम् सूर्यस्य तपनं च स्वार्थयुक्तमेव, तथैव युधिष्ठिरस्य राजसूययागोऽपि स्वार्थबुद्ध्यैव, नास्मदर्थः परार्थो वा । तथा च यदि सर्वो लोक स्वार्थसाधनव्यग्र तर्हि वयमपि कुतो न स्वशत्रून् निहत्य स्वार्थं साधयेम । इन्द्रादिसमानयोगक्षेमा न पार्थ इति भाव ।

६५.

अस्माक सैनिका शत्रूणा शिरांसि छिन्दन्तु, शत्रुरुधिराक्ताः सैनिकानाम् चय सूर्यकिरणसम्पर्केण विद्योतमाना विद्युत इव भान्तु ।

अन्यदुच्छृङ्खल सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्य हि तेजस्तिमिरयो कुत ॥ ६१ ॥
इन्द्रप्रस्थगमस्तावत्कारि मा सन्तु चेदय ।
आस्माकदन्तिसांनिध्याद् वामनीभूतभूरुह ॥ ६२ ॥
निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम् ।
उपरुन्धन्तु दाशार्हा पुरीं माहिष्मतीं द्विष ॥ ६४ ॥
यजतां पाण्डव स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विन ।
वय हनाम द्विषत सर्व स्वार्थं समीहते ॥ ६५ ॥

६६.

पूर्वोक्तमुक्त्वा बलदेवस्तूष्णीं बभूव सभाभित्तिभ्यस्तद्वाचां प्रतिध्वनिरुद्बभूव । तत्र कविरुत्प्रेक्षते, नैष प्रतिध्वनिः किन्तु सभाभित्तिषु चित्रिताभिर्देवताभिर्बलभद्रभयात् तदुक्तार्थसमर्थनाय तद्वाचामनुवादः कृत इति ।

६७.

बलभद्रोक्तं श्रुत्वा हरिरुद्धवं स्वमतं वक्तुं नेत्रसंज्ञया प्रैरयत् ।

६८.

भावार्थः सुगमः ।

६९.

उद्धव आह—यथा लेखद्वाराभिप्रायबोधतो सत्यं वाचिकश्रवणं निष्प्रयोजनं भवति । तथैव बलभद्रेण कर्तव्यार्थे निर्धारिते न मद्वचनस्य प्रयोजनं किमप्यवशिष्यते ।

७०.

यद्यपि बलभद्रेणोक्ते मद्वचनमनवसरग्रस्तम्, तथापि यत् त्वं वयसा विद्यया वा ज्येष्ठोऽयमिति बुद्ध्वा बलभद्रस्येव ममापि वचनं सादरं श्रोतुमुत्कण्ठसे, तदेव मां वक्तुं प्रेरयति, अतो वक्ष्यामि । नहि पण्डितैः सादरं पृष्टस्य विशेषज्ञस्याज्ञवत् तूष्णींभावो युक्तः ।

७१.

ननु रामेणैव सप्रपञ्चमभिहिते मदुक्तिरनवकाशेत्याशङ्क्याह—यद्यपि स्वराः षड्जादिभेदेन सप्तैव, परं तदुपनिबद्धं गानं तेषां स्वराणां पौर्वापर्यविपर्ययेण ताल-

---

भ्राम्यता विद्युता सम्पदम्भकोदर्करोचिषाम् ।
घनैर्द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः ॥ ६६ ॥
इति संरम्भिणो वाणीर्बलस्यालेख्यदेवताः ।
सभाभित्तिप्रतिध्वानैर्भयादन्ववदन्निव ॥ ६७ ॥
निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमदिशद् दृशा ॥ ६८ ॥
भारतीमाहितभरामथानुद्धतमुद्धवः ।
तथ्यामुतथ्यानुजवज्जगादाग्रे गदाग्रजम् ॥ ६९ ॥
सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना ।
निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ॥ ७० ॥
तथापि ते यन्मय्यपि गुरुरित्यस्ति गौरवम् ।
तत्प्रयोजककर्तृत्वमुपैति मम जल्पतः ॥ ७१ ॥

लयादिभेदेन च यथानन्तभेदं भवति, तथैव परिमितैरकारादिभिर्वर्णैर्निर्मितं वाङ्मयमप्यनन्तम्, अनेके तत्रावान्तरविशेषा, न हि ते सर्वे एकेनैव विज्ञातुं शक्याः, कांश्चिदेक कांश्चिदपरो जानाति। अतो बलभद्रेण साधूक्तोऽपि विशेषान्तराभिधित्सया न मदुक्तिरनवकाशा। तस्य दुरुक्तत्वाद् मयैव वक्तव्यमिति गूढाभिसंधिः।

७२

भावार्थः सुगमः, रामेण सङ्गतमेवोक्तमिति स्तुतिः, असङ्गतमेवोक्तमिति निन्दा च गम्यते।

७३

यथा कुशलस्तन्तुवायो बहुभिस्तन्तुभिः सुकोमलामपि सान्द्रां (सन्निकृष्टसूत्राम्) चित्ररूपां मनोहरां शाटीं वयते, तथैव वाग्मिजनः सुकुमाराक्षरामस्पष्टपरिहृतार्थगौरवां श्लेषादिगुणयुक्ताम् उपमानुप्रासादिभिरलङ्कृतां वाणीं ब्रूते, सा हि श्रोतॄणां मनोहारिणी भवति। रामवागप्येवंविधेतिस्तुतिः, नैवमिति निन्दा च गम्यते (अत्र कविना मदीयं काव्यमपीदृगेवेति सूचितम्)

७४

उद्धवो गर्वं परिहरन्नाह—हे कृष्ण! त्वं स्वयं नीतिशास्त्रस्य सर्वान् अवान्तरविशेषान् सम्यग् विजानासि। अत एव यथा ज्ञानदार्ढ्याय अभ्यासस्थिरीकरणाय वाधीतस्य शास्त्रस्य पुनः पुनरावृत्तिः क्रियते, तथैव त्वदग्रे मम नीतिशास्त्रोपन्यासप्रयासोऽपि ज्ञानस्थैर्याय आवृत्तिमात्रम्। न तु तस्य किमपि विशिष्टं प्रयोजनमस्ति।

७५

सम्प्रति उद्धवः स्वमतमाह—प्रभुशक्तिकामेन राज्ञा न केवलमुत्साहशक्तय एव यतितव्यम्, अपि तु मन्त्रशक्तयेऽपि, यतः मन्त्रोत्साहौ मिलित्वैव प्रभुशक्तिमुत्पादयतः, न पुनर्व्यस्तौ, तथा च बलभद्रस्य केवलोत्साहवादो न समीचीनः।

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो! गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ ७३ ॥

म्रदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम्।
प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव ॥ ७४ ॥

विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा ॥ ७५ ॥

७६

यथा अध्वगमनादिपरिश्रमश्रान्त पुरुषः सोपबर्हां द्रढीयसीं शय्यामधिशय्य विश्रान्त श्रान्ति नानुभवति, तथैव ये पुरुषा सर्वव्यवहारेषु युक्तियुक्तां स्थिरां प्रज्ञामाश्रयन्ते—अवान्तरविशेषपर्यालोचनया बुद्धिपूर्वकमेव कार्यं विदधते, न केवलम् उत्साह एव निषीदन्ति, तेषामनेकविधकार्यसंघातेऽपि न जातु मनाङ् मानसिकः श्रम व्याकुलता वा जायते। सुखेन ते कार्यं निर्वाहयन्ति। अत उत्साहवद् धीरताप्याश्रयणीयैव।

७७.

यथा तीक्ष्णो बाण लक्ष्यस्य अल्पमेव प्रदेशं स्पृशति, किन्तु भित्त्वा तदन्तः प्रविशति, तथैव तीव्रबुद्धयः परिश्रम स्वल्पमेव कुर्वते, पर बहुकार्यं साधयन्ति। मन्दबुद्धयस्तु अल्पस्य कार्यस्य कृते बहु प्रयस्यन्ति, यथा प्रस्तरो यत्र प्रदेशे पात्यते स तत्र पतितो यद्यपि भूयांस प्रदेशं व्याप्नोति पर तत्प्रदेशस्य पृष्ठ एव तिष्ठति, नान्त प्रवेष्टु शक्नोति, तद्वत्। मूषकग्रहणाय शिखरिखननं परिहासास्पद भवतीति भाव ।

७८.

पूर्वे तु मूढा स्वल्पमेव कार्यमारभन्ते, पर तथापि ते अधीरा भवन्ति न च तदारब्ध कार्यं यथायथ समाप्ति नयन्ति। बुद्धिमन्तस्तु महत्यप्युद्योगे संलग्ना न मात्रयाप्यधैर्यं दधते, आरब्ध च कार्यं समाप्तिं नीत्वैव विरमन्ति।

७९.

यथा मृगाणा यातायातमार्गे आत्मान गोपयित्वा स्थितोऽपि व्याधो यदि चतुष्कर्णो (सावधानो) न भवेत् तन्द्राक्रान्त स्यात्। तर्हि न मृगान् हन्तुं समर्थो भवति, तथैव साधनवानपि पुरुषो यदि प्रमादी भवति, तर्हि न जातु कार्यसिद्धिं लभते।

प्रज्ञोत्साहवतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः ॥ ७६ ॥
सोपधाना धिय धीरा स्थेयसीं खट्वयन्ति ये।
तत्रानिश निषण्णास्ते जानते जातु न श्रमम् ॥ ७७ ॥
स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णा स्तोकमन्तर्विशन्ति च।
बहुस्पृशाऽपि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत् ॥ ७८ ॥
आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः काम व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुला ॥ ७९ ॥

८०

यथा द्वादशादित्यानां मध्ये दिनकरो व्याप्तो य आदित्य स एव उदेति नान्ये, तथैव अरिमित्रादिद्वादशराजमण्डले स एवाभ्युदयं प्राप्नोति यो विजिगीषया निरन्तरमुद्योगं करोति, नान्ये । तथा चोद्योग एवाभ्युदयस्य मूलम् ।

८१

न खलु नरपतिः साधारणः पुरुषः तस्य हि बुद्धिरेव प्रधानं शस्त्रम् तस्या एवामोघशक्तित्वम् । अमात्यादिसतराज्याङ्गान्यपि तदाश्रयवत्, तद्वैकल्ये राज्ञोऽपि वैकल्यं स्यात्, मन्त्रगोपनमेव तस्य कवचम् । कवचभेदे तु शरीरमेव नश्यति, मन्त्रभेदे तु राज्यनाशप्रसङ्ग । चारद्वारेव स्वपरराष्ट्रवृत्तान्तवदनाच्चारा एव तस्य ईक्षणानि, तदभावे राज्ञः स्वपरमण्डलवृत्तान्ताज्ञानाद् अन्धस्येवास्यान्धस्येव पदे पदे विनिपात । दूतद्वारेव तस्य यावान् वाग्व्यवहारो जायते इति दूत एव तस्य वाग्, तदभावे मूकस्येव वाग्व्यवहारासिद्धौ सर्वकार्यप्रतिरोध स्यात् । तथा च राज्ञा बुद्धयादिसम्पन्नेन भवितव्यम् ।

८२

यथा रसिकः कवी रसानुगुण्येन ओजस्विनीं सुकुमारां वा उभयीमपि रचनामाश्रयति, शृङ्गारादिषु सुकुमाराम्, रौद्रादिषु ओजस्विनीम् न तस्य रचनाविशेषे आग्रहः तथैव समवृत्तस्य राज्ञोऽपि तेजसि क्षमायां वा नाग्रह किन्तु यथाकालं पश्यति तथा करोति, अभिषेणनोचिते काले अभियुङ्क्ते, क्षमाकाले च क्षमते ॥

८३

यथा रोगः अपथ्यसेवनेन तत्काल न कंचन विकारं बहिः प्रकटयति, परं कालक्रमेणान्तरवस्थितेन तेन विकारेण शान्तता प्राप्नोति, रोगिणं प्रतिक्रियावसरं च प्रकुप्यति, अन्ततस्तं निहन्ति च । तथैव चतुरो भूपतिरपि परकृतापकारं कालप्रतीक्षया सहते, नात्मनो मनोविकारं बहिः प्रकटयति, वैरनिर्यातनार्थमवसितमेव

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः ।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् ॥ ८० ॥
उदेतुमत्यजन्नीहां राज्येषु द्वादशस्वपि ।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते ॥ ८१ ॥
बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः ।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥ ८२ ॥
तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः ।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः ॥ ८३ ॥

दाक्षिण्यनयं करोति, एवं च असति सर्वधीरैः सन् शत्रुवधे कालोन्मुखे सति तं विनाशयति। तदुक्तम्—'वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः, तमेव चागते काले भिन्द्यात् घटमिवाश्मना' इति। तथा च शिशुपालाभिषेणनाय कालः प्रतीक्ष्यः।

८४.

यथा दीपः कोमलया सूक्ष्मवर्तिकयैव तैलमाकृष्य ज्वलति, तदभावे तु पूर्णं तैलाकर्षणम्, स्वयमेव नाशयति, तथैव शान्तिपूर्वकमेव शासकोऽर्थं भजति, नान्यथा अतः पूर्णं शान्तत्वमेव।

८५.

यथा काव्यं निर्मिमाणः श्रेष्ठः कविः शब्दार्थयोरन्यतरं नापेक्षते, किन्तु काव्यता-सिद्धये उभयमप्यपेक्षते, तथैव विद्वान् पुरुषोऽपि, न केवलं दैवमेवावलम्बते, पुरुषकारं विना दैवस्याकिञ्चित्करत्वात्, न हि पाणिमप्रसारयतः अञ्जलिस्थमपि भोजनं स्वयं मुखे प्रविशति। एवं न च केवले पुरुषकारे विश्वसिति, दैवप्रातिकूल्ये पुरुषकारस्यापि वैफल्यदर्शनात्, तथा चोभयमपि मिलित्वा कार्यसाधकं भवतीत्युभयमप्यपेक्षते।

८६.

यथा विभावानुभावसंचारिभावाः संभूय आस्वाद्योन्मुखतापन्नस्य रत्यादेः स्थायिन एव उपकुर्वते, तत्कृत एव तेषां व्यापारः, तथैव राजानोऽपि शान्त्य-वसरं प्रतीक्षमाणाः, तथा चेदानीं शिशुपालः हन्तव्य एव। अथवा यथा काव्ये प्रधानाद् इतरे अन्ये रसा अङ्गिन उपकारायैव, तथैव राजानोऽपि स्थायिनं नायकमेवोपकुर्वन्ति।

८७.

यथा भिषग्वैद्यः मन्त्रौषधप्रयोगकौशलेन देवताराधनादिना च महतः सर्वा-

---

कृतापचारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः।
असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा ॥ ८४ ॥
मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान्प्रकल्पते।
प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाभ्यन्तरस्थया ॥ ८५ ॥
नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥ ८६ ॥
स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः संचारिणो यथा।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महौजसः ॥ ८७ ॥

नपि वशमानयति, तथैव यो नृपतिः स्वपरराष्ट्रवृत्तं सम्यगवबुध्यते, स्वपरराष्ट्रयोः यथायथं सामाद्युपायप्रयोगेण स्वातङ्कमारोपयति, स स्वयमनायासेनैव निग्रहीतुं शक्नोति ।

८८.

उत्साहापेक्षया मन्त्रशक्तिरेव प्रधानं मूलम्, मन्त्रपुरस्सर एव उत्साहो विस्तारिणीं समृद्धिशालिनीं च प्रभुशक्तिमुत्पादयति । मन्त्रोपेक्षया तु छिन्नमूलो वृक्ष इव शुष्यति, अतो मन्त्रो नोपेक्षणीयः ।

८९.

शक्तो हि राजा स्वयमुदासीन एव आकाशवत् स्वमहिम्नैव कार्यदेशं व्याप्नुवन् शब्दानिव परोत्पादितान् सर्वार्थानपि स्वकीयतां नयति ।

९०.

अरिमित्रादयो द्वादश राजानः पूर्वमुक्ताः, त एवात्र यातव्यपार्ष्णिग्राहादिशब्देन विवक्षिताः, ते सर्वेऽप्यन्योन्यस्मात् स्वोत्कर्षमिच्छन्ति, इति स्वोत्कर्षसिद्धिरेतेषां तुल्यं प्रयोजनम्, एवं तुल्यार्थाभिलाषिण्या अन्यया राजमालायामधिकतेजस्वी शक्तिसम्पन्नो जिगीषुरेव मणिमालाया मध्यमणिरिव शोभते ।

९१.

पूर्वं श्लोकत्रयेण शक्तित्रयमभिधायेदानीं षाड्गुण्यप्रयोगप्रकारमाह—राज्ञा स्वपरयोर्मन्त्रोत्साहादिशक्त्यनुसारेणैव सन्धिविग्रहादीनामुपयोगः कर्तव्यः । तथा कृते तस्यामात्यादिसप्तप्रकृतयः स्थिरा दृढाश्च भवन्ति । शक्तिमुपेक्ष्य सन्ध्यादीनुपयुञ्जानस्तु आपदाक्रान्तः क्षयमेति । यथा रोगी जराजीर्णो वा जनः यदि स्वबलानुसारेण मात्रया रसायनमुपयुङ्क्ते, तर्हि स्वस्थो भवति, तस्य गात्राणि कार्यक्षमतामाधाय कालान्तरेऽप्युपयोगमावहन्ति । तस्मादधिकां मात्रां गृह्णानस्य तु तदेव रसायनं विनाशहेतुर्भवति ।

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता ।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ ८८ ॥
करप्रचेयामुत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम् ।
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः ॥ ८९ ॥
अनल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे स्वराः ।
विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् ॥ ९० ॥
अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः ।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः ॥ ९१ ॥

१२.

यथा यः पुरुषः अशक्यकर्मणो निवर्तते, शक्ये च गमनादावपि यथाशक्ति प्रवर्तते, तस्य शरीरमुपचीयते, परिपुष्टं भवति, यश्च तद्विपरीतमाचरति, तस्य बलक्षयाद् विनाशो निश्चितः, तथैव यो नृपतिः क्षमाकाले क्षमाम्, व्यायामकाले च स्वशक्त्यनतिक्रमेण व्यायाममनुतिष्ठति, तस्य राज्यमुपचितं भवति। अतथाकुर्वाणस्य तु राज्यक्षयो दुर्निवारः। तथा चास्माकमस्मान्चैद्यावस्कन्दनमश्रेयस्करम्।

१३.

यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तनेकमच वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्कं भवति इति वैयाकरणाः। तथा च यथैकस्मिन् पदे उदात्तस्वर इतरान् सर्वानपि स्वराननुदात्तान् करोति, तथैवातिशक्तिशाली चैद्यः स्वशत्रून् एकपदविन्यास एव (तत्क्षणे वा) निहन्तुं समर्थः; अत इदानीं नाभियातव्यः।

१४.

बलावन्यमित्रस्य नाशेन शिशुपाल इदानीमेकाकी वर्तते इति सुखेन जेष्यते इति मा स्म मनसि कृथाः। सन्त्यन्येऽपि राजानस्तत्सहायाः, ये चोदासीनास्तेऽपीदानीं तस्मिन्नभियास्यमाने तत्साहाय्यं प्रतिपत्स्यन्ते। तथा च यथा रोगराजः क्षयः एकाकी न तिष्ठति अपि तु अन्येऽपि रोगास्तेन सह वर्तन्ते वर्तितुं संभाव्यन्ते चेति हेतोः स रोगसमष्टिरुच्यते, तथैवायं शिशुपालोऽपीदानीं राजसमष्टिरूप इति नास्यावज्ञा कर्तव्या।

१५.

शिशुपालस्य राजसमष्टितामेव समर्थयते यथा शल्यः वेगगतये यौवनकङ्कपत्रशीघ्र इव आरूढबाणेन धनुषा प्रयुज्यते, तथैव बाणासुरोऽपि शिशुपालेन

यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायामधिकद्युतिः ।
एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते ॥ १२ ॥

षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत शक्त्यपेक्षो रसायनम् ।
भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च ॥ १३ ॥

स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम् ।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥ १४ ॥

तदीशितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा ।
निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव ॥ १५ ॥

सधारयति, अयमाशयः—शिशुपालेन बाणासुरस्य बहूपकृतमिति कृतज्ञतया बाणासुरः शिशुपालेऽभिषेण्यमानेऽस्य तत्साहाय्यं स्वीकरिष्यति। न च बाणासुर एकाकी निर्बलो वेति तत्साहाय्येऽपि न काचन क्षतिरिति मनसि करणीयम्, स हि ससुहृद्वर्गः शिशुपालसाहाय्यायोपतिष्ठेत स्वयमपि च स न निर्बलः, अपि तु शत्रुभेदनक्षमः, अतोनाय चैद्यप्रयत्नस्कन्दनावसरः।

९६

श्लेषानुप्राणितोपमा। विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरोऽपि।

९७

किं च न केवलं बाणासुरः शिशुपालं सधास्यति, अपि तु यथा ध्वान्तं रजनी मुखमनुयाति, तथैव दुष्टस्वभावाः कालयवनादयोऽपि तुल्यधर्मतया दुष्टस्वभावमेनं शिशुपालमेवानुयास्यन्ति।

९८

बाणादयः अस्माभिः कृतक्षयो नेदानीं विरोत्स्यन्ति इत्यपि न मन्तव्यम्। अन्तर्वैराः सहिता अपि काले विविक्ष्यन्ति। यद्यपि ते कारणान्तरेण भवता कृतक्षयाः सन्ति। तेषां हृदये त्वद्विषये वैराग्निरल्पकरूपेण स्थित एव यदीदानीं शिशुपालोऽभिषेण्येत, तर्हि स स्वल्पेनाप्युत्तेजनेन अन्तर्वैरास्तान् त्वत्तो भेत्स्यति, यथा च वायुः अग्निगर्भितानि काष्ठानि प्रज्वालयति, तथैव तत्कृतो भेदस्तान् पूर्ववैरनिर्यातनार्थं त्वद्विरुद्धान् विधास्यति।

९९

क्षुद्रोऽप्येवम्, तादृक् महावीरश्चेदयस्तु किमु वक्तव्य इत्यर्थान्तरेण सूच्यते, इतरत् स्पष्टम्।

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम्॥ ९६॥

सम्पादितफलस्तेन सपक्षः परभेदनः।
कार्मुकेणेव गुणिना बाणः सन्धानमेष्यति॥ ९७॥

ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः।
तमः स्वभावास्तेऽप्येनं प्रदोषमनुयायिनः॥ ९८॥

उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतस्त्वयि।
आशु दीपयिताऽल्पोऽपि साग्नीनेधानिवानलः॥ ९९॥

१००

किञ्चेदानीं चैद्याभियेगने क्रियमाणे राजसु केचित् तत्पक्ष केचिच्च त्वत्पक्ष मवलम्ब्य युद्धे व्यापियेरन् इत्थ सकलस्यापि राजमण्डलस्य युद्धव्यासततया युधिष्ठिर यज्ञे न कोऽप्युपस्थातु शक्नुयात् । तथा चैवमनिच्छतापि त्वया मित्रविरोध कृत स्यात् ।

१०१

तदेव सर्वस्मिन् राजवृन्द रणभूमिमवतीर्णे युधिष्ठिरस्य यज्ञसमारोहो विघ्नित स्यात्, न तत्र कोऽप्युपतिष्ठेत्, एतस्य च मूलकारणं चैद्याभियेगनप्रसङ्गेन सकल राजमण्डल युद्धे व्यापारयन् त्वमेव भव, किं च मखविघ्नोत्पादनेन त्वमेवाजात-शत्रो प्रथम शत्रुर्भवसे—इति सर्वथा युद्धाद् विरमणीयम् ।

१०२.

यथा कश्चिदेकाकी स्वस्कन्धे भार वोढुमसमर्थं दृढस्कन्ध सहायान्तरमपेक्षते, तद् द् युधिष्ठिरोऽपि त्वामेव दृढ स्वसहाय मत्वा यज्ञमारिप्सते, न च त्वया स कार्यान्तरव्यग्रताव्याजेन उपेक्षणीय, यत स पैतृष्वसेयत्वाद् तव बन्धु, तदुपेक्षणे बन्धुद्रोही विश्वासघातश्च स्यात् । बन्धुरपि दुर्वृत्त शक्यत उपेक्षितुम्, न स तादृश, किं तु धर्मराज, तथा च त्वया युद्धाद् विरम्य यज्ञ एव सन्निधातव्यम् ।

१०३

ननु प्रतिज्ञाकरणे दोष प्रागेव निषेधे तु को दोष इत्यत आह—उदारहृदयै प्रार्थ्यमाना शत्रवोऽपि दत्तहस्तावलम्बा भवन्ति, युधिष्ठिरस्तु तव बन्धुः तत्प्रार्थना सुतरां नोपेक्षितव्या, इतरत् स्पष्टम् ।

बृहत्सहाय कार्यान्त क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥ १०० ॥

तस्य मित्राण्यमित्रास्ते ये च ये चोभये नृपा ।
अभियुक्त त्वयैन ते गन्तारस्त्वामत परे ॥ १०१ ॥

मखविघ्नाय सकलमित्थमुत्थाप्य राजकम् ।
हन्त जातमजातारे प्रथमेन त्वयारिणा ॥ १०२ ॥

सम्भाव्य त्वामतिभरक्षमस्कन्ध स बान्धव ।
सहायमध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते ॥ १०३ ॥

१०४.

नन्वेदानीमुपेक्षितोऽपि पार्थं पश्चादनुनेष्यत इति मनसि करणीयम्—यतः सकृदप्रियाचरणेन वैमनस्यं प्रापिताः सुहृदः पुनः शतशस्तदनुरोधसामर्थ्येनापि अनुकूलयितुं न शक्यन्ते । अतस्तद्विरोधः सर्वथा परिहरणीय । किं च चैद्यविजयाय का ते त्वरा, यस्मात् अद्य श्वो वा शीघ्रं चिरात् वा यदा कदापि शत्रुमभियास्येत्, तत्र निश्चिता विजयः, यथा च यदि मित्रद्रोहमनुसरापि विजयस्ते निश्चितस्तर्हि, किमर्थं मुधा मित्रद्रोहम ।

१०५.

ननु सुहृत्कार्यमपि यथा सुरकार्यं तथैव इतीन्द्रसन्देशमनुरुध्य शिशुपालहननेन देवसन्तोष एव पूर्वं सम्पादनीय इति चेत्, सत्यम्, यदि चैद्यनिधनेन देवप्रसादनमेव ते समुद्दिष्टं तर्हि तदपेक्षया यज्ञेनैव देवानां प्रीतिं विशेषतः साधयितुं शक्यते, हविःप्रिया वै देवा यज्ञ एव हवींषि लभन्ते नान्यत्र । (अनुष्ठेयस्तु यज्ञानन्तरमपि युद्धः, तथा सति देवानामुभयथा प्रीतिः, हविर्भागेन शत्रुवधेन च) तथा च मित्राविरोधेनापि देवप्रीतौ सम्पद्यमानायां मित्रविरोधो न कर्तव्य । यज्ञ एवानुष्ठातव्यमतः ।

१०६

ननु अमृताशिनो देवा तेषां किमिति पिष्टपुरोडाशभक्षणप्रलोभनैरित्यत आह—अग्नौ विधिपूर्वकम् हुतं पुरोडाशादिहविरमेवामृतमुच्यते, नान्यदमृतं वस्त्वन्तरम् देवासुरैः समुद्रं मन्दरं मन्थदण्डं प्रकल्प्य समुद्रो मथितः ततश्चामृतं प्रादुर्भूतमिति तु लोकविनोदाय कविकल्पनाप्रसूतमालङ्कारिकवर्णनामात्रम् ।

१०७.

न केवलं निरद्रोह एव त्वां क्षमामात् प्रतिरुणद्धि अपि तु स्वप्रतिज्ञापि, तथा हि त्वया शिशुपालजननीं प्रति प्रतिज्ञातं—यदहं शिशुपालस्य शतमपराधान् क्षमिष्ये,

---

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि ।
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः ॥ १०४ ॥
चिरादपि बलात्कारो बलिनः सिद्धयेऽरिषु ।
छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः सुहृदो विमनीकृताः ॥ १०५ ॥
मन्यसेऽरिवधः श्रेयान् प्रीतये नाकिनामिति ।
पुरोडाशभुजामिष्टमिष्टं कर्तुमलन्तराम् ॥ १०६ ॥
अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।
शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना ॥ १०७ ॥

न चाद्यापि तदपराधाः शतसंख्यामिता, ततः पूर्वमेव तद्वधे प्रतिज्ञाभङ्गो महान् दोषः प्राप्नोति, अतः प्रतिज्ञानुरोधेनापि त्वया चैद्योऽधुना नाभिषेणनीयः ॥

१०८.

सत्पुरुषाणां बुद्धिर्यद्यपि निशिता तथापि सा न शस्त्रादिवत् परमर्माणि भिनत्ति, अहिंसयैव कार्यं साधयति, तथैव तेषां कर्माणि परास्तत्प्रभावाक्रान्तान् विदधते, परं पीडोत्पादकानि न भवन्ति । एवमेव तेषां मनोऽभिमानज्वलितं भवति, न मात्रयाप्यपमानं सहते, तथापि अनुचितात् परसंतापनाद् विरमति । इत्यमेव सत्यसन्धोऽपि सत्यमेव वदति—न जातु तदुक्तं विपर्येति । तथा च सत्यसन्धस्य—तव प्रतिश्रुतार्थहानिरनर्हा ।

१०९.

अपराधशतक्षमारूपवरदानेन त्वया शिशुपालः स्वयमनुगृहीतः, तथा च अपराधशतात् पूर्वं न त्वयापि स हन्तुं शक्यते, वृथेदानीं तदभिषेणनम्, अपराधसंख्यापूर्तये कालः प्रतीक्षणीयः । यथा सूर्यः स्वयमेव दिनं प्रकाश्य न मध्य एव तदन्तं विधातुं प्रभवति, अपितु अस्तमनकाल एव, तद्वत् ।

११०, १११.

तर्हि शिशुपालः सर्वथेदानीमुपेक्ष्य एव, नेत्याह, न मे सर्वथा शिशुपालोपेक्षणे सम्मतिः इदं तु वच्मि, यथा कस्मिंश्चिदज्ञातगाम्भीर्ये महति जलाशये कुशलपुरुषद्वारा जलावतरणसाधनसोपानेषु पादन्यासेन तद्गाम्भीर्यं विज्ञाय तत्र प्रविश्यते तथा सति न तत्र निमज्जनादिभयं भवति, तथैवाभिषेणनात् प्राक्—भवतो निपुणाः गुप्तचराः शत्रो राष्ट्रे गत्वा तत् मन्त्रिपुरोहितादिष्वन्तः प्रविश्य—'कियत्यस्य शक्तिः' कानि चास्य छिद्राणि' इत्यादि निपुणं गवेषयन्तु, तथा सति शत्रुः सुपरिभवः स्यात् ।

सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया ।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे प्रतिश्रुतम् ॥ १०८ ॥

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत् ।
नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः ॥ १०९ ॥

स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्याह्नो भानुमानिव ।
समयावधिमप्राप्य नान्तायालं भवानपि ॥ ११० ॥

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम् ।
विदांकुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥

११२

यथा व्याकरणशास्त्रं सूत्रानुसारिण्या वृत्तिमहाभाष्यग्रन्थैरुपबृंहितमपि पस्पशाह्निकं विना शुक्तिमिव न शोभते, तदध्ययनमन्तरेण व्याकरणाध्ययनमसकलं मन्यते, तथैव चारप्रचारं विना राजनीतिरप्यसमग्रैव, कामं तत्र सकलव्यवहारा नीतिशास्त्राविरोधेनैव समाराध्येरन्, मन्त्र्याद्यधिकारिणः पुष्कलवृत्तयः क्रियेरन्, समये समये ते हिरण्यादिपारितोषिकादिनापि समाश्वास्येरन्, परं नैतावता चारोपेक्षणं शक्यं विधातुम्, चारं विना राज्ञोऽन्धप्रायत्वात् न तस्य परराष्ट्रनीतिः सफला भवितुमर्हति । अतः प्रणिधिप्रचारो नितरामावश्यकः ।

११३.

न केवलं चारमुखेन परमुखेन परवृत्तान्तज्ञानम्, अपितु शत्रुपक्षे चारद्वारा उपजापश्च कर्तव्यः । तथा हि एतादृशा निपुणाः प्रणिधयः शत्रुराष्ट्रे प्रवेशितव्याः ये तत्र गत्वा अमात्यादिषु प्रधानपुरुषेषु विस्रम्भोत्पादनद्वाराऽनुप्रविश्य तत्कृपया तत्रैव वैतनिकं किमपि राजकीयपदमधिष्ठाय तथा निपुणं प्रचरन्तु यथा तद्रहस्यं नोद्भाव्येत स्वयं च ते शत्रुमर्म जानीयुः । किं च प्रधानामात्यादीनां कूटलेखान् (तैर्लिखितान् स्वयं कल्पितान् वा) अवसरे सत्यवदेव राज्ञः सविधे प्रकाश्य, 'इमे भवत्प्रधानपुरुषा उत्कोचादिना द्विषा दत्तहस्ता भवद्राज्य-मुन्मूलयितुं यतन्ते' इत्येवं ते महान्तं दोषमारोप्य राज्ञो भेदनीयाः ।

११४.

किं च ये तत्र सुहृदश्चैद्यस्य असुहृदश्च राजानः सन्ति, ते उभयेऽपि स्वचक्षुष्यमेव चैद्यपराभवं कामयन्ते, अतस्ते निपुणैः स्वप्रणिधिभिस्तथा संदेष्टव्याः यथा ते अध्वरयात्राव्याजेन युद्धार्थं सुसज्जिता भूत्वा इन्द्रप्रस्थम् उपतिष्ठेरन्, तेषु तत्रागतेष्वनायासेनैव ते महत् कार्यं सेत्स्यति ।

११५.

ननु तत्रावसरे कीदृशो युद्धप्रबन्धः यदर्थं सज्जितो राजजनः आहूयेत—इत्यत·

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ ११२ ॥
अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः ।
भेद्याः शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिकाः ॥ ११३ ॥
उपेयिवांसि कर्तारः पुरीमाजातशात्रवीम् ।
राजन्यकान्युपायज्ञैरेकार्थानि चरैस्तव ॥ ११४ ॥
सविशेषं मखे पाण्डोर्भक्तिं भवति तन्वति ।
वैराधितारस्तरलाः स्वयं मत्सरिणः परे ॥ ११५ ॥

स्तत्र महत्कलहबीजमुपन्यस्यति—युधिष्ठिरो यज्ञे सम्मिलितस्य तव महान्तं सत्कारं करिष्यति, तथाविधं च तं समुत्कर्षं चैद्य तन्मित्राणि अन्ये च [illegible] न सहिष्यन्ते, असहमानाश्च ते तत्रावश्यं कलहमुत्पादयेयु न च विचारयेयुर्यन्नायं कलहावसर इति यतस्ते तरला, विवेकस्तान् दूरतोऽपि न स्पृशेत्—इत्यस्ति यज्ञे महती युद्धसंभावना ।

११६.

किं च शत्रुपक्ष्या सर्वेऽपि त्वां द्वेक्ष्यन्ति, इत्यपि न रमणीयम् , यतस्तेषु सन्ति भूयांसो यादवाः ये यद्यपि बाल्यात्प्रभृति शिशुपालेन सह मित्रत्वमुपगम्येदानीं तत्सम्मानवैभवमुपभुञ्जते, परन्तु त्वया सह कलहावसरे न ते शिशुपालमवलम्बिष्यन्ते यतस्ते स्वान् यदुवंशधरान् विहाय त्वया सह विरोधेन स्ववंशविद्वेषं न कामयेरन् अथवा परायत्ता अपि ते आत्माभिमानिनो न स्वजातिविरोधे प्रवर्तेरन् ते तदानीं तस्मात् पृथग्भूत्वा त्वामनुप्रविशेयु । यथा पिकपोताः काकशावैः सह एकस्मिन्नेव नीडे काकैरेव संवर्ध्यमाना सति सामर्थ्ये काककुलं परित्यज्य स्वकुलमनुप्रविशन्ति तद्वत् , पिक्यो निभृतं काकनीड एव स्वाण्डानि प्रसुवते, तानि च काक्यः स्वीयबुद्ध्या रक्षन्तीति लोकवृत्तमत्रानुसन्धेयम् ।

११७

पतङ्गः खलु स्वभावतश्चञ्चलो नैकत्रावतिष्ठते, अनवरतभ्रामतो तस्य पक्षावप्यतिदुर्बलौ न किञ्चिदप्यहितं शक्नुतः स यथा निजनैसर्गिकचापलेन प्रो दुर्धर्षो वह्निशिखामाक्रम्य तत्र सहसात्मानं जुहोति, तथैव तव शत्रवोऽपि निसर्ग-दुर्विनीततया उद्धता सन्ति । परं तेषां पक्षो दुर्बलः । अतस्त्वया सह वैरायिष्य-माणाः तव दुःसहतेजसि भस्मसाद् भविष्यन्तीत्यस्माभिराशास्यते ।

११८.

हरिरुद्धवस्य व्याख्यानं श्रुत्वा नितरां प्रासीदत् , यतस्तत्रोद्धवः प्रतिविषयं नीतिशास्त्रानुसारिणीं सम्यग् विवेचनामकरोत् नीतिविरुद्धं बलभद्रोक्तमपि युक्त्या प्रतिचिक्षेप । अन्ते च हरिः सभां विसृज्योदस्थात् न चैतस्मिन्नवसरे विहिता

ये इहात्मविदो विपक्षमध्ये सहसंवृद्धियुजोऽपि भूभुजः स्युः ।
बलिपुष्टकुलादिवान्यपुष्टैः पृथगस्मादचिरेण भाविना तैः ॥ ११६ ॥

सहजचापलदोषसमुद्धतश्चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः ।
तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभतामसुहृद्गणः ॥ ११७ ॥

इति विशकलितार्थामौद्धवीं वाचमेना-
मनुगतनयमार्गामर्गलां दुर्नयस्य ।

मन्त्रणा कृत्याध्यन्यस्य श्रुतिपथमवतीर्णा, यद्यपि हरिवक्षस्थलवासिनी श्रीरिया श्रुतिगोचरमकरोत् तस्याश्च स्त्रीत्वभावात् कदाचिदस्या प्रकाशनं सम्भाव्यते तथापि नात्र तथा सम्भावनावसर यत सा नित्यं हरिवक्षस्थलवासिनी न क्षणमपि हरे पृथग्भवति इति दुर्लभस्तत्प्रकाशनावसर ।

इति शिशुपालवध महाकाव्ये द्वितीय सर्ग ।



जनितमुदमुदस्थादुच्चकैश्छ्रनोर,
स्थलनियतनिषण्णश्रीभृता शुशुभान् स ॥ ११८ ॥

कवि-काव्यशब्दौ

गरीयान् खलु संस्कृतवाङ्मये कवेः काव्यस्य च महिमा । शब्दाविमौ कुतः प्रभृति कस्मिन् कस्मिन्नर्थे प्रवृत्ताविति विषयेऽस्मिन्नाधुनिकीमन्वेषणप्रक्रियामनुसृत्य प्रवर्तामहे चेत्, जगद्वाङ्मये सर्वप्राचीनत्वेन पाश्चात्त्यैरप्युररीकृतायामृग्वेदसंहितायामेव बहुशः शब्दाविमौ श्रूयेते । तथैव यजुरादिसंहितास्वपि । तत्र कियन्तिचिन्निदर्शनानि—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥
[ऋ० म० १ सू० ३१]

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम् ।
[ऋ० १ । ३१ । २]

आयं पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो नार्वा ।
[ऋ० १ । १४९ । ३]

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः
प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे । [ऋ० ४ । २४ । २]

इत्यादिषु प्रचुरेषु मन्त्रेषु अग्निवरुणादित्यादिदेवविशेषणतया कविशब्दः श्रूयते । 'क्रान्तदर्शन' 'मेधावी' इत्येवपरतयैव च तत्रतत्र भाष्यकारैः श्रीमाधवाचार्यादिभिर्व्याख्यायते । अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगपज्ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शन इति यद्भाष्यकृदुव्वट आह ।

'यो अध्वराय परिणीयते कविः' [ऋ० ३ । २ । ७]
अग्निर्होता कविक्रतुः [ऋ० १ । १ । ५]

इत्यादिषु क्वचित्क्वचित्तु 'क्रान्तप्रज्ञ' 'क्रान्तकर्मा' इत्येवपरतया भाष्यकृता व्याख्यातः ।

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि
त्वष्टाजनत्साम्नःसाम्नः कविः [ऋ० २ । २३ । १७]

इति ब्रह्मणस्पतिदेवताके मन्त्रे 'साम्नः कविरुच्चारयिता' इत्येव व्याख्यातः श्रीसायणाचार्यैः ।

धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान्व एना ब्रह्मणा वेदयामसि ।
[ऋ० ४ । ३६ । ७]

इत्यत्र ये मानुषेषु कर्मविशेषाननुष्ठाय देवत्वमासादयन् ऋभव कविशब्देन विशेष्यन्ते । अत्रापि मेधाविन ' 'क्रान्तदर्शना ' इत्येव व्याचख्युः व्याख्यातृ ।

कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य । [यजु अ० ४०]

इति यजुषे मन्त्रे तु साक्षादीश्वरविशेषणतयैव कविशब्दो भाष्यकृद्भिर्व्याख्यात । अत्रापि 'क्रान्तदर्शन ' 'सर्वद्रष्टा' 'मेधावी' इत्यर्थ एव व्याख्यातृणामभीष्ट । उव्वटादयस्तु उपासक मनुष्यविशेषणतयैवात्र कविशब्द नयन्ति— इत्यास्ता तावत् । अथ—

'तत इन्द्रिय प्रथम पराचैरधारयन्त कवय पुरेदम् ।'
[ऋ० १ । १०३ । १]

'धीरास पद कवयो नयन्ति नानाहृदा रक्षमाणा अजुर्यम् ।'
[ऋ० १ । १४६ । ४]

'अज पुरो नीयते नाभिरस्यानुपश्चात् कवयो यन्ति रेभा ।'
[ऋ० १ । १६२ । १२]

वत्से बष्कयेऽधिसप्ततन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ ।
[ऋ० १ । १६४ । ५]

इत्यादिषु तु बहुलेषु मन्त्रेषु मनुष्या एव कविशब्देनाख्यायन्ते । 'स्तोतार ' 'ऋत्विज ' 'विद्वास ' 'मेधाविन ' इत्येव च तत्र तत्र भाष्यकृता व्याख्या ।

'अचिकित्वाश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजास्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ।'
[ऋ० १ । १६४ । ६]

कतरा पूर्वा कतरा परायो कथा जाते कवय को विवेद ।
[ऋ० १ । १८५ । १]

कवीय पुत्र स इमा चिकेत । [ऋ० १ । १६४ । १६]

कवीयमान क इह प्रवोचत् । [ऋ० १ । १६४ । १८]

इत्यादिषु ■ पण्डितम्मन्या कविशब्देन कथ्यन्ते ।

अथ सोमस्तुतिपरे मन्त्रे—

ब्रह्मा देवाना पदवी कवीनामृषिर्विप्राणा महिषो मृगाणाम् ।
[ऋ० ९ । ९६ । ६]

इत्यत्र 'कवीना क्रान्तप्रज्ञानाम् पदवी स्खलन्ति पदानि सम्यक्त्वेन यो योजयति स पदवी —राजा' तद्रूपसोम इति माधवव्याख्यामनुसृत्य कविशब्देन विद्वत्सामान्यमभिधाय पदयोजकास्तद्राजत्वेन तेषु मुख्यत्वेनाभिहिता इति प्रतीयते ।

निरुक्तपरिशिष्टे तु (१४ अ० १३ ख०) 'एष हि पदं वेत्ति कवीनाम्-कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम्, इत्याधिदैवतम्। अयमपि पदं वेत्ति कवीनाम् कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्' इत्यध्यात्मम्' इत्येवं वैज्ञानिकपरत्वेन व्याख्यातोऽयं मन्त्र। तत्र कविशब्देन सूर्यरश्मयो वा इन्द्रियाणि वा वाच्यार्थ इति अन्यदपि तत्र तत्रानुसन्धेयम्।

काव्यशब्दोऽयं द्वेधा श्रूयते मन्त्रेषु पुंलिङ्गश्च नपुंसकलिङ्गश्च। तत्र पुंलिङ्ग प्रायेण उशनसो वाचको व्याख्याकृतामभीष्ट —

[ऋ० १।८३।५, १।१२१।१२ ८।२३।१०]

'काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे।
रिशादसा सधस्थ आ। [यजु० ३३।७२]

इत्यादिषु तु कविनिष्पन्नाणादिदेवतान्तरपरतयापि श्रूयते। काव्ययोः कविहितयोरिति तत्र भाष्यकृता महीधरादीनां व्याख्या।

'वरो वा मधुमद्वचो शशीत् काव्य कवि'। [ऋ० ८८ ११]

इत्यत्र च 'काव्य विद्वत्पुत्र' 'कवि-भार्गवः' इति श्रीमाधवाचार्यस्य व्याख्या। सर्वत्र कविसम्बन्धी कविपुत्रो वा पुंसि काव्यशब्दस्यार्थो दृष्ट, उशनसि शब्दस्यास्य प्रवृत्तिरपि भृगो कवित्वमभिप्रेत्य तत्पुत्रत्वादेवेति प्रतीयते।

नपुंसकलिङ्गस्तु काव्यशब्द —
'अस्मा इत्काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शस्यम् [ऋ० ५।३९।५]
प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो। [ऋ० ९।९७।७]
इत्यादिषु कविकृतिभूतस्तोत्रादिवाचकतया श्रुत —
'आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाण पवते सुत
प्रत्न निपाति काव्यम्' [ऋ० ९।६।८]
'विधु दद्राण समने बहूना युवान सन्त पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्य महित्वाद्या ममार स ह्य समान ॥'

[१०।५५।५]

इत्यादिषु तु सामर्थ्यवाचकतया व्याख्यातो भाष्यकृद्भि।

यज्ञस्य आत्मभूतः सुत सोम यजमानेभ्य कामान् प्रेरयन् वेगेन पवते, आत्मन कवित्व च निपाति रक्षति। इति प्रथमस्य व्याख्या। तथा च सोमगत सामर्थ्यमेव काव्यशब्देनोक्तम्। देवस्य कालात्मकस्येन्द्रस्य महत्त्वेनोपेत काव्य सामर्थ्यं पश्यत जना, यो जरसा प्रातोऽद्य ममार, स ह्य परे द्यु समान सम्यक् चेष्टते पुनर्जन्मान्तरे प्रादुर्भवतीति—द्वितीयस्य व्याख्या। तत्र स्फुट एव विचित्र-सामर्थ्यबोधक काव्यशब्द। यजु संहितायां च—

'काव्य छन्द' (यजु १५।४)

'पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथु काव्यैर्दंसनाभि' (यजु १०।३४)

इत्यादिषु 'त्रयी विद्या काव्य छन्द' इति शतपथब्राह्मणमनुसृत्य 'कवेः परमात्मन इदं काव्यं वेदत्रयीरूप छन्दः' इति महीधरो व्याचख्यौ प्रथम, तथैवोव्वटोऽपि। द्वितीयेऽपि 'काव्यै मन्त्रै दंसनाभि कर्मभिश्च' इत्येव भाष्यकृता व्याख्या।

ब्राह्मणेष्वपि शब्दाविमौ बहुधा भतौ। तथापि—

'असौ वा आदित्य कवि' (शतपथे ६, ७, २, ४)

इत्यादौ बहुश देववाचक कविशब्द,

'ये वै ते न ऋषय पूर्वे प्रतास्ते वै कवय' (ऐतरये ६।२०)

इत्यादौ पितृवाचक।

ये वै विद्वांसस्ते कवय (शत० ७,१,४४)

'सीर च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते' इति मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजन प्रकार सम्यग् जानानास्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थ" इति भाष्यमनुसृत्य कृषिकुशलविद्वद्बोधक।

'ये वा अनूचानास्ते कवय' (ऐतरे ०२,२,२८)

'एते वै कवयो यदृषय' (शत०१।४४)

'शुश्रुवांसो वै कवय' (तैत्ति०।१।२३)

'तत्र प्रणीती तत्र शूरा' समनाविवासन्ति कवय सयशा'

(शत० ४।३।१।१३)

इत्यादिषु च क्रान्तदर्शनमेधाविविद्वद्वाचक। काव्यशब्दश्च 'काव्य छन्द' (शत०८।५।१।४) इत्यादौ 'वेदत्रयीरूप छन्द' इति महीधरादिव्याख्यामनुसृत्य कविकृतिबोधक इति मन्त्रदेव व्युत्पत्तिर्दृश्यते।

पुराणेष्वपि च—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' (श्रीभागवतम्)

इत्यादिषु ब्रह्मणो वाचकम्।

'कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्' (श्रीभाग०)

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता' (भगवद्गीता)

इत्यादिषु मेधावि—विद्वद्वाचक च कविशब्द कविकृतिवाचक च काव्यशब्द बहुत्र पश्याम एवेति किं बहुना विस्तरेण।

अथ कोष व्याकरणरीत्यापि शब्दयोरनयोर्निर्वचनमावश्यकम्। तत्र निघण्टु पदाभिधेये वैदिक कोषे 'कवि' इति मेधाविनामसु पठित, शब्द (अ० ३) गत्यर्थकेषु धातुष्वपि च तत्र 'कवते' इति दृश्यते (अ०२) तद्भाष्यकृद्भगवान् यास्कश्च निरुक्ते 'कवि क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा (अ० १२ ख० १३) इति काव्यशब्द व्याचख्यौ। प्रथम याख्याया 'क्रमुवि' शब्दात्कविशब्दनिष्प

त्तिरिति यास्कस्याशय उन्नेयः । अनयैव शैल्या तेन रुद्रशब्दाना व्युत्पादन कृतम् । 'क्रान्त व्याप्त दर्शन ज्ञान यस्येति' व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थो निघण्टुप्रोक्त मेधाविवाचकत्व न विप्रवदते इति तु स्पष्टमेव । व्याख्याकृद्देवराजयज्वा तु क्रमधातोरेव वर्णविकारेण कविशब्द निष्पादयति, तथैव तत्प्राक्तन स्कन्दस्वाम्यपि । तन्मते ज्ञानरूपोऽर्थोऽध्याहारलभ्य इत्यास्ता नाम । 'कवतेर्वा' इति द्वितीयेऽपि पक्षे 'गत्यर्था ज्ञानार्था' इति चिरप्रवृत्तामभियुक्तोक्तिमाश्रित्य निघण्टूक्ता मेधाविवाचकता समर्थनीयतामारभ्येव । 'कवते' इति 'कव' धातुस्य दन्त्योष्ठ्यान्तो निर्दिष्ट इति केचित् । 'कुङ्' गतिशोषयो ' इति उकारान्त एव श्रपा निर्दिष्ट इति तु देवराजयज्वा । भगवत पाणिनेर्धातुपाठे तु दन्त्योष्ठ्यान्त कव्धातुर्न दृश्यते । तत एव—

'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञ सन् सुधी कोविदो बुध ।
धीरो मनीषी ज्ञ प्राज्ञ सङ्ख्यावान् पण्डित कवि ॥'
(अमर० २ का ब्रह्मवर्ग)

इति पण्डितनामसु पठित कविशब्द 'कु शब्दे' 'कुङ् शब्दे' इति पाणिनीयाभ्या धातुभ्यामेव व्युत्पादयन्ति व्याख्यासुधाकृदादय । मुकुटादय केचित्तु 'कव् वर्णे' इति धातो कविशब्द मुदपीपदन्, तन्मते कवृधातुर्दन्त्योष्ठ्यान्त स्यात्, बवयोर्भेदो वा न विवक्षित स्यादित्यवधेयम् । निघण्टुरीत्या ज्ञानार्थधातुना कृते व्युत्पादने अमरोक्ता विद्वद्वाचकता सिध्यति । शब्दार्थकाभ्या धातुभ्या व्युत्पादने तु शब्दयोजकत्वमात्र कविशब्दार्थे क्रोडीकृत भवतीति विशेषो विवेचकैरनुलक्षणीय । मुकुटादिरीत्या 'कव् वर्णे' धातोश्च यदि कविशब्दो व्युत्पाद्येत तदा 'वर्णान्चरणरर' इति व्युत्पत्तिलभ्यार्थो लक्षणादिना सम नीयताम्, धातूनामनेकार्थता वा कामधेनुमाश्रित्य सर्व समाधीयतामिति विद्वांस एव प्रमाणम् । कोषेषु मेदिनीकारस्तु—

'कविर्वाल्मीकि*काव्ययो । सूरौ काव्यकरे पुंसि स्यात् खलीने तु योषिति' इति कविशब्दार्थान् सञ्जग्राह ।

तदित्थ कविशब्दोऽनेकार्थ एव स तत्र, अनुगत वा प्रवृत्तिनिमित्त किञ्चिदाश्रित्य प्रवृत्त क्रमेण बहुत्र प्रवृत्तोऽभूदिति गवेषणाया सर्व पूर्वोक्तमालोच्येद न प्रतीयते—यत्तत्कार्यकरणाय पर्याप्त नैपुण्यमेव ज्ञाननिश्चयजन्यमादावस्य शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमासीत् । सर्वथाऽव्याहता गतिस्तेन नैपुण्येन भवतीति गत्यर्थकेनैव धातुना व्युत्पादनमस्याभिमत पूर्वाचार्याणा निघण्टुकृत्प्रभृतीनाम् । उदाहृतपूर्वेषु मन्त्रेषु अग्निवाय्वादित्यादिविशेषणतया प्रयुक्त कविशब्दो नैपुण्यादतिरिक्तेऽर्थे न सामञ्जस्येनोपपादयितु शक्य केनापि । विशेषत —

* काव्योऽत्र उशना ।

विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः
प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।

इत्यादिषु नैपुण्यरूप एवार्थः स्फुटतरं प्रतीयत एव । नैपुण्यवान् निपुणः कविशब्देन तस्य तत्तत्कार्यकौशलपरपर्याय नैपुण्यमेव च कविकर्म काव्यशब्दे नाभिहितं मन्त्रेषु यत्र तत्र । कविगतं सामर्थ्यपरपर्यायं नैपुण्यम्, तेन नैपुण्येन रूपायमाणा कविकृतिः, तादृक्कृतिजन्यास्ते ते अर्थाः शब्दा वा कविकर्मतया भवन्ति काव्यशब्दाभिधेयाः—'देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान' । इत्यादिषूदाहृतेषु कौशलम्, नैपुण्यम्, सामर्थ्यं वा विहाय नान्योऽर्थः सामञ्जस्येनोपपाद्यते । तदेतन्नैपुणं मेधातिशयजन्यमेव लोके दृश्यत इति मेधाविनामसु कविशब्दपाठस्तादृशः भाष्यकृतां तत्र तत्र व्याख्यानं च न मनागपि अर्थान्तरतामास्कन्दति । तथैव क्रान्तकर्मतापि तत्र तत्र माधवाद्युक्ता नार्थान्तरमेतस्मान्नैपुणात् । इमामेव धर्मविमित्तीकृत्य सर्वनैपुण्यैकभाजने सर्वज्ञाभिप्रायाकर्मणि सर्वज्ञानैकनिधाने भगवति जगदीश्वरे तद्विभूतिभूतेष्वग्निवाय्वादित्यादिषु जगद्व्यापारपरिचालकेषु विशिष्टकौशलवत्तया ख्याते भृगूशन प्रभृतिव्यक्तिविशेषे विशिष्टकृतिषु मेधाविषु मनुष्येषु च तत्प्रयोग शास्त्रीयं व्यवहृतम्तत्र तत्र । यस्य तु विना विशिष्टप्रज्ञां विशिष्टकर्म वा, स काव्यशब्देनापि व्यवहृत इति व्यदर्शि प्राक्, एकमेव कविः—काव्यशब्दावपि व्यदर्शयामिति मन्ये नात्र सक्तीतिरवशिष्येत ।

शब्दोऽर्थश्चेत्युभयमपि प्रपञ्चान्तर्भूतं जगदीश्वरकृतिरिति चिरन्तना भारती यविचारा ।

> शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा ।
> अर्थजातमशेषं तु धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ॥
> द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
> शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इत्याद्या शतशोऽभियुक्तोक्तयः शब्दस्य प्रपञ्चस्य पृथङ् महिमातिशयं ख्यापयन्ति । किमन्यत्—प्रथमं शब्द एव सर्गः शब्दात्प्रपञ्चोत्पत्त्यनन्तरमार्थ इति सिद्धान्तोऽपि भारतीयानां दार्शनिकमूर्धन्यानाम् । शतपथादिषु ब्राह्मणभूतिषु शतशो 'वाच एव लोकान्' 'अथवा विद्याया' सृष्टिं भाष्यते । 'वागेव इदं सर्वम्' इति घण्टाघोषं घोषयति भगवती श्रुतिः ।

> 'वदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' (मनु)
> 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं निरञ्जनम् ।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥' (हरि)

इत्यादि च पदे पदे प्रादुरभियुक्ता । आस्तामेषोऽप्रासङ्गिको दार्शनिकः कथाविस्तरः, इदमेवास्माकमत्र प्रतिनिपादयिषितम्—यदर्थयोजनानैपुण्यं शब्दयोज

नानैपुण्यं चेत्युभयमपि निदर्शितेषु मन्त्रेषु कविकाव्यशब्दाभ्यां तत्र तत्र विवक्षित-मासीत्। विशिष्टकृतिमत्सु विशिष्टप्रज्ञेषु च तुल्यमेव कविशब्दः प्रायुज्यत, परं कालक्रमेण विशिष्टकृतिषु तद्व्यवहारो विरलतां गतो विलुप्तो वा, विशिष्टप्रज्ञेषु तु प्रवृत्त इति पुराणादिषु विशिष्टप्रज्ञविद्वद्बोधकमेव कविशब्दं पश्यामः।

ततोऽप्यनन्तरं तु विद्वत्सामान्येऽपि प्रवृत्तिर्निरुद्धा, विद्वद्विशेषेष्वेव तु शब्दयोजनानिपुणेषु प्रवृत्तः प्रवाहः। अर्थयोजनानैपुण्यात्प्रत्यावृत्तः प्रवाहः शब्दयोजनानैपुण्य एव प्रसृत इति नैपुण्यविशेष एव सङ्कोचमाप कविशब्दः। नेदमाश्चर्यस्थानम्। दृश्यते हि बहूनां शब्दानां विशेषबोधकानां सामान्यार्थवाचकतापरिणतिः। यथा अनुकूल-प्रतिकूल-कुशल-तैल-लावण्यादिशब्दानाम्। बहूनां सामान्यबोधकानां विशेष एव निरूढिः। यथा—योग-तप-स्वर्ग-देवत-शब-लिङ्गादिशब्दानाम्। तथैव पूर्वं सामान्ये प्रवृत्तः कविशब्दः क्रमेण विशेषपरतामासदत्। इदानीं तु विशेषादतिविशेषपरत्वेन परिणतिक्रमात्तस्य शब्दस्यास्य दुर्दशाऽवलोक्यते यज्जगन्नियन्तरि जगदीश्वरे प्रधानेषु दैवतेषु प्रतिभामेधा-ढ्येषु महर्षिषु चासीदस्य प्रवृत्तिः सोयमद्योदरदरीपरिपूरणाय तत्तत्सामन्तस्तुत्ये कपरेषु चाटुशतकुशलेष्वेव पर्यवतिष्ठते। राजपुत्रप्रान्ते हि चारण भाटेतिप्रसिद्धानां जातीनां पुरुषा एव कतिचिदक्षरयोजका प्राकृतयोजनापाठका वा 'कविजी' 'कवजी' इति सम्बोध्यन्ते। त एव च शब्देनानेन बुध्यन्त इत्यास्तामवन्तुद-वृत्तम्।

एवं कृतिरेवोच्यते काव्यमिति कविशब्दस्य यथा यथा विशेषपरता, तथा तथैव काव्यशब्दस्यापि, इति नेदं विशेषवक्तव्यमपेक्षते। ईश्वरदेवतादिसाम-र्थ्यबोधकं, ईश्वररचितशब्दार्थमयप्रपञ्चबोधकं, वेदमन्त्रबोधकं, रामायणादिबोध-कश्चायमपि शब्दः क्रमेण तथा दुर्दशामापद्यत यथा—'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इति निषेधविषयताऽस्य शिरसि पतिता। 'काव्यमिदम्' इति वाक्यस्याभिप्राय एवेदानीमयमेव प्रकाशीभवति यत् सत्याद्दूरमपेतं कस्यचिद्विषयस्य व्यक्तिविशेषस्य वा प्रशंसामात्रमिदमिति। भवतु यद् भूतम्। न विवेचकास्तत्र प्रभवः। अस्मा-भिस्तु शब्दशक्तेः क्रम एवालोच्य।

काव्यलक्षणानि

यत प्रभृत्यलङ्कारशास्त्रस्य साहित्यापरपर्यायस्य प्राकट्यम्, प्रचार उन्नतिर्वा, तत एव कालादपरोऽपि विशेषोऽत्र शब्दार्थे सन्निविष्टः, क्रमेण दार्ढ्यं गतश्च यन्न केवलं योजिता शब्दा एव काव्यम्, अपि तु यच्छ्रवणादनुसन्धानाद्वा सम्पन्नमात्रस्य हृदि काचिच्चमत्कृतिरुदेति, रसालङ्कारजनकतापरपर्यायसौन्दर्यपूर्णं वर्णनं काव्यमिति।

यद्यपि शब्दालङ्कारा अर्थालङ्काराश्च वेदमन्त्रेषु, स्मृतिषु पुराणेषु च सर्वत्रैव बाहुल्ये-नोपलभ्यन्ते, लक्षणादिनिरूपणमपि च तेषामग्निपुराणादिषु दृश्यते तथापि क्रमबद्ध-तन्निरूपणेन शास्त्रत्वप्रतिष्ठापनमस्याऽर्वाचीनम्। यथा यथा च शास्त्रस्यास्योन्नतिरभूत्, तथैव काव्यशब्दार्थबोधके तल्लक्षणेऽपि विविधे प्रकारे सौन्दर्यस्य निवेश आधिक्यमाप। वक्रोक्तिजीवितकारस्य मतमनुसृत्य यदि ब्रूम —तर्हि सरलतया कस्याप्यर्थस्य प्रतिपादनं न काव्यम्। अपितु वक्रोक्त्या *घूर्णनेन कविकुलक्षुण्ण पद्धत्या तत्तदर्थाभिधानमेव सौन्दर्यप्रयोजकम्, तदेव च काव्यमिति। नेदमिदानीं कथयितुमावश्यकम्—यदियं पद्धतिरेव सहृदयेतरैर्जनैरहृदयङ्गमतां काव्यशब्दार्थे मिथ्यात्वमपि प्रावेशयत्। काव्यशब्दार्थं च पदादिभ्यः समकोचयत्।

इदं त्वत्र स्मरणीयं वर्तते—यद् विलुप्तप्रायाप्यर्थशोभनता काव्यशब्दस्याल-ङ्कारिकैरेते पुनरुज्जीविता। पूर्वं किल कृतौ ज्ञाने वै शास्त्रमात्रे निपुणाः कविशब्द-वाच्या अभूवन्। तदीयं कर्म चार्थः शब्दश्चेत्युभयमपि काव्यतया गण्यते स्मेति प्राक् प्रत्यपीपदम्। यदीन्द्रवायग्निसूर्याद्याः कवयः तर्हि तेषां कर्मभूता इमे जागताः पदार्थाः कुतो न काव्यानि स्युः। क्रमेण तु ज्ञाने वैशिष्ट्यम्, शब्दविषया कृति श्चेत्येव कविकाव्यशब्दयोर्गुणप्रधानभावेन वाच्यतयाऽवशिष्टे इति निरूपितं विस्त रेण। तेन शब्दमात्रस्यैव काव्यपदव्यवहार्यताऽवशिष्यते स्म। परमालङ्कारिकैरेकं द्वौ वा विहाय सर्वैरेव काव्यलक्षणेऽर्थस्यापि निवेशं कृत्वार्थस्यापि काव्यपदवाच्यता पुनरुज्जीविता।

यद्यपि—

> 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥'

इति चिरन्तनाभियुक्तोक्तिदिशा कविप्रतिभाप्रकल्पिता एवार्थाः काव्यतयाऽ-भिमता आलङ्कारिकाणाम् इति सत्यम्। अन्ये हि प्राकृता अर्थाः तद्विलक्षणाश्चान्य एव कविप्रतिभाप्रकल्पिताः। प्रसिद्धाद्धिमालयाद्विलक्षण एव कालिदासस्य हिमालयः, यत्र दीप्तिमन्त्यौषधानि विद्याधरकामिनीनामतैलपूरा सुरतप्रदीपा भवन्ति। अन्य एव च कालिदासस्य समुद्रो यत्र फेना नक्राणां कर्णचामरतां भजन्ति। अन्य एव कवीनां चन्द्रो यो निशाकामिन्याः कर्णपूरायते, गगनसरसि वा राजहंसायते। प्रसिद्धा हिमालयसमुद्रचन्द्राद्याः कस्यचित्कदाचित्कस्यचिदुद्वेजका अपि स्युः परं कालिदासादीनां हिमालयाद्यास्तु सर्वदैवाह्लादजनका इत्यादि निरूपितमालङ्कारिकैरेव विस्पष्टतया। तथापि 'न ह्यनाधारा कल्पना विजृम्भते' इति मनोविज्ञाननियममाश्रित्य कविप्रतिभाप्रसूतहिमालयादीनामाधारभूतास्तु प्रसिद्धा

* 'घुमाव देकर' इति भाषायाम्।

हिमालयाद्या एवेति तेषामपि परम्परया काव्यशब्दस्पर्शः कथञ्चित्प्रसञ्जित एव। सोऽयं प्राक्तनानामालङ्कारिकाणामर्थरूपे काव्यत्वानुप्रवेशप्रवाहः साहित्यदर्पण-कृता श्रीविश्वनाथकृतिना पुनर्निरुद्धः। स हि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति वदन् शब्दस्यैव काव्यत्वं व्यवस्थापयत्। किन्त्विदम्—यच्छब्दमात्रस्यैव काव्यत्वमुप-गच्छतापि तेन दृश्यं श्रव्यं चेत्युभयविधं काव्यं स्वीकृतम्। शब्दस्य दृश्यता कथं भवदिति स एव महामतिः प्रष्टव्यः स्यात्। युज्यतां वा अष्टादशभाषावारविला-सिनीभुजङ्गस्य तस्य चक्षुःश्रवस्त्वादन्यस्यापि चानुपततया दृश्यता, परं यदर्थं लक्षणं रचितं तेषां साधारणानां मनुष्याणां तु नैतद्घटेत।

न चार्थद्वारकं शब्दानां दृश्यत्वमिति शक्यं समाधातुम् श्रव्यकाव्येष्वपि प्रसक्तेः। 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' इत्यादीनां श्रव्यकाव्यानामर्थाः किन्तु दृश्या न भवन्ति? तस्माद्यत्र कविगतिभावनिवेशितास्ते तेऽर्था अभिनीताः प्रत्यक्षतामापद्यन्ते तदेव दृश्यं काव्यं मन्तव्यमिति अर्थानां काव्यत्वानुप्रवेशमन्तरेण नैतद्युज्येत वक्तुम्। तथैवात्र लक्षणे रसात्मकताया काव्यत्वप्रयोजकताया तेन महाभागेनात्यर्थमाग्रहः कृतः। अग्रे तु काव्यप्रकाशादी-ननुकुर्वता वस्त्वलङ्कारादिप्राधान्याप्राधान्यादिकृता ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिभेदा-स्तथैव निरूपिता इत्यपि वैचित्र्यम्। काव्ये प्रधानं वस्तु, अलङ्कारो वा आत्मा तु तत्र रस एवेति कस्तावदनुन्मत्त एतदभ्युपगच्छतु? दुर्दैववशाद्दास्यमनुभवद्रा-जकलत्रमिव कश्चिद्रसोऽपि परायत्ततामापद्यते इत्यादिसमाधानानि तत्र तत्र दृश्यन्ते, परं तथात्वे आत्मत्वमपि रसस्य कथं प्रत्यभिज्ञायेत? न हि राजकलत्रं तदात्वे स्वोचितकर्मप्रयोजकं भवति। यदात्मा, न परं प्रति गुणीभूतः। यदि स गुणीभूतस्तर्हि नात्मेति उभयतःपाशेयं रज्जुः। एवमेवापातरमणीया बहवो विचारा दर्पणे प्रतिभासन्ते। उपयुक्तमेव च दर्पणस्य भ्रान्तिप्रयोजकत्वमित्यास्ता-मप्रकृतचर्चा।

अशेषदेशसुधीसम्मान्येन पण्डितराजेत्यन्वर्थोपाधिधारिणा श्रीजगन्नाथमिश्रेणापि शब्दमात्रस्य काव्यत्वस्वीकारे विश्वनाथ एवानुसृत इति तु परमाश्चर्यम्। नास्य थेषु काव्यशब्दव्यवहार इत्येव पण्डितराजस्य प्रधानतमा युक्तिः। अन्ये कालिदासा-द्युक्ता व्यवहाराः (येऽस्माभिः पूर्वमुपदर्शिताः) न तस्य दृष्टिपथमनुप्राप्ताः। 'दृश्यं काव्यम्' इति क्वचिदपि व्यवहारस्तेन गौण इत्युपेक्षितः। लोके दृश्यमाना नदीपर्वताद्या काव्यशब्देन नाभिलप्यन्त इदानीमिति सत्यम्, परं कविप्रतिभाप्र-कल्पितानामर्थानां काव्यत्वे को विवाद इति कविमूर्धन्येनापि तेन नालोचितं हन्त! या तु काव्यप्रकाशं दूषयता तेन 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः' इति व्यवहारानुपप-त्तिरुद्भाविता, सा स्वपक्षेऽपि समानेति व्यक्तमस्माभिः खण्डितेव। 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः श्रुतः, अर्थस्तु न ज्ञातः' इति वक्ति। अपि समुचितोऽयं व्यवहारः? शब्द

स्वार्थो न लुप्यते, तदीयमर्थप्रतिपादकत्वम् तत्तेनार्थे रामणीयकं च लुप्यते—इत्यहो वैदग्ध्यम्॥ ततश्च कार्त्स्न्येन काव्यपदार्थमविदुषामिमे गौणा व्यवहारा इति न तदनुसरणेन कस्यचित् काव्यलक्षणं दूषयितुमुचितम्।

यदपि च 'एको न द्वौ' इत्यादिवत् काव्यत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वे 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इत्यप्यापद्येतेति नव्यनैयायिकपद्धतिमनुसरता तेनोट्टङ्कितम्, तदपि काव्यपदस्य खण्डशः शक्तिमुररीकुर्वता 'क्वचिदर्थविशिष्टः शब्दः काव्यम् क्वचिच्च शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति' श्रीमम्मटाचार्येणैव स्वग्रन्थेऽनेकधा समाहितम्।

अहो प्रसक्तानुप्रसक्तया वयं दूरं धाविताः स्म। अर्थस्य काव्यत्वमालङ्कारिककालेऽपि व्यवहारपथमागतं पुनर्विलुप्तं चेत्येव प्रकृतवक्तव्यमस्माकम्। इदानीं वाग्वैदग्ध्यप्रधानाः शब्दविशेषा एव काव्यपदव्यवहार्या इति निष्कर्षः।

इदं तु पुनरपि निदर्शयितुमावश्यकम्—यदेवसौन्दर्यस्य वाग्वैदग्ध्यप्राधान्यस्य रसात्मकताया अपि वा काव्यशास्त्रीयानुप्रवेशोऽपि वेदादीनां काव्यत्वं पुनरप्यप्रतिहतमेव। सर्वथा वेदादिषु सम्यक् समन्वितत्वात्।

> अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
> जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥
>
> (ऋ० १।१२४।७)
>
> क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।
> विसदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥
>
> (द्यावापृथिवी) (ऋ० १।१०६।६)
>
> उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन हुवे देवानामवसा जनित्री।
> दधाते ये अमृतं सुप्रतीके द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥
>
> (ऋ० १।१९५।४)
>
> चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश॥
> उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

इत्यादिषु परःसहस्रेषु मन्त्रेषु केन वा सहृदयेन नानुभूयते वाग्वैदग्ध्यप्राधान्यम्। न केवलं विनोदावहा एवार्था अपि गूढविज्ञानगर्भिता अप्यर्था मन्त्रेषु वाग्वैदग्ध्येन रोचकतां नीयन्ते—

> 'कृष्णं निधानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
> त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥' [ऋ०]

शुष्कप्रायापि दृष्टिविद्याऽत्र कियद्रोचकत्वं प्रापिता ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥
[ऋ० १।१६४।१३]

अतिनीरसः खगोलविज्ञानविषयोऽत्र कियत्सारस्यमापादित इति सहृदया एवात्र प्रमाणम् ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

सर्वदुर्बोधं जीवेश्वरविज्ञानमपि कया पद्धत्या सरसतां नीतम् ।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम् ॥

इत्यादिषु च वैज्ञानिकमन्यत्रानायासमनवगम्यं शास्त्राणविज्ञानं नर्मभाषयैवोपनिबद्धम् । वेदेषु प्रभुसम्मित उपदेशः, पुराणादिषु सुहृत्सम्मितः, काव्येषु च कान्तासम्मित इति विभजन्ति आलंकारिकमूर्धन्याः । परं यदि सम्यगालोच्येत, उपदेशप्रक्रियापि वेदेष्वतिसरसा प्रतीयते ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥

किमितः परापि क्वचिज्जागर्ति सुहृत्सम्मितोपदेशप्रक्रिया ?

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
[अथ० ३।३०।१]

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥
[अथ० ४।१६।२]

इत्यादौ कियन्मनोहरोऽयमुपदेशपद्धतिरित्यालोचयन्तु सुधियः । अथान्यदपि दृश्यताम्—क्षुधितायान्नमन्नस्य दानं धर्मः, न तत्त्वन्यापेक्षयोदासितव्यमितीममभिप्रायं सूक्तमिदं प्रकटयति । तत्र कीदृशी तावदालङ्कारिकी भाषा समुपयुज्यते । अद्यत्वे यद्युपयुक्ता स्यात् छायावादपदमेवास्यै भाषायै प्रदीयेत ।

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥
[ऋ० १०।११७]

किन्तु प्रथमं व्यतिरेकमुखेनान्नदानं प्रशंसति—देवा वै देवाः खलु सर्वेषां क्षुधं न ददुः न प्रायच्छन्, किन्तु वधमित् वधमेव दत्तवन्त । एतादृशी वचस्या

क्षुधम्, अन्नदानेन य शमयति स दाता खलु उ इति पूरण । य अदत्वा भुङ्क्ते, तम् आधित भुञ्जान पुरुषमपि मृत्यव मरणानि उपगच्छन्ति समीपे यान्ति । क्षुधार्ताना मोक्तृणा च मरण समान किं दानेन धनतादरूपेण, अत आह उतो उतशब्दश्चार्थे, पृणत प्रयच्छत पुरुषस्य रयि धन नो पदस्यति न उपक्षीयते । दानप्रसङ्गेनादातार दूषयति—अपृणन् अप्रयच्छन् पुरुषस्तु मर्डितारम्—आत्मन सुखयितार न विन्दते—न कुत्रापि लभते । इह जन्मन्यदानेन न सुखयन्ति, देवा अपि इति प्रदानाभावात् इति सायणभाष्यम् ।

न स सखा यो न ददाति सख्ये स चाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तम् यमरण चिदिच्छेत् ॥४॥

व्यतिरेकेण निन्दामाह—स पुरुषः सखा न भवति, य पुरुष सचाभुव सर्वदा सह भवनशीलाय सचमानाय सवमानाय उपसर्जनीभूताय सख्ये सखिभ्र नाय पित्व —पितूनन्नानि न ददाति, न प्रयच्छति स सुहृन्न भवतीत्यर्थ । अस्मा ददात सख्यु ■ अपप्रेयात् अपगच्छेत्, यथेन परित्यज्य गच्छेत्, तर्हि तदोकः निवास नास्ति न भवति, सदन हि बन्धुभिः परिगतम् । ■ मत पुरुष पृणन्तं मन्नादिक प्रयच्छत अन्यमरण चित्, अर्यं स्वामिनमेव इच्छेत् कामयेत । इति भाष्यम् ।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्त राय ॥ ५ ॥

धनव त पुरुष दाने प्रेरयति—तव्यान् तवीयान् धनैरतिशयात् प्रवृद्ध पुरुष नाधमानाय याचमानायातिथये पृणीयादित् धनानि दद्यादेव । यदि दद्यात् द्राघीयांस दीर्घतम पन्थान सुकृतमार्गमनुपश्येत अनुपश्येत्, पश्यत्येनात्मनेपदम् । तत्र कारणमाह—रायो धनानि ओ हि आ उ आवर्तन्ते खलु, एकत्र न तिष्ठन्ती त्यर्थ । तत्र दृष्टान्त —रथ्येव यथा रथ्यानि रथसम्बन्धीनि चक्राणि उपर्यधोभा वेनावर्तन्ते तद्वत् । आवृत्तिमेव दर्शयति—अन्यमन्य पुरुष धना-युपतिष्ठन्ते समनेतानि भवन्ति । तस्माद्धनानि देयानीति भाव । इति भाष्यम् ।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीत ॥

अतिथिभ्यो धनमप्रयच्छन्नपि मम भ्राता दास्यति इति चेत्तत्र हेतुमाह—समौ चिद् हस्तौ समावपि सम समान न विविष्ट कार्ये न व्याप्नुत । तथा सम्मातरा वत्सस्य मातरौ धेनू समे अपि सम समान पयो न दुहाते । यमयोश्चित् सहजातयो पुरुषयोरपि समा समान वीर्याणि न सन्ति, तस्मात् ज्ञाती चित् एक-स्मिन् कुले सन्तौ जातावपि सम न पृणीत न प्रयच्छत । यस्मादस्य धनमस्ति स एव दद्यादित्यर्थ इति भाष्यम् ।

भाषाभेदादृयमत्र तथाविधमानन्दं न विन्दाम इत्यन्यदेतत्। उपदेशप्रक्रियातिरिक्त उत्कृष्टा न काप्युपलभ्यते।

तथैव—

यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः।
आत्सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से॥
अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः॥
अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः॥
नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव॥

इत्यादिषु (ऋ० १।२२) इन्द्रवृत्रयुद्धवर्णनशैली तत्र वीररसपरिपोषश्च सहृदयानां मननार्हौ। एवं सौरेषु सूक्तेषु सूर्यवर्णनमाश्विनेष्वश्विवर्णनं पृथिवीवर्णनं च पार्थिवेषु दर्शनार्हम्। न विस्तरभयादिहोदाह्रियते। सौपर्णकाख्यानप्रभृतिष्वाख्यानेषु ब्राह्मणानामपि वर्णनशैली नोपेक्षार्हा। अथ रसात्मकं वाक्यमेव काव्यं ब्रुवन्तोऽपि न मन्त्राणां काव्यत्वं वारयितुमीशते—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥

[यजु० १७ ४०]

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥ (४१)

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ (४२)

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥

[यजु० २९।४३]

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥

[२९।४८]

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्॥

[ऋ० ४ २५।४]

इत्यादिषु किं नास्ति रसविशेषः ? तस्मादृष्टयैव काम कायंता वेदादिषु कव्यत्वम्, नान्य पन्था। भगवान् वाल्मीकिरेव जगत्यादिकविरिति प्रसिद्धिरपि वेदादीन् हृदयतिरोधायैव सूपपादा भवेत्, वेदाना सर्वेदिमूलतायाः सर्वैरङ्गीक्रियमाणत्वात्। 'अहो आम्नायादन्यत्र च्छन्दसामवतार.' [उ० रा० च०] इति श्रुवाचेन महाकविना भवभूतिना लौकिक्यां भाषायां छन्दो वाल्मीकमुपक्रममिति आदिकवित्वम् सिद्धिः समाहिता, पर नेदमपि चोदक्षमम्। मन्वादिस्मृतिषु छन्दसा भगवतो वाल्मीकेः प्रागपि लौकिकभाषाया सुस्पष्टमधीयमानत्वात्।

'पुरा सूत्रनिरुद्धान्येवासन् धर्मशास्त्राणि, वर्तमान रूप ▮ मन्वादिस्मृतीनामर्वाचीनमेव' इत्याधुनिकैतिहासिकानामुक्तिरपि नास्मदुक्तामनुपपत्तिं समाधातुमनीषीत, वाल्मीकीये रामायण एव मनुनाम्ना पद्योद्धरणदर्शनात्। मनुस्मृतौ च तत्तत्योपलम्भात्। तथा हि वाल्मीकीये रामायणे किष्किन्धाकाण्डे अष्टादशे सर्गे वालिन प्रति भगवत श्रीरामस्योक्तौ—

> श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।
> गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरित मया॥ ३०॥
> राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
> निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्त सुकृतिनो यथा॥ ३१॥
>
> शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेन. पापात् प्रमुच्यते।
> राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्॥

श्लोकाविमौ मनुस्मृतेरष्टमेऽध्याये (३१८, ३१६) किञ्चित्पाठभेदेन दृश्येते। तस्मादुपलभ्यमानैव मनुस्मृतिरादिकाव्याद्वाल्मीकीयाद्रामायणात्प्राचीनेति विवादमुपगन्तव्य स्यात्प्रमाणपरतन्त्रै.। अथ मनुस्मृतेर्वर्णनाशैल्यपि न नाम काव्यत्व न स्पृशति—

> आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
> अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ [अ० १।५]
>
> तदण्डमभवद्धैम सहस्रांशुसमप्रभम्।
> तस्मिञ्जज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ [१।९]
> आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव।
> ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ [१।१०]
> यथर्तुलिङ्गान्यृतव स्वयमेवर्तुपर्यये।
> स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥ [१।३०]
> यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकस।
> कव्यानि चैव पितर किं भूतमधिक तत॥ [१।९५]

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ [२।११३]
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ [२।११४]
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृग ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ [२।१५७]
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिता ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्तत ॥ [३।५८]
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्ष्यं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ [४।५०६]
यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ [४।१९४]
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठत ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवल ॥ [४।२३९]
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ [४।२४१]

इत्यादिषु शतशः श्लोकेषु उक्तिवैचित्र्यापरपर्यायस्य सौन्दर्यस्य सहृदयहृदयैश्च सुस्पष्टमनुभूयमानत्वात्। तस्मात् 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायेन यत्र सौन्दर्यात्मकं वर्णनमभिलक्ष्यैव ग्रन्थकृतां प्रवृत्तिः, त एव ग्रन्था काव्यत्वेन प्रसिद्धिं गता, तेषु चाद्यं वाल्मीकीयं रामायणमिति भगवान् वाल्मीकिरादिकविराख्यायते। तदनन्तरं तु कालिदासाद्याः सहस्रशः कवयोऽस्याः पद्धतेः परिष्कारका प्रादुरभवन्निति विदन्त्येव विद्वांसः ।

सोऽयं काव्यप्रवाहः कालेन भारते तथाविधः प्रसृतः, येन शास्त्रान्तराणि कलान्तराणि च स्वान्तर्निमज्जितानि नाद्याप्युन्मज्जन्ति । 'छान्दसाः श्लोकशत्रवः' इति वेदाध्ययनं दूरीकृतम्। 'व्याकरणकण्टकानि ये बहु पश्यन्ति ते भवन्त्यन्धाः' इति व्याकरणबोधोऽधिक्षिप्तः, 'अविदितसुखदुःखं निर्गुणं वस्तु किञ्चिद् जडमतिरिह कश्चिन्मोक्ष इत्याचचक्षे' इति दार्शनिका वाग्भिः सत्कृताः । सर्वथा काव्यमेवैकं शास्त्रम्, कवय एव देशोद्धारका विद्वांसः, राजसभासु कवय एवोच्चैरुपविशन्ति स्म। कवीन्द्राणामेवाङ्गणभुवः 'कन्दर्पक्षाशङ्काकुलकरिमदामोदमधुराः' अभूवन्। अन्ये तु विद्वांसः कवीनेवोपजीव्य निर्वहन्ति जीवनमिति महान्तं कालं भारतस्य वर्षस्य स्थितिरासीत्। 'श्लोकं रचयितुं न जानाति' 'नास्त्येवाक्षरमूल्यं' इति

रात्र द्विवेदिसी नर्वदिश्यपि देशे प्रवृत्ता। ये वराका सर्वथा 'कवित्वबीजभूतसंस्कार लेशशून्या, ते वर 'कुर्वेऽहन्तु यथामति' 'शुद्धा शुय्यां करोम्यहम्' इत्यादि रचयन्त परमन्ततो मङ्गल तु पद्येन कर्तव्यमेवेति न्यायात्यस्यैवाय प्रवृत्त सार्व त्रिको नियम। दर्शनम्, ज्योतिषम्, आयुर्वेद, कोश, व्याकरणमपि चेति सर्वं पद्यबद्धमेवाऽऽसनममूत्। पद्यैरल्पाक्षरैरेव बद्धेव विषया पुर स्थापयितु शक्यन्ते इति सत्यम्, पर पद्यबद्धा शास्त्रीया विषया दुरूहा अर्थेऽणा बभूवुरपि भवन्तीत्यपि नाऽसत्यम्। इत एव प्रव हास्यग्रन्थाधिगमे, संस्कृताश्लेष दवाति काठिन्य प्रसूनमित्यास्तामप्रकृता कथा। काव्यान्यपि तावन्ति निर्मितानि भारते, यत्प्रत्येक यन्नाल्ये, समितिभि, सरथानि, मातिर्वै पत्रेश्च सहस्रश का यानि प्रकाशितानि, प्रकाश्यन्ते च, परमद्यापि सहस्रश एव सन्ति प्रकाशनापेक्षीणि, नाऽद्यैवैवामन्त। अहो भारतीयाना प्रतिभावैचित्र्यम्। अहो प्रवाहप्रसरणम्। य प्रवाहोऽत्र प्रसृत, ■ एवमेवानन्तकालगरायित। सत्यमिय सर्वोत्तो विधाना कल्पना च प्ररोहाय्यानिशयितोर्वरा भूमि।

अथ कालक्रमेण ह्रासमुपेयुषि संस्कृतवाङ्मयमार्त्तण्डे, समुदयमाप्नुवति च प्राकृतापभ्रंशादिप्रभृतिदृढिमार्जितकरे, सोय काव्यप्रवाह उदीयमानाभिमुख एव सुप्रवृत्तोऽभूत्। तथापि काव्यानामतिनमा बाहुल्यमनुभूयते।

संस्कृते तु वहो कालादनन्तर कविताप्रवाह प्रवृत्त इति तत प्राकृता गद्य ग्रन्था अपि बाहुल्येनोपलभ्यन्ते, परमपभ्रंशादिभाषाणान्तु जन्मैव कवितापरत्र काल इति तत्र तु गद्यग्रन्थानामतीव विरलता दृश्यते। सर्वमपि विषयजात तत्र पद्यनिबद्धमेव। हरम्भनूकाल काव्यमेव सकलकलामौलिचूडितमिति सुसम्पद्यन्मानप्रचा-लित हिन्दीभाषादिवाङ्मयदर्शनेनानुमीयते। प्राकृतम्, अपभ्रंश, तत्प्रातता ब्रजभाषा हिन्दीभाषायाश्चेत्यादि सर्वमपि प्राचीन वाङ्मय संस्कृतवाङ्मयोदितनव पन्थानमनुससाररवत ■ नास्ति स्तोकोऽपि संशय। संस्कृतमेव तदानीमध्ययनभाषा ऽभवत्, य कोऽपि किमप्यध्येतुमैच्छत्, तस्य संस्कृतमेव सानाधीन्तरणम्। प्राकृता पभ्रंशब्रजभाषादिमहाकवयोऽपि संस्कृतेऽधीतिन एव। तथा च संस्कृतमधीत्य संस्कृ तानुसरण तेषा प्रकृतिसिद्धमेवाभूत्। आस्ता विषयस्य तकथा, संस्कृतशब्दा अपि ताभ्र ब्ध्रुति स्म। तत एव प्राकृतापभ्रंशादिक्रमेण विकृतिमासाद्य शब्दानुपेदव संस्कृत-शब्दा एव ब्रजभाषाकविभिर्भूयो भूय परिगृहीता इति विस्तरेण दहाभियुक्तैरभि प्रत्यपीदं स्वीये हिन्दीभाषानिबन्धे (हिन्दी में संस्कृत शब्दों का ग्रहण) इति शीर्षके। तत न संस्कृता वाक् न केवल हिन्द्यादिभाषाणा मातामही, पितामही वा अपि तु साक्षाज्जनयित्री तेनैव सिद्धान्तितमित्यास्तामप्रकृतम्।

इद ■ विस्मयावहम्—यद् ब्रजभाषादिदेशीयभाषाकविभिरत्र संस्कृतवाङ् मय सर्वात्मनानुसरद्भिरपि छन्दोविषये स्वात पयेवाविष्कृतम्। यानि चन्द्रादेवेनि-

च्छन्दयुक्तानि (दोहा, चौपाई, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया अमृतध्वनि, घनाक्षरी (कवित्तम्) प्रभृतीनि न तेषां प्राकृते संस्कृतवाङ्मये क्वापि समुन्मेषः । संस्कृत निबद्धेषु पिङ्गलादिच्छन्दःशास्त्रग्रन्थेष्वपि नैषां प्रायेण लक्षणानि दृश्यन्ते । 'दण्डक' पदेनैवैवंविधानि छन्दांसि व्यवहरन्ति स्म पूर्वाचार्याः । प्राकृतपिङ्गले कथञ्चिल्लक्षणानि प्राप्यन्ते परं प्राकृतेऽपभ्रंशेऽपि च दोहादीनां केषाञ्चिन्मात्राच्छन्दसां व्यवहारेऽपि प्रलम्बच्छन्दसां व्यवहारो न दृष्ट एव । प्रलम्बच्छन्दसां बाहुल्येन प्रथमं प्रयोक्ता तु देशभाषाकृतेः 'पृथ्वीराजरासो' निर्माता चन्दवरदाइत्यभिधो भाटः दृश्यते । तदात्वेऽपभ्रंशादेशीया भाषा उदयमाना आसन् ।

'षड्भाषा पुराण च कुरान कथित मया' इति हि तस्य प्रतिज्ञा । तदनन्तरं तु व्रजभाषायां प्रलम्बच्छन्दसामेव व्यवहारप्रवाहः प्रसृतः । घनाक्षरी तु तथा सर्वैरभ्यस्ता यथा तन्नामैव 'कवित्तम्' इति जातम् । तन्निर्माता च कविः, तदेव च तस्य कवित्वमिति ।

वस्तुतस्तु आवश्यकतामनुसृत्योपकरणान्युपादीयन्ते, परिहीयन्ते चेति प्रकृतिसिद्धः सिद्धान्तः । व्रजभाषादिसाहित्यकालो हि 'रीतिकाल' इति परिभाष्यते । तदात्वे हि अलङ्काराणाम्, तत्रापि विशेषेण शब्दालङ्काराणां बाहुल्यमेव जनमनोमोहकमासीत् । राजानः एव कवीनां प्रसादनीया अभवन् । ते च व्यङ्ग्यादिबोधशिथिला वाच्येनैवार्थेनाधिकं तुष्यन्ति स्म । अलङ्काररुचिरं तद्वीर्यवर्णनम्, यशोवर्णनम्, तद्रुचिकरशृङ्गाररसप्लावनं वा कवीनां कर्तव्यकोटौ प्रधानान्यभूवन् । एतदर्थं च कवित्तादीनि प्रलम्बच्छन्दांसि बहूपकारकाणि । घनाक्षरी 'कवित्तम्' नानुप्रासमन्तरेण पदमपि प्रचरति । बन्ध एवास्य च्छन्दसोऽनुप्रासाधीनः । बहुन सवर्णमैत्रीश्रवणसमकालमेव प्राकृतानां चेतस्यानन्दपयोनिधिरुद्वेल्लति । 'भूली सुध सारी री लोकलाज छूटी री अरुझी हिये में फहरानि पीतपट की ।'

इत्यादिश्रवणसमकालमेव शिरो घूर्णयन्ति जनाः ।

'केसरिया पाग पर चन्द्रिका सुहाग पर
कलँगी की लाग पर रतनारी दामरैं
चन्दन की झूम पर मोतिन की लूमपर
अञ्जन घूम पर भौंहन की भाँवरैं ।
जामा फुलकारी पर बनमाला भारी पर
भूषन उजारी पर बैन के बनावरैं
आँखैं अरविंद पर चारमुखचन्द पर
राधिकागुविन्द पर नैनन निछावरैं ॥'

मानस ! मुकुन्दचरणारविन्दलग्नामये !
मौनमभिनन्दयस्व सूक्तिसुन्दरीमिमाम् ॥'

[गोविन्दवन्दनमन्दारमाला २]

समभिनन्द्यतां सशिरःकम्पं सावयवरूपकम्। एकत्रैव बह्वर्थप्रकाशनं प्रलम्बच्छन्दसामसाधारणो गुणः। दृश्यताम्—सर्वापि द्रौपदीकथा एकत्रैव समाहृता कुलपतिमिश्रेण स्वीये संग्रामसारे—(द्रोणपर्वानुवादरूपे)—

'शकुनि दुशासन कर्नसुजोधन पापमन्त्र किय
सभामध्य द्रौपदि हि आनि हठि वस्त्र खैंचि लिय।
किय पाण्डव अपमान बेधि बहु बाक बान उर
हुते सर्वं परवीन किहुन धर्मिय सुधमंधुर।
जदुनाथ नाथ तुव सरन हौं राखि स्याम कृष्णा कहिय।
धट्टेन बसन जिमि कालगति सुनत अन्ध अति भय गहिय॥'

यथा वा तत्रैव सात्यकिभूरिश्रवसोर्युद्धवर्णने—

'लखि सात्यकि बलहीन प्रबल कौरव अद्भुत किय।
सारदूल जिमि एक काण्ड गहि भूमि पर्यकिय।
अरु उरमें दे लात केस गहि लम्बा हाथ लिय
पत्थ! पत्थ! सैनेय मरत हरि हहे सोर किय।
भुजरहित भीव भुजबानहू फेरत कियउ अपुब्ब अति।
निरखै न कष्ट भूरिस्रवा जिमि नर लखै न कालगति॥'

साम्प्रदायिकान्दोलनध्यातेष्वतस्त्वितीयपि व्रजभाषाकवितासु बहुला दृश्यते। तथाप्येकस्मिन्नेवापि भावस्ते च देवताध्यानसमावेशो प्रलम्बच्छन्दसो भूयानुपकारः। यथा मत्पितामहानां श्रीगोपालचतुर्वेदानां गणपतिस्तुतिः—

चर्चित सिंदूर तन अर्चित सुरेश पद
मण्डित कुकुरमौलि सुषमा अपार है
सुकवि गुपाल भालचन्द की छटा है
मद धारा धरा है एकदन्त निरधार है।

अथ मालोपमा—

'कुंभदइनगज्ज रसालमञ्जरी को निज
उन को सुहाग वन्देविन को कन्त है
कोकिला को मोनहर मौन को केलिकर
मञ्जुलमैमारुत को सन्त विरहन्त है।
मानिनीनमायक मनोज को सहायक
संजोगी सुखदायक वियोगी जन अन्त है
चाँदनी को सोधक विरोधक मुनीन मन
रोचक विदेव फूल्यो बागन वसन्त है॥'

'वरनविचार त्यु गुरु लोक लोकन को
साधि सोधि रसना के सुवरन पावर
कर विजही तें चतुराई चाव लेखनि ले
सबद अरथ रङ्ग अङ्गरचनि उजास दर
सरसुति राधिका कुंवरि मबनन्दन के
रूप की मधनि बरसावैं रसराकर
नेह के नगर जग जगर मगर देसे
सुधर सुघर रुन्दी भारती के चितकर॥'

[४०१।२]

अत्र सावधेनं रूपकं च बरन न मनो हरेत्।

यथा वा पद्ये सन्नतपदे—

'स्फटिककिरीट–परिमानतमनावनाङ्गुतां
काचमश्चिकर्णिकाञ्च–चूडामणिकोमलाम्।
उत्क्षेशावतंस–कुल्वयोदितावतनिभृतां
तद्गुणउरग–हेमहारतो मनोरमान्।
स्नेषकरकङ्कण–विरोषवल्यानुगुणां
परिकरकाञ्ची–धारनूपुरगुम्फमान्।

मानस ! मुकुन्दचरणारविन्दलम्नामये !

मौनमभिनन्दयस्व सूक्तिसुन्दरीमिमाम् ॥'

[गोविन्दवन्दनमन्दारमाला २]

समभिनन्द्यतां सधिर कम्प सावयवरूपकम् । एकस्यैव बह्वर्थप्रकाशनं प्रलम्बच्छन्द सामसाधारणो गुण । दृश्यताम्—सर्वापि द्रौपदीकथा एकत्रैव समाहृता कुलपति मिश्रेण स्वीये संग्रामसारे—(द्रोणपर्वानुवादरूपे)—

'सकुनि दुसासन करनसुजोधन पापमन्त्र किय
सभामध्य द्रौपदि हि आनि हठि बसन खेंचि लिय ।
किय पाण्डव अपमान बेधि बहु बाक बान उर
हुते सर्व परवीन किहुन यमिय सुधर्मपुर ।
जदुनाथ नाथ तुव सरन हों राखि लाज कृष्णा कहिय ।
घटैन बसन जिमि कालगति सुनत अन्ध अति भय गहिय ॥'

यथा वा तत्रैव सात्यकिभूरिश्रवसोर्युद्धवर्णने—

'लखि सात्यकि बलहीन प्रबल कौरव अद्भुत किय ।
सारदूल जिमि एव काष्ठ गहि भूमि पटकिय ।
अरु उरमें दे लात केस गहि खग्ग हत्थ लिय
पत्थ ! पत्थ ! सैनेय मरत हरि इहै सोर किय ।
मुखकहित भीर सुबघानहु फेरत कियउ अपुब्ब अवि !
निरखै न कष्ट भूरिश्रवा जिमि नर लखै न कालगति ॥'

साम्प्रदायिकान्दोलनवशाद्दैवतस्तुतिरपि व्रजभाषाकवितासु बहुला दृश्यते । तथाप्येकस्यैवाथिर आनर्त्तं च देवताध्यानसमावेशो प्रलम्बच्छन्दसा भूयानुपकार । यथा मत्प्रपितामहानां श्रीगोपालचतुर्वेदानां गणपतिस्तुति —

चर्चित सिंदूर तन अर्चित सुरेश पद
मण्डित सुकुटमौलि सुषमा अपार है
सुकवि गुपाल भालचन्द की छटा है
मद झरत पग है एकदन्त निरधार है ।

उदर उदार भुज चार रखवार मही
गोद गिरिजा के मन मुदित विहार है
आनन वितुण्डवारे आनँद अखण्डवारे
सुण्डवारे सरस महेशके कुमार हैं॥

इदं तु खलु संस्कृते भाषासम्बन्धे अनितरसाधारणं महत्त्वम्—यत्तत्र समास-प्रयोगेण तद्धितेन कतिपयत्यादिभि, अन्येषामपि सुपां लिङां च तत्तदर्थाभिव्यञ्जकतया स्वल्पाक्षरैरेव महार्थं क्रोडीक्रियते। प्राकृताद्यन्यभाषासु न तत्संभवति। तस्मादत्र तु प्रबन्धानि च्छन्दांस्येव शरणं बह्वर्थसंग्रहाय। एवमादिभिस्तत्कालोपयुक्तैर्गुणैरेषां छन्दसां देशीयभाषाकवितासु प्राधान्येन परिग्रहो ननु न्याय्य एव। तथैव मावत्कविरपि लोकानां प्रवृत्तेति गेयच्छन्दसां पदावलरचनाणामपि प्रवाहो व्रजभाषाकविताधुरेण श्रीसूरदासेन प्रवर्तितः। परतस्तु यवनसंपर्कात्तत्रापि नवनवच्छन्दसां समावेशोऽतीव वृद्धिं गतः।

संस्कृतकवित्वं संस्कृतस्य विरले प्रचारे सायन्तनप्रकाशायितप्रभृदिति न्यवेदयं प्राक्। पण्डितराज एव संस्कृतकवितायां चरमश्चक्रवर्ती। तत. परं न विद्याधर-प्रतिभः कवि' कश्चन प्रादुरभूदित्यस्मद्गुरुचरणैः श्रीलक्ष्मीनाथशास्त्रिमहाभागैः स्वीये भारतेतिवृत्तसारे समुल्लिखितम्। तथापि तु 'न वीरविहीना वसुन्धरा'। भारतभुवि कस्यापि आश्चर्यस्य वस्तुनो विलोपो न जायते। अभूवन्नेव तत्र तत्र देशविशेषे कालविशेषे च प्रतिभाप्रगल्भाः कवयः। महामहोपाध्यायश्रीगङ्गाधरशास्त्रिणा दुःखभञ्जनदेवीप्रसादप्रभृतीनां च क' खलु विशिष्टकवित्वं नाभिमन्येत। बङ्गदेशे दक्षिणदेशेऽप्यपि च प्रादुरभवन् बहव' ख्यातनामानो महाकवयः। जयपुर-नगरेऽपि भट्टश्रीकृष्णरामप्रभृतयः सुप्रसिद्धा कवय' प्रादुरभवन्, येषां सुप्रसिद्धानि काव्यानि प्राक्तनकविभ्यो नापकृष्टानि गणयितुं शक्यन्ते। एवमर्वाचीनेषु कविषु येषां व्रजभाषाकाव्यपरिचयोऽभूत् ते कौतुकवशगाः प्रबन्ध-च्छन्दसां व्यवहारं कचित्कथंचित् संस्कृतेऽपि चक्रुः। पूर्वनिर्दिष्टेन श्रीकृष्ण-रामकविना भाषाप्रसिद्धाः काश्चन गीतयः संस्कृते रचिताः। तत्कालिकैरन्यैरपि कविभिः स्फुटरूपेण तत्र पदं निहितम्।

परं व्रजभाषाप्रसिद्धानि च्छन्दांसि, नवशैलीनिबद्धा गीतयश्चानुप्रासबाहुल्य मन्तरेण न सौष्ठवं दधत इति तु प्राङ्न्यवेदयम् । देशीयभाषाकवीनां शब्दत्रोटने मोटने च स्वातन्त्र्यात्तैरनुप्रासा निबध्यन्ते । संस्कृतभाषा तु व्याकरणसूत्रबद्धेति नात्र शब्दस्वरूपपरिवर्तने मनागपि कवीनामधिकार । अन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र प्रयोगेऽपि 'निरङ्कुशा कवय ' इति वैयाकरणास्तान् कदर्थयन्ति । तस्मादत्र तादृशबन्ध निर्वहणमतिकठिनमिति न संस्कृते तादृशच्छन्दसां प्रवाहोऽद्यावधि समुच्छलितः । तदित्थं कविकाव्यविषये दिङ्मात्रं प्रकाशिता विचारा ।

इति चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावल्यां महामहोपाध्यायश्रीगिरिधरशर्म-
चतुर्वेदानां भारतराष्ट्रपतिसम्मानितानां संस्कृत
निबन्धानां मञ्जूषायमाणायाः
प्रथमो भागः समाप्त. ।

